श्रीः

उपनिषद्विज्ञ[illegible]नभाष्यभूमिका

तृतीय [illegible]ड

[illegible]नीला[illegible] श[illegible] [illegible]जो मु[illegible]रक्त[illegible]र्मा
शाड्वि[illegible]ने भा[illegible]
वै[illegible] [illegible]थ[illegible]
[illegible] [illegible]भजन:

प्र[illegible]

मल्य: रु. 225/-

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—तृतीयखण्ड

३

निबन्धा—

मोतीलालशर्म्मा, भारद्वाजोपाह्वः
वेदवीथीपथिकः
जयपत्तनाभिजनः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा
प्रकाशित

एवं श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा जयपुर के द्वारा
मुद्रित

★

प्रथमवार ५०० प्रति (श्रीकृष्णजन्माष्टमी २०१३) मूल्य १३) रु०

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड की
प्रस्तावना

—*—

श्रीः

किमपि प्रास्ताविकम्

औपनिषद-पुरुष के अनुग्रह से **'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—तृतीय खण्ड'** उपनिषत्-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। एवं प्रस्तुत तृतीय-खण्ड की उपरति के साथ ही खण्ड-त्रयात्मक **'भूमिकाग्रन्थ'** उपरत हो रहा है। प्रस्तुत तृतीय खण्ड में आठ स्तम्भ समाविष्ट हैं, जिनकी संक्षिप्त दिशा से यों परिचय प्राप्त किया जा सकता है कि—

(१)—विज्ञान-स्तुति-इतिहास-निरूपणात्मक ११३१ अवान्तर-शाखाग्रन्थों में विभक्त **'संहितावेद'** वेदशास्त्र का प्रथम विभाग है। निष्कामकर्म्मयोगात्मक धर्म्मबुद्धियोग का प्रतिपादक, संहिताशाखाभेदानुरोध से ११३१ शाखाग्रन्थों में हीं विभक्त **'विधि'** नामक **'ब्राह्मणवेद'** वेदशास्त्र का द्वितीय विभाग है। निष्कामभक्तियोगात्मक ऐश्वर्य्यबुद्धियोग (उपासना) का प्रतिपादक, ११३१ शाखाग्रन्थों में हीं विभक्त **'आरण्यकवेद'** वेदशास्त्र का तृतीय विभाग है। ज्ञानकर्म्मोभयलक्षण वैराग्यबुद्धियोग का प्रतिपादक, एवं निवृत्तिकर्म्मात्मक ज्ञानयोगापरपर्य्यायक ज्ञानबुद्धियोग का लोक-संग्रहदृष्ट्या संग्रह करने वाला ज्ञानकर्म्मोभयसमत्त्वलक्षण वैराग्यबुद्धियोग का प्रतिपादक, ११३१ शाखाग्रन्थों में हीं विभक्त **'उपनिषद्वेद'** वेदशास्त्र का चतुर्थ, किंवा अन्तिम विभाग है। अतएव यह **'वेदान्त'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वेद के अन्तिम (चतुर्थ) भागरूप उपनिषद्वचनों के पारस्परिक समन्वय के लिए प्रवृत्त होने वाला सूत्रग्रन्थ (व्याससूत्र) भी इसी दृष्टि से लोकव्यवहार में 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध हो पड़ा है। आत्माद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादक वेदान्तशास्त्र (उपनिषच्छास्त्र) किसी अद्वय-अखण्ड-निरञ्जन-निर्द्धर्म्मक-निरस्तसमस्तोपाधि-प्रपञ्चोपशम ब्रह्म को मूलाधार बनाता हुआ ही सञ्चर-प्रतिसञ्चररूपेण द्विधा विभक्त विश्वविज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने वाला सर्वशास्त्र प्रमाणित हो रहा है। आत्मसत्ताधारेण सुप्रतिष्ठित मौलिक विज्ञानसिद्धान्त ही मानवीय प्रज्ञा को लक्षीभूत विषय के सान्निध्य में निश्चयरूपेण निर्भ्रान्तरूपेण प्रतिष्ठित कर सकता है। अतएव यह उपपत्तिविज्ञानात्मक मौलिक सिद्धान्त ही—'उप—नि—षत्' रूप से 'उपनि-षत्' शब्द का अवच्छेदक बना हुआ है, जैसा कि भूमिकाप्रथमखण्ड में विस्तार से प्रतिपादित है। **''ज्ञानसहकृत विज्ञानसिद्धान्त ही उपनिषत् इसलिए है कि, इसके द्वारा मानवीय-प्रज्ञा लक्षी-भूत विषय के उप-समीप-अन्तस्तल पर, नि-निश्चयेन-आस्थान-श्रद्धान-पूर्वक, षत्-प्रतिष्ठित हो जाती है''**।

इत्थंभूत वेदान्तलक्षण उपनिषच्छास्त्र की बहिरङ्गपरीक्षा से सम्बन्ध रखने वाले **'वेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय ?'** इस प्रक्रान्त प्रश्न के समाधान के लिए ही प्रस्तुत तृतीयखण्ड में-**'पौरुषेयापौरुषेयमीमांसा'** नामक प्रथमस्तम्भ का समावेश हुआ है। भगवान् जैमिनि के-**'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः०'** इत्यादि सूत्रसन्दर्भ के माध्यम से ही इस स्तम्भ में उक्त प्रश्न के समन्वय की चेष्टा हुई है, जिसका निष्कर्ष यही है कि वाङ्मय नित्यशब्दात्मक वेदशास्त्र जहाँ सर्वथा अपौरुषेय है, वहाँ प्रयोगशब्दात्मक वेदशास्त्र **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** इत्यादि काणादसिद्धान्तानुसार पौरुषेय ही है, कृतक ही है। इस प्रश्न के माध्यम से विद्वत्समाज में विगत-कतिपय शताब्दियों से नितान्त भावुकतापूर्ण जो विवाद प्रक्रान्त है, उससे वेदशास्त्र पर आस्था-श्रद्धा-रखने वाले सामान्यवर्ग का अहित ही हुआ है। इसी प्रश्न के महासमारम्भात्मक वाक्-कलह ने विद्वानों की प्रज्ञा को स्वयं वेदशास्त्र के ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-रहस्यपूर्ण तत्त्वों से पराङ्मुख ही प्रमाणित किया है। **'वेद ईश्वर के बनाए हुए हैं, अथवा मनुष्यों के द्वारा (ऋषियों के द्वारा) बुद्धिपूर्वक अन्य ग्रन्थों की भाँति इनकी भी रचना हुई है ?'** इस प्रश्न का उस समय यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जब कि हम चतुर्द्धा विभक्त स्वयं वेदशास्त्र के **'तत्त्वात्मक वेदपदार्थ'** का स्वरूप अवगत कर लेते हैं। भूमिका-द्वितीय खण्ड में विस्तार के साथ इसी तत्त्वात्मक वेदपदार्थ की व्याख्या हुई है। अभी कुछ ही समय पूर्व व्याकरणशास्त्र के एक प्रज्ञाशील विद्वान् का किसी अर्वाचीन-प्रज्ञानिष्ठ के साथ हमनें इस दिशा में जैसा पारस्परिक वाग्विजृम्भण देखा-सुना, उससे सहसा हमें इसलिये स्तब्ध हो जाना पड़ा कि, दोनों हीं विद्वान् वेदस्वरूपचर्चा से कोई सम्बन्ध न रखते हुये केवल कल्पना के आधार पर ही अहमहमिका के अनुगामी बने हुये थे। शब्दशास्त्रज्ञ महाभाग का आवेशपूर्वक इस सम्बन्ध में यह तर्क था कि,-"यदि कोई हमें यह प्रमाणित कर दे कि, अमुक वर्ष-तिथि-स्थान में बैठकर अमुक ने वेद बनाया, तो हम उसे इसी क्षण दशसहस्र पुरस्कार प्रदान कर सकते हैं"। वेदप्रामाण्य से सम्बन्ध रखने वाली इस आस्था-श्रद्धा का जहाँ अभिनन्दन किया जायगा, वहाँ इसप्रकार के बालोपलालन को सर्वथा इसलिये आपातरमणीयमूलक अभिनिवेश ही माना जायगा कि, इसप्रकार की काल्पनिक संधाओं से कदापि वेदशास्त्र का गौरव सुरक्षित नहीं रक्खा जा सकता। वर्त्तमान युग की प्रतीच्य प्रज्ञा जहाँ वेदार्थमीमांसा में सतत-जागरूक बन रही हो, वहाँ हमारे यहाँ की प्राच्यप्रज्ञा इत्थंभूत केवल वाग्विग्लापन से ही अपनी वेदप्रामाण्यभक्ति का अवसान करती रहे, सचमुच यह शोचनीय अवस्था है। शीघ्र से शीघ्र इस विवाद को उपशान्त कर भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञा अपने सर्वस्वभूत वेदशास्त्र के तात्त्विक चिन्तन में प्रवृत्त होने का निःसीम

अनुग्रह करे, इसी कामना से जैमिनिसूत्रसन्दर्भ के माध्यम से प्रथमस्तम्भ का प्रकृत खण्ड में समावेश हुआ है।

(२)—वेद के अन्तिम भागात्मक उपनिषदों में किन किन विषयों का निरूपण हुआ है ?, द्वितीय स्तम्भ इसी प्रश्न की समाधानदिशा के लिए प्रवृत्त हुआ है। प्रश्न का वास्तविक समाधान तो अनन्यनिष्ठानुगत चिरन्तन स्वाध्यायव्रत पर ही अवलम्बित है। तथापि तात्कालिक कण्डूप-शान्तिमात्र के लिये प्रस्तुत स्तम्भ में औपनिषद आत्मतत्त्व के स्वरूप विश्लेषण के द्वारा **'ईश–केन–कठ–प्रश्न–मुण्डक–माण्डूक्य–तैत्तिरीय–ऐतरेय–छान्दोग्य–बृहदारण्यक–श्वेताश्वतर–कौषीतकि–मैत्रायणी'** इन १३ उपनिषद्ग्रन्थों की विषयतालिका उद्धृत कर दी गई है। उपनिषत्-स्वाध्यायव्रतियों को अवश्यमेव इसके द्वारा अंशतः तुष्टिभाव उपलब्ध हो सकेगा, ऐसी आस्था है।

(३)—**'आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर,'** मानवीय संस्था के स्वरूपसम्पादक इन चारों पर्वों में उपनिषदों के द्वारा क्या अतिशयाधान होता है ?, चारों के दोषमार्ज्जन-हीनाङ्गपूर्त्ति, तथा अतिशयाधान के लिये उपनिषदों से मानव को कौन कौन सी मौलिक शिक्षाएँ उपलब्ध होतीं हैं ?, सहजभाषानुसार–'उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?,' औपनिषद–शिक्षा का मानव के आत्मजीवन में तो क्या उपयोग है ?, एवं लोकजीवन में क्या उपयोग है ?, प्रस्तुत स्तम्भ इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है।

(४)—"ईश्वरीय ज्ञानात्मक वेद का मानवमात्र को अधिकार है, क्योंकि सभी मानव ईश्वर की ही सन्तान हैं, सभी में आत्म–बुद्धि–मनः–शरीर–भावसमन्विता समानता व्यवस्थित है" इस प्रकार के तत्त्वज्ञानशून्य-प्रकृतिरहस्यविज्ञानपराङ्मुख-हेत्वाभास के द्वारा समानाधिकार-व्यामोहन से व्यामुग्ध बन जाने वाले कल्पित 'मानवता' के अनुगामी भावुकश्रेष्ठों के उद्बोधन के लिये ही प्रस्तुत चतुर्थ स्तम्भ समाविष्ट हुआ है। अवश्य ही भौतिक–शारीरिक–मानसिक–एवं ऐन्द्रियक बाह्य-आकार–प्रकार की दृष्टि से मानवमात्र का एक ही 'मानवजाति' में अन्तर्भाव है। एवं इस दृष्टि से मानवजाति समानाधिकार की ही अनुगामिनी मानी जा सकती है, मानी गई है, जो कि भौतिक–समानाधिकार आहार–निद्रा–भयादि भौतिक अधिकारों पर ही विश्रान्त है। भोजन–वस्त्र-शयन–अपत्योत्पादन–गमन–हसन–मानसिक विनोद–आदि भौतिक विषयों में सभी मानव समानाधिकार से समन्वित हैं, क्योंकि इन अधिकारों का उस 'मानवजाति' से सम्बन्ध है, जो मानवजाति **'आकृतिग्रहणा जातिः'** के अनुसार मानव के बाह्य भौतिक शारीरिक ऐन्द्रियक आकारों के आधार पर प्रतिष्ठित है।

तथोक्ता मानवजाति जिस मौलिक तत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित है, वही तत्त्व 'प्रकृति' कहलाया है, जोकि प्रकृतिभाव भौतिक क्षर का आधारभूत अव्यक्त 'अक्षर' कहलाया है, जोकि गीता के शब्दों में-'**पराप्रकृति**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यही अक्षरप्रकृति प्राणदेव-भेद से अनेक स्वरूपों में विभक्त हो रही है। इसी प्रकृतिभेद के आधार पर मानव का आभ्यन्तर प्राकृतिक स्वरूप एक दूसरे से विभिन्न बना हुआ है। एवं-'**प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च**' इत्यादि सिद्धान्तानुसार यही प्राणमयी सुसूक्ष्मा प्रकृति चातुर्वर्ण्य की मूल प्रतिष्ठा बन रही है। एवं यही वर्ण, और जाति में वह महान् विभेद है, जिसे आज के केवल व्यक्त-क्षर-जड़-भूत-वादी मानव नें सर्वथा विस्मृत कर मानव को सर्वथा शरीर-मन-इन्द्रियधर्म्मा-मात्र पशुश्रेणि में ला खड़ा किया है। अहङ्कृतिमूलक गोत्रभाव का ऋषिप्राण से सम्बन्ध है, जिसके द्वारा 'कुलधर्म्म' व्यवस्थित हुआ है। प्रकृतिमूलक वर्णभाव का देवप्राण से सम्बन्ध है, जिसके द्वारा 'वर्णधर्म्म' व्यवस्थित हुआ है। एवं आकृतिमूलक जातिभाव का पितृप्राण से सम्बन्ध है, जिसके द्वारा 'मानवजातिधर्म्म' व्यवस्थित हुआ है। एवं इस तात्त्विक दृष्टिभेद से मानव के कुल--वर्ण-जाति-भेद से अधिकार भी सर्वथा विभक्तरूप से ही व्यवस्थित हुए हैं।

उक्त तीनों विभिन्न आधिकारिक उत्तरदायित्त्वों में से मध्यस्थ वर्णधर्म्मात्मक अधिकारी भेद ही औपनिषद-ज्ञान, किंवा वेदज्ञानाधिकार की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। एवं इस वर्णधर्म्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकारमर्य्यादा के अनुपात से ही औपनिषद-ज्ञान की अधिकार-मर्य्यादा व्यवस्थित हुई है। चतुर्थ स्तम्भ इसी अधिकारमर्य्यादा की तात्त्विक स्वरूपदिशा का स्पष्टीकरण कर रहा है।

५—प्राचीन व्याख्याताओं की भावुकतापूर्ण मान्यता के अनुसार 'उपनिषत्' सर्वकर्म्म-परित्यागलक्षण ज्ञानयोग का प्रतिपादक वैसा शास्त्र है, जिसका उपयोग चतुर्थाश्रम (७५ वर्ष के अनन्तर आने वाली संन्यासाश्रमावस्था) में ही हुआ करता है। इसी मान्यता के दुष्परिणाम स्वरूप उपनिषच्छास्त्र आज मरणवेला का ही लक्ष्य बन गया है। संसार से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं, लोक-समाज-राष्ट्र-जाति-वर्ण-धर्म्म-आदि से जिसने विश्राम ग्रहण कर लिया हो, वही मानों उन ज्ञानाभिनिविष्टों की दृष्टि में उपनिषदों का पात्र है। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! महती विडम्बना!!!

वस्तुतः 'उपनिषत्' तो नित्यसिद्ध ज्ञानसहकृत उन विज्ञानसिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने वाला वैसा उपयोगी शास्त्र है, जिसे आधार बनाए बिना न तो ब्राह्मणभागोक्त कर्म्मकाण्ड का

ही सम्यक्-अनुष्ठान सम्भव, एवं न आरण्यकभागोक्ता उपासना का ही यथावत् अनुगमन सम्भव। इसी आधार पर तो-'यदेव विद्यया-श्रद्धया-उपनिषदा-करोति, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

ज्ञान हो, कर्म्म हो, उपासना हो, लोकनीति-समाजनीति-राष्ट्रनीति, कुछ भी हो, प्रत्येक का कोई न कोई मौलिक विज्ञानसिद्धान्त आधार रहता है। उस आधार को जान कर जो प्रवृत्ति होती है, वही दृढमूला बना करती है। एवं उपनिषच्छास्त्र उसी सर्वविध मौलिक विज्ञानसिद्धान्त का रहस्यपूर्ण भाषा में स्पष्टीकरण करने वाला वैसा उपयोगी शास्त्र है, जो चारों हीं आश्रमों का मूलाधार बना हुआ है। अतएव कर्म्मकाण्डप्रतिपादक ब्राह्मणभाग से, तथा उपासनाकाण्ड-प्रतिपादक आरण्यकभाग से कदापि उपनिषद्भाग का पार्थक्य नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार आत्मा-सत्त्व-शरीर-तीनों त्रिदण्डवत् अन्योऽन्याविनाभूत बने रहते हुए त्रिपुटीभाव से परस्पर नित्य समन्वित हैं, एवमेव ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-तीनों परस्पर सह सम्बद्ध हैं। तभी तो-'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि के 'ब्राह्मण' भाग से ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-तीनों वेदभागों का संग्रह हो रहा है। प्रस्तुत पञ्चम स्तम्भ में इसी सम्बन्ध का स्पष्टीकरण हुआ है।

६—क्रमप्राप्त षष्ठ स्तम्भ केवल उस लोकभावुकता के संरक्षण के लिए ही समाविष्ट हुआ है, जिसका परदर्शन से सम्बन्ध माना गया है। ऐकात्म्यवाद-खण्डात्मवाद-बहुदेवतावाद-कर्म्मभेदवाद-आदि परस्परात्यन्तविरोधी भी प्रतीयमान यच्चयावत् वैदिक सिद्धान्त अविभक्त ब्रह्म, एवं विभक्त प्रकृति के अनुबन्धों से स्व स्व स्थान पर सर्वथा निर्विरोधरूपेण सुसमन्वित हैं। "संहिताकाल में भारतीय लिखने-पढ़ने से अपरिचित थे। केवल सुन सुना कर ही वे अपने ज्ञानतन्त्र को सुरक्षित रखते थे। अतएव उस युग का मान्यतात्मक वाचिक शास्त्र 'श्रुति' कहलाया। एवमेव संहिताकाल में बहुदेवतावाद का ही प्राधान्य था। अग्नि-वायु-सूर्य्य-जल-मेघ-वृक्ष-वनौषधि-आदि भौतिक पदार्थों की उपयोगिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए इन जड़-पदार्थों की ही भारतीयों के द्वारा 'देवता' नाम से स्तुति की जाने लगी, जिस युग में कि इन्हें 'एकेश्वर' का यत्किञ्चित् भी बोध नहीं था" इत्यादि भावुकतापूर्ण भ्रान्ति के समाधान के लिए ही प्रस्तुत स्तम्भ का लोकभावुकतासंरक्षणमात्र के लिए संग्रह हो पड़ा है। वस्तुतः न इन प्रश्नों में कुछ तथ्य है, नापि इनके समाधान की ही कोई आवश्यकता है। क्योंकि भ्रान्तों की भ्रान्त कल्पनाओं से निर्भ्रान्त शाश्वत सनातन ज्ञानविज्ञानसिद्ध वेदशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।

७—सप्तम स्तम्भ में "औपनिषद-ज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तकत्व" को बीज मान कर इस से सम्बन्ध रखनें वाले लोकानुरञ्जक समाधान का स्पष्टीकरण हुआ है । एवं अन्ततोगत्त्वा ब्रह्मर्षिवंश से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तपक्ष का स्थापन हुआ है ।

८—एक विशेष कारण से पौरुषेयशास्त्रों में गीताशास्त्र सदा से ही सर्वमूर्द्धन्य प्रमाणित होता आ रहा है । गीताशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली इसी आस्था-श्रद्धा ने आज सर्वसामान्य का भी ध्यान इसी की ओर केन्द्रित कर लिया है, जिस आस्था-श्रद्धा का अभिनन्दन ही किया जायगा । यह सब कुछ अभिनन्दनीय होनें पर भी गीताशास्त्र को ही स्वकर्त्तव्यकर्म्मनिर्णय में प्रमुख मान बैठना सर्वथैव भावुकता ही कही जायगी इसलिए कि, गीताशास्त्र किसी भी कर्त्तव्यकर्म्म का अनुशासन नहीं करता । **'क्या करना चाहिए ?, क्या नहीं करना चाहिए ?'** गीता का इस प्रश्न के समाधान से कोई सम्बन्ध नहीं है । अपितु जब भी गीताशास्त्र से कर्त्तव्य-कर्म्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाता है, तो यह इस प्रश्न का समस्त उत्तरदायित्त्व अपनें से अन्यशास्त्र के प्रति ही समर्पित कर देता है, जैसा कि-**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'** इत्यादि से स्पष्ट है ❀ ।

अक्षरप्रकृतिमूलक, देवप्राणस्वरूपव्यवस्थापक-संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-रूपेण चतुर्द्धा विभक्त **'श्रुतिशास्त्र'**, क्षरप्रकृतिमूलक-भूतप्राणस्वरूपव्यवस्थापक-मनु-याज्ञवल्क्य-वसिष्ठ-विष्णु-आदि रूपेण विभक्त मन्वर्थानुसारी **'स्मृतिशास्त्र'**, एवं क्षराक्षरप्रकृतिनिबन्धन शिपिविष्टात्मक पशुप्राणस्वरूपोपबृंहक **'पुराणशास्त्र'**, यह शास्त्रत्रयी ही गीता के द्वारा निर्दिष्ट वह 'शास्त्र' है, जिसके सुव्यवस्थित विधि-विधानों के आधार पर ही भारतीय मानव की कर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा, तत्त्वोपासना, एवं निवृत्तिमूलक ज्ञान प्रतिष्ठित है । बिना इस शास्त्रत्रयी के केवल गीताभक्ति के आधार पर कदापि आस्तिक मानव कर्त्तव्यनिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सकता । प्रश्न सम्भव है कि, फिर गीता का उपयोग ही क्या ? । इसी प्रश्न के समाधान के लिए अष्टम स्तम्भ प्रवृत्त हुआ है । जो उपयोगिता अपौरुषेय श्रुतिशास्त्र में उपनिषच्छास्त्र की है, वही

❀—**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ॥**
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं, न परां गतिम् ॥१॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि ॥२॥
—गीता० १६।२३,२४, ।

उपयोगिता पौरुषेय गीताशास्त्र की है। जिन विज्ञानसिद्धान्तात्मक कर्म्मोपास्तिज्ञान-कौशलों का उपनिषच्छास्त्र सर्वथा रहस्यपूर्ण, एवं संक्षिप्त भाषा में निरूपण करता है, गीताशास्त्र उन्हीं कौशलों का, औपनिषद-रहस्यों का सर्वथा लोक-प्राञ्जल-भाषा में विस्तार से निरूपण करता है। कैसे करना चाहिए ?, क्यों करना चाहिए ?, क्या विज्ञानसिद्धान्त है अमुक कर्म्म-उपासना-ज्ञान का ?, इत्यादि जिन प्रश्नों का उपनिषदों में संक्षेप से दिग्दर्शन हुआ है, गीताशास्त्र में उन्हीं का विस्तार से उपबृंहण हुआ है। संकोचभाव का विस्तार ही 'गान' है। इसी विस्तारभाव के कारण भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के मुखपङ्कज से विनिःसृत यह तत्त्ववाद, एवं भगवान् कृष्ण-द्वैपायन के द्वारा प्राञ्जलभावोपेता इतिहासभाषा में (महाभारत में) संकलित शब्दात्मक यह शास्त्र 'गीताशास्त्र' नाम से व्यवहृत हुआ है। उपनिषदों के रहस्यार्थों का विस्तार से निरूपण करने के कारण ही इस पौरुषेय भी गीताशास्त्र को अपौरुषेया 'उपनिषत्' की उपाधि से समलङ्कृत कर दिया गया है, जैसा कि-**'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु०'**इत्यादि अध्यायोपसंहारवाक्य से प्रमाणित है। समस्त वेदशास्त्र की 'संक्षिप्ता सूची' का स्थान ग्रहण करने वाला गीताशास्त्र अवश्य ही अपौरुषेय उपनिषच्छास्त्र का वैसा प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से अभिभूत कर हमनें सर्वथैव विस्मृत कर दिया है।

उक्त आठ स्तम्भों के अतिरिक्त इच्छा न रहते हुए भी सन्मित्रों के विशेष आग्रह से सर्वान्त में **'परिशिष्टसंग्रह'** नामक एक प्रकरण का समावेश और हो गया है, जिसमें उन शास्त्रीय प्रमाण--वचनों की अक्षरार्थसङ्गति कर दी गई है, जो वचन प्रस्तुत तृतीय खण्ड में यत्र-तत्र समाविष्ट हुए हैं। उपनिषत्-स्वाध्याय में प्रवृत्त होने वाले मादृश वेदवीथि-पथिकों के लिए यह प्रयास अवश्य ही सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः मनस्तुष्टि का ही कारण प्रमाणित होगा।

आज से अनुमानतः १३ वर्ष पूर्व खण्डत्रयात्मक यह भूमिकाग्रन्थ सम्पन्न हो गया था। किन्तु नियति के निग्रह से अद्यावधि इसे व्यक्तीभाव का अवसर प्राप्त न हो सका। विगत कार्त्तिक मास में स्थापित **'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'** के सहयोग से प्रकाशनप्रवृत्ति पुनः प्रक्रान्त हुई है, जिसके परिणामस्वरूप संस्थान की ओर से अब तक तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। खण्डचतुष्टयात्मक-**'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'** नामक ग्रन्थ का प्रथम खण्ड प्रथम प्रकाशित हुआ। अनन्तर **'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड'** प्रकाशित हुआ *। एवं तीसरा प्रकाशन अष्टस्तम्भात्मक प्रस्तुत **'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड'** है।

---

* **'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड'** आज से १०-१२ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो गया था, जो योग्य विद्वानों में निःशुल्क बाँट दिया गया है। पुनःप्रकाशनानन्तर ही इस प्रथमखण्ड की उपलब्धि सम्भव होगी, जो कि पुनःप्रकाशन अद्यावधि तो संस्थान-सञ्चालकों की मानसेच्छा (उत्थाप्याकांक्षा) पर ही निर्भर है।

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी माननीय **डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल** महाभाग की प्रेरणा के फलस्वरूप ही संस्थान स्थापित हुआ, जिसमें प्राणप्रतिष्ठा की श्रेष्ठिप्रवर **श्रीकुड़ीलालजी** सेकसरिया **श्रीमहावीरप्रसादजी** मुरारका, तथा **श्रीजगदीशप्रसादजी** सेकसरिया महाभाग ने। जैसाकि, डॉ० महाभाग का अनुमान था, प्रारम्भिक भूतप्रतिष्ठा के अनन्तर ही राजस्थानसत्ता का ध्यान भी संस्थान की ओर आकर्षित होगा, एवं तन्माध्यम से संस्थान-प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठित बन जायगी। इसी दृष्टिबिन्दुमाध्यम से डॉ० महाभाग निरन्तर १० मास से प्रयत्नशील हैं। राजस्थानसत्ता के माननीय मुख्यमन्त्री महोदय **श्रीसुखाड़ियाजी** महोदय से भी संस्थान के अन्यतम संस्कृतिनिष्ठ माननीय **श्रीलक्ष्मीलालजी जोशी** महोदय के माध्यम से ३-४ बार साक्षात्कार हुआ, जिनमें माननीय मुख्यमन्त्री महोदय ने पूर्णनिष्ठा के साथ ही इस दिशा में अविलम्ब कुछ न कुछ करने का आश्वासन प्रदान किया। **'आशा बलवती राजन्!'** न्याय से अब भी डॉ० महोदय इस दिशा में निराश नहीं हैं। और हम भी यही मङ्गलकामना अभिव्यक्त कर रहे हैं कि, अवश्य ही डॉ० महाभाग को इस दिशा में कभी न कभी अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी।

जहाँ तक हमारा अपना प्रश्न है, इस दिशा में यह प्रपत्ति अश्माखण्भावापन्ना बन चुकी है कि,-"जब तक व्यापकरूप से इस आर्ष वैदिक साहित्य की ज्ञानविज्ञानात्मिका मौलिक दिशा से राष्ट्रप्रज्ञा परिचित नहीं हो जाती, तब तक प्रान्तीय सत्ताओं से, एवं केन्द्रसत्ता से केवल इतस्ततः दन्द्रम्यमाणवृत्ति से इस दिशा में कदापि सफलता नहीं मिल सकती"। विगत तीन वर्ष पर्य्यन्त एक विशेष मित्र के प्रबलतम आग्रह से हमने इस दिशा में पूर्ण प्रयत्न कर लिए हैं, जिनके द्वारा हो पड़ने वाली आर्थिक क्षति का संवरण हम अद्यावधि भी नहीं कर सके हैं। भूतपूर्व मुख्यमन्त्री माननीय **श्रीजयनारायणजी** व्यास के करकमलों के द्वारा प्रकाशनसमिति का उद्घाटन हुआ। तत्कालीन शिक्षामन्त्री महोदय माननीय **श्रीभोलानाथजी** महोदय के इस दिशा में निश्चित आश्वासन उपलब्ध हुए। राजस्थानसत्ता के चार मन्त्री तत्कालीन समिति के सम्मान्य सदस्य भी बने। इनकी प्रेरणा से अभिनन्दन-उत्सवादि सभी सामयिक आयोजनों का अनुगमन भी हुआ। किन्तु अन्ततोगत्त्वा **'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः'** ही परिणाम निकला। और अधिक समय पर्य्यन्त इन झञ्झावातों के भारवहन में अपने आपको नितान्त असमर्थ अनुभूत करते हुए हमने गतवर्ष की समाप्ति पर ही इस लोकतन्त्रात्मिका सत्ता के व्यामोहन से सदा के लिए आत्मत्राण कर लेना ही श्रेयःपन्था मान लिया।

इसी अवसानवेला में मा० डॉ० महोदय ने अपने प्रयास से नवीन 'संस्थान' स्थापित किया, एवं नवीनरूप से सत्तासहयोग का उपक्रम किया, जिसका इतिवृत्त पूर्व में स्पष्ट किया ही जा चुका

है। डॉ० महाभाग के सान्निध्य का हमने यही अर्थ समझा है कि, "निरतिशय श्रम-परिश्रमात्मक आश्रम-जीवन में सलग्न रहते हुए एकाकीरूप से साहित्यसेवा में संयुक्त रहने के कारण सर्वथैव शिथिलकाय बन जाने वाले वर्त्तमान जीवन में ऐसा सहयोग उपलब्ध होगा, जिसके बल पर बाह्य-चिन्ताओं से उन्मुक्त होकर हम अपने शेष जीवन में केवल अध्ययनाध्यापन में हीं प्रवृत्त रह सकें"। संस्थान के भुक्त-प्रक्रान्तकाल में अद्यावधि तो हमें ऐसा अवसर नहीं मिल सका है। अपितु ठीक इसके विपरीत अमुक उन समस्याओं का ही साम्मुख्य करना पड़ा है, जिनका स्वाध्यायनिष्ठा से न केवल कोई सम्बन्ध ही नहीं है, अपितु जो एषणाएँ स्वाध्याय-प्रतिबन्धिका ही प्रमाणित हुई हैं। हमें वैसा कोई सा भी लोक--सहयोग किसी भी सन्धा पर अभीप्सित नहीं है, जो समस्यानिराकरण के स्थान में अधिक समस्याजनक बन जाय। **'सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः'** ही हमारे जीवन का मूलमन्त्र रहा है, एवं यावज्जीवन रहेगा बड़े से बड़ा लोकमूल्य चुका कर भी। हम डॉ० महोदय से यही आवेदन करेंगे कि, 'संस्थान' का सूत्रपात्र उनकी व्यावहारिकी प्रज्ञा के आधार पर ही हुआ है। अतएव 'संस्थान' का संरक्षण एकमात्र उनकी निष्ठा पर ही अवलम्बित है। सर्वतोभावेन 'संस्थान' का विकास उन्हीं के सहयोग पर अवलम्बित है। हमारा इसप्रकार का स्पष्टीकरण इससे पूर्व भी अमुक मित्रों को हमारी केवल 'सनक' ही प्रतीत होता रहा है। किन्तु यह स्पष्ट है कि-इसी 'सनक' ने हमें अद्यावधि लोकैषणाओं से उन्मुक्त रखते हुये स्वाध्यायनिष्ठ बनाए रक्खा है। हम तो कृतज्ञ हैं संस्थान की ओर से उस श्रेष्ठिप्रवरत्रयी के प्रति, जिसने संस्थान को प्राणदान देने का अनुग्रह किया है, एवं जिसके बल पर तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो सके हैं, एवं दो मेधावी आचार्य्य वेदस्वाध्यायव्रत के अनुगामी बन सके हैं। और इस दिशा में हमारी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि, प्रकाशनकार्य्य भले ही कालान्तर में अर्थाभाव से उपरत हो जाय, किन्तु मानवाश्रमविद्यापीठ की यह अध्ययनाध्यपनपरम्परा तो उसी श्रेष्ठिप्रवरत्रयी के अनुग्रह से सदा ही अक्षुण्ण बनी रहेगी। तदतिरिक्त हमारी यह भी आस्था है कि, यदि माननीय डॉ० महाभाग कुछ समय पर्य्यन्त 'संस्थान' को ही लक्ष्य बना कर, इसे ही स्थायीरूप प्रदान करने की कामना से निष्ठापूर्वक योगदान का अनुग्रह करेंगे, तो अवश्यमेव 'संस्थान' भारत के लिए एक आदर्श ही प्रमाणित होगा, इसी मङ्गलकामना के साथ यह **'किमपि प्रास्ताविकम्'** उपरत हो रहा है।

नम्रो विधेयः—

मोतीलालशर्म्मा (भारद्वाजः)
वेदवीथीपथिकः

मानवाश्रमविद्यापीठ—
दुर्गापुरा, (जयपुर)
श्रीकृष्णजन्माष्टमी
वि० २०१३

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–तृतीयखण्ड की संक्षिप्त–विषयसूची

श्री :

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड की

संक्षिप्त-विषयसूची

१–पौरुषेय-अपौरुषेय-मीमांसा (प्रथमस्तम्भ) पृष्ठ १ से १०४ पर्य्यन्त

२–उपनिषत्प्रतिपाद्यविषयदिग्दर्शन (द्वितीयस्तम्भ) १०५ से २४८ पर्य्यन्त

३–उपनिषच्छिक्षास्वरूपदिग्दर्शन (तृतीयस्तम्भ) २४६ से ३१८ पर्य्यन्त

४–औपनिषद-ज्ञानाधिकारिस्वरूपदिग्दर्शन (चतुर्थस्तम्भ) ३१६ से ३६४ पर्य्यन्त

५–ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन (पञ्चमस्तम्भ) ३६५ से ३६२ पर्य्यन्त

६–श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि (षष्ठस्तम्भ) ३६३ से ४१६ पर्य्यन्त

७–औपनिषद–ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तदिग्दर्शन (सप्तमस्तम्भ) ४१७ से ४३० पर्य्यन्त

८–उपनिषत् के साथ गीता का समतुलन (अष्टमस्तम्भ) ४३१ से ४४६ पर्य्यन्त

* उपनिषद्भाष्यभूमिकोपसंहार (४४७ से ४५० पर्य्यन्त)

* परिशिष्टसंग्रह (शास्त्रीयवचनाक्षरार्थसमन्वय)

१–प्रथमस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

१–माङ्गलिक संस्मरण ……१

२–सन्दर्भसङ्गति ……१

३–दार्शनिक दृष्टि और मीमांसासूत्र ……३

४–वाग्देवी के चार विवर्त्त ……१७

५–आम्भृणी–सूक्तरहस्य ……१८

६–'चत्त्वारि वाक्परिमिता पदानि' मन्त्र के ११ रहस्यार्थ ……२५

७–'गौरीर्मिमाय सलिलानि' मन्त्ररहस्यार्थ ……४४

८–वैज्ञानिक दृष्टि, और मीमांसासूत्र

९–शब्दनित्यानित्यत्त्वमीमांसा ……५२

१०–शब्दब्रह्म, एवं अर्थब्रह्म का समतुलन ……५६

११–वेदापौरुषेयत्त्व-पौरुषेयत्त्व-मीमांसा ……६८

१२–सिंहावलोकन ……७८

१३–वेदशास्त्र, और हमारा प्रचलित दृष्टिकोण ……७६

१४–वेदप्रामाण्यरक्षा, और प्राचीन व्याख्याता ……८०

१५–मन्त्रद्रष्टारः, और मन्त्रकृतः ……८२

१६–वेदप्रामाण्य पर आपत्ति, और उसका निराकरण ……८५

१७–वेदमन्त्रों का मन्त्रत्त्व, और विज्ञानवाक् ……६३

१७–उपनिषच्छास्त्र का अक्षुण्ण वेदत्त्व ……६७

१६–वेदभक्तों की वितण्डा, और उसका निराकरण ……६७

इति–एकोनविंशति–(१६)–परिच्छेदात्मकः–प्रथमः–स्तम्भः

—१—

(२)–द्वितीयस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

१–द्वितीयस्तम्भोपक्रम …१०७
२–भूतसर्ग, और शास्त्रोपदेश …१०७
३–समाधानपरम्परा …११०
४–उपनिषदों के सन्तमतानुयायी प्राचीन व्याख्याता …१११
५–उपनिषदों के गौण-प्रधान-लक्ष्य …११४
६–निगम-अनुगम-रहस्य मीमांसा …११५
७–आत्मन्वी ईशप्रजापति …११८
८–कार्य्यरूप विश्व के दो तत्त्व …१२०
९–कारणस्वरूप विश्वमूल के दो तत्त्व …१२५
१०–विश्वात्मा के १६ बलकोश …१२८
११–प्रविविक्तब्रह्मविवर्त्त …१४१
१२–श्वोवसीयसब्रह्म …१४२
१३–पञ्चगतिसमष्टिलक्षण अक्षरब्रह्म …१४३
१४–काममय पुरुषब्रह्म …१४५
१५–प्राकृत ब्रह्म के दो विवर्त्त …१४८
१६–षोडशकल ईशप्रजापति …१४९
१७–'प्रज्ञा' शब्द का तात्त्विक विश्लेषण …१५२
१८–विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-पुर-विवर्त्तचतुष्टयी …१५३
१९–प्रजापति की पाँच संस्थाएँ …१५७
२०–'संविदन्ति' का रहस्यार्थ …१५९
२१–आत्म-ब्रह्म-यज्ञ-योनि …१६१
२२–सप्तभुवनसृष्टि …१६४
२३–त्रीणि ज्योतींषि …१६६
२४–भूतयोनि-भूतभावन-भूतेश्वर …१६७
२५–सच्चिदानन्दघन ईश्वर …१६८
२६–विश्वकर्म्मा के सखा, और तीन धाम …१६९
२७–यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि …१७१
२८–ईश्वरस्वरूपसिंहावलोकन …१७५
२९–देवसत्यस्वरूपपरिचय …१७५
३०–जीवात्मस्वरूपविश्लेषण …१८०
३१–उपनिषच्छास्त्र का मुख्य लक्ष्य …१८१
३२–ईशोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय(१) …१८४
३३–केनोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय(२) …१८७
३४–कठोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय(३) …१९०
३५–प्रश्नोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय(४) …१९४
३६–मुण्डकोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय (५) …१९५
३७–माण्डूक्योपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय (६) …१९९
३८–तैत्तिरीयोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय (७) …२०१
३९–ऐतरेयोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय (८) …२०५
४०–छान्दोग्योपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय (९) …२१०
४१–बृहदारण्यकोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय (१०) …२२६
४२–श्वेताश्वतरोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय (११) …२४४
४३–कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय (१२) …२४५
४४–मैत्रायण्युपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय (१३) …२४७
* प्रकरणोपसंहार …२४७

इति–चतुश्चत्वारिंशत्–(४४)–परिच्छेदात्मकः–द्वितीयः-स्तम्भः

—२—

३–तृतीयस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

१–प्राचीनदृष्टि, और उपनिषदों की शिक्षा ···२५१
२–प्रत्नदृष्टि, और उपनिषदों की शिक्षा ···२६१
३–उपनिषदों की सञ्चरविद्यात्मिका शिक्षा ···२६७
४–उपनिषदों की प्रतिसञ्चरविद्यात्मिका शिक्षा ···२७०
५–उपनिषदों की कर्म्मयोगात्मिका धर्म्मबुद्धियोगशिक्षा (१) ···२७४
६–उपनिषदों की भक्तियोगात्मिका ऐश्वर्य्यबुद्धियोगशिक्षा (२) ···२८२
७–उपनिषदों की ज्ञानयोगात्मिका ज्ञानबुद्धियोगशिक्षा (३) ···२८८
८–उपनिषदों की बुद्धियोगात्मिका वैराग्यबुद्धियोगशिक्षा (४) ···२६२
६–उपनिषदों की व्यावहारिक-शिक्षा ···२६७
१०–उपनिषदों का शिक्षण-कौशल ···३०७
*–प्रकरणोपसंहार ···३१७

इति–दश (१०) परिच्छेदात्मकः–तृतीयः-स्तम्भः

—३—

——*——

४–चतुर्थस्तम्भे–एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

१–ब्रह्मविद्या, और तत्प्रतिपादक शास्त्र ···३२१
२–वर्णप्रजा, और अधिकारमर्य्यादा ···३२४
३–संस्कार, और अधिकारमर्य्यादा ···३२७
४–संस्कारस्वरूपदिग्दर्शन ···३२६
५–ब्रह्मविद्यावित्–परमाचार्य्य ···३३१
६–ब्रह्मपर्षत्स्वरूपदिग्दर्शन ···३३३
७–पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा ···३३७
८–याज्ञवल्क्यसम्मता अधिकार-मर्य्यादा ···३४८
६–परिशिष्ट–अधिकारमर्य्यादा ···३५६
१०–स्वाध्यायव्रतमीमांसा ···३६०
*–प्रकरणोपसंहार ···३६३

इति–दश–(१०)–परिच्छेदात्मकः–चतुर्थः स्तम्भः

—४—

——*——

४–पञ्चमस्तम्भे–एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

१–उपनिषत्, और उपनिषच्छास्त्र ···३६७
२–उपनिषच्छब्द का अवच्छेदक ···३७०
३–काण्डत्रयी का त्रिपुटी सम्बन्ध ···३७१
४–कृत्स्नात्मक वेदशास्त्र, और तन्त्रों की अकृत्स्नता ···३७८
५–कृत्स्नात्मक वेदशास्त्र, और तन्त्रों की सर्वता ···३८०
६–मन्त्रसंहिता की सर्वता ···३८१
७–ब्राह्मणवेद की सर्वता ···३८३
८–आरण्यकवेद की सर्वता ···३८७
६–उपनिषद्वेद की सर्वता ···३८८
*–प्रकरणोपसंहार ···३८१

इति—नव–(६)–परिच्छेदात्मकः–पञ्चमः-स्तम्भः

—५—

६—षष्ठस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

१-भारतीयशास्त्र ···३६५
२-चतुःसंस्थ अपौरुषेयशास्त्र ···३६६
३-आगम-निगम-रहस्य ···३६६
४-षडङ्गस्वरूपपरिचय ···४००
५-आगमविवर्त्त परिचय ···४०३
५-श्रुति शब्द के आधुनिक व्याख्याता ···४०४
७-श्रुति-स्मृति-संज्ञामीमांसा ···४०५
८-एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि ···४११

इति-अष्ट (८) परिच्छेदात्मकः-षष्ठः-स्तम्भः

—६—

७— सप्तमस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

१-औपनिषद ज्ञान का स्वरूप ...४१६
२-देवयुग, और युगव्यवस्था ···४२०
३-ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय ···४२२
४-राजर्षिविद्यात्मक औपनिषद ज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तक ···४२४
५-लोकभावुकतासंरक्षक-प्रकरण का उपसंहार ···४२५
६-प्रकरणोपसंहारदृष्टि का उपलालन-भाव, एवं सिद्धान्तपक्ष ···४२६

इति-षट्-(६)-परिच्छेदात्मकः-सप्तमः-स्तम्भः

—७—

८—अष्टमस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

१-उपनिषत्, और गीता ···४३३
२-गीताशास्त्र की मर्य्यादा ···४३२
३-दर्शन, और शास्त्रमर्य्यादा ···४३४
४-गीता का महान् कौशल ···४३५
५-गीता का दृष्टिकोण ···४३६
६-गीता, और कृत्स्न-वेदशास्त्र ···४३७
❀ प्रकरणोद्देश्य ···४४४

इति-षट्-(६)-परिच्छेदात्मकः-अष्टमः-स्तम्भः

८

*—भूमिका-तृतीयखण्डोपसंहार, एवं खण्डत्रयात्मक-भूमिकाग्रन्थोपसंहार ४४७
*—परिशिष्टसंग्रहः (खण्डान्तर्गत-वचनार्थसंग्रहः)

उपरतश्चायं अष्टस्तम्भात्मकः—भूमिका—तृतीयखण्डः

उपरता चेयं तृतीयखण्डस्य

संक्षिप्ता—विषयसूची

श्री:

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

पौरुषेय-अपौरुषेयमीमांसा नामक

प्रथमस्तम्भ

१

---✻---

श्रीः

ओं तत् सद्-ब्रह्मणे नमः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका

तृतीयखण्ड

१—पौरुषेय–अपौरुषेय मीमांसा (प्रथमस्तम्भ)

१—माङ्गलिक संस्मरण—

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥१॥
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति–"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥२॥
वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥३॥
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥४॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥५॥
वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती–परमेश्वरौ ॥६॥
ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥७॥

२—सन्दर्भसङ्गति—

"आत्मनिवेदन, मङ्गलरहस्य, उपनिषच्छब्दार्थ, उपनिषदों का वेदत्व" इन चार विषयों का भूमिका–प्रथमखण्ड में क्रमिक निरूपण हुआ हैं । चारों में से चौथा विषय किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए बहुविस्तृत बन गया है । पहिले हमारा ऐसा अनुमान था कि, भूमिका प्रथमखण्ड में हीं चौथे विषय का स्पष्टीकरण हो जायगा, एवं द्वितीयखण्ड में प्रतिज्ञात शेष पाँचों विषयों का समावेश हो जायगा । फलतः भूमिका

ग्रन्थ दो खण्डों में सम्पन्न हो जायगा। परन्तु उपनिषदों के वेदत्त्व की मीमांसा आरम्भ करते हुए जब हमनें तात्त्विक वेद के स्वरूप का उपक्रम किया, तो ऐसा भान होने लगा कि, प्रथमखण्ड में इस विषय का पूरा स्पष्टीकरण न हो सकेगा। तात्त्विक वेद से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक वेदनिरुक्तियों का सामान्यतः दिग्दर्शन करा के ही प्रथमखण्ड समाप्त कर देना पड़ा।

भूमिका द्वितीयखण्ड में वेद के तात्त्विक स्वरूप का निरूपण हुआ। वेदपदार्थ से सम्बन्ध रखने वाले विविध विषयों के स्पष्टीकरण से द्वितीयखण्ड का कलेवर यद्यपि प्रथम खण्ड की अपेक्षा से बहुविस्तृत बन गया। तथापि शब्दार्थाभेदानुबन्धिनी जिस 'पौरुषेयापौरुषेय' समस्या को सुसमन्वित करने के लिए वेद के तात्त्विक स्वरूप का निरूपण हुआ था, अवसर न मिला। परिणामतः इस चौथे विषय के इस अत्यावश्यक अङ्ग के स्पष्टीकरण के लिए, एवं प्रतिज्ञात शेष पाँच विषयों के लिए भूमिका-तृतीयखण्ड प्रस्तुत करना पड़ा। इस प्रकार आरम्भ में एक ही खण्ड में, एवं आगे जाकर दो खण्डों में समाप्त होने वाला भूमिकाग्रन्थ तीन खण्डोंमें सम्पन्न हुआ।

यद्यपि हम यह अनुभव कर रहे हैं कि, 'उपनिषद्भूमिका' के सम्बन्ध में वेदनिरूपण को इतना विशदरूप देना ग्रन्थस्वरूपमर्य्यादा से अतिक्रान्त है। इसके लिए हमें स्वतन्त्र ही प्रयास करना चाहिये था। तथापि प्रकरणसमत्त्व से ग्रन्थमर्य्यादा की उपेक्षा करते हुए उपनिषद्भूमिका में हीं 'वेदमीमांसा' का समावेश कर देना सामयिक मान लिया गया। इसी प्रासङ्गिक वेदमीमांसा से प्रस्तुत ग्रन्थ विशद बन गया। भूमिका प्रथमखण्ड के लगभग २०० पृष्ठ, ५०० पृष्ठात्मक सम्पूर्ण द्वितीयखण्ड, एवं तृतीयखण्ड के १०० पृष्ठ, इस प्रकार सम्भूय ८०० पृष्ठों में तो केवल **"क्या उपनिषत् वेद है ?"** इस चतुर्थ प्रश्न की ही मीमांसा हुई है।

प्रश्नमीमांसा से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक भावों का अब तक स्पष्टीकरण हुआ है। जैसा कि प्रश्नोपक्रम में यह स्पष्ट किया गया था कि, "क्या उपनिषत् वेद है ?" इस प्रश्न का समाधान वेदापौरुषेय-पौरुषेय से सम्बन्ध रखता है, एवं अपौरुषेयत्त्व भावों की निश्चित मीमांसा के लिए वेद के वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण आवश्यकरूप से अपेक्षित है" (देखिए-भू० १ खण्ड ४ प्रकरण, पृ० सं० १-१२७) इसी उपक्रम-प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के लिए प्रथमखण्ड से आरम्भ होने वाली दार्शनिकदृष्टि से द्वितीयखण्ड-समाप्ति पर्य्यन्त वेदस्वरूप का स्पष्टीकरण करना पड़ा। इस प्रतिपादित वेदस्वरूप के आधार पर विज्ञ पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि, शब्दात्मक वेदग्रन्थ पौरुषेय है, एवं तत्त्वात्मक वेद अपौरुषेय है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध की जटिल समस्या से सम्बन्ध रखने वाली पौरुषेयापौरुषेयमीमांसा इसप्रकार यद्यपि वेद के तात्त्विकस्वरूप विश्लेषण से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। तथापि शब्दनित्यत्त्वपक्षपाती मीमांसकों के सुदृढ वैज्ञानिक सिद्धान्त को देखते हुए अभी तक मीमांसा अपूर्ण ही मानी जायगी। इसी अपूर्णता की पूर्त्ति के लिए प्रक्रान्त चतुर्थ प्रश्न के सम्बन्ध में 'पौरुषेय, अपौरुषेयमीमांसा' नाम से एक स्वतन्त्र प्रकरण का समावेश करना आवश्यक समझा गया है। इस प्रकरण में शब्दार्थसम्बन्ध का स्पष्टीकरण करते हुए मीमांसा-सूत्रों के तात्पर्य्यार्थ की ही निश्चित व्यवस्था होगी। एवं इसी आधार पर 'क्या उपनिषत् वेद है ?' इस चतुर्थ प्रश्न का निश्चित निर्णय किया जायगा।

३—दार्शनिक दृष्टि, और मीमांसासूत्र—

उक्त प्रश्न के वैज्ञानिक निर्णय से पहिले हमें दार्शनिकों के, विशेषतः पूर्वमीमांसा (जैमिनिसूत्रों) के उन दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा करनी है, जिनके आधार पर सर्वश्री भाष्यकार शम्बरस्वामी ने विज्ञानानुमोदित मीमांसासूत्रों की दार्शनिकव्याख्या करते हुए शब्दात्मक वेदग्रन्थों की अपौरुषेयता सिद्ध करने का प्रयास किया है। वेद की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में जो सब से बड़ा हेतु हमारे सामने आता है, वह है—**'शब्दनित्यतावाद'**। स्वयं जैमिनि भगवान् ने शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध मानते हुए इसी वाद का समर्थन किया है।

सूत्रकार ने जिस दृष्टि से शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध मानते हुए शब्दनित्यता के आधार पर वेद की अपौरुषेयता स्थापित की है, उस दृष्टि का अनादिनिधना नित्या उस वाक् से सम्बन्ध है, जिससे नित्य शब्दार्थों का प्रादुर्भाव हुआ है। **'वाग्विवृताश्च वेदाः'** इत्यादि श्रुतिसिद्ध वाङ्मय वेद नित्या वाक् से सम्बन्ध रखता हुआ अवश्य ही अपौरुषेय है जिस अपौरुषेय वेद को हम **'वेदविद्या'** कहा करते हैं, जिसके स्पष्टीकरण के लिए 'वेदग्रन्थों' का आविर्भाव हुआ है। परन्तु भाष्यकार शबरस्वामी की पंक्तियों से कुछ ऐसा भान हो रहा है कि, वे शब्दात्मक वेदग्रन्थों को ही अपौरुषेय मानने का प्रयास कर रहे हैं, जो कि प्रयास **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वै० द०) इत्यादि कणाद सिद्धान्त से तो विरुद्ध है ही, साथ ही स्वयं सूत्रों से भी वह प्रयास गतार्थ नहीं हो रहा।

अस्तु जैमिनिसूत्रों का विज्ञानानुमोदित तात्पर्य्य क्या है ?, यह आगे स्पष्ट होने वाला है। अभी तो हमें लोकप्रचलित शबर-स्वामी की दृष्टि को लक्ष्य में रख कर दार्शनिक दृष्टि से ही वेद की अपौरुषेयता का विचार करना है। पूर्वमीमांसा ने आरम्भ में 'धर्म्मजिज्ञासा' से विषय का उत्थान करते हुए धर्म्म को 'चोदनालक्षण' (शब्दप्रमाणलक्षण आदेश) बतलाया है। धर्म्म स्वयं एक अतीन्द्रिय पदार्थ है। अतएव धर्म्मप्रामाण्य के सम्बन्ध में इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में तो उन आप्त-पुरुषों का शब्द ही एकमात्र निर्णायक माना जायगा, जिन्होंनें अपनी अतीन्द्रियज्ञानलक्षणा आर्षदृष्टि से अतीन्द्रिय धर्म्मतत्त्व का साक्षात्कार कर शब्द के द्वारा उसके सम्बन्ध में अपना निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाणभूत निर्णय प्रकट किया है। सूत्रकार के सामने जब धर्म्मजिज्ञासा का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो उन्होंने निम्नलिखित सूत्रों से उक्त प्रामाण्य का ही समर्थन किया—

१—"अथातो धर्म्मजिज्ञासा" (१।१।१)

२—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः" (१।१।२)

३—"तस्य निमित्तपरीष्टिः" (१।१।३)

**४—"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म—
तत्प्रत्यक्षनिमित्तं, विद्यमानोपलम्भनत्वात्"** (१।१।४)

उक्त सूत्रचतुष्टयी का प्रकृत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव इसकी मीमांसा में न पड़ते हुए इस सम्बन्ध में केवल यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, धर्म्मसम्बन्ध में प्रत्यक्षादि प्रमाणों को अवसर नहीं है। एकमात्र शब्दनोदनालक्षण शब्दप्रमाण ही धर्म्म में प्रमाण है। शब्दप्रामाण्यवाद जब हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, तो सर्वप्रथम शब्दार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध-ज्ञान की जिज्ञासा होती है। इसी सम्बन्ध-जिज्ञासा को शान्त करने के लिए निम्नलिखित सूत्रसन्दर्भ हमारे सम्मुख उपस्थित होता है—

* निर्भुजपाठः—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे-तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। कर्म्मैके तत्र दर्शनादस्थानात् करोतिशब्दात्, सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात् प्रकृतिविकृत्योश्च वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य। समं तु तत्र दर्शनं सतः परमदर्शनं विषयानागमात् प्रयोगस्य परमादित्यवद्यौगपद्यं वर्णान्तरमविकारो नादवृद्धिपरा। नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् सर्वत्र यौगपद्यात् संख्याभावादनपेक्षत्वात् प्रख्याभावाच्च योगस्य लिङ्गदर्शनाच्च। उत्पत्तौ वाऽवचनास्स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात्तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वाल्लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात्"।

* * * * *

उक्त सूत्रसन्दर्भ को हम ५ भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक सूत्रात्मक प्रथम विभाग में सिद्धान्त पक्ष का, षट्सूत्रात्मक द्वितीय विभाग में परपक्ष का, षट्सूत्रात्मक तृतीय विभाग में परपक्षखण्डन का, षट्सूत्रात्मक चतुर्थविभाग में स्वपक्ष समर्थन का, तथा सूत्रत्रयात्मक पञ्चमविभाग में शब्दवाचकत्त्व का स्पष्टीकरण हुआ है। इस विभागदृष्टि से सूत्रसन्दर्भ का निम्नलिखित संस्थान क्रम हो जाता है—

१—स्वसिद्धान्तोद्घाटनम्—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"।

* * * * *

२—परपक्षोद्घाटनम्—

"कर्म्मैके तत्र दर्शनादस्थानात् करोति शब्दात् सत्त्वान्तरे च-यौगपद्यात् प्रकृतिविकृत्योश्च वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य"।

* * * * *

* ऐतरेय आरण्यक ने दो प्रकार के पाठों की व्यवस्था की है। विषय विभाग न करते हुए संहितारूप से होने वाला पारायणोपयोगी पाठ 'निर्भुजपाठ' कहलाया है। एवं विषयविभाग को स्पष्ट करने वाला, अर्थज्ञानोपयोगी पाठ 'प्रतृण्णपाठ' कहलाया है। यहाँ सूत्रसन्दर्भ के दोनों पाठ उद्धृत कर दिए गए हैं।

३—परपक्षनिराकरणम्—

"समं तु तत्र दर्शनं सतः परम दर्शनं विषयानागमात् प्रयोगस्य परमादित्यव-यौगपद्यं वर्णान्तरमविकारो नादवृद्धिपरा"।

* * * * *

४—स्वपक्षसमर्थनम्—

"नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् सर्वत्र यौगपद्यात्-संख्याभावादनपेक्षत्वात् प्रख्याभावाच्च योगस्य लिङ्गदर्शनाच्च"।

* * * * *

५—शब्दवाचकत्वनिरूपणम्—

"उत्पत्तौ वाऽवचनास्स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात्तद्भूतानां-क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वाल्लोके सन्नि-यमात् प्रयोगसंनिकर्षः स्यात्"।

* * * * *

प्रतृगणपाठः—

(१)—स्वसिद्धान्तोद्घाटनम्—

(१)–१–"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (क)।
तस्य ज्ञानमुपदेशः, अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे (ख)।
तत् प्रमाणं बादरायणस्य, अनपेक्षत्वात्" (पू० मी० १।१।५)।

* * * * *

(२)—परपक्षोद्घाटनम्—

(२)–१–"कर्म्मैके, तत्र दर्शनात्" (१।१।६।)।
(३)–२–"अस्थानात्" (१।१।७।)।
(४)–३–"करोति-शब्दात्" (१।१।८।)।
(५)–४–"सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्" (१।१।८।)।
(६)–५–"प्रकृति-विकृत्योश्च" (१।१।१०।)।
(७)–६–"वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य" (१।१।११।)।

* * * * *

(३)–परपक्षनिराकरणम्—

(८)–१–"समं तु तत्र दर्शनम्" (१।१।१२।)

(९)–२–"सतः परमदर्शनं, विषयानागमात्" (१।१।१३।)।

(१०)–३–"प्रयोगस्य परम्" (१।१।१४।)।

(११)–४–"आदित्यवद्यौगपद्यम्" (१।१।१५।)

(१२)–५–"वर्णान्तरमविकारः" (१।१।१६।)।

(१३)–६–"नादवृद्धिपरा" (१।१।१७।)।

* * * * *

(४)–स्वपक्षसमर्थनम्—

(१४)–१–"नित्यस्तु स्यात्, दर्शनस्य परार्थत्वात्" (१।१।१८।)।

(१५)–२–"सर्वत्र यौगपद्यात्"

(१६)–३–"संख्याभावात्" (१।१।२०)।

(१७)–४–"अनपेक्षत्वात्" (१।१।२१)।

(१८)–५–"प्रख्याभावाच्च योगस्य" (१।१।२२।)।

(१९)–६–"लिङ्गदर्शनाच्च" (१।१।२३।)।

* * * * *

(५)–शब्दवाचकत्वनिरूपणम्—

(२०)–१–"उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युः, अर्थस्यातन्निमित्तत्वात्" (१।१।२४।)।

(२१)–२–"तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः, अर्थस्य तन्निमित्तत्वात् (१।१।२५।)।

(२२)–३–"लोके सन्नियमात् प्रयोगसंनिकर्षः स्यात्" (१।१।२६।)।

* * * * *

(१)–स्वसिद्धान्तोद्घाटनम्—

(१)—१ 'शब्द, का अर्थ के साथ औत्पत्तिक (उत्पत्ति-सृष्ट, नतु उत्पन्न-सृष्ट) सम्बन्ध है। (कौन शब्द किस अर्थ का वाचक है, इत्याकारक शब्द तथा अर्थ के इस औत्पत्तिक सम्बन्ध का) ज्ञान (वृद्धव्यवहार लक्षण परम्परारूप उपदेश से लोक मर्य्यादा में, तथा शास्त्रीय शब्दार्थमर्य्यादा में आप्तोपदेश लक्षण) उपदेश से होता है। (जब उपदेश के द्वारा नित्यसिद्ध शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है, तो तत् शब्दवाच्य) अर्थ (विषय) के न रहने पर (भी तद्वाचक शब्द के द्वारा ही तद्वाच्य अर्थ) का बोध हो जाता

है (इसलिए भी शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य ही मानना पड़ता है) । (शास्त्रीय शब्दमर्य्यादा से, विशेषतः वेदशब्दमर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाला आप्तोदेश लक्षण शब्दोपदेश) अवश्य ही प्रमाण है । भगवान् बादरायण ने भी (**'निरपेक्षो रवः श्रुतिः'** इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रखते हुए) आप्तोपदेशलक्षण वेद-प्रामाण्य की निर्भ्रान्त प्रामाणिकता स्वीकार की है" । (सिद्धान्तपक्षः) (१) ।

* * * * * *

(२)–परपक्षोद्घाटनम्—

(२)—१-(शब्दानित्यत्ववादी) कितने एक दार्शनिक (नैय्यायिकादि) कहते हैं कि, शब्द में कर्म्म का समावेश है । (उन अनित्यवादियों का कहना है कि, उच्चारणक्रिया के प्रवृत्त होने पर उसमें शब्द मर्य्यादा) देखी जाती है । (कर्म्म क्योंकि अनित्य है, एवं इसका शब्द के साथ ओतप्रोतभाव देखा जाता है, इसी आधार पर मानना पड़ेगा कि, शब्द सर्वथा अनित्य है) । श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का सुनना ही उच्चारण क्रिया में शब्द का दर्शन है, एवं श्रवण लक्षण यह दर्शन ही शब्दानित्यत्व का पोषक बन रहा है । (१) ।

(३)—२"(शब्द की अनित्यता में दूसरा कारण बतलाता हुआ परपक्षी कहता है कि) 'अस्थान' हेतु से भी हम शब्द को अनित्य ही कहेंगे । (मुख से बोले हुए शब्द की न तो हम मुखस्थान में हीं कोई प्रतिष्ठा देखते, न कर्णशष्कुली में हीं, न आकाश में हीं । देखते हैं कि, देवदत्त ने यज्ञदत्त से सुना, यज्ञदत्त ने विष्णुदत्त से, इस प्रकार एक दूसरे के मुखविवर से शब्द उत्पन्न होता गया. साथ ही साथ विलीन भी होता गया । उत्पन्न–प्रध्वस्त स्थान–प्रतिष्ठा शून्य ऐसे शब्द को कभी नित्य नहीं कहा जा सकता) । (२) ।

(४)—३-अपिच (शब्द का उच्चारण करो–'शब्दं कुरु', शब्द का उच्चारण मत करो– 'शब्दं मा कार्षीः' इत्यादि रूप से) 'करोति' शब्द से शब्द का सम्बन्ध देखा जाता है । ('करोति' शब्दमर्य्यादा ही अपने अनित्यलक्षण क्रियाभाव से यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, शब्द अवश्य ही अनित्य है") । (३) ।

(५)—४-अपिच-"(हम देखते हैं कि, एक ही 'राम' शब्द का) एक ही समय में अनेक व्यक्ति उच्चारण करते हैं । (शब्दोच्चारण का यह यौगपद्य भी शब्दानित्यत्व का ही समर्थन कर रहा है । यदि शब्द नित्य होता, तो एक व्यक्ति के द्वारा एक समय में उच्चारण का विषय बनता हुआ वह अन्य व्यक्ति के द्वारा उसी समय में कभी उच्चारण का विषय न बनता)" । (४) ।

(६)—५-अपिच-"(वर्णों के) प्रकृति–विकृतिभाव से भी शब्द का अनित्यत्व ही सिद्ध हो रहा है । (जो तत्त्व नित्य होता है. वह अपने प्राकृतिक स्वरूप को कभी नहीं छोड़ता । परन्तु देखते हैं कि सुध्युपास्यः, दध्यत्र, चिदात्मा, चिन्मयः, चिल्लयः, चिच्छक्तिः, चिज्जन्यं, चित्सत्यं, चिड्डामरः, इत्यादि शब्दों में वर्णप्रकृति के अनेक विकार उपलब्ध हो रहे हैं । वर्णों का यह विकारभाव भी शब्दानित्यत्व का ही समर्थक बन रहा है) " । (५) ।

७—६-अपिच-"समोच्चारणकाल में वही शब्द वृद्धिभाव में परिणत देखा (सुना) जाता है । (यदि अनेक व्यक्ति एक साथ मिलकर किसी शब्द का उच्चारण करते हैं, तो एक व्यक्ति के उच्चारण की

अपेक्षा वही शब्द उच्चस्वरयुक्त सुनाई पड़ता है । शब्द का यह वृद्धिभाव भी अनित्यत्त्व का समर्थन कर रहा है । उच्चारण का तारतम्य ही शब्दावयवों के अपचय का समर्थक बनता हुआ इनका अनित्यत्त्व सिद्ध कर रहा है ")। (६)। (परपक्षः)

* * * * * *

(३)–परपक्षनिरसनम्—

८—१–"(उक्त ६ सूत्रों से सूत्रकार शब्दानित्यत्त्व का उद्‌घाटन कर, आगे के ६ सूत्रों से उक्त हेतु वादों का हेत्वाभासत्त्व–मिथ्या हेतुत्त्व–सिद्ध करते हुए कहते हैं कि) पूर्व में शब्दानित्यत्त्व समर्थन के लिए जो हेतु उपस्थित किए गए हैं, वे हेत्त्वाभास हैं । इनसे कभी शब्द का अनित्यत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । शब्द में वादी ने कर्म्म का दर्शन (श्रवण) बतलाते हुए शब्द की अनित्यता बतलाई थी । इस प्रथम हेतु के सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि, जो अर्थ (विषय) नित्य होता है, उसके सम्बन्ध में भी कर्म्म की मर्य्यादा देखी सुनी जाती है । विद्यमान अर्थ का सदा सर्वदा दर्शन हो ही, यह नियम नहीं है । बहुत दूर होने से, बहुत समीप होने से, इन्द्रियदोष से, इन्द्रिय सहकारी प्रज्ञान (सर्वेन्द्रियमन) के अस्थिर रहने से, विषय की आत्यन्तिक सूक्ष्मता से, विषय तथा इन्द्रियों के मध्य में किसी व्यवधान के आजाने से, तथा ऐसे ही अनेक कारणों से विद्यमान वस्तु भी दर्शन का विषय नहीं बना करती । उक्त प्रतिबन्धकों को हटाने के लिए प्रयत्नलक्षण कर्म्म करने से ही उस सद्वस्तु का दर्शन होता है । आवरण हटाने के लिए किए गए कर्म्म मात्र से उस सद्वस्तु का अनित्यत्त्व सिद्ध होगया, यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा । हमारे कर्म्म से आवरण मात्र हटता है, न कि शब्द उत्पन्न होता है । 'प्रयत्नलक्षण कर्म्म से शब्द का दर्शन (श्रवण) होता है,' इस हेतु का सम्भवतः वादी ने यह तात्पर्य्य समझ लिया है कि, यह कर्म्म शब्द का उत्पादक है । उत्पन्न वस्तु अनित्य होती है, इसीलिए प्रयत्न कर्म्म से उत्पन्न शब्द भी अनित्य है । इस पर हमारा कहना है कि, जिस कर्म्म को वादी ने शब्द का उत्पादक मान लिया है, वह कर्म्म तो शब्द का अभिव्यञ्जकमात्र है । पीतमृत्तिका में पहिले से गन्ध विद्यमान है । परन्तु अभिव्यञ्जक पदार्थ के सम्बन्ध न होने पर्य्यन्त पहिले से विद्यमान भी मृद्‌गन्ध के दर्शन (गन्धग्रहण) नहीं होते । जब इसमें जलसेक कर्म्म किया जाता है, तो तत्काल गन्ध के दर्शन होजाते हैं । क्या जलसेक कर्म्म गन्ध का उत्पादक है ? । ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए । उच्चारण से पहिले जो नित्य विद्यमान शब्द अनभिव्यक्त था, वही उच्चारण कर्म्म से अभिव्यक्त होता हुआ हमारे दर्शन (श्रवण) का विषय बन गया है, एतावता क्या उच्चारण कर्म्म शब्द का उत्पादक मान लिया जायगा ? । कदापि नहीं ।

और फिर हमारे यह भी समझ में नहीं आया कि, वादी ने इस अप्रयोजक, तथा अनैकान्तिक हेतु को उद्‌धृत ही क्यों किया, जब कि यह हेतु नित्यानित्य दोनों पक्षों में समान है । यदि शब्द अनित्य है, तब भी उच्चारण कर्म्म अभिव्यञ्जक मात्र है । यदि शब्द नित्य है, तब भी यह कर्म्म अभिव्यञ्जक मात्र है । इससे शब्द की नित्यता, अनित्यता का जब कोई सम्बन्ध ही नहीं, तो ऐसे हेतु को उद्‌धृत करना क्या निष्प्रयोजन नहीं है ? (१) ।"

९—२–वादी का दूसरा हेतु था **'अस्थानात्'** । "शब्द की कोई प्रतिष्ठा नहीं है, अपितु वह उच्च-रित–प्रध्वस्त है । यदि शब्द सत् (नित्य) होता, तो उसकी कोई प्रतिष्ठा होती, हमें वह सदा सुनाई पड़ता"

इस हेतु का भी उस समय कोई महत्त्व नहीं रह जाता, जब सत्-सूर्य्य का उदाहरण हमारे सामने आता है। हम मानते हैं कि, कण्ठताल्वादि जनित संयोग-विभाग कर्म्म से ही शब्दोच्चारण होता है। परन्तु एतावता ही शब्द का अनित्यत्त्व सिद्ध नही किया जा सकता। संयोग विभाग तो शब्द के अभिव्यञ्जक मात्र ही मानें जायेंगे। सायंकाल सूर्य के दर्शन होते हैं, पृथ्वी की भूभारूप आवरण के आजाने से रहते हुए भी सूर्य्य का अदर्शन (अप्रत्यक्ष) हो जाता है। जब आवरण हट जाता है, तो प्रातः पुनः सूर्य्य दर्शन होजाता है। सूर्य्य सत् पदार्थ है। परन्तु देखते हैं, आवरण से वह नहीं भी दिखलाई देता। नियत स्थान प्रतिष्ठा में रहता हुआ भी सत् सूर्य्य जैसे आवरण से, अभिव्यञ्जक सामग्री के अभाव से दृष्टि का विषय नहीं बनता, एवमेव सत्-शब्द भी आवरण से अस्थानवत् सा प्रतीत होने लगता है। दर्शनादर्शनलक्षण अस्थान भाव शब्द की अस्थानता का समर्थन करने में असमर्थ है। (२)"।

(१०)-३ "वादी का कहना था कि, शब्द के साथ **'शब्दं कुरु'-'शब्दं मा कार्षीः'** इत्यादि रूप से 'करोति' लक्षण अनित्या क्रिया का सम्बन्ध देखा जाता है, इस लिए भी शब्द अनित्य है"। इस सम्बन्ध में हमारा यह कहना है कि, जिन जिन स्थानों में 'करोति' का सम्बन्ध देखा जाता है, उन उन स्थानों में शब्द प्रयोग के लिए ही इस 'प्रैष' का सम्बन्ध मानना पड़ेगा। तात्पर्य्य यही है कि, कुरु, मा कार्षीः, इत्यादि प्रैष (आज्ञा) शब्द के प्रयोग से सम्बन्ध रखता है, न कि शब्द से। हम देखते हैं कि, शब्दप्रयोग करने वाले के लिए ही "यह शब्द करता है" इत्यादि रूप से 'करोति' का व्यवहार होता है। फलतः करोति का सम्बन्ध शब्द-प्रयोग से है, न कि शब्द से। जब शब्द के साथ 'करोति' का सम्बन्ध ही नहीं; तो इस हेतु से शब्द का अनित्यत्त्व कैसे सिद्ध किया जासकता है" (३)

(११)-४ "वादी का चौथा हेतु यह था कि-"एक ही रामशब्द का एक ही समय में अनेक व्यक्ति उच्चारण करते हैं। यह यौगपद्य भी शब्दानित्यता ही सिद्ध कर रहा है"। इस के उत्तरमें सूर्य्य-दृष्टान्त ही पर्य्याप्त होगा। सत्-सूर्य्य एक है, यह निर्विवाद है। इस एक सत्-सूर्य्य का एक ही समय में असंख्य व्यक्ति दर्शन कर रहे हैं। क्या इस यौगपद्य से सत्-सूर्य्य की नित्यता में कोई बाधा है ?। यदि नहीं, तो सत् शब्द के सम्बन्ध में होने वाला उच्चारणानुबन्धी यौगपद्य शब्दनित्यता में कैसे बाधक माना जासकता है ?" (४)।

(१२)-५ "पांचवाँ हेतु वर्णों का विकारभाव था। वादी का कहना था कि 'दध्यत्र' इत्यादि स्थानों में 'इकार' प्रकृति के स्थान में यकार विकृति उपलब्धि हो रही है। विकारभाव अनित्यता का समर्थक है। उत्तर में यह निवेदन करना है कि, वर्णसमाम्नाय में पठित अकारादि ५० वर्ण सर्वथा नित्य हैं। इन नित्य वर्णों के सम्बन्ध में शब्दतत्त्वरहस्यवेत्ता विद्वानों ने यह व्यवस्था की है कि, 'अमुक स्थल में-प्रसङ्ग में-अमुक वर्ण का ही उच्चारण करना चाहिए। इकार एक स्वतन्त्र नित्य वर्ण है, यकार एक स्वतन्त्र नित्य वर्ण है। शास्त्र व्यवस्था करता है कि, जहाँ इकार के आगे अकार वर्ण रहे, वहाँ इकार का उच्चारण न कर यकार का उच्चारण करना चाहिए। क्या इस वर्णव्यत्यासलक्षणा व्यवस्था से शब्द अनित्य होगया ?। कभी नहीं" (५)।

(१३)-६ "अनेक व्यक्तियों के एक साथ मिल कर शब्दोच्चारण से भेरी मृदङ्गादि के शब्द से शब्द में वृद्धि देखी जाती है" इस छठे हेतु का भी उस समय कोई महत्त्व नहीं रह जाता, जब हमारा ध्यान शब्दानु-स्यूत 'नाद' भाव की ओर जाता है। वायवीय संयोग विभाग से सम्बन्ध रखने वाला शब्द नादभाव में परिणत

होजाता है। शब्दोच्चारण के अभिव्यञ्जक वायवीय संयोग विभाग ही 'नाद' शब्द से व्यवहुत हुए हैं। शब्दोच्चारण में जो वृद्धि सुनी जाती है, वह यथार्थ में नाद की वृद्धि है, न कि शब्द की। फलतः वादी के इस अन्तिम हेतु का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता" (६)। (परपक्षखण्डनम्)।

(४) स्वपक्षसमर्थनम्—

प्रथम सूत्र से शब्दार्थ का औत्पात्तिक सम्बन्ध बतलाते हुए सूत्रकारने शब्दका नित्यत्व (सिद्धान्त) व्यवस्थित किया। आगे के (२–७) के ६ सूत्रों से उन ६ हेत्वाभासों का स्पष्टीकरण किया, जिन के आधार पर परपक्षी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध कर रहा है। उत्तर के (८–१३) ६ सूत्रों से उन ६ ओं हेत्वाभासों का निराकरण करते हुए सूत्रकारने परपक्ष का खण्डन किया। अब आगे के (१४-१६) ६ सूत्रों से स्वसिद्धान्त (शब्द–नित्यत्त्व) का समर्थन करने वाले कुछ एक तात्त्विक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हो रहा है—

(१४)-१-"यदि वस्तुस्थिति का तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाता है, तो यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है कि, "**शब्द सर्वथा नित्य ही है।**" शब्दोच्चारयिता का परार्थ शब्ददर्शन ही शब्दनित्यता में निर्बाध हेतु है। उच्चारयिता शब्दस्वरूप के परिचय के लिए, दूसरे शब्दों में शब्द-स्वरूप की प्रतिपत्ति (बोध) के लिए अपने मुख से शब्द का उच्चारण नहीं करता। यद्यपि यह ठीक है कि उच्चारयिता के शब्दोच्चारण से श्रोता को शब्दस्वरूप का बोध होता है, तथापि उच्चारयिता के प्रयत्न का यहीं विश्राम नहीं मान लिया जाता। अपितु वह शब्दप्रतिपत्ति के द्वारा तत्-शब्दवाच्य किसी अर्थ का श्रोता को बोध करना चाहता है। यही क्यों, उच्चारयिता का प्रधान लक्ष्य यही रहता है कि, मुझ से उच्चरित शब्द का श्रोता अमुक तात्पर्य्य समझे। बिना अर्थप्रतिपत्ति को लक्ष्य बनाए कोई भी उच्चारयिता निरुद्देश्य, निरर्थक शब्द का उच्चारण नहीं किया करता। इसी आधार पर मानना पड़ेगा कि, उच्चारयिता का प्रधान लक्ष्य है–श्रोता को शब्द के द्वारा अर्थप्रतिपत्ति कराना।

अब देखना यह है कि, उच्चारयिता के मुख से निकला हुआ शब्द श्रोता को तद्वाच्य (शब्दवाच्य) अर्थ का बोध कैसे करा देता है ?। कहना पड़ेगा कि, इस अर्थावबोध के लिए शब्दविशेष का अर्थविशेष के साथ शक्तिग्रह होना परमावश्यक है। 'राम शब्द का अमुक अर्थ है' यह जाने बिना कभी श्रोता राम शब्द के श्रवण से लाभ नहीं उठा सकता। शब्द का अर्थ के साथ जो नियत शक्तिग्रह है, वही शब्द के अर्थबोध में प्रधान हेतु हैं। शक्तिग्रह के द्वारा शब्द के वाच्य अर्थ का बोध होना तभी सम्भव बन सकता है, जब कि शब्द को नित्य मान लिया जाय। यदि परपक्षी के कथनानुसार शब्द अनित्य है, तो वह उच्चरित-प्रध्वस्त–मर्य्यादा से भी आक्रान्त मानना पड़ेगा। अपने इस नाशधर्म्म से पूर्व-शब्द उत्तर काल में प्रवृत्त नहीं होसकता। वह भी कहना पड़ेगा। जिस राम शब्द का जिस अर्थ में उच्चारयिता, तथा श्रोता दोनों को पहिले से शक्तिग्रह था, शब्दानित्यत्त्वपक्ष में इदानीं उस शक्तिग्रह का अभाव है। क्योंकि पहिला शब्द भिन्न था, इस समय बोला सुना गया शब्द भिन्न है। इस समय (तत्काल) उत्पन्न होने वाले शब्द का अर्थ के साथ शक्तिग्रह है नहीं। फिर शब्दार्थ बोध (श्रोता को) हुआ कैसे ?, एवं ऐसे अविज्ञात शक्तिग्रह वाले शब्द का उच्चारयिता ने उच्चारण किया कैसे ?, यह उन्हीं शब्दानित्यत्त्ववादियों से प्रष्टव्य है।

जिनके मत में शब्द नित्य है, वे इस विप्रतिपत्ति से दूर हैं। उच्चारयिता इस समय अर्थप्रत्ययदृष्टि से जिस नित्य शब्द का उच्चारण कर रहा है, उसका यह शब्दोच्चारण उसी अतिप्राचीन शक्तिग्रह से

सम्बन्ध रखता हुआ अर्थप्रत्यय का साधक बन रहा है, एवं इसी प्राक्तन शक्तिग्रह के आधार पर श्रोता को अर्थावबोध कराने के लिए उच्चारयिता शब्द का उच्चारण करने में कोई आपत्ति नहीं समझता। जिस शब्दार्थ-शक्तिग्रह से इस समय अर्थबोध होता है, वह शक्ति उच्चारणविषयीभूत जिस शब्द में पहिले से गृहीत है, वही शक्ति उसी शब्द में आज भी अविच्छिन्नरूप से विद्यमान है। वही राम शब्द है, वही उसका अर्थ है, एवं वही शक्तिग्रह है। राम शब्द नवीन हो, उस में शक्तिग्रह नवीन हो, यह बात नहीं है, जिसका हेतु पूर्व में बतलाया जा चुका है। इसप्रकार अर्थप्रतिपत्ति के समन्वय के लिए शब्द का नित्यत्त्व ही सिद्ध हो रहा है" (१)।

(१५)—२-"शब्द नित्य है, इस सम्बन्ध में दूसरा निर्बाध हेतु है-**'शब्द का यौगपद्य'**। गौ शब्द के सुनते ही हमें एक साथ सम्पूर्ण गौ व्यक्तियों का बोध हो जाता है। दूसरे शब्दों में गौ शब्द गौजाति का बोधक बन रहा है। यदि शब्द अनित्य होता, तो कभी यह जाति का बोधक नहीं बन सकता था।

दूसरी दृष्टि (विज्ञानदृष्टि) से सूत्रार्थ का समन्वय कीजिए। किसी एक व्यक्ति ने अपने मुख से गौ-शब्द का उच्चारण किया। सामने असंख्य श्रोता खड़े हैं। सबने वह गौ शब्द सुना, एवं सबको शब्दार्थ का ज्ञान हो गया। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि शब्द को नित्य मान लिया जाय। जिनके मत में शब्द अनित्य है, वे इस यौगपद्य का कथमपि समन्वय नहीं कर सकते। कारण स्पष्ट है। अनित्यता-पक्ष में शब्द मुख से उत्पन्न हुआ, वहीं नष्ट हो गया। ऐसी दशा में अन्य व्यक्तियों के लिए इसका भान असम्भव है। कण्ठ-ताल्वादि स्थान, करण, संयोग, विभागादि शब्दोत्पादक व्यापार केवल उच्चारयिता से ही सम्बन्ध रखते हैं। अन्यत्र इनका अभाव है। जब अन्यत्र शब्दोत्पादक व्यापारों का अभाव है, तो अन्यत्र शब्द श्रवण का भी अभाव ही मानना पड़ेगा।

इधर जो शब्द को नित्य मानते हैं, उनके मतानुसार यौगपद्य का भलीभाँति समन्वय हो रहा है। मुखप्रदेशलक्षण एक नियत बिन्दु से निकला हुआ नित्य शब्द एक ही साथ चारों ओर आकाश मण्डल में (वीचीतरङ्गन्याय से) अपना एक परिमण्डल (वर्त्तुलवृत्त) बना डालता है। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊपर नीचे सर्वत्र इस शब्दमण्डल की व्याप्ति हो जाती है। इस शब्दपरिमण्डल की सीमा के गर्भ में जितनें व्यक्ति प्रतिष्ठित रहते हैं, परिमण्डलान्तर्वर्त्ती शब्द उन सब व्यक्तियों में उस शब्द की नोदना कर देता है, फलतः सब उसे सुनने में समर्थ हो जाते हैं। इसप्रकार हमारा यह 'शब्दयौगपद्य' भी शब्द-नित्यता का ही समर्थन कर रहा है" (२)।

(१६)—३-"संख्या का अभाव भी शब्दनित्यता ही सिद्ध कर रहा है। यदि एक व्यक्ति अपने मुख से १०-१५ बार एक ही गौशब्द का उचारण करता है, तो लोक में ऐसे उच्चारयिता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि-'इसने १०-१५ वार एक ही गौ शब्द का उचारण किया'। शक्तिग्राहकशिरोमणिभूत यह लोकव्यवहार केवल उचारण की अनेक संख्या बतलाता हुआ, साथ ही शब्द की एक संख्या बतलाता हुआ शब्दनित्यत्त्व ही घोषित कर रहा है। यदि शब्द अनित्य होता, तो पूर्व व्यवहार के स्थान में यह व्यवहार होता कि-"अमुक व्यक्ति १०-१५ गौ शब्द बोल रहा है"। परन्तु ऐसा व्यवहार नहीं होता, जिसका कि एक मात्र मूल हेतु है-शब्द का नित्यत्त्व" (३)।

(१७)--४-" 'अनपेक्षत्त्व' हेतु से भी शब्द की नित्यता ही सिद्ध हो रही है । सापेक्षवाद का उपादान लक्षण कार्य्य-कारणभाव से सम्बन्ध है । घट कार्य्य है, मृत्तिका कारण है । पट कार्य्य है, तन्तु कारण है । घट-पट कार्य्यों की स्वस्वरूपनिष्पत्ति के लिए उपादानकारणरूप मृत्तिका-तन्तुओं की अपेक्षा रहती है । परन्तु देखते हैं, शब्द अपने स्वरूप के लिए किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता । शब्द के आरम्भक अवयवविशेष घट-पटवत् शब्द का स्वरूप निर्म्माण करते हों, यह बात नहीं हैं । कण्ठताल्वादि निमित्तकारणों से नित्य शब्द किसी उपादान कारण की अपेक्षा न रखता हुआ स्वतः प्रकट हो जाता है । जो अनेपक्ष है, वह अवश्य ही नित्य है" (४)

(१८)--५-"यदि कोई यह आग्रह करे कि "शब्दस्वरूपसिद्धि के लिए अवयवरूप कारणों की अपेक्षा अवश्य ही रहती है । 'राम' शब्द की सिद्धि 'र्-अ-अ-म्-अ' इतने अवयवों की समष्टि पर निर्भर है । ऐसी दशा में घट-पटवत् हम शब्द को भी सापेक्ष ही कहेंगे । जब शब्द सापेक्ष है, तो वह अनित्य भी अवश्य ही है" । तो इस अवयवयोग के सम्बन्ध में हमें 'प्रख्याभाव' हेतु उपस्थित करना पड़ेगा । केवल वर्णों की समष्टि देख कर अपेक्षा मानना असङ्गत है । कौन कहता है--'र्-अ-अ-म्-अ' मिल कर राम शब्द बना है । 'राम' इत्याकारक शब्द स्वतन्त्र है, वर्ण स्वतन्त्र हैं । अतएव 'राम' शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है, वह उक्त वर्णों से कभी सम्भव नहीं है । यदि अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि, वर्णसमष्टि ही शब्दनिष्पत्ति का कारण है, तब भी प्रख्या के अभाव से यह कारणता अपेक्षावाद का समर्थन करने में असमर्थ है । घट-पटादि में मृत्-तन्तु का जैसा योग बतलाया जाता है, क्या शब्दमर्य्यादा में वैसा योग प्रतीत होता है ? नहीं । शब्दस्वरूपनिष्पत्ति प्राकृतिक है, नित्य है । इधर घट-पट की स्वरूपनिष्पत्ति विकारभाव से सम्बन्ध रखती हुई अनित्य है । शब्दसम्बन्धी कार्य्यकारणभाव भावात्मक होने से नित्य है, घट-पट सम्बन्धी कार्य्य-कारणभाव भूतात्मक होने से अनित्य है । दोनों में अहोरात्र का अन्तर है । उधर अपेक्षावाद का साम्राज्य भूतसृष्टि से ही सम्बन्ध रखता है, न कि भावसृष्टि से । मानसीसृष्टि ही भावसृष्टि है, जिसका भूतसृष्टिलक्षणा वैकारिकी, तथा मैथुनीसृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

इस पर भी यदि कोई प्रातिशाख्यसिद्धान्त को लेकर यह आक्षेप करे कि, "**वायुः खात्, शब्दस्तत्**' इस प्रातिशाख्य वचन के अनुसार वायु ही शब्दरूप में परिणित होता है । वायु एक भौतिक कारण है । इस अनित्य (भौतिक) वायु की कारणता से सम्बन्ध रखने वाला शब्द भी अवश्य ही अनित्य है" तो इस आक्षेप के सम्बन्ध में भी '**योगस्य प्रख्याभावात्**' यही उत्तर दिया जायगा । शब्दाविर्भाव में जो महत्त्व संयोग-विभागादि भावनात्मक कारणों का है, वायु भी (भूत होता हुआ भी) शब्दाविर्भाव में अपना वही महत्त्व रखता है । वायु केवल नोदनारूप से निमित्तमात्र बनता है, मृत्तिका-तन्तुवत् शब्द का उपादान नहीं ।

वायु को शब्दोत्पत्ति में कारण मानने वालों से हम पूछते हैं कि, यदि वायु मृत्तिका-तन्तुवत् शब्द का उत्पादान कारण है, तो शब्द में वायु का सन्निवेश क्यों नहीं उपलब्ध होता । मृत्तिका से उत्पन्न घट में हमें मृत्तिका उपलब्ध हो रही है । परन्तु देखते हैं शब्द में वायवीय अवयवों का कहीं गन्ध भी नहीं है । यदि शब्द में वायवीय अवयव होते, तो वायुवत् शब्द का भी स्पर्श होता । फलतः सिद्ध हो जाता है कि, वायु शब्द का उपादान नहीं हैं, अपितु शब्दाविर्भाव का निमित्त मात्र है ।" (५) ।

(१९)—८-"शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्' इस सिद्धान्त को मानने वालों की दृष्टि में युक्ति-तर्क-हेतु वादों का कोई महत्त्व नहीं है। अब तक हमनें तर्कादि के द्वारा ही शब्द का नित्यत्व व्यवस्थित किया है। परन्तु अब हम उस शब्दप्रमाण को उद्धृत करते हैं, जिसकी प्रामाणिकता आस्तिकजगत् में सर्वमूर्द्धन्या मानी जाती है। निम्नलिखित श्रौत-स्मार्त-लिङ्ग (वचन) शब्द को ब्रह्म बतलाते हुए, वाग्देवी को अनादिनिधना मानते हुए इसकी नित्यता का ही समर्थन कर रहे हैं—

१—"वाग् ब्रह्म" (श्रुतिः)
२—"वाचा विरूपनित्यया" (श्रुतिः)
३—"अथो वागेवेदं सर्वम्" (श्रुतिः)
४—"वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता" (श्रुतिः)
५—"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा" (स्मृतिः)" (६)।

(स्वसिद्धान्तसमर्थनम्)

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

(५)—शब्दवाचकत्त्वनिरूपणम्—

"औत्पपत्तिकस्तु०" (१।१।५) से आरम्भ कर "लिङ्गदर्शनाच्च" (१।१।२३) पर्य्यन्त (१९ सूत्रों से) सूत्रकार ने शब्द की नित्यता, अनित्यता का विचार करते हुए सिद्धान्त में शब्दनित्यत्त्ववाद स्थापित किया। अब "उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युः०" (१।१।२४) इत्यादि से आरम्भ कर "लोके सन्नियमात्०" (१।१।२६) पर्य्यन्त सूत्रत्रयी के द्वारा वाचकत्त्व, अवाचकत्व के सम्बन्ध में सूत्रकार अपना अभिप्राव प्रकट करते हैं। प्रश्न इस सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, 'शब्द और अर्थ का यदि औत्पत्तिक सम्बन्ध है, तो शब्द अर्थों के वाचक किस आधार पर मान लिए गए' ! । यही विषयोत्थानिका करते हुए सूत्रकार कहते हैं *—

(२०) "शब्द, तथा अर्थ, दोनों का प्रादुर्भाव यद्यपि एक नित्य वाक्तत्त्व से ही हुआ है। तथापि वे शब्द उन अर्थों के वाचक नहीं माने जा सकते। शब्दार्थ क्योंकि समानप्रभव हैं, अतः इनके औत्पत्तिक सम्बन्ध स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं जा सकती। परन्तु एतावता ही शब्दों का वाचकत्त्व सिद्ध नहीं होता। यदि अर्थ का शब्द निमित्त होता, दूसरे शब्दों में यदि अर्थाविर्भाव में शब्द का सहयोग होता, तो इस निमित्त-सम्बन्ध से यथाकथंचित् शब्दों को अर्थों का वाचक माना जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं

*—विज्ञानदृष्टि से शब्द, तथा अर्थ, दोनों की उत्पत्ति एक ही वाक्तत्त्व से हुई है, जो कि वाक्तत्त्व सर्वथा नित्य है। प्रकृत जैमिनिसूत्र इसी नित्या वाक् को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुए हैं। दूसरे शब्दों में जैमिनि ने जिस शब्द को नित्य कहा है, वह यही वाक्तत्व है, जिससे अर्थ, और वर्णात्मक अनित्यशब्द का प्रादुर्भाव हुआ है। इस विज्ञानदृष्टि का आगे के परिच्छेदों में विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। अभी प्रस्तुत सिद्धान्त का (यथोद्देशपक्षानुसार) स्वीकार करके ही हमें सूत्रत्रयी का समन्वय करना है।

है । शब्द, अर्थ, दोनों के आविर्भाव का निमित्त तीसरा वाक्तत्त्व है, एवं इसी लिए शब्दार्थ का समानप्रभवत्त्व भी सिद्ध होता है । दो समान प्रभवों में एक दूसरे का परस्पर लिङ्ग (परिचायक) नहीं बन सकता । जब कि शब्द अर्थ का निमित्त नहीं है, दोनों का आविर्भाव समकक्षा में आता हुआ जब स्वतन्त्र है, तो कभी शब्दों को अर्थों का वाचक नहीं माना जा सकता । जब शब्द अर्थ का वाचक ही नहीं, तो ऐसी शब्दलक्षणा चोदना को धर्म्म में क्यों कर प्रमाण माना जा सकता है" (१) ।

(२१) समानप्रभवत्त्व हेतु के द्वारा वाचकत्त्व का विरोध उद्धृत कर, इस पक्ष का निराकरण करते हुए आगे जाकर सूत्रकार कहते हैं कि, शब्द की अनिमित्तता के आधार पर ही शब्दों की वाचकता का विरोध नहीं किया जा सकता । जिस क्रिया से, जैसी क्रिया से अर्थों का आविर्भाव हुआ है, उसी क्रिया से, वैसी ही क्रिया से शब्दों का आविर्भाव हुआ है । अर्थात् शब्दब्रह्म, अर्थब्रह्म दोनों का आविर्भाव, आविर्भावानुबन्धिनी क्रिया समतुलित है । जैसी जो व्यवस्था शब्दब्रह्म की है, वैसी वही व्यवस्था अर्थब्रह्म की है । (जैसा कि आगे के परिच्छेदों में **"शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति"** इत्यादि सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्पष्ट किया जाने वाला है) ।

तात्पर्य्य कहने का यह हुआ कि, यद्यपि स्वयं शब्द अर्थ का निमित्त नहीं है, किन्तु शब्दाविर्भावानुबन्धिनी प्रक्रिया अवश्य ही अर्थ का निमित्त बन रही है । शब्दानुबन्धिनी प्रक्रिया एक ऐसा साँचा है, जिसके अनुरूप ही अर्थ का आविर्भाव होता है । इसी क्रियासादृश्यलक्षण निमित्त के आधार पर (वाचकाभिप्राय से) शब्दों का समाम्नाय (उच्चारण) करना अन्वर्थ बन रहा है ।

उत्पत्तिक्रिया के प्रकार का प्रदर्शन (लोकव्यवहार में) उस क्रिया से उत्पन्न अर्थ को व्यक्त करता देखा जाता है । उदाहरण के लिए एक व्यक्ति अपने हाथ को यदि अपनी ओर लाने की क्रिया करता है, तो इस क्रिया से किसी अन्य व्यक्ति को बुलाने का तात्पर्य्य सूचित होता है । यदि हाथ को अपने से विरुद्ध ले जाने की क्रिया करता है, तो इससे उस व्यक्ति को लौटाने का संकेत सूचित होता है । इस दृष्टान्त के आधार पर जब हम शब्दार्थ की मीमांसा करने चलते हैं, तो हमें स्वीकार करना पड़ता है कि, शब्दों, तथा अर्थों का समानप्रक्रिया से सम्बन्ध रहने के कारण एक के प्रदर्शन से अन्य का स्वरूप गतार्थ हो जाता है । प्रत्यक्ष में देखते हैं कि, वक्ता जिस भाव को लक्ष्य बनाकर जिस प्रक्रिया से शब्द का उच्चारण करता है, श्रोता पर इस क्रिया के अनुरूप ही उच्चावच भावों का प्रभाव पड़ता है । सिद्ध होता जाता है कि, शब्द अपनी उत्पत्ति-क्रिया के संकेत द्वारा वैसे ही क्रिया से उत्पन्न अर्थ का बोध कराता हुआ अवश्यमेव उस अर्थ का वाचक बन रहा है (२)" ।

(२२)—"उत्पत्ति क्रिया के सादृश्य से जहाँ शब्दों का वाचकत्त्व सिद्ध हो रहा है, वहाँ औत्पतिकता भी दृढ़रूप से प्रमाणित हो रही है । दोनों का प्रभव एक, प्रभवप्रक्रिया समान, इसीलिए दोनों का औत्पत्तिक सम्बन्ध, एवं शब्दार्थ का वाच्यवाचकभाव निःसंदिग्ध बना रहा है । शब्द, अर्थ, दोनों समसम्बन्धी हैं । अतएव एक के द्वारा दूसरे सम्बन्धी का बोध हो पड़ता है, जैसाकि–**'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनः स्मारकं भवति'** इस न्याय से स्पष्ट है । गौ शब्द वाचक है, गौ पदार्थ वाच्य है, दोनों

का मूल एक ही आप्या वाक् है । यही कारण है कि, गौ शब्द सुनने से गौपदार्थ बुद्धि में आ जाता है, एवं गोपदार्थ देखने से गौशब्द हमारे अन्तर्जगत् में प्रकट हो जाता है । इसप्रकार शब्दनित्यत्त्व, शब्दार्थ का औत्पत्तिकत्त्व, शब्दार्थ का वाच्यवाचकत्त्व सर्वात्मना सिद्ध हो रहा है ।

अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है । प्रकृत सूत्र उसी का समाधान कर रहा है । "यच्च यावत् शब्दों तथा अर्थों का मूलप्रभव एक ही वाक्तत्त्व है, यह कहा गया है । यदि ऐसा है, तो सभी शब्दों को सभी अर्थों का वाचक होना चाहिए । सबसे सबका बोध होना चाहिए । परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता । प्रत्येक शब्द नियत अर्थ का ही सूचक बन रहा है । इससे तो यही सिद्ध हो रहा है कि, शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध नहीं है, अपितु उत्पन्नसृष्टसम्बन्ध है । पीछे से शब्दों की योग्यता के अनुसार अर्थों का सम्बन्ध करा दिया गया है ।" इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"यद्यपि यह ठीक है कि, औत्पत्तिक सम्बन्ध के आधार पर सभी शब्द सब अर्थों के वाचक हैं । तथापि व्यवहार की सुविधा के लिए शब्दार्थ के सम्बन्ध का, सम्बन्धानुबन्धी वाचकत्त्व का नियमन किया गया है । यह व्यवस्था की गई है कि, 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिए, अन्य अर्थों का नहीं । सिद्धान्तरूप से शब्द का सर्वार्थवाचकत्त्व रहने पर भी प्रयोग करने वाला व्यक्ति स्वप्रयुक्त शब्द से सांकेतिक नियत अर्थ का ग्रहण करता हुआ ही शब्द का प्रयोग करता है । तात्पर्य्य यह हुआ कि, 'अमुक अर्थ के अभिप्राय से अमुक शब्द प्रयुक्त हुआ है, सर्वार्थाभिप्राय से नहीं, इस नियम से प्रयोग के आधार पर प्रयोग के अनुरूप ही अर्थ का संनिकर्ष होगा ।

उदाहरण के लिए 'धूप' शब्द को लीजिए । राजपूताना की प्रान्तीय भाषा में धूप शब्द के प्रयोग से सूर्य्यातपलक्षण अर्थ का ग्रहण होता है । किन्तु शास्त्रभाषा में वही शब्द धूममय गन्धयुक्त द्रव्यविशेष का संग्राहक बन रहा हैं । इस नियमव्यवस्था का एकमात्र हेतु है लोकव्यवहार । प्रयोगात्मक शब्द को सुनने वाला श्रोता अपनी बुद्धि में लोकव्यवहार संचालन के लिए नियत अर्थ का ही संनिकर्ष प्राप्त करे, एकमात्र इसी हेतु से 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इस सिद्धान्त पक्ष की उक्त व्यवस्था करना आवश्यक समझा गया है । यह व्यवस्था केवल व्यावहारिकी है, सिद्धान्ततः सभी शब्द सब अर्थों के वाचक हैं" (३) ।

तीनों सूत्रों की उक्त व्याख्या का निम्नलिखित दृष्टिकोण से भी समन्वय किया जा सकता है । "एक ही वाक्तत्त्व से शब्दार्थ का आविर्भाव हुआ है । इसलिए हम मान लेते हैं कि, दोनों का औत्पत्तिक सम्बन्ध है । तथापि शब्दार्थ का वाच्य-वाचक भाव नहीं बन सकता । समान उत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर भी शब्द अर्थों के अवचन (अवाचक) ही मानें जायँगे । क्योंकि जो जिसका निमित्त होता है, वही उसका वाचक माना जाता है । इधर शब्द अर्थाविर्भाव का क्योंकि निमित्त नहीं है, अतएव शब्द अवाचक है" (१) ।

"यह ठीक है कि, शब्द अर्थ का निमित्त नहीं है, तथापि शब्दों का वाचकत्त्व अप्रतिहत है । कारण यही है कि, तत्तदर्थों के सम्बन्ध में लोकव्यवहारप्रक्रिया के उद्देश्य से संकेतविधि से क्लृप्त शब्दों का समाम्नाय किया गया है ! निघण्टु, निर्वचनादि प्रक्रियाओं के द्वारा पूर्वकाल से आरम्भ कर अद्यावधि शब्दोपदेशपरम्परा सुरक्षित देखी जाती है । अयं काकः, अयं पिकः, इत्यादि व्यवहार अविच्छिन्न रूप से चला आ

रहा है। आबाल–वृद्ध वनिता–सब काक पिकादि शब्दों से काक–पिकादि अर्थों का बोध कर रहे हैं। इस परम्परासिद्ध शब्दसमाम्नाय के आधार पर कहा जा सकता है कि, अमुक शब्द अमुक अर्थ में ही निरूढ़ है। निरूढ़भाव से शब्द अवश्य ही अर्थों के वचन (वाचक) माने जा सकते हैं। शब्द अर्थ का निमित्त न सही, परन्तु परम्परासिद्ध समाम्नाय तो अर्थ का निमित्त है। वह समाम्नाय क्योंकि शब्दों का है, अतएव शब्द अवश्य ही अर्थों के वाचक हैं। जिस अर्थ में जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, तदर्थ में प्रयुक्त वह शब्द अवश्य ही उस अर्थ का बोधक देखा जाता है। बिना वाचकत्त्व के ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता था" (२)।

"अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ग्रहण करना चाहिए" इस रूप से अर्थविशेष में यदि शब्द-विशेष का संकेत लक्षण समाम्नाय है, तो शब्द-नित्यता पर आघात होता है। क्योंकि अर्थविशेषों के आधार पर शब्दविशेषों की कल्पना हमने की है। संस्कृत, ग्रीक, इंगलिश, उर्दू, हिन्दी, मारवाड़ी, आदि-आदि तत्तत् भाषाशब्दों की कल्पना (अर्थानुसार) तत्तत् मनुष्यसमाजद्वारा हुई है। कल्पना करने वाला मनुष्यसमाज सृष्टिकाल की अपेक्षा सादि-सान्त है। भला इसकी कल्पना से सम्बन्ध रखने वाले शब्द क्योंकर नित्य हो सकते है"—इस प्रकार वाचकत्त्व की रक्षा के लिए जिस समाम्नाय-प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है, वह शब्द की नित्यता पर ही प्रहार करने वाली सिद्ध हो रही है। यदि शब्द नित्य हैं, तो वाचक नहीं मानें जा सकते। यदि समाम्नायविधि से वाचक हैं, तो नित्यता का व्याघात होता है।

उक्त पूर्वपक्ष के सम्बन्ध में वक्तव्य यही है कि, जिस शब्दसमाम्नाय से जिन अर्थों का लोकव्यवहार में बोध होता है, वे शब्द मनुष्यों नें नहीं बनाए हैं। शब्दरचना करना मनुष्यव्यापार से सर्वथा बहिर्भूत है। पहिले से (अनादिकाल से) ही विद्यमान नित्य शब्दों के सम्बन्ध में मनुष्यसमाज लोकव्यवहार संचालन के लिए अर्थविशेष का नियमनमात्र करता है। यदि शब्द अनित्य होते, तो मनुष्यसमाज प्रयत्नसहस्रों से भी शब्दार्थसंकेत करने में असमर्थ रहता। शब्दानित्यदशा में शब्द से अर्थ का बोध ही न होता। क्योंकि तत्काल उत्पन्न शब्द में संकेत सम्बन्ध सर्वथा अगृहीत रहता है। अतः मानना पड़ेगा कि, शब्दों का काल सन्निकृष्ट (सादि) नहीं है, अपितु शब्दप्रयोगकाल सन्निकृष्ट है। इस प्रयोगसंनिकर्ष से शब्दनित्यता में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, एवं शब्दों का वाचकत्त्व तथा नित्यत्त्व भी अक्षुण्ण बना रहता है" (३)–(इतिवाचकत्वावाचत्वप्रसङ्गः)

* * * *

४–वाग्देवी के चार विवर्त्त—

जैसाकि पूर्व परिच्छेद के आरम्भ में बतलाया गया है, शब्दनित्यत्त्वानित्यत्त्व की मीमांसा करने वाले 'औत्पत्तिकस्तु०' इत्यादि मीमांसासूत्रों का विज्ञानदृष्टि से सम्बन्ध है। साथ ही सूत्रकार जिस विज्ञानदृष्टि से शब्दनित्यता स्थापित कर रहे हैं, सूत्रकार का वह 'शब्द' शब्द अनादिनिधना तत्त्वात्मिका नित्यावाक् से सम्बन्ध रखता है। पूर्वपरिच्छेद में मीमांसासूत्रों की सङ्गति लगाते हुए जिस दार्शनिक दृष्टि से शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध सिद्ध किया गया है, एवं जिस औत्पत्तिक सम्बन्ध के आधार पर शब्द की नित्यता, तथा वाचकता सिद्ध की गई है, उससे एक वैज्ञानिक तबतक कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता, जब तक कि उसके सामने शब्दार्थ की उत्पत्ति का मौलिक रहस्य न रख दिया जाय। इसी लक्ष्यसिद्धि

के लिए वाक्तत्त्व का, एवं वाक्तत्त्व के सम्बन्ध रखने वाले शब्दार्थ की उत्पत्ति का मौलिक रहस्य विज्ञ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

जिस वाग्देवी से सम्पूर्ण विश्व का, एवं विश्वप्रजा का विकास हुआ है, वैज्ञानिको नें उसके **'परावाक्'–'अपरावाक्'** भेद से दो विवर्त्त मानें हैं। आनन्दघन–विज्ञानमय–मनःप्राणगर्भित नित्य वाक्तत्त्व ही 'परावाक्' है। आनन्दघन–विज्ञानमय–मनःप्राणगर्भित वाक् ही आत्मा है, जैसा कि **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति से स्पष्ट है। इसी आधार पर मनःप्राणगर्भिता इस परावाक् को हम **'आत्मवाक्'** भी कह सकते हैं। केन्द्र में रहने वाले प्रजापति इसी वाग्विज्ञान के कारण स्वमहिमा में प्रतिष्ठित रहते हैं। **"वाग्वा अस्य स्वो महिमा"—"स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः"** इत्यादि श्रुतियाँ वाक् को ही उसकी महिमा बतला रहीं हैं।

स्वमहिमा (आत्ममहिमा) लक्षणा यह परावाक् सत्य–आत्मारूपा होने से 'सत्या' है, अतएव इसे **'सत्यावाक्'** भी कहा जा सकता है। इस सत्यावाक् के साथ मन, और प्राण का सम्बन्ध बतलाया है। मन एक आधारपात्र है। इस पर प्रतिष्ठित गतिलक्षण प्राण के तपःकर्म्म से, एवं वाक् के श्रमकर्म्म से शब्दार्थसृष्टि का विकास हुआ है। गतिलक्षण प्राण ही **'यत्'** है, स्थितिलक्षणा वाक् ही **'जू'** है। प्राणात्मक यत् **'वायु'** (प्राणवायु) है, वागात्मक जू **'आकाश'** है। दोनों की समष्टि **'यज्जूः'** है। यही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में **'यजुः'** है, यही तत्त्वात्मक नित्य **'यजुर्वेद'** है, जो कि वयोनाधलक्षण ऋक्-साम नामक आयतनों से नित्य वेष्टित रहता हुआ **'त्रयीवेद'** नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जिसका कि भूमिका द्वितीय खण्ड में अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। सत्यस्वरूपा वह वाक् इस वेदमहिमा के कारण **'वेदवाक्'** नाम से भी व्यवहृत हुई है, जैसा कि **'वागविवृताश्च वेदाः'** इत्यादि निगम वचनों से स्पष्ट है। परावाङ्मय यही त्रयीवेद **'ब्रह्मनिःश्वसित'** नामक अपौरुषेय वेद है, जो कि सम्पूर्ण प्रपञ्च का प्रभव–प्रतिष्ठा-परायण बनता हुआ **'वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः'** (मनुः) **–"सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति"** (मनुः) इत्यादि मनुसिद्धान्तों को अन्वर्थ बना रहा है। यही वह सत्यवेद है, जिसकी अभिव्यक्ति सर्वप्रथम प्राणप्रधान, ब्रह्माक्षरयुक्त स्वयम्भूमण्डल में हुई है। अतएव जिसे **'स्वायम्भूववेद'** भी कहा जा सकता है। इसप्रकार स्वायम्भुववेद, सत्यवेद, प्राजापत्यवेद, त्रयीवेद, ब्रह्मनिःश्वसितवेद, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध अपौरुषेयवेद के आविर्भाव की मूलप्रतिष्ठा बनने वाली सत्यलक्षणा, मनःप्राणगर्भिता, आत्मवाक् ही **'परावाक्'** है।

ब्राह्मप्राण (ऋषिप्राण) प्रधान स्वयम्भूमण्डल को अपना उक्थस्थान बनाने वाली यही परावाक् आगे जाकर **"आम्भृणीवाक्[1], बृहतीवाक्[2], सुब्रह्मण्यावाक्[3], अनुष्टुब्वाक्[4],"** इसप्रकार चार विवर्त्तभावों में परिणित हो जाती है। **'परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी'**–इन चार लोकों के भेद से ही यह वाग्देवी चार स्वरूपों में परिणत होती है। वही अपने विशुद्ध वाग्रूप में 'सत्यावाक्' कहलाती है। एवं यौगिकावस्था में आकर आम्भृणी आदि नाम धारण कर लेती है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। वाक्तत्त्व की इसी रूपचतुष्टयी का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" ॥

वाक्तत्त्व के स्वरूप-स्पष्टीकरण के लिए उक्त मन्त्र एक विशेष महत्त्व रखता है, अतः इसकी व्याख्या कुछ विस्तार से की जायगी। 'निगमानुगमपरिभाषाविज्ञान' के अनुसार उक्त मन्त्र का अनुगमभाव से सम्बन्ध है, अतएव इसके अनेक अर्थ होते हैं। नियत अर्थ का प्रतिपादन करने वाली श्रुति 'निगमश्रुति' कहलाती है। एवं पदानुगत शब्दों के सादृश्य से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने वाली श्रुति 'अनुगमश्रुति' कहलाती है। उदाहरण के लिए—'यज्ञो वै विष्णुः' यह श्रुति केवल विष्णुतत्त्व से सम्बन्ध रखती हुई निगमश्रुति है। एवं 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' यह श्रुति यज्ञ की अनेक रूपा पाङ्क्तता का संग्रह करती हुई, उन सब पाङ्क्त-भावों को अपने गर्भ में रखती हुई अनुगमश्रुति है।'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'-'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'-'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्नेऽग्निरास' इत्यादि श्रुतियाँ अनुगमभाव से सम्बन्ध रखतीं हैं। 'चत्त्वारि वाक् परिमिता पदानि॰' इत्यादि मन्त्र वाक् की यच्चयावत् भावचतुष्टयी का संग्राहक बन रहा है। अतएव इसे हम अवश्य ही अनुगममन्त्र कह सकते हैं। वही कारण है कि, स्वयं श्रुति ने इसकी अनेक व्याख्या की है। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इसी की शब्दशास्त्रानुबन्धिनी व्याख्या की है।

वैदिक विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि, प्रत्येक शब्द नियत अर्थ का ही वाचक है। शब्दों का पारस्परिक पर्य्याय सम्बन्ध अशुद्ध है। अतएव अनेकार्थकता विज्ञानविरुद्ध है। यद्यपि अनुगम वचनों के अनेक अर्थ होते हैं, तथापि उक्त सिद्धान्त का कोई विरोध नही होता। कारण, अनुगम मन्त्रों के अनेक अर्थ मन्त्रघटित शब्दें की नियतार्थव्याप्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं। अपनी कल्पना से मनमाना अर्थ नहीं किया जा सकता। अपितु जहाँ जहाँ जिन जिन अर्थों में उन उन अनुगमशब्दों की नियन व्याप्ति है, उन्हीं का संग्रह होता है। इसलिए विरोध को अवसर नहीं मिलता। अस्तु, देखना यह है कि, प्रकृत अनुमगमन्त्र कितनें स्थानों में अपनी व्याप्ति रखता है!

(१)—प्रथमः पक्षः—

५—आम्भृणी-सूक्तरहस्य—

वाक् के चार परिमित पद (स्थान) हैं, जिन्हें मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। वेद ही ब्रह्म है, इस वेदब्रह्म को जान ने वाला ही 'ब्राह्मण' है। वेदवित् विद्वान् ही वाक् के इन चार रूपों को जान सकता है। वेदज्ञानशून्य साधारण ब्राह्मण, तथा इतर मनुष्य वाग्देवी के इस चातुर्विध्य जानने में असमर्थ है। वाक् के वे चार पद क्रमशः 'आम्भृणी[१], सुब्रह्मण्या[२], बृहती[३], अनुष्टुप्[४]' इन नामों प्रसिद्ध हैं। इन चारों में आरंभ के तीन वाक्-विवर्त्त गुहानिहित हैं, गुप्त हैं, व्यवहारमर्य्यादा से अतीत हैं। शेष चौथा अनुष्टुप्-विवर्त्त ही वाक् का तुरीय पद है, जोकि तुरीयपद मनुष्यव्यवहार में उपयुक्त हो रहा है।

क-च-ट-त-पादि वर्णात्मिका वाक् ही अनुष्टुप् है। यही वर्णवाक् भाषाव्यवहार की मूलप्रतिष्ठा बन रही है। इस वर्णवाक् के गर्भ में आधार रूप से जो स्वरात्मिका वाक् प्रतिष्ठित है, वही 'बृहत्ती' है। बृहती के गर्भ में तदाधारभूता सुब्रह्मण्यावाक् प्रतिष्ठित है, एवं सर्वाधारभूता वाक् आम्भृणीवाक् है। आम्भृणीवाक् चारों लोकों में प्रतिष्ठित रहती हुई सर्वव्यापिनी बन रही है। आम्भृणी की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित मन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे है—

१–"अहंरूद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा" (ऋक्सं० १०।१२५।१)।

रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वेदेव, इन चार देवताओं के साथ तो वह वाग्देवी विचरण करती है, एवं- मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, नासत्य, दस्र, इन ६ देवताओं की प्रतिष्ठा बन रही है। पार्थिव प्राणदेवता वसु हैं, आन्तरीक्ष्य प्राणदेवता रुद्र हैं, दिव्य प्राणदेवता आदित्य हैं, चतुर्थलोकस्थ आप्यदेवता विश्वेदेव हैं। 'पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–आपः' भेदसे स्तौम्य पार्थिवलोक चार भागों में विभक्त हैं। 'मही' नामक एक ही महापृथिवी के त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३) भेद से पाँच संस्था–विभाग हैं। त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिवलोक स्वयं उस वाग्देवी का प्रतिष्ठा स्थान है। इसी वाक् की व्याप्ति से पार्थिव वषट्कार (वाङ्मण्डल) लक्षण महिमा का वितान हुआ है। 'देवपात्रं वा एष वषट्कारः' के अनुसार इसी वाङ्मण्डल के गर्भ में सम्पूर्ण देवता प्रतिष्ठित हैं। वाक् की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'–'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'–'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि वचन उद्धृत हुए हैं।

महापृथिवी के त्रिवृत्स्तोम प्रदेश में अग्निप्राणात्मक आठ वसुदेवताओं का साम्राज्य है। पञ्चदशस्तोम प्रदेश में वायुप्राणात्मक एकादश रुद्रदेवताओं की स्थिति है। एकविंशस्तोमप्रदेश में आदित्यप्राणात्मक द्वादश आदित्यदेवताओं की प्रतिष्ठा है। एवं सप्तविंशस्तोमप्रदेश में आप्यप्राणात्मक त्रयस्त्रिंश विश्वेदेवों का प्रभुत्त्व है। चार पार्थिवलोकों में प्रतिष्ठित चारों देवताओं के साथ पाँचवें त्रयस्त्रिंशलोक में उक्थरूप से प्रतिष्ठित उस आम्भृणीवाक् का सहचर सम्बन्ध होरहा है।

'अग्नि[१]––वायु[२]––आदित्य[३]––विश्वेदेव[४]' चारों देवता क्रमशः असंज्ञ[१] (अचेतन), अन्तःसंज्ञ[२] (अर्द्धचेतन), ससंज्ञ[३] (चेतन), सौम्यदिव्यजीवों[४] के प्रधान आरम्भक बने हुए हैं। चारों जीव वाक्पुत्रात्मक शब्द की मर्य्यादा से आक्रान्त हैं। स्वयं वाक् स्थिर है, परन्तु वाक्पुत्र शब्द चर है, गतिमान् है। शब्दावच्छिन्ना गति के द्वारा वाग्देवी ने चारों के साथ सम्बन्ध कर रक्खा है। इसी गतिरहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुतिने 'रुद्रेभिर्वसुभिरादित्यैरुत विश्वेदेवैः (सह) चरामि' यह कहा है। पार्थिवलोकमण्डल ही खगोल की इयत्ता है। भूपिण्ड भूगोल है, भूमहिमा (मही) खगोल है। खगोल का उत्तर–दक्षिण ध्रुव से सम्बन्ध रखने वाले याम्योत्तरवृत्त ('उर्वशी' अप्सरा नाम से प्रसिद्ध ध्रुवप्रोतवृत्त–दक्षिणोत्तरवृत्त) द्वारा पूर्व–पश्चिम कपालों में विभाजन हो रहा है। पूर्वकपालावच्छिन्न सौरप्राण आगतिधर्म्म से मित्र है, पश्चिमकपालावच्छिन्न सौर प्राण गतिधर्म्म से वरुण है। भूपिण्डोपलक्षित पृथिवीलोक में अग्नि का साम्राज्य है, भूमहिमोपलक्षित द्युलोक में सौर मघवेन्द्र का शासन है, जैसा कि, 'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। पृथिवी का 'शवसोनपात्' देवता अग्नि है, द्युलोक का शवसोनपात् देवता इन्द्र है। इन्द्र, और अग्नि, दोनों का विभाजक देवता नासत्य–दस्र नामक सान्ध्य प्राणों का युग्म है। वही लोकव्यापिनी वाक् खगोल का स्वरूप सम्पादन करती हुई मित्रावरुण की प्रतिष्ठा बन रही है, वही पृथिव्यवच्छेदेन अग्नि की, द्युलोकावच्छेदेन इन्द्र की, अन्तरिक्षोपलक्षित सन्धिस्थानावच्छेदेन अश्विनीकुमारों की प्रतिष्ठा बन रही है। प्रकृत मन्त्र वाग्देवी की इसी गति, तथा प्रतिष्ठा का स्पष्टीकरण कर रहा है" ॥१॥

२--"अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते" ।(ऋक्सं० १०।१२५।२)।

"तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्" इत्यादि श्रुति के अनुसार तृतीय द्यु स्थान से उपलक्षित पारमेष्ठ्य मण्डल सोमतत्त्व का अपना प्रभव स्थान है। यह सोमतत्त्व सौर सावित्राग्नि में अनवरत आहुत होता हुआ सौर सम्वत्सरयज्ञ का सञ्चालक बन रहा है। इसी यज्ञबल से ज्योतिर्म्मय सौर देवता तमोमय आसुर प्राण को (अन्धकार को) दूर करने में समर्थ होते हैं। 'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ' (ऋक्) इस ऋग्वर्णन के अनुसार दाह्य सोम ही दाहक सावित्राग्नि में आहुत होकर प्रकाश का जनक बनता है। तमोमय आसुर प्राण ज्योतिर्म्मय देवप्राण का शत्रु है, एवं शत्रुनाश (अन्धकारनिवृत्ति) का एक मात्र श्रेय सोम को है। अतएव इस तृतीय द्यु लोकस्थ सोम को हम अवश्य ही **'आहनसं'** (शत्रूणामाहन्तारं) नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। अपिच यह पारमेष्ठ्य सोम आहन्तव्य है, यज्ञार्थ अभिषोतव्य है, इस लिए भी इसे 'आहनस' कहना अन्वर्थ बनता है। पारमेष्ठ्य मण्डलस्था वाक् ही आम्भृणी है। यही इस आहनस सोम की प्रतिष्ठा बन रही है।

त्वष्टा, पूषा, भग, तीनों आदित्यविशेष हैं। वस्तुओं में आकारविशेष प्रतिष्ठित करना त्वष्टाप्राण का काम है, पोषण करना पूषाप्राण का काम है, ऐश्वर्य्य स्थापित करना भगप्राण का काम है। इस प्राणत्रयी की प्रतिष्ठा भी यही वाग्देवी है। आकारविशेष हो छन्द है, एवं 'वाक्परिमाणं छन्दः' के अनुसार वाक् ही त्वष्टारूप से सीमाभावात्मक छन्द की प्रतिष्ठा बनती हुई त्वष्टा की प्रतिष्ठा बन रही है। वस्तुपिण्ड की महिमा ही वस्तुपिण्ड की पुष्टि (वितान) है। इस महिमा का वितान वाग्वितानलक्षण वषट्कारमण्डल से सम्बन्ध रखता है। अतएव पुष्टयवच्छेदेन वाग्देवी को पूषा की भी प्रतिष्ठा माना जा सकता है। ऐश्वर्य्य, धर्म्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, इन ६ ओं भगों की प्रवृत्ति आम्भृणीवाक् के द्वितीयरूप सरस्वती वाक् (शब्दवाक्) पर ही निर्भर है। शब्दोपदेश ही इस षड्विधभगप्रवृत्ति का कारण है, अतएव इसे इस भग की भी प्रतिष्ठा कह सकते हैं।

वाक्तत्त्व के इस मौलिक पारमेष्ठ्य रूप को जान कर जो यजमान अपने सम्वत्सरयज्ञ में सोमाहुति प्रदान करता है, उस शोभनहविः प्रदाता यजमान के लिए वह वाग्देवी विपुल सम्पत्ति प्रदान करती है। अर्थात् सोमयज्ञ की मूलप्रतिष्ठारूप वाक् के मौलिक रहस्यपरिज्ञान से सोमयज्ञ यथाविधि सम्पन्न होता है, एवं ऐसा यज्ञ अवश्य ही द्रविण (अभिलषित फल) प्राप्ति का कारण बनता है" ॥२॥

"अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरि स्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्" (ऋक्सं० १०।१२५।३)।

"प्रकृत मन्त्र में वाग्देवी की विश्वरूपता का वर्णन हुआ है। वह वाग्देवी राष्ट्री है। राष्ट्र का सञ्चालन करने वाली है। राष्ट्र का प्रधान बल है 'वाक्सम्पत्ति'। जो राष्ट्र वाक्तत्त्व का परिज्ञाता है, वही सुसमृद्ध रह सकता है। क्योंकि राष्ट्र के सम्पूर्ण कर्म्म–कलापों के सञ्चालन की मूलप्रतिष्ठा वाग्बल ही है, जिसे कि विज्ञान-

भाषा में 'ब्रह्मबल' कहा जाता है। स्वयं राष्ट्र क्षत्रबल है, कर्म्मबल है, वाग्देवी ब्रह्मबल है, ज्ञानबल है। राष्ट्र का तीसरा बल 'अर्थबल' है। अर्थबल भी वाक् से ही सम्बन्ध रखता है। वाक् ही जहाँ अपने सरस्वतीरूप से वाग्-बल की अधिष्ठात्री बनती हुई राष्ट्री है, वहाँ यही अपने आम्भृणीरूप से पञ्चभूतात्मिका बनती हुई 'वसूनां संगमनी' (धनसंगमयित्री) है। किसी भी विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने वाला विद्वान् 'चिकितुट्' कहलाता है, जैसाकि-'चिकितुषे जनाय' (ऋकसं० १।१६४।६) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। बुद्धि में जो एक प्रकार की धिषणात्मिका वृत्ति (उपज) प्रतिष्ठित रहती है, तद्वृत्तियुक्त मनुष्य ही चिकितुट् कहलाता है, एवं इस वृत्ति की मूलप्रतिष्ठा भी यही वाग्देवी है। अतएव वाग्देवी को 'चिकिकुतुषी' कहा जा सकता है। प्राकृतिक जितने भी यज्ञकर्म्म हैं, उनके सञ्चालक प्राणदेवता आधिदैविक यज्ञिय देवता हैं। एवं वैध यज्ञकर्म्मों के सञ्चालक भूसुर आधिभौतिक यज्ञिय देवता हैं। दोनों यज्ञियों के यज्ञों का उपक्रम यही वाग्देवी हैं। वेदवाक् ही ग्रह-स्तोत्र-शस्त्र कर्म्मों के द्वारा यजुः-साम-ऋग्रूप से यज्ञियों के यज्ञकर्म की प्रथम भूमिका (उपक्रमस्थाम) बन रही है।

इसप्रकार विविधरूप से यत्रतत्र व्याप्त, यथायावत् भूतसर्ग में प्रविष्ट ऐसी इस वाग्देवी को प्राकृत प्राणदेवता मुझ में अनेक रूप से प्रतिष्ठित कर रहे हैं। आध्यात्मिक जितने भी कर्म्म हैं, सबकी मूलप्रतिष्ठा यही आधिदैविक वाक्तत्त्व है, यही तात्पर्य्य है" ॥ ३ ॥

४—"मयासो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत: श्रद्धिवं ते वदामि" (१०।१२५।४।)।

प्रकृत मन्त्र में वाग्देवी के अन्नादभाव का स्पष्टीकरण हुआ है। आधिदैविक प्राणदेवता, आधिभौतिक भूताग्नि, आधियाज्ञिक यज्ञाग्नि, आध्यात्मिक शरीराग्नि इस वाग्देवी के विशेषरूपों से ही अन्नादान करने में समर्थ हैं। प्राकृतिक प्राणदेवता जिस धरातल पर प्रतिष्ठित होकर अन्नग्रहण करते है, वह पात्र 'वषट्कार' नाम से प्रसिद्ध है। वषट्कार वह वाङ्मय धरातल है, जिसका ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त वितान होता है। इस वाङ्मय वषट्कार मण्डल के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त यज्ञिय ३३ प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। पार्थिववाक् का ६ स्तोमों में वितान ही 'वाक्-षट्कार' लक्षण वषट्कार है। 'देवपात्रं वा एष वषट्कारः' के अनुसार यही देवताओं का आधारपात्र है। इस पात्राधार पर प्रतिष्ठित प्राणदेवता जिस दिव्याग्नि के द्वारा अन्नग्रहण करते हैं, उसे 'आस्पात्र' (आस्य-मुख-रूप पात्र) कहा गया है, जैसाकि—"आस्पात्रं जुहूर्देवानाम्"—"देवपात्रं वा एष यदग्निः" (शत० १।४।४।१३।) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। यह अग्नि भी 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' के अनुसार वाग्रूप ही है। इसप्रकार आधारपात्र-मुखपात्र-रूप से उभयथा यह प्राकृतिक वाक्तत्त्व ही देवताओं के लिए अन्नग्राहक बन रहा है।

प्रत्येक भौतिक पिण्ड आदानविसर्गात्मिका क्रिया पर ही अवलम्बित है। चेतनजगद्वत् ये जड़पदार्थ भी अन्नादान से वञ्चित नहीं हैं। इन का यह आदानकर्म्म पिण्डगत वैश्वानर संज्ञक अग्नि से ही सञ्चालित है। यह वै० अग्नि ही भूतवाक् नाम से व्यवहृत हुआ है। इस दृष्टि से यहाँ भी वाक् ही अन्नग्राहिका बन रही है।

एवमेव आध्यात्मिक संस्था में भी मुखस्थित वागग्नि ही अन्नग्राहिका बनी हुई है। इसी अन्नग्रहण से वाक्तत्त्व 'अत्रि' नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित वाजिश्रुति से स्पष्ट है—

"वागेवात्रिः। वाचा ह्यन्नमद्यते। अत्तिर्ह वै नामैतत्-यदत्रिरिति"

(शत० ब्र० ४।५।२।२)।

अधियज्ञ में (पुरुषप्रयत्नसाध्य वैध यज्ञों में) मन्त्रवाक् रूप से यही वाक् अन्नाहुतिप्रदात्री बन रही है। इसप्रकार सब दृष्टियों से वाग्देवी को यह कहने का अधिकार है कि—**"सब मेरे द्वारा ही अन्न खाते हैं"—"मयासो अन्नमत्ति"**।

प्राकृतिक प्राणाग्नि (देवाग्नि-सम्वत्सराग्नि) ही वाक् है। इस वागग्नि के 'अग्नि, वायु, आदित्य' भेद से तीन विवर्त्त हैं। ये ही तीनों क्रमश 'वाक्-प्राण-चक्षु' इन्द्रियों के स्वरूप समर्पक माने गए हैं। अन्न-ग्रहण करने वाली वाक् आलोमभ्य-आनखाग्रेभ्यः व्याप्त रहने वाली वैश्वानराग्निलक्षणा वाक् है, जिस के लिए 'मयासो अन्नमत्ति' यह कहा गया है। इस का स्वरूप वागिन्द्रिय लक्षण वाक् से भिन्न है, जिस का अगले मन्त्र में स्पष्टीकरण होने वाला है। वागिन्द्रिय के अतिरिक्त जो प्राण तथा चक्षुरिन्द्रियाँ हैं, वे भी वाङ्मय ही हैं। क्योंकि वायु-तथा आदित्य उसी वागग्नि की अवस्थान्तर हैं। जो कुछ हम देखते हैं, जो कुछ प्राणकर्म्म करते हैं, वह भी इसी वाक् का अनुग्रह है। शब्द सुनना भी वाक्समुद्र के बिना असम्भव है। वाक्समुद्र ही वीचि-न्याय से शब्दश्रवण का कारण बनता है। इसप्रकार खाना, देखना, कर्म्म-करना, सुनना-सब कुछ वाक्तत्त्व पर ही अवलम्बित है।

अथवा मन्त्र के पूर्व भाग का दूसरे प्रकार से भी समन्वय किया जासकता है। जीववर्ग-'असंज्ञ-अन्तःसंज्ञ-ससंज्ञ' भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त है। असंज्ञ जीव लोष्ट-पाषाणादि हैं, अन्तःसंज्ञ जीव ओषधि-वनस्पत्यादि हैं, एवं ससंज्ञ जीव अस्मदादि हैं। अचेतन असंज्ञ जीवों में न प्राणव्यापार है, न शब्दग्रहणशक्ति है। आप पुकारिए, इनसे कोई उत्तर न मिलेगा। स्वरूप पर दृष्टि डालिए, कोई व्यापार प्रतीत न होगा। केवल ऐसा प्रतीत होगा, जैसे कोई मुग्ध मनुष्य न कुछ करता है, न कुछ सुनता है, केवल देख रहा है। **'यो विपश्यति'** से श्रुतिने इन्हीं अचेतन जीवों का संग्रह किया है। अर्द्धचेतन वृक्षादि में प्राणव्यापार अवश्य है, अतएव ये ऊर्ध्वप्ररोहित होते हैं। परन्तु प्रत्युत्तर देने में ये भी असमर्थ हैं। **'यः प्राणिति'** से इन्हीं अर्द्धचेतनों का संग्रह हुआ है। अस्मदादि देखते भी हैं, कर्म्म भी करते हैं, सुनते भी हैं, प्रत्युत्तर भी देते हैं। **'य ईं शृणोति'** से इन्हीं का संग्रह हुआ है। वाग्देवी तीनों प्रकार के जीवों के अन्नादान-कर्म्म की अनुग्राहिका बन रही है।

जो व्यक्ति वाक्तत्त्व के उक्त स्वरूप को नहीं जानते, वे लोकसम्पत्ति से वञ्चित रह जाते हैं। वाक ही सर्वज्ञान, सर्वकर्म्म की अधिष्ठात्री है। ज्ञान-कर्म्म ही सम्पत्ति के संग्राहक हैं। ऐसे सम्पत्तिकामुक व्यक्तियों से त्रैलोक्य व्यापक वाग्देवी अपने भौतिक वैभव को हमारे सम्मुख रखती हुई हमसे मानो यह कह रही है कि, हे मनुष्यो! तुम मेरे स्वरूप को पहिचानो। मैं श्रद्धेय-श्रद्धाद्वारा प्राप्तव्य-उस ब्रह्म का बखान करती हूँ, जो सर्व-सम्पत्-प्राप्ति का मूलाधार है। वाग्ब्रह्म ही तो **'वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता'** के अनुसार सर्वसिद्धि की प्रतिष्ठा है ॥४॥

५—"अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ॥
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्" ॥ १०।१२५।५।)।

प्रकृत मन्त्र में वाग्देवी के सौम्यभाव का ही निरूपण हुआ है। वही वाग्देवी वागिन्द्रियरूप में परिणत होकर स्वयं बोल रही है। वाक्शक्ति (भाषणशक्ति) की मूलाधिष्ठात्री यही वाग्देवी है। इस का बोलना देवताओं को भी प्रिय है, एवं मनुष्यों को भी प्रिय है। वागिन्द्रिय के 'आग्नेय–सौम्य' भेद से दो विवर्त्त हैं। रूक्षा–कर्कशा वाक् आग्नेयी है, स्निग्धा–मधुरा वाक् सौम्या है। जब इस वागिन्द्रिय में अग्नितत्त्व की प्रधानता हो जाती है, यह आग्नेयी बनती हुई रूक्ष बन जाती है। ऐसी वाक् से कोई भी प्रसन्न नहीं होता। परन्तु वागिन्द्रिय में जब आम्भृणी–पारमेष्ठिनी–सौम्या वाग्भाग प्रधान रहता है, तो यह सौम्या बनती हुई स्निग्ध बन जाती है। ऐसी मधुरा वाक् सबके लिए प्रिय है। देवता, मनुष्य, पशु, गन्धर्व, सब ऐसी वाक् से आकर्षित हो जाते हैं।

आम्भृणीवाक् (सौम्यावाक्) के सम्बन्ध से सूर्य्य उग्र बन रहा है, सृष्टि का स्रष्टा (ब्रह्मा) बन रहा है। इसी वाक् के सहयोग से प्राणात्मक ऋषि स्वस्वरूप से सुरक्षित है। ऐसी इस वाग्देवी की उपासना से हम भी उग्र बन सकते हैं, प्रजापति बन सकते हैं, तत्त्वद्रष्टा बन सकते हैं, स्थिरप्रज्ञ बन सकते हैं। ॥५॥

६—"अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ॥
अहं जनाय समदं कृणोमि-अहं द्यावापृथिवी आविवेश" (१०।१२५।६।)।

प्रकृत मन्त्र में वाग्देवी के आग्नेयभाव का ही निरूपण हुआ है। सौम्या–आग्नेयी, भेद से वागिन्द्रिय के दो विवर्त्त बतलाते हुए पूर्वव्याख्या में यह स्पष्ट किया गया है कि, सौम्यावाक् शान्त है, प्राणिमात्र से जुष्ट है, दिव्यभावसमर्पिका है। ठीक इसके विपरीत आग्नेयी वाक् जिसे 'अग्निर्वै रुद्रः' परिभाषानुसार हम रौद्री-वाक् कहेंगे, क्रोधाग्निलक्षण रुद्र के लिए तत्काल धनुष तान देती है। परस्पर शस्त्रों का तनाव इसी वाक् का परिणाम है। यही वाक् मनुष्यों में परस्पर समद (झगड़ा–कलह) कराती है। इसप्रकार द्यावापृथिवी में व्याप्त यह वाग्देवी रुद्ररूप से संहारशक्ति की अधिष्ठात्री बन रही है ॥६॥

७—"अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ॥
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥"॥(१०।१२५।७)।

'पितर' नाम से प्रसिद्ध द्युलोक का जन्म इसी वाक् से हुआ है। द्युलोक त्रैलोक्य–त्रिलोकी के सम्बन्ध से तीन संस्थाओं में विभक्त माना गया है, जैसाकि—"तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रन्-नेमवग्लापयन्ति" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इनमें सबसे ऊर्ध्वस्थानीय त्रैलोक्य 'संयती' नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवी–चन्द्रमा–सूर्य्य को अपने महिमामण्डलगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले आपोमय परमेष्ठी इस त्रैलोक्य के पृथिवी हैं, सत्यलोकात्मक स्वयम्भू द्यौ हैं, दोनों के मध्य का अन्तरिक्षात्मक तपोलोक अन्तरिक्ष है। यह स्वयम्भूलक्षण द्यौ सृष्टिविज्ञानानुसार विश्वरूप विराट्पुरुष का मस्तक है। इस शिरःस्थानीया स्वायम्भुवी द्यौ का रूप आकाशात्मक है। यह आकाश 'जू' रूप है, जो कि गतिमान् यत् के सम्बन्ध से 'यजु' नाम से व्यवहृत

होता हुआ 'यजुः' नाम से प्रसिद्ध है। यही आकाश वाक् है, जिसे अपौरुषेया, अनादिनिधना सत्यावाक् भी कहा जाता है, जिसकी कि विवर्त्तभावत्रयी को 'अपौरुषेयब्रह्मनिःश्वसितवेद' कहा जाता है। इसी वाक्तत्त्व को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है कि, मैं उस पितर (द्यु) की जननी हूँ, जिसके मस्तक में सब कुछ प्रतिष्ठित है। अर्थात् वही वाक् आकाशरूप से विश्वरूपजननी बन रही है।

यद्यपि सृष्टिक्रमानुसार स्वयम्भू का पहिले प्रादुर्भाव हुआ है, परमेष्ठी का अनन्तर। इधर प्रकृत में उस 'आम्भृणी' वाक् का यशोगान हो रहा है, जिसका परमेष्ठी से सम्बन्ध है। आपोमय परमेष्ठी ही आम्भृणी वाक् की योनि है, जैसा कि मन्त्र के-'**मम योनिरप्स्वन्तः**' इत्यादि वर्णन से स्पष्ट है। तथापि लोकसृष्टि की अपेक्षा से इस पारमेष्ठिनीवाक् को स्वायम्भुवी आकाशात्मिका द्यौ की जननी मान लिया है। "**आपो वै सर्वाणि भूतानि**" के अनुसार पाचों भूतों की प्रतिष्ठा अप्तत्त्व ही माना गया है। और इसी दृष्टि से यहाँ वाग् द्वारा द्यौ का प्रसव मान लिया गया है।

अपने अप्समुद्रान्तर्वर्त्तीरूप से यह आपोमयी आम्भृणीवाक् सातों भुवनों में प्रतिष्ठितं है, जैसाकि-'**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**' इत्यादि तैत्तिरीयश्रुति से भी प्रमाणित है। उस स्वायम्भुवी द्यु का इस वाग्देवी ने अपने शरीर से स्पर्श कर रक्खा है। तात्पर्य्य श्रुति का यही है कि, पृथिवी-सूर्य्य-चन्द्रमा आदि अर्वाक् जितने भी भुवन हैं, उन सबको तो इस पारमेष्ठिनीवाक् ने अपने गर्भ में ले रक्खा है, एवं स्वयम्भू का इसने स्पर्श कर रक्खा है। परमेष्ठी के ऊपर स्वयम्भू है। परमेष्ठी की सीमा स्वयम्भू से संस्पृष्ट है ॥७॥

८—"अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ॥
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव" ॥ (१०।१२५।८)

प्रकृत मन्त्र में वाग्देवी की महिमालक्षणा साहस्री का स्पष्टीकरण हुआ है। लोकसृष्टि की रचना करते समय यही वाग्देवी गतिशील '**वात**' वायु की भाँति आगे बढ़ जाती है। द्यावापृथिवी को अपने गर्भ में रखने वाली यह वाग्देवी ऐसी महामहिमा से युक्त होकर प्रकट हुई है। प्रत्येक भौतिक पिण्ड के 'पदं-पुनःपदं' भेद से दो विभाग माने गए है। चित्याग्निमय स्पृश्य पिण्ड 'पदं' हैं, चितेनिधेयाग्निमय दृश्यमण्डल 'पुनःपदम्' है। इस 'पुनःपदं' में 'अग्निः-आपः-वाक्' इन तीन अमृत शुक्रों का भोग हो रहा है। २१ पर्य्यन्त अग्नि है, ३३ पर्य्यन्त आपः है, ४८ पर्य्यन्त वाक् है। पिण्डकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ पर्य्यन्त वाक्तत्त्व वितत है, वही महिमालक्षणा वाक्साहस्री है, यही उस हृद्य प्रजापति की स्वमहिमा है, जिसके गर्भ में '**स्वे महिम्नि०**' के अनुसार स्वयं प्रजापति प्रतिष्ठित है। इस वाङ्मय महिमामण्डल के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त पृथिवी है, ३३ पर्य्यन्त अन्तरिक्ष है, ४८ पर्य्यन्त द्यौ है। तीनों अवारपारीण वाङ्मण्डल के गर्भ में हैं, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से भी प्रतिपादित हैं—

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥
—ऋक्सं० १०।११४।८।

आठवें मन्त्र ने इसी महीमा का स्पष्टी करण किया है।

प्रसङ्गवश आम्भृणी वाक् के सम्बन्ध में आम्भृणीसूक्त उद्धृत हुआ। अब पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है है। 'चत्वारि वाक्०' मन्त्र का प्रथम पक्ष प्रक्रान्त है। इस सम्बन्ध में विषयारम्भ करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, वाक् के चार पदों में से तीन पद गुहानिहित हैं, एवं तुरीय पद व्यवहार्य्य है। पार्थिववाक्पद ही तुरीय पद है। इस वाक् का स्वरूप है—'अनुष्टुप्'। इस मर्त्यावाक् से ही क-च-ट-त-पादिलक्षणा व्यग्जनवाक् का प्रादुर्भाव हुआ है। यही वाक व्यवहार्य्य मानी गई है।

इति–प्रथमः पक्षः

——१——

(२)–द्वितीयः पक्षः—

६–चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' के ११ रहस्यार्थ—

उक्त पक्ष में **'परमेष्ठी–चन्द्रमा–सूर्य्य–पृथिवी'** इन चार लोकों के सम्बन्ध से **'आम्भृणी, सुब्रह्मण्या, बृहती, अनुष्टुप्'** भेद से वाक् के चार पद बतलाए गए हैं। अब इस द्वितीय पक्ष में 'स्वयम्भू-परमेष्ठी–सूर्य्य–पृथिवी' इनके सम्बन्ध से वाक् के चार पदों का विश्लेषण किया ज[illegible] है। **'वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये'** के अनुसार विश्वकर्म्मा स्वयम्भू ही 'वाचस्पति' नाम से प्रसिद्ध है। यही **'वाचस्पत्य'** नामक वाक् का प्रथम पद है। परमेष्ठी का सोम 'ब्रह्मणस्पति' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध से पारमेष्ठिनी सौम्यावाक् का पद **'ब्राह्मणस्पत्य'** नामक द्वितीय पद है। सूर्य्यगत प्राण 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। यही सौरी वाक् का **'ऐन्द्र'** नामक तृतीय पद है। पार्थिव वाक् पद चौथा **'भौम'** पद है।

रोदसी–त्रैलोक्याकाश **'पुराणाकाश'** कहलाया है, क्रन्दसी–त्रैलोक्याकाश अनन्त शेषशायी विष्णु के सम्बन्ध से **'अनन्ताकाश'** कहलाया है, एवं संयती–त्रैलोक्याकाश **'परमाकाश'** कहलाया है, जिसके लिए- **'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्०'** इत्यादि सूक्ति प्रसिद्ध है। स्वयम्भू संयती त्रिलोकी का द्युलोक है, यही परमाकाशस्वरूप है। परमाकाशात्मिका स्वायम्भुवी वाक् ही **'वेकुरावाक्'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसे हम 'वाचस्पत्यपद' कहेंगे। आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र में व्याप्त सौम्या वाक् ही **'सुब्रह्मण्या'** वाक् है। यही वाक् का 'ब्राह्मणस्पत्य' पद है। सौरमण्डलात्मक महाब्रह्माण्ड में व्याप्त रहने रहने वाली वाक् ही **"गौरवीता"** किंवा **'गौरीविता'** नाम से प्रसिद्ध है। यह वाक् का 'ऐन्द्र' पद है। एवं पार्थिवमण्डलान्तर्भुक्त चान्द्रमण्डलोपेत सोमण्डल में व्याप्त वाक् **'आम्भृणीवाक्'** है, यही वाक् का 'भौम' पद है। ये चारों वाक् अपने-अपने लोकों की प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण बन रहीं हैं। चारों में से पूर्व की तीन वाक् गुहानिहित हैं। चौथी आम्भृणी पार्थिवीवाक् पार्थिव-प्रजा (अस्मदादि) की स्वरूपनिर्म्मापिका बन रही है। वाङ्मय भौतिक शरीरों के निर्म्माण में भी इसी वाक् का उपयोग हुआ है, एवं यही वाक् व्यवहार्य्या भी बनी है। वाक् के उक्त चार पदों में से पूर्व के तीन पद गुहानिहित हैं, यही बात निम्न लिखित मन्त्र से सिद्ध हो रही है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ (१०।७१।१।)

जिस वाक् का हम आज उच्चारण कर रहे हैं, उस वाक् का मूलरूप पहिले से ही हमारी अध्यात्म-संस्था में प्रतिष्ठित रहता है। वही प्रथमप्रतिष्ठता वाग्देवी (वेकुरावाक्) ऋक्सामयजुरात्मिका बनती हुई वेदवाक् नाम से प्रसिद्ध है। वह यद्यपि मूलोपादानरूप से प्रकटतम है, परन्तु व्यवहारदृष्टि से सर्वथा गुहानिहित है। अतएव उसका हमें सम्यक् परिज्ञान नही होता, वही मन्त्रतात्पर्य्य है।

१-वेकुरावाक्——वाचस्पत्यपदम् **(स्वायम्भुवे परमाकाशे प्रतिष्ठिता)।**
२-सुब्रह्मण्यावाक्--ब्रह्मणस्पत्यपदम् **(पारमेष्ठ्ये महासमुद्रे प्रतिष्ठिता)।**
३-गौरवीतावाक्—-ऐन्द्रपदम् **(सौरेमहाब्रह्माण्डे प्रतिष्ठिता)।**
४-आम्भृणीवाक्—भौमपदम् **(पार्थिवमण्डलानुगत-सौम्यमण्डले प्रतिष्ठिता)।**

इति—द्वितीयः पक्षः

———२———

(३)—तृतीयः पक्षः—

केवल पृथिवीलोक के सम्बन्ध से भी इस पार्थिवी आम्भृणीवाक् के चारों पदों का समन्वय किया जा जा सकता है। पार्थिवसंस्था में पिण्ड, महिमा, रूप से दो विवर्त्त हैं। जिस पर अस्मदादि प्रजावर्ग प्रतिष्ठित है, वह चित्यपिण्ड भूपिण्ड है। पूषाप्राणात्मक यह भूपिण्ड मर्त्याग्नि से सम्बन्ध रखता हुआ 'पशु' है। मर्त्यभाग ही वैदिक परिभाषा में पशु कहलाया है। इस पशुलक्षण भूपिण्ड के आधार पर भूमहिमा प्रतिष्ठित है। इस भूमहिमा को ही चितेनिधेय पार्थिव मण्डल कहा जाता है। इस पार्थिवाग्निमण्डल के त्रिवृत् (९)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१) स्तोम भेद से तीन विभाग हैं। ये ही महिमामयी पृथिवी के क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, नामक तीन स्तौम्य-लोक हैं, जिनमें क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य, नामक तीन अतिष्ठावा देवता प्रतिष्ठित हैं। यही स्तौम्य पार्थिव त्रिलोकी है। इसप्रकार पार्थिवसंस्था में पिण्ड-महिमारूप से चार पद हो जाते हैं।

अथवा रोदसी त्रैलोक्य दृष्टि से भी उक्त चार संस्थाओं का समन्वय किया जा सकता है। रोदसी त्रिलोकी में भूपिण्डसहिता पृथिवी पृथिवीलोक है, सूर्य्य द्यु लोक है, दोनों के मध्य का आकाश अन्तरिक्षलोक है। इसप्रकार भूपिण्ड, पृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य्यात्मक द्यु लोक भेद से चार संस्था हो जातीं हैं। भूपिण्ड में मर्त्याग्नि प्रतिष्ठित है, पृथिवी में अग्नि का साम्राज्य है, अन्तरिक्ष में वातवायु का आधिपत्य है, एवं सूर्य्यात्मक द्यु लोक में स्तनयित्नुलक्षण दिव्य मघवेन्द्र का साम्राज्य है, जैसा कि—"**यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी**" इत्यादि यजुःश्रुति से प्रमाणित है। आग्नेयी पृथिवी का **'रथन्तरसाम'** माना गया है, वायव्य अन्तरिक्ष का **'वामदेव्य'** साम माना गया है, एवं ऐन्द्र द्यु लोक का **'बृहत्साम'** माना गया है। अतएव पार्थिवी वाक् को **'राथन्तरी'**, आन्तरीक्ष्या वाक् को **'वामदेव्या'**, दिव्या वाक् को **'बृहती'**, तथा पशुलक्षणा

भूपिण्डानुगता वाक् को 'पशव्या' कहा जायगा । राथन्तरीवाक् अग्नि समबन्ध से 'ऋक्' है, वामदेव्या वाक् वायु सम्बन्ध से 'यजुः' है, एवं बृहतीवाक् इन्द्रात्मक आदित्य सम्बन्ध से 'साम' है । यही त्रयीवाक् है । पशव्यावाक् लौकिकी वाक् है । चारों में त्रयीवाक् गुहानिहिता है, चौथी लौकिकी पशव्या वाक् ही मनुष्यादि पशुओं के लिए व्यवहार्य्य है । निम्नलिखित मैत्रायणी श्रुति से इसी पक्ष का समर्थन हो रहा है--

"वाजस्येमां सुषुवेऽग्रे सोमं राजानमोषधीस्वप्सु ।
स विराजं पर्येतु प्रजानन् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे ॥
वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवं स ओषधीः समनक्तु घृतेन ।
ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयं राष्ट्रे जागृयामा पुरोहिताः ॥
वाजस्येदं प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ।
आदित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छतु ॥"

(मैत्रा० सं० १।११।४।)

"वाग्धि वाजस्य प्रसवः । सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् लोकेषु त्रीणि, तुरीयाणि । पशुषु तुरीयं, या पृथिव्यां–साग्नौ सा रथन्तरे (सा राथन्तरी), यान्तरिक्षे–सा वाते–सा वामदेव्ये (सा वामदेव्या) या दिवि–सा बृहती–सा स्तनयित्नौ (सा बृहती) । अथ पशुषु । ततो या वागतिरिच्यत, तां ब्राह्मणे न्यदधुः । तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति यश्च वेद, यश्च न । बृहद्रथन्तरयोः—यज्ञादेनं (वाजं) तया गच्छति । या पशुषु तय ऋते यज्ञम् ।" (मैत्रा० सं० १।११।५।)

स्तौम्यत्रैलोक्यात्मके पार्थिवसंस्थाने–'चत्त्वारि वाक्परिमिता पदानि'—

१–एकविंशस्तोमः—द्यौः	(आदित्यः)	बृहत्—	—बृहती—	—सामवाक्	}	यज्ञमात्रिक-वेदः (पार्थिवः)
२–पञ्चदशस्तोमः—अन्तरिक्षम्	(वायुः)	वामदेव्यं—	—वामदेव्या—	—यजुर्वाक्	}	
३–त्रिवृत्स्तोमः—पृथिवी	(अग्निः)	रथन्तरं—	—राथन्तरी—	—ऋग्वाक्	}	
४–अस्तोमः —भूपिण्डः	(चित्यग्निः)	पशवः—	—पशव्या—	—लौकिकी वाक्		

रोदसीत्रैलोक्यात्मके रोदसीब्रह्माण्डे—'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि'—

१–सूर्य्यात्मिकाद्यौः	(इन्द्र)	—बृहत्—	—बृहती—	—सामवाक्	गायत्रीमात्रिकवेदः (सौरः)
२–अन्तरिक्षम्	(वायुः)	—वामदेव्यं—	वामदेव्या—	—यजुर्वाक्	
३–महिमापृथिवी	(अमृताग्निः)	–रथन्तरं—	—रथन्तरी—	—ऋग्वाक्	
४–भूपिण्डः	(मर्त्याग्निः)	–पशवः—	—पशव्या—	—लौकिकी वाक्	

इति–तृतीयः पक्षः

—३—

(४)—चतुर्थः पक्षः—

अमृतावाक्, दिव्यावाक्, वायव्यावाक्, ऐन्द्रीवाक्, भेद से भी वाग्देवी के चार पदों का समन्वय किया जा सकता है। इनमें से सर्वप्रथम अमृतावाक् के ही स्वरूप पर दृष्टि डालिए। आत्मा अमृत तत्त्व है, विश्व मर्त्य है, दोनों के समन्वय से प्राजापत्यसंस्था का उदय हुआ है, जैसा कि—**'अर्द्धं ह वै प्रजापते-रात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** इस निगम से स्पष्ट है। मर्त्यविश्व का मूल अमृतात्मा वाग्रूप में (क्षर-रूप में) परिणत हो कर ही मर्त्य-विकारक्षररूप विश्व का उपादान बनता है। जो वाक्तत्त्व विश्व का उपादान बनता है, उसमें काम–तप–श्रम नामक तीनों व्यापारों का समन्वय है। आत्मा की मनः–प्राण–वाक्-कलाओं से क्रमशः काम–तप–श्रम का उदय होता है। फलतः वाक् का 'मनःप्राणगर्भितावाक्' यह तात्पर्य्य निकलता है। मन की आधारभूमि विज्ञान है, सर्वाधारभूमि आनन्द है। आनन्दविज्ञानघन वही आत्मा मुक्तिप्रवर्त्तक है, आनन्दविज्ञानघनमनोमयप्राणगर्भिता वाक् की दृष्टि से वही आत्मा सृष्टिप्रवर्त्तक बन रहा है।

उक्त मनःप्राणवाग्गर्भिता आत्मवाक् का पहिला विवर्त्तभाव ऋग्-यजुः–साममय ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय तत्त्वात्मक वेद है। वाग्देवी इस वेदभाव में परिणत होकर ही विश्वका उपादान बनती है। वाक् को प्राण से युक्त बतलाया है, साथ ही मन से भी। यह वाक् स्थितितत्त्व है, प्राण गतितत्त्व है। स्थिति-लक्षणा वाक् 'जू' नामक आकाश है, गतिलक्षण प्राण 'यत्' नामक प्राणवायु है। दोनों की समाष्टि 'यज्जूः' लक्षण यजुर्वेद है। यही 'वयः' नामक वस्तुतत्त्व है। मनोमय आलम्बन 'वयोनाध' लक्षण ऋक्–साम हैं। **'ऋक्सामे यजुरपीतः'** के अनुसार वयोनाध (सीमाभाव) लक्षण ऋक्साम में यजु डूबा हुआ है। इस-प्रकार त्रयीरूपा यह अमृतावाक् ही अपने स्थिति–गतिभाव से सम्पूर्ण विश्व की जननी बन रही है। इसी से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, इसी पर सब कुछ प्रतिष्ठित हैं, अन्त में इसी में यह सम्पूर्ण प्रपञ्च विलीन हो जायगा। आकाशात्मिका प्राणमयी यह वाक् ब्रह्माग्निरूपा है। ब्रह्माग्नि ही इस की उपनिषत् है। यही परमाकाशलक्षणा स्वायम्भुवी सत्यावाक् है। इसी अमृतावाक् के विविध कर्म्मों का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥
(ऋक्सं० १।१६४।४१)।

वाङ्मय प्राण ही अर्कदृष्टि से 'गौः' कहलाया है । स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य भेद से यह वाङ्मय प्राणात्मक गौतत्त्व शुक्ल-कृष्ण-पृश्नि, तीन स्वरूपों में परिणित हो रहा है । संयती त्रैलोक्य का स्वयम्भू ब्रह्मा से, क्रन्दसी त्रैलोक्य का पारमेष्ठ्य विष्णु से, तथा रोदसी त्रैलोक्य का सौर महेश्वर से सम्बन्ध माना गया है । स्वायम्भुवी शुक्ला गौ ब्रह्मप्रिया है, जिस के लिए **'गौरीर्मिमाय०'** कहा गया है । पारमेष्ठिनी कृष्णागौ विष्णुप्रिया है, जिस के लिए-**'गोसवो देवनिर्म्मितः'** यह प्रसिद्ध है । सौरी पृश्निगौ महेश्वरप्रिया है, जिसके लिए-**'आयं गौः पृश्निरक्रमीत्'** यह वचन विहित है ।

१-शुक्ला गौः ——ब्रह्माणी——ब्रह्मप्रिया——ज्ञानशक्तिवर्द्धिनी (स्वायम्भुवी) ।
२-कृष्णगौः———वैष्णवी———विष्णुप्रिया—-क्रियाशक्तिवर्द्धिनी (पारमेष्ठिनी) ॥
३-पृष्निगौः———माहेश्वरी—-–रुद्रप्रिया——अर्थशक्तिबर्द्धिनी (सौरी) ।

उक्त तीनों गोविवर्त्तों में मूलाधार विवर्त्त प्रथम विवर्त्त ही माना गया है । बिश्वाधिष्ठात्री, विश्वमूला, परमाकाशात्मिका स्वायम्भुवी अमृता वेदवाक् ही प्रकृत मन्त्र में "गौरी' शब्द से अभिप्रेत है । गौरी का अर्थ है-'श्वेता' । श्वेत से यहां श्वेतवर्ण अभिप्रेत नहीं है । वर्णदृष्टि से तो यह स्वायम्भुवी वाक् अप्रज्ञाता-अलक्षणा ही बन रही है । यहाँ ज्ञानज्योति के सम्बन्ध से ही इसे श्वेता (गौरी) कहा गया है । इस गौरीवाक् का पहिला काम है पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व का विच्छेद करना । विभागकरण ही तक्षण है । **'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्-सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्'** के अनुसार वह वाक् पारमेष्ठ्य समुद्र को उत्पन्न कर अपने त्रयीरूप से इस समुद्र में प्रविष्ट हो जाती है । यहाँ प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्डसीमा का उदय करना इस का पहिला तक्षण कर्म्म है, जिसके लिए-**'तत आण्डं समवर्त्तत'** यह कहा जाता है । आगे जाकर इसका यह तक्षणकर्म्म-सम, विषम, अपरिमित, भेद से तीन भागों में विभक्त हो जाता है । १-२-४-८ संख्याओं से वाक् के सम-विभागों का, 'नवपदी' शब्द से विषम विभागों का, तथा 'सहस्राक्षरा' से अपरित विभागों का स्पष्टीकरण हुआ है । त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश नामक अयुग्मस्तोम उसी वाङ्मय वषट्कार के विषम विभाग हैं । चतुर्विंश, चतुश्चत्वारिंश, एवं अष्टाचत्वारिंश नामक युग्मस्तोम सम विभाग है । इसी प्रकार **'एका च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे सप्त च मे नव च म एकादश च मे०'** इत्यादि मन्त्र विषम विभाग का उदाहरण है । **'चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे०'** इत्यादि मन्त्र सम विभाग का उदाहरण है । एवं-**'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्'** इत्यादि मन्त्र अपरिमित विभाग का उदाहरण है ।

अधिदैवतसंस्था के अतिरिक्त अधिभूतसंस्था में बीज से अङ्कुर, अङ्कुर से कर्णाकरी, कर्णकरी से शाखा प्रशाखा, इन से असंख्य पत्र वाग्विभक्तियों के उदाहरण बन रहे हैं । अध्यात्मपक्ष में ब्रह्मरन्ध्र, कण्ठ,

हृदय, नाभि, गुद, मुख आदि 'एकपदी' के उदाहरण हैं। हस्त-पाद-चक्षु-श्रोत्र-नासाछिद्र-श्रोणी-क्लोम-फुफ्फुस-पार्श्व-आण्ड-मूत्ररेतसी-इत्यादि 'द्विपदी' के निदर्शन हैं। शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, बस्तिगुहा 'चतुष्पदी' के उदाहरण हैं। आठ प्रादेश 'अष्टापदी' का उदाहरण है। नवप्राण 'नवपदी' का उदाहरण है। असंख्य अपरिमित सूक्ष्माणु 'सहस्राक्षरा' के उदाहरण है।

तात्पर्य मन्त्रश्रुति का यही है कि, अन्नाधार पर वाक् के विभक्तिकरणलक्षण व्याकरण-व्यापार से ही सृष्टि में विभक्त पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। परमाकाश में प्रतिष्ठित आकाशात्मिका गौरीवाक् ही अन्नाधारेण तक्षणकर्म्म करती हुई-'**सर्वमिदं जनयनि, यदिदं किञ्च**', जैसा कि '**नासदीययसूक्तविज्ञान-भाष्य**' की उक्त मन्त्रव्याख्या में विस्तार से प्रतिपादित है।

दूसरी दिव्या वाक् है। अमृता वेदत्रयीवाक् सत्यात्मक-ब्रह्माग्निभावापन्ना बनती हुई जहाँ '**सत्या**' थी, वहाँ यह दिव्या वाक् ऋतात्मक-सुब्रह्मसोमभावापन्ना बनती हुई '**ऋता**' है। सत्यावाक् का प्रथमावतार यही ऋतावाक् है। बागाधार पर प्रतिष्ठित यजुःप्राण के संघर्ष से जो वाक्भाग द्रुत हो जाता है, वही आपोमय परमेष्ठी-मण्डल है। पारमेष्ठ्य समुद्र की जननी वही सत्या अमृता वाक् है, जिसकी गौरी-रूप से पूर्वमन्त्र में स्तुति हुई है, एवं निम्न लिखित मन्त्र से जिसका समुद्रोपादानत्व उपवर्णित हुआ है—

"तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुपजीवति" (ऋक्सं० १६४।४२)।

"**सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत**"—"**अप एव ससर्जादौ**" इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ भी यही स्पष्ट कर रहीं हैं। सत्यावाक् से उत्पन्न यह आयोमयी ऋता वाक् ही दिव्या-वाक् है, यही सुब्रह्म नामक '**अथर्व वेद**' है। त्रयीवेद का स्वयम्भू से सम्बन्ध है, वह सत्यवाङ्मय है। अथर्ववेद का परमेष्ठी से सम्बन्ध है, एवं वह ऋतवाङ्मय है। इसी ऋता वाक् से सम्पूर्ण भूत, तथा देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ है, जैसा कि-'**आपो वै सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि**' (शत० १०।५।४।१४) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। *'**आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्०**' इत्यादि गोपथश्रुति के अनुसार यह अप्तत्त्व भृगु-अङ्गिरामय है। भृगुत्रयी स्नेहलक्षणा है, अङ्गिरात्रयी तेजोलक्षणा है। अङ्गिरागर्भित भृगु नामक अप्तत्त्व से भूतसृष्टि हुई है, एवं भृगुगर्भित अङ्गिरा नामक अप्तत्त्व से देवसृष्टि हुई हैं। इसी दिव्यसृष्टि के सम्बन्ध से इसे '**दिव्यावाक्**' कहना अन्वर्थ बन रहा है। त्रयीवाग् लक्षणा अमृता वाक् को अपने गर्भ में रखती हुई यही अथर्ववाक्-लक्षणा दिव्या-वाक् अपने भृग्वङ्गिरोरूपद्वयी से भूत-देव जननी बनती हुई सर्वजननी बन रही है। भृगु इसी वाक् का शान्त रूप है, अङ्गिरा इसी वाक् का घोर रूप है। इसी वाग्देवी की स्तुति करते हुए, साथ ही इस के ऋतभाव का समर्थन करते हुए निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आते हैं—

*—**आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।**
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः" (गोपथब्रा० १।१।२६)

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता (स्वयम्भूसंशिता)
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥ (अथर्वसं० १९।९।३)।

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता अमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।५।

स्वायम्भुवी त्रयीवाक् (अमृतावाक्), पारमेष्ठिनी अथर्ववाक् (दिव्यावाक्) दोनों में त्रयीवाक् अनेजदेजल्लक्षणा योनि है, अथर्ववाक् रेत है। दोनों के समन्वय से ही विश्वविभूति का उदय हुआ है, जैसाकि– "अनेजदेकं मनसो जवीयः" इत्यादि ईशविज्ञानभाष्यमें विस्तार से प्रतिपादित है। इन दोनों वेद-वाग्विवर्त्तों में 'ध्वनि' नहीं है। अतएव ये श्रोत्रग्राह्य भी नहीं हैं। भगवान् पतञ्जलि की **'तस्माद् ध्वनिः शब्दः'** (महाभाष्य) इस उक्ति के अनुसार ध्वनि ही शब्द है। अतएव ध्वनि के अभाव से इन दोनों को शब्द नहीं कहा जासकता। ऐसी स्थितिमें **"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे"** (मनु०१।२१।) इस कथन के 'शब्देभ्यः' पद को औपचारिक मानते हुए इसका 'वेदवाग्भ्यः' यही अर्थ करना चाहिए। अथवा 'शब्दतन्मात्रा' नामक प्रथम गुणभूत की दृष्टि से इस पद का समन्वय कर लेना चाहिए।

श्रोत्रग्राह्या ध्वनि दो प्रकार की मानी गई है। प्रज्ञानेन्द्रभक्तिविरहिता, अतएव अर्थ प्रकट करने में असमर्था ध्वनि एक प्रकार की ध्वनि है। एवं प्रज्ञानेन्द्र से समन्विता वर्ण–पद–वाक्यादि से विभक्तावयवा, अतएव अर्थ प्रकट करने में समर्था ध्वनि एक प्रकार की ध्वनि है। इसी दूसरे प्रकार को लक्ष्य में लक्ष्य में रखकर आचार्य्योंनें कहा है—

"ध्वनि–र्वर्णाः–पदं–वाक्य–मित्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥"

इन्द्र-शक्त्यभावात्मिका–अनर्थभावप्रधाना ध्वनि की प्रतिष्ठा **'वायु'** है, दूसरे शब्दों में वायु ही इस की उपनिषत् है। अतएव इसे हम **'वायव्या'** कह सकते हैं। यद्यपि इस वाक् में स्वतः गति का अभाव है, तथापि वायु सम्बन्ध से इस का इतस्ततः गमन होता रहता है। इस वाक् में होने वाले नाद–श्वासादि व्यापार इसी वायु का अनुग्रह है। नादश्वासात्मिका, किन्तु अर्थावबोधन में असमर्था इसी वायव्या वाक् को 'सरस्वती' भी कहा जासकता है। यही वाक् का तृतीय पद है।

इसी वायव्या वाक् के साथ जब इन्द्र का सम्बन्ध हो जाता है, तो इन्द्रकृत विभक्तिभाव से इस में वर्ण–पद–वाक्यादि भावों का उदय हो जाता है। और उस अवस्था में अर्थावबोध में समर्थ होती हुई यह ध्वनिवाक् 'ऐन्द्री' वाक् नाम से व्यवहृत होने लगती है। वायव्या वाक् जहाँ अव्याकृता है, वहाँ यह ऐन्द्री वाक् व्याकृता है। पशुओं में अव्याकृता वायव्या वाक् ही प्रतिष्ठित है। अतएव इन की वाक् में वर्ण–पदादि का अभाव है। मनुष्यों में ऐन्द्री वाक् का प्राधान्य है। प्रज्ञानज्ञानघन प्राज्ञ इन्द्र के प्रवेश से इस अखण्ड धरात-

लात्मक वाग्विवर्त्त के ज्ञानप्रवेश से खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। यही ऐन्द्रव्याकरण है। इसी विभक्तिकरणलक्षण ऐन्द्रव्याकरण से व्याकृता बनती हुई यह मानुषी ऐन्द्री वाक् वर्णादि खण्ड भावों में परिणत होती हुई अर्थजननी बन जाती है। इसप्रकार वायव्या वाक् से सम्बन्ध रखने वाला 'वायव्यग्रह' इन्द्र के समावेश से व्याकृत बनता हुआ 'ऐन्द्रवायवग्रह' बन जाता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्य' के चतुर्थकाण्ड में हुआ है। मानुषी वाक् कैसे व्याकृता बनती है ?, इसी प्रश्न का उक्त समाधान करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है-

"वाग्वै पराची अव्याकृताऽवदन्। तद् देवा इन्द्रमब्रुवन् 'इमां नो वाचं व्याकुरुत' इति। सोऽब्रवीत्-'वरं वृणै, मह्यं चैवैष, वायवे च सह गृह्याता (तै)' इति। तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतऽपक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते" इति ॥

वायव्या वाक् को सरस्वती बतलाया गया है। इस का यह तात्पर्य्य है कि, यह वायु शिवभावप्रधान बनता हुआ आप्य है। अप्तत्व का आपोमय परमेष्ठी से सम्बन्ध है, एवं पारमेष्ठिनी वाक् ही 'सरस्वान्' समुद्र के सम्बन्ध से 'सरस्वती है। वहाँ का आप्य वायु '**हंस**' नाम से भी प्रसिद्ध है। पशुओं में इसी 'हंस' नामक शिववायु का प्राधान्य रहता है। अतएव साम्बसदाशिव को 'पशुपति' कहा गया है। आपोमावात्मिका इसी वायव्या वाक् से आपोमय भूमिण्ड का उदय हुआ है, जैसाकि-'**अद्भ्यः पृथिवी**' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति से प्रमाणित है। वर्णात्मिका अनुष्टुप् वाक् को ही पार्थिवी वाक् कहा गया है। इस वर्णात्मिका वाक् के साथ इन्द्र का सख्य है। इन्द्रसख्य से ही यह वर्णात्मिका बन पाई है। इसप्रकार पूर्व ब्राह्मणश्रुति ने जिस अर्थ का 'ऐन्द्रवायवग्रह' रूप से स्पष्टीकरण किया है, उसी अर्थ का प्रकारान्तर से निम्न लिखित मन्त्र ने स्पष्टीकरण किया है—

"बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा ॥"

—ऋक् सं० १०।१२४।६।

वायव्या वाक् का इन्द्र से भोग होता है। इसी आधार पर इन्द्रयुक्ता व्याकृता वाक् को 'इन्द्र पत्नी' मान लिया गया है। 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्ध यही व्याकृता वाक् (तृतीय वाक्पद) वेद लोक-व्यवहार की मूलप्रतिष्ठा बन रही है। विश्व के वाचिक कर्म्मकलाप इसी वाग्देवी पर प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

"वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी" ॥

—तै० ब्रा० २।८।८।४।

इसप्रकार अमृता (सत्या त्रयीवाक्), दिव्या (ऋता अथर्ववाक्), वायव्यावाक्, ऐन्द्रीवाक्, भेद से भी वाक् के चार पद माने जा सकते हैं। चारों में पूर्व के तीन पद अर्थविज्ञान से असम्बद्ध रहते हुए गुहा-निहित हैं।

मनुष्य जिस वाक् का प्रयोग करते हैं, जिस प्रयुक्त वाक् में अकार-ककारादि वर्ण प्रविभक्त-प्रज्ञात प्रतीत होते हैं, वही चौथी व्याकृता वाक् है, जिसे हमने 'ऐन्द्री' कहा है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, प्रज्ञात्मक प्राण ही इन्द्र है। इसी प्रज्ञान ज्ञानमय प्राणेन्द्र के समावेश से अखण्ड-वायव्य वाग्धरातल खण्ड-खण्डात्मक बन जाता है। अनाहतनाद में, वायु-अग्नि-जल-पृथिवी मे, पशुओं में, सरीसृपो में, सद्योजात बालक के रुदन में जो वर्णविभक्त्यभावात्मिका वाक् प्रतिष्ठित है, वह प्रज्ञानेन्द्र से अव्याकृत रहती हुई विशुद्धा वायव्या वाक् है। शेष चौथा ऐन्द्र पद ही मनुष्य में अद्धा बन रहा है।

१-अमृता वाक्—स्वायम्भुवी सत्यावाक्—त्रयोवाक्

२-दिव्या वाक्—पारमेष्ठिनी ऋतावाक्—अथर्ववाक्

३-वायव्या वाक्-अव्याकृता ध्वनिर्वाक्

४-ऐन्द्री वाक्—व्याकृता ध्वनिर्वाक्

इति चतुर्थः पक्षः

———४———

(५)—पञ्चमः पक्षः—

पूर्वोक्त वागविवर्त्त में जो चौथी व्याकृता ऐन्द्री वाक् है, उसका अध्यात्मदृष्टि से विचार करने पर हमारी अध्यात्मसंस्था में भी 'चत्वारि०' मन्त्र का समन्वय सिद्ध हो रहा है। आध्यात्मिक वाक्तत्त्व **'परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी'** भेद से चार भागों में विभक्त है। चारों का मूल कर्म्मात्मा है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टि ही कर्म्मात्मा है। प्राज्ञ से प्रज्ञानेन्द्र अविनाभूत है। अतएव कर्म्मात्मा को इन्द्रयुक्त कहा जा सकता है। इसीलिए इन्द्र को आत्मा माना गया है, जैसाकि- **'सहोवाच-प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा, तं मामायुरमृतमित्युपास्व''** (कौ० उ० ३।२।) इत्यादि से स्पष्ट है। इसी आधार पर उक्त चारों वाक्पदों को व्याकृता ऐन्द्रीवाक् के विवर्त्त मानें जा सकते हैं। संसार में कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है, जिसका शब्द से सम्बन्ध न हो। शब्द ही प्रत्यय ही अनन्य प्रतिष्ठा है, जैसाकि निम्न लिखित हरिकारिका से प्रमाणित है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ (वाक्यपदी)

'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध बुद्धि में प्रतिष्ठित वाक् ही **'परावाक्'** है। मनोयोगपूर्वक चुपचाप पुस्तक पढ़ते हुए जो अन्तश्श्रवणात्मिका शब्दानुगता वाक् है, वही **'पश्यन्तीवाक्'** है। नादध्वनि किए बिना श्वासमात्र के आधार पर बोली जाने वाली वाक् (कानाफूंसी वाली वाक) **'मध्यमावाक्'** है। एवं नादध्वनि-युक्ता, दूरतोऽपि श्रोताग्राह्या वाक् **'वैखरीवाक्'** है। इन चारों में पूर्व के तीनों विवर्त्तों का बोध नहीं होता। वैखरी नाम की चौथी वाक् ही 'वदन्ति' का समर्थन कर रही है। इन्हीं चारों आध्यात्मिक विवर्त्तों का स्पष्टीकरण करते हुए अभियुक्तों नें कहा है—

"वैखरी-शब्दनिष्पत्ति, र्म्मध्यमा श्रुतिगोचरा ।
द्योतितार्थानुपश्यन्ती, सूक्ष्मावागनपायिनी" ।

१-परावाक्——बुद्धिस्था-अन्तर्लीना-सूक्ष्मा ।

२-पश्यन्तीवाक्--अन्थाक्षरानुगता-उपांशुवाक् ।

३-मध्यमावाक्—नादध्वनिशून्या श्वासमात्रानुगता ।

४-वैखरीवाक्—नादध्वनियुक्ता श्रोत्रग्राह्या ।

इति पञ्चमः पक्षः

——५——

(६)-षष्ठः पक्षः-

उक्त चारों वाग्विवर्त्तों में से जो चौथी वैखरीवाक् है, उसके अध्यात्म में चार विवर्त्त मानें जा सकते हैं, एवं इस दृष्टि से भी 'चत्त्वारि०' इत्यादि मन्त्र का समन्वय किया जा सकता है । वैखरीवाक् वह है, जिसका उच्चारण होता है । पूर्व में यह कहा गया है कि पश्वादि में जो ध्वनिवाक् हैं, उसमें इन्द्र का समावेश नही है, अतएव उनकी वाक् अव्याकृता है । इस कथन का यह तात्पर्य्य समझना चाहिए कि-इन्द्र की मात्रा के सन्निवेश में तारतम्य है । पश्वादि में इन्द्र का आत्यन्तिक अभाव हो, यह बात नहीं है । 'नेन्द्राहते पवते धाम किञ्चन' (ऋक् सं०६।६६।६।) के अनुसार संसार का कोई भी पदार्थ इन्द्रसम्पत्ति से वञ्चित नहीं है । फिर चेतनप्राणियों की आत्म-संस्था का स्वरूप तो इसी आयुःस्वरूपसमर्पक इन्द्रप्राण के सम्बन्ध पर निर्भर है । हाँ कहीं वह अनिरुक्तरूप से प्रतिष्ठित है, कहीं निरुक्त रूप से । निरुक्तानिरुक्त-रूप से प्रतिष्ठित इन्द्रसम्बन्ध से पश्वादि की वाक् भी व्याकृता मानी जायगी । साथ ही इसे भी वैखरी ही कहा जायगा ।

इस वैखरीवाक् का उच्चारण करने वाली प्रजा को 'मनुष्य, पशु, पक्षी, क्षुद्रसरीसृप' भेद से चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है । चारों में इन्द्रमात्रा का चतुर्थांश-चतुर्थांश रूप से क्रमशः ह्रास माना गया है । इसप्रकार 'निरुक्तमनुष्यवाक्, अनिरुक्तपशुवाक्, अनिरुक्तपक्षिवाक्, अनिरुक्तक्षुद्र-सरीसृप्वाक्' भेद से इस वैखरी वाक् के भी चार पद हो जाते हैं । चारों में उत्तर के तीन विवर्त्त अस्पष्ट बनते हुए गुहानिहित हैं । चौथा निरुक्त वाग्विवर्त्त 'वदन्ति' मर्य्यादा से युक्त है । इसी पदचतुष्टयी का स्पष्टी-करण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे-वायुर्वै नोऽस्य यज्ञस्य भूयिष्ठभाक् । 'हन्त-अस्मिन्नपिच्च-मिच्छा' इति । स होवाच-'वायवा मास्मिन् ग्रहे भज' इति । किं ततः स्यात्-इति, निरुक्तमेव वाग्वदेत्, इति । निरुक्तं चेद् वाग्वदेत्-आ त्वाभजामीति । तत एष एवैन्द्र-वायवो ग्रहोऽभवत् । तदेतत् तुरीयं वाचो, यन्मनुष्या वदन्ति । अथैतत् तुरीयं वाचोऽनि-

रुक्तं, यत् पशवो वदन्ति । अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं, यद् वयांसि वदन्ति । अथैतत् तुरीयं वाचो यदिदं क्षुद्रसरीसृपं वदति" (...............) ।

१–अनिरुक्ता क्षुद्रसरीसृप्वाक् ¼ इन्द्रयुक्ता अपूर्णा
२–अनिरुक्ता पक्षिवाक् ¼ इन्द्रयुक्ता अपूर्णा
३–अनिरुक्ता पशुवाक्—¼— इन्द्रयुक्ता अपूर्णा
४–निरुक्ता मनुष्यवाक्— पूर्णेन्द्रयुक्तापूर्णा

इति षष्ठः पक्षः

—६—

(७)–सप्तमः पक्षः—

उक्त चारों वैखरी–विवर्त्तों में से मनुष्य जिस निरुक्ता–वैखरी–वाक् का प्रयोग करता है, उसके भी चार पद मानें जा सकते हैं, एवं इस सम्बन्ध से भी 'चत्त्वारि०' का समन्वय किया जा सकता है । मानुषी निरुक्ता वैखरी वाक् के उन चारों पदों को क्रमशः—'प्राण, स्वर, वर्ण, ध्वनि' भेद से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है । वर्णोत्पत्तिविज्ञान का स्पष्टीकरण करने वाले शिक्षाशास्त्र ने यह सिद्धान्त बतलाया है कि—मनुष्य जब कुछ बोलना चाहता है, तो सर्वप्रथम इस कामना में 'आत्मा–बुद्धि–मन' तीनों का सहयोग होता है । संकल्पित वाच्य अर्थ को स्पष्ट करने की कामना रखने वाले आत्मबुद्धिसहकृत मन की इस कामना का कायाग्नि (शरीराग्नि) पर आघात होता है । आहत कायाग्नि से शारीर वायु को प्रेरणाबल मिलता है । कायाग्नि से धक्का खाकर प्राणवायु उरःस्थान में टकरा कर मन्द्रस्वर का जनक बनता है । वह स्वर शिरः प्रदेश में टकरा कर मुखविवर में आता हुआ वर्णरूप में परिणत होता है* ।

कायाग्निके आघात से नाभिप्रदेश से ऊपर की ओर उठा हुआ वायु उरःस्थान से टकराने से पहिले पहिले अपनी विशुद्ध प्राणवस्था में परिणत रहता है । यही 'प्राण' नाम की पहिली अवस्था है । मुखस्थान में आने से पहिले-पहिले यह प्राणवायु क्रमशः उरः–कण्ठ–शिरः प्रदेश में विचरण करता हुआ स्वरावस्था में परिणत रहता है । यही 'स्वर[२]' नाम की दूसरी अवस्था है । वही स्वर मुखस्थान में आता हुआ स्वरतः, कालतः, स्थानात्, प्रयत्नानुप्रदानात् भेद से पाँच भागों में, ५० विभागों में, किंवा ६४ रूपों में परिणत होता हुआ 'वर्ण' नाम से प्रसिद्ध होता है । यही 'वर्ण' नाम की तीसरी अवस्था है । यही वर्ण आगे जाकर

---

* "आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ॥
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ॥२॥
वर्णान्-जनयते, तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥३॥ (पाणिनीयशिक्षा)

षड्ज, ऋषम, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद (सा–रे–ग–म–प–ध–नी) इन नामों से प्रसिद्ध सात श्रुतिमूलक स्वरों से युक्त होता हुआ श्रुति से गृहीत बन कर 'ध्वनि' रूप में परिणत हो जाता है। यही 'ध्वनि' नाम की चौथी अवस्था है। इसप्रकार कायाग्नि से आहत वायु ध्वनिरूप में आता हुआ प्राणादि चार अवस्थाओं में परिणत रहता है। चारों में प्राणावस्था एक वाक्स्तर है, अन्य स्तरयोग ये स्वरावस्था द्विस्तरा है, अन्य स्तरयोग से वर्णावस्था त्रिःस्तरा है, एवं अन्य स्तरयोग से ध्वन्यवस्था चतुःस्तरा है। पूर्व पूर्व के वाक् स्तर को आधार बना कर ही उत्तर-उत्तर के वाक्स्तर का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इसप्रकार हम जिस ध्वन्यात्मिका वैखरी वाक् का उच्चारण करते हैं, उसके चार स्तर हो जाते हैं, यही **'चत्त्वारि वाक् परिमिता पदानि'** है।

चतुर्थ, किंवा चतुःस्तरात्मिका जो ध्वनि है, उसके सम्बन्ध में कुछ विशेषताएँ प्रसङ्गोपात्त और जान लेनीं चाहिएँ। **'कः पुनरिदं ध्वनिर्नाम'** इत्यादि रूप से ध्वनि के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हुए अभियुक्तों ने यह समाधान किया है कि--

वर्णसमूहलक्षण किसी वाक्य का हमनें उच्चारण किया, दूरस्थित श्रोता ने उसे सुना। परन्तु विदूरभाव के कारण उसे वर्णविवेक तो हुआ नहीं, केवल उसके कर्णपथ में आघात हुआ। यह आघात ही 'ध्वनि' मानी गई है। यदि कोई हमारे समीप बैठा है, तो वह विस्पष्टरूप से वर्णों का बोध कर लेता है। यह विस्पष्टतालक्षणा पटुता वर्णों में जिसके द्वारा उत्पन्न होती है, वह ध्वनि ही मानी गई है।

उच्चारित वर्ण ध्वनि के सद्योग से सम्बन्ध भी रखते हैं, एवं असम्बन्ध भी। अर्थात् कभी ध्वनि के बिना उच्चारित वर्ण बोध के जनक बन जाते हैं, कभी ध्वनि के साथ। एकान्त में बैठे हुए दो आदमी कानाफूँसी कर रहे हैं। यही उपांशुवाक् है। दोनों में बातचीत चल रही है, परन्तु तीसरा नहीं सुन रहा। ऐसी उपांशुवाक् में ध्वनि नहीं है, परन्तु वर्णोच्चारण सुव्यवस्थित है। जब यह बातचीत उच्चस्वर से चलने लगती है, तो ये ही उच्चारित वर्ण ध्वनिभाव से युक्त हो जाते हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकला कि, ध्वनि का स्वर से प्रधान सम्बन्ध है, न कि वर्णों से।

उक्त स्वरानुगामिनी ध्वनि को **स्वरध्वनि, स्फोटध्वनि** भेद से दो भागों में विभक्त माना जा सकता है। **'अकारो वै सर्वा वाक्, सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति'** (ऐ०आ०) इत्यादि ऐतरेय श्रुति के अनुसार स्पर्श, तथा ऊष्मा (संकोच-तथा विकास) प्रतियोगिनी जो वाक् है, वही स्वर है, एवं तदात्मिका ध्वनि ही स्वरध्वनि है। 'लघु–गुरु' भेद से दो भागों में विभक्त यही वाक् स्वर 'अक्षर' कहलाया है। इसके अतिरिक्त वर्ण–पद–वाक्य–श्लोकादि श्रवण से जो हमें एक समूहालम्बनात्मिका अर्थप्रतिपत्ति होती है, इस अर्थपरिचायक भाव को ही व्याकरण ने **'स्फुटत्यर्थो येन'** से स्फोट कहा है। इस स्फोट का नभ्यप्राण से प्रधान सम्बन्ध है। अखण्ड धरातलात्मक नभ्यप्राण के आधार पर प्रतिष्ठित रहने से ही वर्ण परस्पर संश्लिष्ट नहीं होने पाते। इस स्फोटप्राण से अनुग्रहीत ध्वनि ही 'स्फोटध्वनि' कहलाई है, जो वर्णाधार के साथ-साथ समूहालम्बनात्मक अर्थबोध की जननी बन रही है।

स्वर–प्राण–स्फोटादि के अतिरिक्त देवताभेद से भी वाग्देवी के विभक्त स्वरूपों का समन्वय कर लेना चाहिए। ध्वन्यात्मिका वाक् अग्नीषोमदेवता से सम्बन्ध रखती हुई, अतएव 'अग्नीषोमीया' नाम से व्यवहृत

होती हुई आग्नेयी वाक् है । अग्निसम्बन्ध से ही यह ध्वनिवाक् गायत्रीछन्दा है । वर्णात्मिका वाक् वायव्या है, साथ ही इसका अनुष्टुप्छन्द से सम्बन्ध है । क्योंकि–'**वाचमष्टापदीमहम्**' इत्यादि श्रुति के अनुसार वर्णवाक् आठ बिन्दुओं से सम्बन्ध रखती हुई अष्टापदी है, एवं अष्टाक्षरछन्द ही अनुष्टुप् है । गायत्रब्रह्म के सम्बन्ध से ध्वनिवाक् ब्रह्म है, अनुष्टुप् के सम्बन्ध से वर्णवाक् वाक् है, जैसा कि–'**ब्रह्म वै गायत्री, वागनुष्टुप्**' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । स्वरवाक् को ऐन्द्री कहा गया है, एवं नवाक्षर बृहतीछन्द का इससे सम्बन्ध है । '**वागिन्द्रः**' इत्यादि श्रुति से बृहतीछन्दस्का यही ऐन्द्रीवाक् (स्वरवाक्) अभिप्रेत है । वर्णात्मिका अनुष्टुप् की व्याप्ति जहाँ आठ बिन्दुओं में मानी गई है, वहाँ इस स्वरात्मिका बृहतीवाक् की व्याप्ति नौ बिन्दु पर्य्यन्त मानी गई है । बृहतीछन्द नवाक्षर है, अतएव तत्समतुलिता स्वरवाक् को अवश्य ही बृहती कहा जा सकता है । नभ्यप्राणात्मिका स्फोटवाक् अव्ययवाक् (आत्मवाक्) है । यही इतर तीनों वाग्विवर्त्तों का कोष है । इसप्रकार आत्मदेवतानुगृहीता अच्छन्दस्का स्फोटवाक् (प्राण), इन्द्रदेवतानुगता बृहतीछन्दस्का ऐन्द्रीवाक् (स्वर), वायुदेवतानुगता अनुष्टुप्छन्दस्का वायव्यावाक् (वर्ण), अग्निदेवतानुगता गायत्रछन्दस्का आग्नेयीवाक् (ध्वनि) चारों की समष्टि ही 'वाक्संहिता' है, जिसके 'प्राण–स्वर–वर्ण–ध्वनि' भेद से चार पद हैं, जिसके कि चारों पदों में से चतुःस्तरात्मिका ध्वनिवाक् का ही अद्धा श्रवण होता है ।

१—प्राणः—नभ्यप्राणात्मिका स्फोटरूपा अखण्डा आत्मवाक्–अच्छन्दस्का ।
२—स्वरः—इन्द्रदेवतानुगता ऐन्द्रीवाक्—बृहतीछन्दस्का ।
३—वर्णः—वायुदेवतानुगता वायव्यावाक्–अनुष्टुप्छन्दस्का ।
४—ध्वनिः—अग्निदेवतानुगता आग्नेयीवाक्–गायत्रीछन्दस्का ।

इति–सप्तमः पक्षः

—७—

(८)–अष्टमः पक्षः—

जिस वैखरीवाक् का हम उच्चारण करते हैं, उसके सम्बन्ध में भी '**चत्त्वारि वाक् परिमिता–पदानि०**' का समन्वय किया जा सकता है । मानुषीवाक् के '**वर्ण–अक्षर–पद–वाक्य**' भेद से चार विभाग किए जा सकते हैं । मानुषी वाक् के ये चार विभाग ही इन्द्र के सम्बन्ध से 'ऐन्द्रव्याकरण' नाम से व्यवहृत हुए हैं । व्यञ्जन '**वर्णवाक्**' है, इसका अनुष्टुप् से सम्बन्ध है । स्वर '**अक्षरवाक्**' है, इसका बृहतीछन्द से सम्बन्ध है । वर्णगर्भित अक्षरसमष्टि से जिस वाक् का स्वरूप सम्पन्न होता है, वह '**पदवाक्**' है, एवं पदसमष्टिरूपा वाक् '**वाक्यवाक्**' है । वाक्य पदों से, पद अक्षरों से, अक्षर वर्णों से स्वस्वरूप विकास में समर्थ हुए हैं ।

वाक्य के गर्भ में पद–अक्षर–वर्ण तीनों क्रमशः अन्तर्गर्भित होते हुए स्वतन्त्ररूप से शब्दबोध में असमर्थ रहते हैं । वाक्य ही अर्थबोध की प्रतिष्ठा है । इसी अर्थव्यवहार–सञ्चालन के लिए मनुष्यों के द्वारा वाक्यों का प्रयोग होता है, एवं इसी सम्बन्ध से तीनों के लिए जहाँ–'**गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति**' यह कहा जा सकता है, वहाँ वाक्य के लिए '**तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति**' यह कहना अन्वर्थ बन रहा है ।

१—वर्णवाक्—व्यञ्जनवाक्
२—अक्षरवाक्-स्वरवाक्
३—पदवाक्—-व्यञ्जनस्वरसमष्टिरूपा वाक्
४—वाक्यवाक्--वर्णाक्षरपदगर्भिता वाक्-शब्दबोधजननी

इति-अष्टमः पक्षः

—८—

(८)-नवमः पक्षः—

पूर्वोक्त अष्टम पक्ष में वाक् के जो चार विवर्त्त बतलाए गए हैं, उनमें प्रत्येक वाग्विवर्त्त चार चार विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। पहिले वर्णवाक् को ही लीजिए। **"अस्पृष्ट-ईषत्स्पृष्ट-स्पृष्ट-अर्द्धस्पृष्ट"** भेद से वर्ण चार भागों में विभक्त माना गया है।

दूसरी अक्षरवाक् है! अक्षर स्वर है, एवं बृहतीछन्द के सम्बन्ध से इसकी व्याप्ति ६ बिन्दुपर्य्यन्त रहती है। ६ बिन्दुओं में ५-६ इन दो मध्य बिन्दुओं पर तो स्वयं अक्षर उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है, एवं ४ बिन्दु पूर्व में, ३ बिन्दु उत्तर में, इन ७ बिन्दुओं में इस उक्थाक्षर के अर्क (प्राणात्मिका रश्मियाँ) व्याप्त रहते हैं। ये सात बिन्दु अक्षर का व्यापारक्षेत्र है। यदि पूर्व-अपर दोनों स्थानों की बिन्दुओं में कोई व्यञ्जन नहीं है, तो अक्षर पूर्वापर-उभयविध व्यापार शून्य है, यही अक्षर का पहिला विवर्त्त है। जिसका उदाहरण **'अ'** माना जा सकता है। यदि पूर्व में व्यञ्जन हैं, उत्तर में व्यञ्जन नहीं है, तो पृष्ठव्यापारविशिष्ट, पुरतोव्यापारशून्य अक्षर अक्षर का दूसरा विवर्त्त है, जिसका उदाहरण **'स्म'** माना जा सकता है। यदि पूर्व में व्यञ्जन नहीं हैं, उत्तर में व्यञ्जन हैं, तो पृष्ठव्यापारशून्य, पुरतोव्यापारविशिष्ट अक्षर अक्षर का तीसरा विवर्त्त है, जिसका उदाहरण **'ऊर्क्'** माना जा सकता है। यदि दोनों ओर व्यञ्जन हैं, तो उभयव्यापारविशिष्ट अक्षर अक्षर का चौथा विवर्त्त है, जिसके उदाहरण **'वाक्'-'स्त्यर्क्ट्'** आदि माने जा सकते हैं।

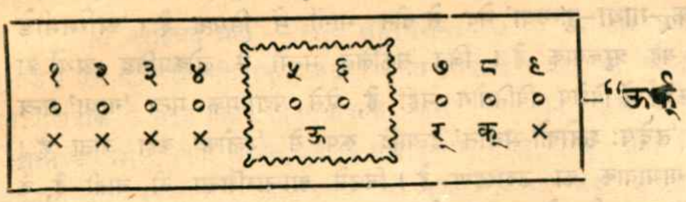
१—पूर्वापरोभयविधव्यापारशून्यावस्था—'अ' इति—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	
०	०	०	०	०	०	०	०	०	—"अ"
×	×	×	×	अ		×	×	×	

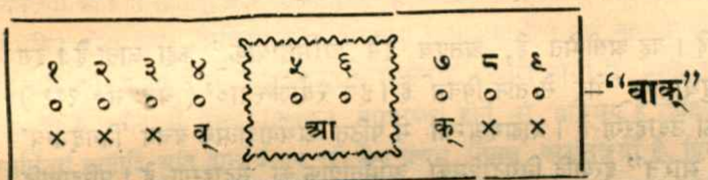
२—पृष्ठव्यापारविशिष्टा-पुरतोव्यापारशून्यावस्था-'स्म' इति—

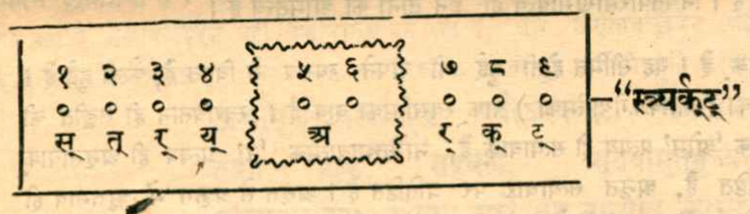
१	२	३	४	५	६	७	८	९	
०	०	०	०	०	०	०	०	०	—"स्म"
×	×	स्	म्	अ		×	×	×	

३--पृष्ठव्यापारशून्या-पुरतोव्यापारविशिष्टावस्था-'ऊर्क्' इति--



४--उभयतोव्यापारविशिष्टावस्था-'वाक्'-'स्त्यर्क्ट्' इति--





तीसरी पदवाक् के भी चार ही विवर्त्त मानें गए हैं, जो कि--"नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात" नामों से प्रसिद्ध हैं। चौथी वाक्यलक्षणा वाक् है। कहा गया है कि, अर्थजनकत्वेन यही वाक् शब्दबोध की प्रतिष्ठा है। वही वाक् हमारे प्रज्ञानमन से युक्त होती हुई अर्थजननी बनती है। नाभिस्थान इसका प्रथम पद है, उरः-कण्ठ-शिरोरूप प्रक्रमत्रयस्थान इसका द्वितीय पद है, मुखस्थान तृतीय पद है, एवं श्रोत्रस्थान चतुर्थ पद है। प्रज्ञान मन से प्रेरित यह वाक् नाभि से उठकर दूसरे की श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध करती हुई चार पदों में परिणत होती हुई, श्रोता के प्रति स्वानुरूप प्रज्ञान ज्ञान का उदय करती हुई स्वप्रभव अग्न्याकाश में विलीन हो जाती है।

इति नवमः पक्षः

--९--

(१०)-दशमः पक्षः--

महर्षि-ऐतरेयोक्त महदुक्थविज्ञान के अनुसार भी 'चत्वारि वाक्' का समन्वय किया जा सकता है। उनके मतानुसार वाक्तत्त्व का परम विकार 'महदुक्थ' है, जिसका वैज्ञानिक विवेचन 'उपनिषद्विज्ञान-भाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड से गतार्थ है। "मित-अमित-स्वर-सत्यानृत" भेद से महदुक्थलक्षणा वाक् के चार पद हैं।

वाक् के पद्य–गद्य–गेय–भेद से प्रधानतया तीन विवर्त्त मानें गये हैं। छन्दोबद्धा, अतएव सीमाभावयुक्ता वाक् 'पद्यवाक्' है। इसी सीमाभाव के कारण पद्यात्मिका वाक् को **'मितवाक्'** कहा जा सकता है। वैदिक साहित्य में यह मितवाक् **'ऋक्–गाथा–कुम्ब्या'** भेद से तीन भागों में विभक्त है। **'अग्निमीडे पुरोहितम्'** (ऋक् सं० १।१।१) यह ऋकवाक् है। जिन संकलित मन्त्रों से लोकप्रसिद्ध अर्थों का प्रतिपादन होता है, साथ ही जिनका कर्म्म में विशेष विनियोग नहीं है, ऐसे पद्यात्मक मन्त्र 'गाथा' मन्त्र कहलाए हैं। इन्हें 'मन्त्र' न कह कर **'तदेषः श्लोको-भवति'** इत्यादि रूप से 'श्लोक' कहा जाता है। **"प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति'** यह गाथावाक् का उदाहरण है। जिनसे आचारशिक्षा दी जाती है, वे 'कुम्ब्या' नाम से प्रसिद्ध हैं। **"ब्रह्मचार्यस्यपोऽशानकर्म्म कुरु मा सुषुप्थाः"** यह कुम्ब्यावाक् का उदाहरण है। **'नाराशंसीवाक्'** का तथा **'रैभीवाक्'** का भी इसी में अन्तर्भाव है।

दूसरी गद्यात्मिका वाक् है। यह असीमित है, अतएव इसे **'अमितावाक्'** कहा जाता है। इस अमिता वाक् के **'यजुः, निगद, वृथावाक्'** भेद से तीन विवर्त्त हैं। **इषे त्वोर्जेत्वा०'** (यजुः सं० १।१) इत्यादि यजुरात्मिका अमितावाक् का उदाहरण है। ब्राह्मणग्रन्थों में पठित अर्थवादात्मक वचन 'निगद्‌मन्त्र' हैं। **"अग्ने महां असि ब्राह्मण भारत"** इत्यादि निगदात्मिका अमितावाक् का उदाहरण है। परिहासादि रूपा निरर्थक-वाक् वृथावाक् है। नियतपरिमाणभावत्व ही इन तीनों का अमितत्त्व है।

तीसरी गेयात्मिका वाक् है। यह सीमित होती हुई भी अपने स्वरूप से वितत है, फैली हुई है। साममन्त्रात्मिका तथा गेयात्मिका (लौकिकगेयात्मिका) वाक् स्वरात्मिका वाक् है। स्वरवितान ही सङ्गीत की मूलप्रतिष्ठा है। अस्तिभावात्मक 'ओम्' प्रत्यय ही सत्यावाक् है, नास्तिभावात्मक 'न' प्रत्यय ही अनृतावाक् है। सत्य अनृताधार पर प्रतिष्ठित है, अनृत सत्याधार पर प्रतिष्ठित है। अनृत से प्रकृत में ऋतभाव ही अभिप्रेत है। एवं **'सत्यं ऋतेऽधायि, ऋतं सत्ये०'** के अनुसार दोनों अविनाभूत हैं। अतएव दोनों का 'सत्यानृत' नामक एक वाग्विवर्त्त माना जा सकता है। यदि पृथक्-विवक्षा अपेक्षित है, तो पाँच विवर्त्त हो जाते हैं। महदुक्थात्मिका वाक् के इन्हीं विवर्त्तों का स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

"स वा एष वाचः परमो विकारो, यदेतन्महदुक्थम्। तदेतत् पञ्चविधं मितममितं-स्वरःसत्यानृते। ऋग्गाथा–कुम्ब्या–तन्मितम्। यजु–र्निगदो–वृथावाक्–तदमितम्। साम, अथ यः कश्च गेष्णः, स स्वरः। ओमिति सत्यं, नेत्यनृतम्" ॥

(ऐ० आ० २।३।६।१६।)। इति।

इति दशमः पक्षः

———१०———

(११)–समष्टिपक्षः—

विश्वविज्ञान ही सर्वविज्ञान है। एवं इसे–"१–अध्यात्म, २–अधिदैवत, ३–अधिभूत, ४–अधियज्ञ, ५–अधीतिहास," भेद से पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। इन पाँचों दृष्टियों

से वाग्विवर्त्त का विचार करने पर निष्कर्ष वही निकलता है, जो पूर्व के १० पद्यों में निरूपित है। केवल दृष्टिकोण में थोड़ा सा अन्तर है। प्रसङ्गोपात्त उसका भी समन्वय कर लेना अनुचित न होगा—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के अनुसार ब्रह्म ही इस विज्ञानात्मक विश्व का मूल है। एवं वह ब्रह्म सच्चिदानन्द लक्षण माना गया है। ब्रह्म की आनन्द, चेतना, सत्ता, तीनों कलाएँ मनःप्राणवाक् के सहज सिद्ध त्रिवृद्भाव के कारण तीन-तीन भावों में परिणत हो रही है। **आनन्द, विज्ञान अन्तर्मन**, तीनों आनन्दकला हैं। **बहिर्मन, प्राण, वाक्**, तीनों चित् कला हैं, एवं **वाक्-आपः-अग्निः**, तीनों सत्कला हैं। आनन्दत्रयी की दृष्टि से वही ब्रह्म ज्ञानप्रपञ्च का अधिष्ठाता बनता हुआ, **'ज्ञानात्मा'-'ब्रह्मात्मा'** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध होता हुआ, **प्रविविक्तब्रह्म** (विश्वातीतब्रह्म) बन रहा है। चित्त्रयी की दृष्टि से वही ब्रह्म क्रियाप्रपञ्च का अधिष्ठाता बनता हुआ, **'कामात्मा'-'दैवात्मा'** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध होता हुआ, **'प्रविष्टब्रह्म'** (विश्वचर) बन रहा है। एवं सत्त्रयी की दृष्टि से वही ब्रह्म अर्थप्रपञ्च का अधिष्ठाता बनता हुआ, **'कर्म्मात्मा'-'भूतात्मा'** इत्यादि नामों से व्यवहृत होता हुआ सृष्टब्रह्म (विश्व) बन रहा है। तीनों में उसका विश्वरूप वागारम्भ होने से वाङ्मय है, अतएव **'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'** इत्यादि श्रुति अन्वर्थ बन रही है। प्रथम विवर्त्त **अमृतत्रयी** है, द्वितीय विवर्त्त **ब्रह्मत्रयी** है, तृतीय विवर्त्त **शुक्रत्रयी है**। वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है। शुक्रावच्छेदेन वही अश्वत्थब्रह्म विश्वोपादान बन रहा है, ब्रह्मावच्छेदेन वही विश्वनिमित्त बन रहा है, एवं अमृतावच्छेदेन वही विश्वालम्बन बन रहा है। इसी त्रयीगर्भित त्रयीलक्षण अश्वत्थब्रह्म का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वै तत्॥
—कठोपनिषत् ६।१।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—

१ { १-आनन्दः, २-विज्ञानम्, ३-अन्तर्म्मनः } — **आनन्दत्रयी-ज्ञानात्मा-ब्रह्मात्मा-अमृतम् (ज्ञानप्रपञ्चाध्यक्षः)**

---

२ { १-बहिर्म्मनः, २-प्राणः, ३-वाक् } — **चित्त्रयी-कामात्मा-दैवात्मा-ब्रह्म (क्रियाप्रपञ्चाध्यक्षः)**

३	१-वाक् २-आपः ३-अग्निः	—सत्यत्रयी-कर्म्मात्मा-भूतात्मा-शुक्रम् (अर्थप्रपञ्चाध्यक्षः)

तीसरे शुक्रविवर्त्त का 'वाग्विवर्त्त' वाक्-वायुः-शब्दः' भेद से तीन भागों में परिणत हो रहा है। वाक् मौलिक तत्त्व है, जिसके गर्भ में मनोगर्भित प्राण प्रतिष्ठित है। वायु के द्वारा वाक्समुद्र में वीचियाँ (लहरें) उत्पन्न होतीं हैं, वे लहरें हमारी कर्णशष्कुली पर प्रतिष्ठित प्रज्ञानमन पर आघात करतीं हैं। इसप्रकार वाग्वीचियों के आधार पर वायु के सहयोग से शब्द का प्रादुर्भाव हो जाता है, जैसा कि-'वायुः खात् शब्दस्तत्' इत्यादि प्रातिशाख्य वचन से स्पष्ट से। इस दृष्टि से हम तीनों को अवश्य ही वाग्विवर्त्त कह सकते हैं।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, ये चार विवर्त्त आध्यात्मिक मानें जायँगे। प्रज्ञाप्राणमय मन के विशुद्ध प्रज्ञाभाग से सम्बन्ध रखने वाली वाक् 'परावाक्' है। प्रज्ञायुक्त प्राणव्यापारावस्था शब्दवाक् (देखते हुए लिखना, तथा बाँचना) 'पश्यन्तीवाक्' है। नादशून्या श्वासात्मिका उपांशुवाक् (कानाफूँसी) 'मध्यमावाक्' है। एवं नादात्मिकावाक् वैखरीवाक् है। आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है। परा, और पश्यन्ती में आत्मा की मनःकला का प्राधान्य है, मध्यमा में प्राणकला का प्राधान्य है, एवं वैखरी में वाक्कला की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में आत्मवाक् परावाक् है, हृदयवाक् पश्यन्ती है। बुद्धिवाक् मध्यमा है, एवं वक्त्र * वाक् वैखरीवाक् है। यही सामान्यरूप से व्यवह्रियमाणा वाक् का तुरीय पद है।

१—आत्मा—परावाक् (मनसि घटाभासो घटशब्दरूपः-अयं घटः' इत्याकारकः)।
२—हृदयम्—पश्यन्तीवाक् (प्रज्ञायुक्त-प्राणव्यापारावस्थापन्ना शब्दवाक्)।
३—बुद्धिः—मध्यमावाक् (नादशून्या श्वासात्मिका उपांशुवाक्)।
४—वक्त्रम्—वैखरीवाक् (नादयुक्ता ध्वन्यात्मिका अद्धावाक्)।

१—शुद्धप्रज्ञा वाक्——परा
२—प्रज्ञाप्राणमयी वाक्-पश्यन्ती } --मनोमयी वाक्

३— श्वासात्मिका वाक्—मध्यमा]-प्राणमयी वाक्

४—नादात्मिका वाक्——वैखरी]-वाङ्मयी वाक्

* 'यतो वक्ति, तद् वक्त्रम्'।

अधिदैवतसंस्था में इस वाक्चतुष्टयी के चार विवर्त्त हैं । इन चारों विवर्त्तों को क्रमशः **प्राजापत्यावाक्**, **लोकवाक्**, **व्याहृतिवाक्**, **ब्रह्मवाक्**, इन नामों से व्यवहृत किया गया है, । जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१

१—सत्यावाक् (स्वायम्भुवी)—श्रुतिजननी
२—आम्भृणीवाक् (पारमेष्ठिनी)—ध्वनिजननी
३—गौरिवीतावाक् (सौरी)——स्वरजननी
———— ❀
४—गायत्रीवाक् (पार्थिवी)——वर्णजननी

}—तदित्थमेकधा-(प्राजापत्यवाक्चतुष्टयी)।

———— ❀

२

१—दिव्यवाक्—जागती—आदित्यानां प्रतिष्ठा
२—आन्तरीक्ष्या—त्रैष्टुभी—रुद्राणां प्रतिष्ठा
३—पार्थिवी——गायत्री—वसूनां प्रतिष्ठा
———— ❀
४—पशव्यावाक्—आनुष्टुभी—पशूनां प्रतिष्ठा

}—तदित्थं द्विधा (लोकवाक्चतुष्टयी)।

———— ❀

३

१—ओम्—अर्द्धमात्रात्मिकावाक्—अमृता
२—स्वः——मात्रात्मिकावाक् मर्त्या
३—भुवः——मात्रात्मिकावाक् मर्त्या
———— ❀
४—भूः——मात्रात्मिकावाक् मर्त्या

}—तदित्थं त्रिधा (व्याहृतिवाक्चतुष्टयी)

———— ❀

४

१—ओम्——तुरीयमात्रा
२—सामानि——तृतीयमात्रा
३—यजूंषि——द्वितीयमात्रा
———— ❀
४—ऋचः——प्रथममात्रा

}—तदित्थं चतुर्द्धा (ब्रह्मवाक्चतुष्टयी)।

———— ❀

अधियज्ञसंस्था में इस वाक् के दो विवर्त्त हैं, जैसाकि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१—मन्त्राणि	१—गाथा	—तदित्थं विवर्त्तद्वयी-यज्ञे ।
२—कल्पाः	२—कुम्ब्या	
३—ब्राह्मणानि	३—नाराशंसी	
४—सूत्राणि	४—रैभिः	

अधिभूतसंस्था में इस वाक् के दो विवर्त्त हैं, जैसाकि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१—नाम	—वर्ण	—तदित्थं विवर्त्तद्वयी-भूतप्रपञ्चे ।
२—आख्यात	२—स्वर	
३—उपसर्ग	३—पद	
४—निपात	४—वाक्य	

अधीतिहाससंस्था में इस वाक् का एक विवर्त्त है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१—सर्पाणां वाक्	—सैषा वाक्चतुष्टयीनिरुक्तमतानुगतावगन्तव्या ।
२—वयसां वाक्	
३—क्षुद्रसरीसृपाणांवाक्	
४—मनुष्याणां वाक्	

७—'गौरीर्मिमाय सलिलानि' मन्त्ररहस्यार्थ—

इसप्रकार 'चत्त्वारि वाक् परिमिता पदानि०' इस अनुगममन्त्र के अनेक अर्थ हो जाते हैं। इन सम्पूर्ण वाग्विवर्त्तों की मूलप्रतिष्ठा वही आम्भृणी वाक् है, जिस का पूर्व के प्रथमपक्ष में 'आम्भृणीसूक्त' द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। आम्भृणीवाक् का स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया गया है कि, 'गौरी' नाम की स्वायम्भुवी सत्यावाक् का प्रथमावतार यही आम्भृणी वाक् है। आम्भृणी आदि वाग्विवर्त्त जहाँ 'अपरावाक्' नाम से

प्रसिद्ध हैं, वहाँ गौरीवाक् आकाशात्मिका बनती हुई आत्मकोटि में आकर 'परावाक्' कहलाई है, जैसाकि प्रकरणारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है। 'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती॰' इत्यादिमन्त्र की व्याख्या करते हुए गौरी-स्वायम्भुवी वाक् के द्वारा सम-विषम-अनन्तभेद से त्रेधा तक्षण बतलाया गया है। अब एक दूसरी दृष्टि से इस तक्षणकर्म्म का स्पष्टीकरण किया जाता है। अवधान के लिए मन्त्र यहां भी उद्धृत कर दिया जाता है-

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमेव्योमन्॥

स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, तीनों पदों (पिण्डों) के पुनःपद (महिमामण्डल–साममण्डल–साहस्रीमण्डल-वषट्कार) क्रमशः **परमाकाश, परमसमुद्र, परमाण्ड,** नामों से प्रसिद्ध हैं। प्रज्वलित अङ्गार रक्त है, दग्धाङ्गार कृष्ण है, भूति (भस्म) श्वेत है। तीनों साममण्डलों के ये ही रूप हैं। सावित्राग्निघन सौर परमाण्ड रक्त है, ज्योतिरभावात्मक पारमेष्ठ्य परमसमुद्र कृष्ण हैं, एवं ज्ञानज्योतिर्घन स्वायम्भुव परमाकाश श्वेत है। इसीलिए स्वायम्भुवी आकाशात्मिका वाक् को उक्त श्रुति ने 'गौरी (श्वेता) कहा है, जो कि गौरीवाक्, परम-वाक्, सत्यावाक, ब्राह्मीवाक्, वेदवाक्, इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत हुई है। अपने प्रातिस्विक परमाकाश-लक्षण एक आयतन के सम्बन्ध से विशुद्धा गौरीवाक् एकपदी है।

इस एकपदी गौरीवाक् से ही–'**सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव सासृज्यत**' इत्यादि वाजिश्रुति के अनुसार परमसमुद्ररूप परमेष्ठी का जन्म हुआ है। यहाँ आकर इस वाक् के दो रूप हो जाते हैं। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व के सम्बन्ध से वही 'आप्यावाक्' है, जिसे 'आम्भृणी' कहा जाता है। एवं पारमेष्ठ्यसोम के सम्बन्ध से वही 'सौम्यावाक्' है, जिसे 'सरस्वती' कहा जाता है। दोनों वाग्धाराएँ एक ही स्थान से विनिर्गत हैं। आम्भृणी–वाग्धारा अर्थप्रपञ्च की जननी बनती है एवं सरस्वती–वाग्धारा शब्दप्रपञ्च की जननी बनती है। दोनों का मूलसूत्र एक है, और यही शब्दार्थतादात्म्य का मोलिक रहस्य है। इसप्रकार पारमेष्ट्य समुद्र की जननी बनती हुई आप्य–सौम्य–आयतन भेद से एकपदी गौरी वाक् द्विपदी बन जाती है।

आगे जाकर आम्भृणी वागरूप में परिणत इसी गौरीवाक् के आम्भृणी, सुब्रह्मण्या, बृहती, अनुष्टप् ये चार विवर्त्त हो जाते हैं। आम्भृणी का प्रधान आयतन परमेष्ठी है, सुब्रह्मण्या का प्रधान आयतन चन्द्रमा है, बृहती का प्रधान आयतन सूर्य्य है, एवं अनुष्टुप् का प्रधान आयतन पृथिवी है। इसप्रकार परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन चार आयतनों के भेदसे वह द्विपदी चतुष्पदी बन जाती है। इन चारों के साथ क्रमशः प्राण–इन्द्र–वायु–अग्नि, इन देवताओं का सम्बन्ध है।

'**आपोमयः प्राणः**' के अनुसार आपोमयी आम्भृणीवाक् प्राणात्मिका है। सोमतत्त्व (अम्भः नामक ब्रह्मणस्पतिसोम) भी यहीं प्रतिष्ठित है। अतएव इसे हम आपोविधा, सोमविधा, प्राणविधा कहते हुए अन्ततः प्राणात्मिका कहेंगे। सौम्यावाक् सुब्रह्मण्या है। चान्द्रसोम भास्वरसोम है। अन्तरिक्ष में चन्द्रमा–वायु दोनों की सत्ता मानी गई है अतएव इसे हम सोमविधा, वायुविधा कहते हुए अन्ततः वाय्वात्मिका कहेंगे। सूर्य्यपिण्ड द्वादश आदित्य प्राणों की समष्टि है। साथ ही इस का मुख्य प्राण इन्द्र ('मघवा' नामक दिव्य इन्द्र) है। इन दोनों के सम्बन्ध से सौरी बृहतीवाक् को आदित्यविधा, इन्द्रविधा कहते हुए अन्ततः इन्द्रात्मिका कहेंगे।

भूपिण्ड–'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' के अनुसार अग्निप्रधान है। अतएव पार्थिवी अनुष्टुप्वाक् को अग्न्यात्मिका कहा जायगा। इसप्रकार चारों वाग्विवर्त्त प्राण–वायु–इन्द्र–अग्नि–से भुक्त मानें जायँगे।

१–आपोविधा,	सोमविधा, प्राणविधा वेयमाम्भृणीवाक्	"प्राणः"	(स्वयम्भूः)
२–सोमविधा,	वायु विधावेयं सुब्रह्मण्यवाक् —	"वायुः"	(चन्द्रमाः)
३–आदित्यविधा,	इन्द्रविधा वेयं बृहतीवाक् —	"इन्द्रः"	(सूर्य्यः)
४–अग्निविधा—वेयं—अनुष्टुब्वाक्	—	"अग्निः"	(पृथिवी)

वायुविधा सुब्रह्मण्यावाक् का यद्यपि हमने लोकसंस्थानक्रम से चन्द्रमा से सम्बन्ध बतलाया है। परन्तु जब इसके मूलस्वरूप की दृष्टि से विचार किया जाता है, तो इसे भी पारमेष्ठिनी ही माना जायगा। पारमेष्ठ्य शिववाय्वात्मक सौम्य वाक्तत्त्व ही 'सुब्रह्मण्या' वाक् है। यही वाक् सप्तस्वरोत्पादिका है, यही सप्तश्रुति–भेद से श्रुत्यात्मिका है। इसी के भेद से पशु–पक्षी–मनुष्यादि की वाक् विभिन्नरूप से प्रतीत होती है।

आम्भृणीवागाधार पर प्रतिष्ठित वायुविधा इस सौम्या सुब्रह्मण्या श्रुत्यात्मिका वाक् के आधार पर सौरी इन्द्रात्मिका बृहतीवाक् प्रतिष्ठित है। यही वाक् स्वरात्मिका बनती हुई अपनी नौ बिन्दुओं के सम्बन्ध से 'बृहती' कहलाई है। सूर्य्य जिस छन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, वह 'बृहतीछन्द' है, जिसे ज्यौतिष में विष्वद्वृत्त कहा गया है! अक्षरविज्ञानानुसार बृहती नवाक्षरछन्द है। इसी नवाक्षरछन्दः सम्बन्ध से सौरीवाक् नवबिन्द्वात्मिका बनती हुई 'नवपदी' बन रही है। आरम्भ में नवपदी बनने की इच्छा रखती हुई (बनती हुई—नवपदी बभूषती) यही वाक् सहस्ररश्मि–सम्बन्ध से 'सहस्राक्षरा' बन जाती है। इसी सहस्राक्षरावाक् के सम्बन्ध से सूर्य्य-देवता सहस्रांशु कहलाए हैं। सौरी वागात्मक स्वर नवबिन्द्वात्मक कैसे है?, इस प्रश्न का उत्तर पूर्व में 'स्त्र्यर्क्ट्' उदाहरणद्वारा दिया जा चुका है।

नवबिन्द्वात्मिका–इन्द्रात्मिका इस बृहतीवाक् के आधार पर पार्थिवी आग्नेयी अनुष्टुप्वाक् प्रतिष्ठित है। यही वाक् वर्णात्मिका है। स्वर यदि नवबिन्द्वात्मक है, तो वर्ण अष्टबिन्द्वात्मक है। अनुष्टुपछन्द क्योंकि अष्टाक्षर है, अतएव इस अष्टबिन्द्वात्मिका पार्थिवीवाक् को अनुष्टुप् कहा जाता है। यही वाक् का 'अष्टापदी' रूप है। इसप्रकार एक ही सत्यावाक् (गौरी–स्वायम्भुवी अव्याकृतावाक्) लोकायतनभेद से एकपदी–द्विपदी–चतुष्पदी–अष्टापदी–नवपदी बनती हुई सर्वत्र व्याप्त हो रही है। यही उस वाक् का चतुर्द्धा व्याकरण (विभक्तीकरण–व्याकृति) है।

चारों वाग्विवर्त्त उस अनादिनिधना–सत्या–स्वायम्भुवी–नित्या वाक् के ही विवर्त्त हैं। एवं इस दृष्टि से यद्यपि चारों हीं वाग्विवर्त्तों को 'नित्य' कहना चाहिए था। तथापि चारों में से जो चौथी पार्थिवी वर्णात्मिका अनुष्टुप्वाक् है, उसे नित्य नहीं माना जा सकता। कारण स्पष्ट है। वर्णात्मिका (शब्दात्मिका) वाक् सांयौगिकी वाक् है। वाक्समुद्र में वीचि उत्पन्न होती है, तत्काल शब्द उत्पन्न हो जाता है, साथ ही तत्क्षण विलीन भी हो जाता है। इस यौगिकभाव से, तथा उत्पन्न–प्रध्वस्त–मर्य्यादा से, उभयथा वर्णवाक् का अनि-

त्यत्त्व ही स्वीकार करना पड़ता है। तात्पर्य्य इस अनित्यता का यही है कि, इस वाक् का जितना सा श्रोत्रग्राह्य-गुणात्मक धर्म्म है, वही अनित्य है। सत्या नित्यावाक् के भक्ति सम्बन्ध से सम्बद्ध जो वाग्भाग है, वह तो इसका भी नित्य ही भाग है। निष्कर्ष यह निकला कि मनःप्राणगर्भिता वाक् प्रत्येक दशा में नित्य है, वही आकाशात्मिका है, आकाशरूपा है। सम्पूर्ण भूत, सम्पूर्ण देवता, यत्किञ्च जगत्यां जगत्, इसी वागाकाश से उत्पन्न हुए हैं, इसी पर प्रतिष्ठित हैं, इसी में प्रतिसञ्चरावस्था में सबका विलयन है। 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' के अनुसार यही वागाकाश नामरूपात्मक विश्वप्रपञ्च का सर्वेसर्वा है। वाग्देवी की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है--

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो, मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

इस आकाशात्मिका वाक् से उत्पन्न सम्पूर्ण विश्व वाङ्मय है। वाक् से [वाक् के आप्यरूप आम्भृणीविवर्त्त से] ही सम्पूर्ण अर्थ उत्पन्न हुए हैं, एवं वाक् से ही [वाक् के सौम्यरूप सरस्वतीविवर्त्त से ही] सम्पूर्ण शब्द उत्पन्न हुए हैं। यच्चयावत् अर्थ भी वाक् हैं, यच्चयावत् शब्द भी वाक् हैं। इसप्रकार यद्यपि दोनों का वाङ्मयत्त्व-वागरूपत्त्व निर्विवाद है। तथापि जो वाक् वागिन्द्रिय से उच्चारण का विषय बनता है, एवं जो श्रोत्रेन्द्रिय से सुनी जाती है, उसे अर्थवाक् से पृथक् कर बतलाने के लिए, साथ ही उसके आक्रोशधर्म्म* को व्यक्त करने के लिए उसे 'शब्द' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है।

वाग्देवी के उक्त स्वरूप को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें जैमिनिसूत्रों की वैज्ञानिक व्याख्या करना है। बिना वाक् के तात्त्विक स्वरूप परिचय के सूत्रार्थसङ्गति असम्भव थी, अतएव सूत्रव्याख्यान से पहिले वाक् का तात्त्विक स्वरूप बतलाना पड़ा। अब जैमिनिसूत्रों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। प्रक्रान्त प्रकरणानुबन्धी प्रथम सूत्र निम्नलिखित है—

८—वैज्ञानिक दृष्टि, और मीमांसा सूत्र—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"।

प्रश्न हमारे सामने यह है कि, शब्द और अर्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? हमारी श्रोत्रेन्द्रिय के साथ जब भी कपिल-कणाद-गोतम-वसिष्ठादि शब्दों का सम्बन्ध होता है, तभी अव्यहितोत्तरकाल में इन शब्दों से पञ्चभूताकाराकारित कपिलादि व्यक्तियों का बोध हो जाता है। मानना पड़ेगा कि, इन शब्दों का उन व्यक्तिरूप अर्थों के साथ अवश्य ही कोई ऐसा सम्बन्ध है, जिसके प्रभाव से इनके द्वारा उनका बोध होता जाता है। आप्तमहर्षियोंनें उस सम्बन्ध का अन्वेषण किया। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि शब्द-और अर्थ का परस्पर औत्पत्तिक सम्बन्ध है। जो सम्बन्ध सहोत्पन्न-एकद्रव्योत्पन्न शरीरावयवों का है, वही सम्बन्ध शब्दार्थ का है। दोनों का उपादान एक ही वाग्ब्रह्म है। एक ही वाग्ब्रह्म से एक ही समय में एक

* 'शप' आक्रोशे। शपम्-आक्रोशं-ददाति- इति शब्दः।

ही साथ एक ही क्षेत्र में अर्थ, तथा शब्द, दोनों धाराओं का उद्गम हुआ है। अर्थ स्वतन्त्ररूप से किसी अन्य तत्त्व से अन्य क्षेत्र में उत्पन्न हुआ हो, एवं शब्द स्वतन्त्ररूप से किसी अन्य तत्त्व से अन्य क्षेत्र में उत्पन्न हुआ हो, और पीछे से विद्वानों नें अपनी सुविधा के अनुसार तत्तच्छब्दों के साथ तत्तदर्थों के सम्बन्ध की कल्पना कर ली हो, ऐसा नहीं है। उस दशा में तो इस सम्बन्ध को हम औत्पत्तिक (उत्पत्तिसृष्ट) न कह कर उत्पन्नसृष्ट सम्बन्ध ही कहते।

स्पष्ट किया जा चुका है कि, स्वायम्भुव वाग्ब्रह्म ही पारमेष्ठिनी वाग्रूप में परिणत होकर शब्दार्थ का जनक बन रहा है। गौरीवाक् से आप्यावाक् का उदय हुआ है। यह अप्तत्त्व ही घन–तरल–विरलावस्था भेद से आपः–वायुः–सोमः रूप में परिणत हो रहा है। आप्यभाग आप्या आम्भृणी वाक् है, सौम्याभाग सौम्या सरस्वती वाक् है। मध्यस्थ वायु का दोनों से सम्बन्ध है। वायु की प्रेरणा से आम्भृणी वाक् अर्थजननी बन रही है, इसी वायुप्रेरणा से सरस्वती वाक् शब्दजननी बन रही है। दोनों एक ही परमेष्ठी क्षेत्र में एक ही तत्त्व से उत्पन्न होते हुए परस्पर अविनाभूत हैं। दोनों का क्योंकि औत्पत्तिक सम्बन्ध है, अतएव जो विवर्त्त अर्थ ब्रह्म के हैं, वे ही विवर्त्त शब्दब्रह्म के हैं। अर्थलक्षण परब्रह्म के अव्यय–अक्षर–क्षर भेद से तीन विवर्त्त हैं, तो शब्दब्रह्म के भी स्फोट–स्वर–वर्ण भेद से तीन विवर्त्त हैं। अर्थब्रह्म के अक्षर विवर्त्त की ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम नाम की पांच कलाएँ हैं, तो शब्दब्रह्म के स्वरविवर्त्त की भी अ–इ–उ–ऋ–लृ नाम की पाँच हीं कलाएँ हैं। शब्दब्रह्म के ज्ञान से अर्थब्रह्म गतार्थ है, अर्थब्रह्म के ज्ञान से शब्दब्रह्म गतार्थ है। इसी तादात्म्यभाव का स्पष्टीकरण करते हुए उपनिषच्छ्रुति ने कहा है—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

क्योंकि उसी वाक् से शब्द, अर्थ दोनों उत्पन्न हुए हैं, अतएव कभी दोनों एक दूसरे के बिना उपलब्ध नहीं होते। शब्दार्थ का यह पारस्परिक सम्बन्ध उपादानैक्य–दृष्टि से औत्पत्तिक बनता हुआ सर्वथा नित्य ही माना जायगा। दोनों का मूल क्योंकि एक ही वाक्तत्त्व है, यही कारण है कि, सम्पूर्ण शब्दों से सब अर्थ उत्पन्न किए जा सकते हैं, एवं सम्पूर्ण अर्थों से सम्पूर्ण शब्द उत्पन्न किए जा सकते हैं। घट–पट–वस्त्रादि जितनें भी अर्थ हैं, उनके पारस्परिक संयोग–विभाग से शब्दोत्पत्ति प्रत्यक्षदृष्ट है। आकाश में अनाहतनादात्मक शब्द विद्यमान है, वायु में सनसनाहटरूप शब्द विद्यमान है, अग्नि में धक्-धक् रूप शब्द विद्यमान है, जल में कल-कल शब्द विद्यमान है, पृथिवी में संयोगविभागव्यापारजनित शब्द विद्यमान है। विश्वस्वरूपसम्पादक पाँचों महाभूत (अर्थ) शब्दमय बनते हुए–**'न ह्यशब्दमिवास्ति'** को चरितार्थ कर रहे हैं। इसीप्रकार निगमागमोक्त प्रयोगों में पठित तत्तच्छब्दों से उत्पन्न तत्तदर्थों का आर्षदृष्टि से साक्षात्कार किया जा सकता है। 'शब्द से अर्थोत्पत्ति, अर्थ से शब्दोत्पत्ति' इस दृष्टि से भी हम दोनों का औत्पत्तिक सम्बन्ध मानने के लिए तय्यार है। इकप्रकार समानोपादाननिमित्त से, तथा पारस्परिक कार्य-कारण दृष्टि से दोनों का औत्पतिक सम्बन्ध ही व्यक्त हो रहा है।

विश्वप्रपञ्च को **'नाम–रूप–कर्म्म'** भेद से तीन विवर्त्तों में विभक्त किया जा सकता है। नामरूप-कर्म्मात्मक इस विश्व का आत्मा कौन ?, इसका उत्तर है–मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षीब्रह्म। **'यस्य यदुक्थं**

सत्, ब्रह्म सत् साम स्यात्, स तस्यात्मा' इस लक्षण के अनुसार जो तत्त्व जिस वस्तु का उक्थ (उपादान-रूप प्रभव) होता है, ब्रह्म (प्रतिष्ठास्थान) होता है, तथा साम (उत्पन्न वस्तुमात्र में समान, एवं विलयन-स्थान) होता है, वही तत्त्व उस वस्तु का आत्मा कहलाया है। जितनें भी रूप हैं, सबका प्रभव मन है, उत्पन्न रूप मन पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं परस्पर सर्वथा विभिन्न रूपों के लिए मन समान है, अतएव रूपों का उक्थ-ब्रह्म-साम बनता हुआ मन रूपों का आत्मा है। जितनें भी कर्म्म हैं, सबका प्रभव प्राण है, उत्पन्न कर्म्म प्राण पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं परस्पर सर्वथा विभिन्न कर्म्मों के लिए प्राण समान है, अतएव कर्म्मों का उक्थ-ब्रह्म-साम बनता हुआ प्राण कर्म्मों का आत्मा है। एवमेव जितनें भी नाम हैं, सबका प्रभव वाक् है, उत्पन्न नाम वाक् पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं परस्पर सर्वथा विभिन्न नामों के लिए वाक् समान है, अतएव नामों का उक्थ-ब्रह्म-साम बनता हुआ वाक् तत्त्व नामों का आत्मा है। एक ही आत्मा के मनः-प्राण-वाक् ये तीन विवर्त्त हैं। मनः-प्राण-वाक्, तीनों की समष्टि एक आत्मा है। आत्मतत्त्व के इसी त्रिपुटीभाव का स्पष्टीकरण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

त्रयं वाऽइदं-नाम, रूपं, कर्म्म। तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम्, अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति, एतदेषां साम, एतद्धि सर्वैर्नामभिः समं, एतदेषां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति। (१)। तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा, आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्"

(शत० ब्रा० १४।४।५)।

उक्त आत्मप्रतिपत्ति से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, शब्दात्मक नामप्रपञ्च का आत्मा वाक्-तत्त्व ही है। एक ही आत्मवाक् से जहाँ घटपटादि सम्पूर्ण अर्थ उत्पन्न हुए हैं, एवमेव उसी आत्मवाक् से घटपटादि सम्पूर्ण शब्द उत्पन्न हुए हैं। फलतः वागुत्पन्न यच्चयावत् अर्थों, तथा शब्दों का परस्पर नित्य-सम्बन्ध भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि, सब शब्द सब अर्थों के परिचायक बन सकते है। यह विश्वास करने की बात है कि, जिस घट शब्द को आज हमनें व्यावहारिक जगत् में केवल कम्बुग्रीवादिमत्-घट नामक विशेष पदार्थ का संग्राहक मान रक्खा है, वह घट शब्द पट-तन्तु-सूत्र-पृथिवी-जल-तेज-वायु आदि-आदि यच्च यावत् पदार्थों का वाचक बन रहा है। कारण यही है कि 'घट' शब्द जिस वाक् तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, एवं घट अर्थ जिस वाक् तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, उसी वाकतत्त्व से इतर सब अर्थ उत्पन्न हुए हैं। इसी वाक् के सम्बन्ध से घटशब्दात्मिका वाक् इतर सब अर्थात्मिका वाक् के संग्रह में समर्थ है। यह तो हमें व्यवहारसौकर्य्य के लिए वृद्धों नें सिखा रक्खा है कि, इसे घट ही कहा करो, इसे पट ही। यदि आरम्भ में घोड़े को हाथी शब्द से, तथा हाथी को घोड़े शब्द से व्यवहार करने का सङ्केत कर दिया जाता, तो निश्चयेन आज हम घोड़े को हाथी कह कर, एवं हाथी को घोड़ा कह कर पुकारते। राइस, अक्षत, तन्दुल, चाँवल, आखा, आदि शब्द पृथक्-पृथक् हैं। परन्तु इसी औत्पत्तिक सम्बन्ध से सब समानार्थ के ग्राहक बन रहे हैं। इसी सर्वता के आधार पर वैज्ञानिकों का 'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

जिसे हम मनुष्य कहते हैं, उसकी उत्पत्ति भी उसी वाक् तत्त्व से हुई है। जिसे हम अश्व कहते है, उसकी उत्पत्ति भी उसी वाक् तत्त्व से हुई है। वागाधारपर प्रतिष्ठित वाङ्मय सब प्राणविशेष सर्वत्र हैं। जो

वाङ्मय विशेषप्राण जिसमें अधिक रहता है, उसका स्वरूपसंघठन तदनुरूप बन जाता है। फलतः तद्वादन्याय से वह उसी नाम से व्यवहृत होने लगता है। यदि एक प्राणविज्ञानवित् विद्वान् मनुष्य में से मानवप्राण का अभिभव करता हुआ उसी में पहिले से ही प्रतिष्ठित अश्वप्राण को विकसित कर देता है, तो मनुष्य अश्वाकार में परिणत हो सकता है। सब मात्राएँ गौण-प्रधान रूप से सबमें प्रतिष्ठित हैं। अतएव सब सब शब्दों से गृहीत हैं। एवं यही-**'सर्वे सर्वार्थवाचका दाक्षी-पुत्रस्य पाणिनेः'** का मौलिक रहस्य है। शब्दार्थ के इसी सहजसिद्ध-नित्य औत्पत्तिक सम्बन्ध का दिगदर्शन कराते हुए सूत्रकार ने कहा है—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"

शब्द का अर्थ के साथ जो औत्पत्तिक सम्बन्ध है, वह अतीन्द्रिय है। यही कारण है कि, बिना उपदेश के अस्मादादि सामान्य व्यक्तियों को नित्य विद्यमान भी उस सम्बन्ध का तबतक परिज्ञान नहीं होता, जबतक कि उपदेष्टा उस सम्बन्ध का परिचय न करा दे। केवल सम्बन्ध ही बोध का कारण नहीं है, अपितु सम्बन्ध का ज्ञान ही प्रतिपत्तिका कारण माना गया है। **'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनः स्मारकं भवति'** इस न्याय के अनुसार सम्बन्धपरिज्ञानलक्षणज्ञान ही वाचक शब्द से ज्ञेय ज्ञान का परिचायक बना करता है। जबतक यह सम्बन्धज्ञान नहीं हो जाता, तबतक 'गवादिशब्द घटादि पदार्थों के बोधक हैं' यह परिज्ञान नहीं होता। तात्पर्य्य कहने का यह है कि, औत्पत्तिक सम्बन्ध से सब शब्द सब अर्थों के बोधक हैं, फलतः गवादि शब्द घटादि के भी बोधक हैं, इस प्रकार के नित्य सम्बन्ध का ज्ञान उन शास्त्रद्रष्टा महर्षियों के उपदेश पर निर्भर है, जिन्होंनें अपनी आर्षदृष्टि से उस अतीन्द्रिय सम्बन्ध का साक्षात्कार कर शब्दोपदेश के द्वारा हमें बोध कराया है। उन आप्तपुरुषों नें जहाँ हमें इस अतीन्द्रिय सम्बन्ध का ज्ञान कराया, वहाँ साथ ही लोकव्यवहार की सुविधा के लिए यह भी नियम बनाना आवश्यक समझा कि, यद्यपि तत्त्वतः औत्पत्तिक सम्बन्ध से सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं, तथापि व्यवहार-सञ्चालन के लिए अमुक शब्द को अमुक नियत अर्थ का ही वाचक मानना चाहिए। यही न्यायशास्त्र का सुप्रसिद्ध 'संकेत' पदार्थ है। इस संकेत का मूल रहस्य वही 'तद्वादन्याय' है, जिसका पूर्व में स्पष्टीकरण कर दिया गया है। औत्पत्तिक सम्बन्ध के इसी ज्ञान का हेतु बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"तस्य ज्ञानमुपदेशः"।

जब तक हमें न तो यही बोध है कि, सब सब्द सब अर्थों के वाचक हैं, साथ ही न यही बोध है कि, व्यवहार में अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ग्रहण होता है, तबतक घट-पटादि शब्दों से हमारे ज्ञानीय धरातल में घट पटादि अर्थों की उपलब्धि नहीं होसकती। परन्तु जब सम्बन्धज्ञान हो जाता है, तो उस दशा में उस शब्द से ओतप्रोत सा वह अर्थ तत्काल उपस्थित होजाता है। जब हमें यह विदित है कि, गौ शब्द का गौ अर्थ के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध है, तो उस दशामें वक्ताके मुख से गौशब्द निकलते ही उसे सुन कर सामने गौव्यक्ति के उपस्थित न रहने पर भी तत्क्षण गौव्यक्ति पर बुद्धि पहुँच जाती है। गौशब्द के श्रवणमात्र से गौ अर्थ पर बुद्धि का चला जाना तभी सम्भव हो सकता है, जब कि दोनों का नित्य सम्बन्ध हो। इसी अर्थोपलब्धि का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे" (इति पश्यामि)

'तस्य ज्ञानमुपदेशः'—'अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे' इस प्रकार विभाग करने पर सूत्र का उक्त अर्थ होता है। इन दोनों का 'तस्य ज्ञानम्'–'उपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे' यह विभाग मानते हुए भी अर्थसमन्वय किया जासकता है। पूर्वकथनानुसार यद्यपि तत्त्वतः शब्दार्थ का ज्ञान अपेक्षित है–'तस्य ज्ञानं' (अपेक्ष्यते)। जब सम्बन्धज्ञान का उपदेश हो जाता है, तो इस उपदेश के अव्यवहितोत्तरकाल में ही अनुपलब्ध अर्थ (सामने न रहने वाले अर्थ) की ओर बुद्धि दौड़ पड़ती है—'उपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे'। भगवान् वेदव्यास, भगवान् श्रीराम-कृष्णादि अवतारपुरुष आज हमें भौतिक शरीररूप में सर्वथा-अनुपलब्ध हैं। परन्तु व्यास–राम–कृष्णादि शब्दों के साथ रहने वाले उन अर्थों के नित्यसम्बन्ध का हमें परिज्ञान है, अतएव इन नामों के सुनते ही उन के स्वरूपों पर हमारी बुद्धि चली जाती है *।

अथवा—'तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे' को एक भक्ति मानते हुए भी सूत्रार्थ का समन्वय किया जासकता है। अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक है, किंवा शब्द अर्थ का बोधक है, शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध है, एवंविध अर्थज्ञान शब्दोपदेशाकाराकारित ही माना जायगा। उपदेशकाल में ही अर्थज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान से अनुपलब्ध भी अर्थ के सम्बन्ध में अर्थज्ञान का अव्यतिरेक (ग्रहण) देखा जाता है। यही इस विषय में दृढ़ प्रमाणहै कि, शब्दार्थ का परस्पर औत्पत्तिक सम्बन्ध है।

अब इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा बनी रह जाती है कि, शब्दोपदेश को प्रमाण किस आधार पर माना जाय। प्राचीनों नें कह दिया कि, शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध है, क्या एकमात्र इसी आधार पर हम इस उपदेश को प्रमाण मान लें। ओमित्येतत्। प्रमाण आप्त–अनाप्त भेद से दो भागों में विभक्त है। सामान्य मनुष्यों का वचनप्रमाण अनाप्त प्रमाण है। अतीन्द्रियार्थद्रष्टा महर्षियों का वचनप्रमाण आप्तप्रमाण है। और यह प्रमाण किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखता हुआ असंदिग्ध स्वतःप्रमाण है। आप्तमहर्षियों नें अपनी अतीन्द्रिय दृष्टि से जिस सम्बन्ध का साक्षात्कार किया, उन की वह प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका दृष्टि ही हमारे लिए प्रत्यक्षप्रमाणस्थानीया श्रुति है। श्रुति उन आप्त पुरुषों की दृष्टि है। वह एकान्ततः निर्भ्रान्त है, जैसाकि 'श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एकदृष्टि' नामक प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। श्रौतप्रमाण निर्भ्रान्त प्रमाण है। ऐसे शब्दोपदेशप्रमाण पर कोई आपत्ति नहीं उठाई जासकती। लोक में भी तो लौकिक अर्थों के पूर्ण परीक्षक लौकिक पुरुष का शब्दोपदेश ही तत्तल्लौकिक विषयों में अनपेक्षप्रमाण माना जाता है। इसप्रकार शास्त्रीय अलौकिक अर्थों के सम्बन्ध में अवश्य ही श्रुति को प्रमाण माना जायगा।

स्मृतिशब्द भी प्रमाण मानें जायँगे, परन्तु श्रुतिसापेक्षता सुव्यवस्थित रहेगी। यह ठीक है कि, स्मृति-शब्दों, तथा निबन्धशब्दों के उपदेश से भी शब्दार्थसम्बन्ध का बिना किसी प्रतिबन्धक के परिज्ञान हो जाता है। तथापि श्रुतिसापेक्ष होने से इस उपदेश को स्वतःप्रमाण नहीं माना जासकता। हाँ परतःप्रामाण्य इन शब्दों का भी प्रत्येक दशामें सुरक्षित है। निरपेक्ष–श्रुति–शब्दात्मक इसी उपदेशप्रामाण्य का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

"तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"।

* "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (योगदर्शन १।९।)

सूत्रनिष्कर्ष यही निकला कि, वाक् नित्य है। इस नित्यावाक् से उत्पन्न शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य, तथा औत्पत्तिक है। अथ च नित्यसम्बन्धावच्छिन्न शब्द भी नित्य है।

(इति प्रथमसूत्रसङ्गतिः) ॥१॥

इसप्रकार **'औत्पत्तिकस्तु०'** इत्यादि सूत्र से सूत्रकार ने शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध बतलाते हुए सिद्धान्ततः शब्दों का नित्यत्त्व स्थापित किया। आगे जाकर-१**'-कर्म्मैके तत्र दर्शनात्'** २-**'अस्थानात'** ३-**'करोति शब्दात्'**, ४-**'सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्'**, ५-**'प्रकृतिविकृत्योश्च'**, ६-**'वृद्धिश्च कर्तृ भूम्ना ऽस्य'** इन ६ सूत्रों से परपक्ष (शब्दानित्यत्त्व) का उद्घाटन करते हुए-१-**'समं तु तत्र दर्शनम्'** २-**'सतः परमदर्शनम्'**, ३-**'प्रयोगस्य परम्'**, ४-**'आदित्यवद्यौगपद्यम्'**, ५-**'वर्णान्तरमविकारः'**, ६-**'नादवृद्धि-परा'** इन ६ सूत्रों से परपक्षीद्वारा शब्दों की अनित्यता सिद्ध करने वाले ६ कारणों का क्रमशः निराकरण किया। अन्ततः १-**'नित्यस्तु स्यात्, दर्शनस्य परार्थत्वात्'**, २-**'सर्वत्र यौगपद्यात्'**, ३-**'संख्याभावात्'**, ४-**'अनपेक्षत्वात्'**, ५-**'प्रख्याभावाच्च योगस्य'**, ६-**'लिङ्गदर्शनाच्च'**, इन ६ सूत्रों से प्रथम सूत्रद्वारा प्रतिपादित स्वसिद्धान्तलक्षण शब्द-नित्त्यत्व का समर्थन किया। परपक्षोद्घाटन **'कर्म्मैके तत्र दर्शनात्'**, इत्यादि ६ सूत्रों की, परपक्षनिराकरणात्मक **'समं तु तत्र दर्शनम्'** इत्यादि ६ सूत्रों की, एवं स्वपक्ष समर्थनात्मक 'नित्यस्तु स्यात्०' इत्यादि ६ सूत्रों की, सम्भूय इन १८ सूत्रों की व्याख्या पूर्व परिच्छेद में की जाचुकी है। उस व्याख्या का दार्शनिकभाव से केवल इसी दृष्टि से सम्बन्ध है कि, व्याख्याताओं नें सूत्रकार के नित्यशब्द-वाद से प्रयोगलक्षण शब्द का ग्रहण करते हुए ही शब्दनित्यता का समर्थन करने का प्रयास किया है, जोकि सूत्रकार के अभिप्राय से सर्वथा विपरीत है। यदि शब्दनित्यता से वागलक्षण नित्य शब्द अभिप्रेत है, तो पूर्वपरिच्छेदानुगता अष्टादश-सूत्रव्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या मानी जायगी। केवल इसी संशोधन से इन १८ सूत्रों की वैज्ञानिक व्याख्या क्योंकि गतार्थ बन रही है, अतएव उसका इस वैज्ञानिक परिच्छेद में विवेचन करना हमनें निष्प्रयोजन समझा है। इस सम्बन्ध में केवल इसी प्रश्न की मीमांसा कर लेना पर्य्याप्त होगा कि, महासन्दर्भ के साथ शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध बतलाते हुए सूत्रकार ने जिन शब्दों को नित्य बतलाया है, वे शब्द कौन से हैं ?।

प्राचीनों की दृष्टि में तो नित्यशब्द से वे ही शब्द गृहीत हैं, जिनका हम अपनी वागिन्द्रिय से व्यवहार में प्रयोग किया करते हैं। वेदग्रन्थों का क्योंकि इन प्रयोगात्मक शब्दों से सम्बन्ध है, दूसरे शब्दों में वेदग्रन्थ प्रयोगशब्दात्मक हैं, एवं प्रयोगशब्द क्योंकि नित्यसिद्ध हैं, अतएव प्रयोगशब्दसंघातलक्षण वेदग्रन्थ अवश्य ही नित्यकूटस्थ, तथा अपौरुषेय हैं। इसप्रकार जैमिनि-सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित शब्दनित्यता से प्रयोगशब्दों का ग्रहण करते हुए प्राचीनों नें प्रयोगशब्दात्मक वेदग्रन्थों की नित्यता, तथा अपौरुषेयता सिद्ध करने का वृथा प्रयास किया है, जबकि वाक्-लक्षण शब्दों के नित्य रहने पर भी प्रयोगलक्षण शब्द सर्वथा अनित्य हैं। इस सम्बन्ध में निम्न लिखित शब्दमीमांसा पर विशेषरूप से लक्ष्य देना चाहिए।

८-शब्दनित्यानित्यत्त्वमीमांसा—

नित्यवाक् से प्रादुर्भूत अर्थ-तथा शब्द, दोनों हीं वाङ्मय हैं, वाग्रूप हैं। फलतः शब्दप्रपञ्च को भी हम 'वाक्' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। यह शब्दात्मिका वाक्, किंवा वागात्मक शब्द 'चत्त्वारि वाक्

परिमिता पदानि०' इत्यादि पूर्वप्रतिपादित अनुगममन्त्र के अनुसार "वाक्-शब्द, ध्वनिःशब्द, नादशब्द, प्रयोगशब्द" भेदसे चार भागों में विभक्त माना गया है।

(१)-'शब्द करो, शब्द न करो' (शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः) इत्याकारक शब्द प्रयोगभावात्मक बनता हुआ प्रयोगलक्षण शब्द है। साथ ही 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्'-'मनःकायाग्निमाहन्ति०' इत्यादि श्रुति-स्मृति के अनुसार यह प्रयोगलक्षण शब्द 'आग्नेय' है।

(२)-निर्गतिलक्षण वायव्य शब्द 'नादशब्द' है। हमारे मुख से (वागिन्द्रिय से) विनिर्गत शब्द ही नादशब्द माना जायगा, जिस की मूलप्रतिष्ठा वायवीयसंयोगविभाग मानें गए हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, जिसप्रकार आकाशप्रदेश में इतस्ततः संचार करने वाला वायु अपने धरातल पर पुष्पादि गन्धमात्राओं का वहन करता हुआ इन्हें इतस्ततः ले जाया करता है, एवमेव यही सदागतिधर्म्मा वायु शब्दमात्रा का वहन करता हुआ शब्दों को इतस्ततः ले जाया करता है। शब्दवक्ता की वागिन्द्रिय से आरम्भ कर शब्दश्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय पर्य्यन्त शब्दका वीचिन्याय से व्याप्त होना इसी वायु का अनुग्रह है। इस उरु अन्तरिक्ष में सर्वत्र वाक्समुद्र भरा हुआ है। यह वाक्तत्त्व आकाशात्मक है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। 'वागिन्द्रः' के अनुसार यह आकाशात्मिका वाक् 'शुन' नामक व्यापक इन्द्र से अभिन्न है। शुन-इन्द्र के कारण ही अवकाशात्मक प्रदेश को 'शून्य' कहा जाता है। 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' (ऋक्सं०६।६६।६।) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार इस वाग्रूप (आकाशात्मक) इन्द्र से कोई भी प्रदेश वञ्चित नहीं है। 'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते' इस निगम के अनुसार इन्द्र में एक चतुर्थांश वायुतत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। जहाँ वायु है, वहाँ इन्द्र है। जहाँ इन्द्र है, वहाँ वायु है। जहाँ वायु नहीं रहता, वहाँ का आकाशप्रदेश (इन्द्रतत्त्व) इन्द्रविरोधी वारुण प्राण से युक्त हो जाता है। पाशधर्म्मावच्छिन्न वारुण प्राण से दम घुटने लगता है, जैसाकि-'यद्वै वातो नाभिवाति, तत् सर्वं वरुणदैवत्यम्' इत्यादि निगम से स्पष्ट है। 'खुली हवा-खुला आकाश' जीवनके आनन्द का मुख्य कारण है। क्योंकि आकाशात्मक इन्द्र ही हमारा आत्मा है। अतएव आकाश को आनन्द माना गया है, जैसा कि--'को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है।

तात्पर्य्य यह हुआ कि इन्द्रात्मिका वाक् (आकाश), और प्राणात्मक वायु, दोनों अविनाभूत हैं। 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' (गीता ६।६।) इत्यादि स्मार्त्ती उपनिषत् भी इसी स्थिति का दिग्दर्शन करा रही है। वाक्समुद्र के आधार पर प्रतिष्ठित यह वायु ही शब्द का जनक बनता है, जैसाकि 'वायुः खात्, शब्दस्तत्' इत्यादि प्रातिशाख्य सिद्धान्त से स्पष्ट है। वक्ता की वागिन्द्रिय का संयोग-विभागात्मक आघातरूप व्यापार होता है। इस आघातप्रक्रिया के अनुरूप वायु में संयोग-विभाग उत्पन्न होते हैं। इन संयोग-विभागों से वाक्समुद्र में उत्तरोत्तर बीचियाँ उत्पन्न होतीं हैं। इस वीचियों के नैरन्तर्य्य से उत्पन्न वायवीय संयोग-विभाग श्रोता की कर्णशष्कुली पर आघात करते हैं। आघातजनक यह वायवीय संयोगविभाग ही 'नाद' है। संयोग-विभागात्मक नादाघात से श्रोत्रेन्द्रिय में शब्दश्रुति का अनुभव होता है। यह शब्द नादनिबन्धन बनता हुआ 'वायव्यशब्द' ही माना गया है। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, प्रयोगलक्षण शब्द जहाँ 'आग्नेय' हैं, वहाँ नादलक्षण शब्द 'वायव्य' हैं। वागिन्द्रिय से बोला गया शब्द 'आग्नेय' है, श्रोत्रेन्द्रिय से सुना गया शब्द 'वायव्य' है। यही वाक् का दूसरा विवर्त्त है ॥२॥

(३)–तीसरा विवर्त्त 'ध्वन्यात्मक शब्द' का है । क–च–ट–त–पादिलक्षण ऐन्द्रशब्द 'ध्वनि शब्द' है । श्रोत्रेन्द्रिय में नादरूप से प्रविष्ट शब्द क–च–ट–त–पादिरूप से विभक्तावयव बनता हुआ प्रतीत होता है । ५०, किंवा ६४ वर्णविभक्तियाँ ध्वन्यात्मिका मानीं गईं हैं । एक ही शब्द स्पर्शोष्मा के तारतम्य से इन ध्वनियों के कारण ५०, किंवा ६० विभक्तियों में परिणत हो जाता है, जैसाकि निम्नलिखित ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है––

यो वै तां वेद, यस्या एष विकारः—स सम्प्रतिवित् । अकारो वै सर्वा वाक् । सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति (ऐतरेय आरण्यक २।३।६।)॥

जो निमित्त अर्थात्मिका विभक्तियों का है, वही निमित्त शब्दात्मिका विभक्तियों का है । अर्थात्मिका विभक्ति में 'अग्नि–सोम' तत्त्वों का व्यापार निमित्त है, एवं यह व्यापार तेजः–स्नेह भेद से दो भागों में विभक्त है । तेजोलक्षण अग्नि विकासधर्म्मा है, स्नेहलक्षण सोम संकोचधर्म्मा है । संकोच–विकास–लक्षण सम्बन्ध के तारतम्य से ही अग्नि–सोम के समन्वय से अर्थविभक्तियों का विकास हुआ है । वही नियम शब्द-विभक्तियों में है । अग्निव्यापार 'ऊष्मा' है, सोमव्यापार 'स्पर्श' है । ऊष्मा विकास है, स्पर्श संकोच है । एक ही 'अकार' शब्द स्थानादि के स्पर्शलक्षण सोमव्यापार, तथा ऊष्मा–लक्षण अग्निव्यापार के तारतम्य से पाणिनीय व्याकरण के अनुसार ६४ वर्ण विभक्तियों में, एवं वैदिकवर्णमात्रिका के अनुसार २८८ वर्णों में विभक्त हो रहा है ।

इस वर्णविभक्ति का मूलकारण प्रज्ञान इन्द्र है । कर्णशष्कुली पर प्रतिष्ठित प्राज्ञेन्द्रमूर्त्ति प्रज्ञान के संयोग से ही नादात्मक वायव्य शब्द के 'क–ख–गादि रूप ध्वन्यात्मक विभाग होते हैं । शब्दविभक्तिकरण–लक्षण व्याकरण इन्द्र का व्यापार है, यही ऐन्द्रव्याकरण है । अविच्छिन्न नादशब्द को वर्णरूपसे विभक्त करना ज्ञान-रूप इन्द्र का ही कार्य्य है । पशुओं में प्रज्ञामात्रा (ज्ञानमात्रा) अनुद्बुद्ध है, अतएव उनके वाक्–प्रयोग में वर्ण-विभक्ति का अभाव है । बच्चों में प्रज्ञान अस्फुट है, अतएव इनका वाक्प्रयोग भी अलग्ल (अस्फुट–सम्मिलित वर्णयुक्त) है । कहना यही है कि, वर्णात्मिका वाक् ही ध्वनिः शब्द है, एवं यही 'ऐन्द्रशब्द' है । और यही वाक् का तृतीय पद है ॥३॥

प्रयोगलक्षण आग्नेयशब्द, नादलक्षण वायव्य-शब्द, ध्वनिलक्षण (वर्णलक्षण) ऐन्द्रशब्द, तीनों वाक्पद उस सर्वव्यापक वाक्तत्त्व (वाक्समुद्र) के ही विकार हैं । वही तीनों का प्रकृतिभाव है । मुखोपाधिरूप से वही आकाशात्मिका वाक् आग्नेयी वाक् की, अन्तरिक्षोपाधिरूप से वही वायव्यवाक् की, एवं कर्णोपाधिरूप से वही ऐन्द्रीवाक् की प्रतिष्ठा बन रही है । इसप्रकार एक ही प्रकृतिभूता नित्यावाक्—मूलप्रकृति, अग्नि, वायु, इन्द्र, भेदसे 'वाक्–प्रयोग–नाद–ध्वनि' इन चार विवर्त्त भावों में परिणत हो रही है ॥४॥

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि—

१–वाक्-शब्दः—सर्वमूलभूता नित्या प्रकृतिलक्षणा वाक्
२–प्रयोगशब्दः–-वागिन्द्रियानुबन्धिनी आग्नेयी वाक्
३–नादशब्दः–-श्रोत्रेन्द्रियानुबन्धिनी वायव्या वाक्
४-ध्वनिः शब्दः–कर्णशष्कुल्यनुबन्धिनी ऐन्द्री वाक

अब हमें यह देखना है कि, उक्त चार वाग्विवर्तों में कौन तो नित्य है, एवं कौन अनित्य है। विचार करने पर हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, वागिन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाला प्रयोगलक्षण वाग्-विवर्त्त सर्वथा अनित्य है। कारण इसका यही है कि, मीमांसा के जिन ६ सूत्रों से शब्द की अनित्यता बतलाई गई है, वे ६ ओं हेतु प्रयोगलक्षण आग्नेय शब्द के सम्बन्ध में चरितार्थ बन रहे हैं। और इसी दृष्टिकोण के माध्यम से शब्द-अनित्यवादी दार्शनिकों का मत सर्वथा सुरक्षित है।

नादात्मक वायव्य शब्द, तथा ध्वन्यात्मक ऐन्द्र शब्द, इन्हें हम 'नित्यानित्य' कह सकते हैं। प्राणवायु, प्राणेन्द्र, दोनों देवता जहाँ नित्य हैं, वहाँ इनके अनुबन्ध अनित्य हैं। देवतादृष्टि से नाद-ध्वनिशब्द नित्य हैं, तो अनुबन्ध-दृष्टि से अनित्य हैं। चौथा वाक्-लक्षण शब्द सर्वथा नित्य है। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा सर्वथा नित्य है। इस नित्य आत्मा की नित्या वाक् कला ही यजुः-रूप से प्रयोग-नाद-ध्वनि-नामक तीनों वाग्विवर्त्तों की प्रतिष्ठा बन रही है। यही अनादिनिधना नित्या वेदवाक् है। सिद्धान्तपक्षीय जैमिनि-सूत्र इसी नित्यावाक् की, किंवा वाग्लक्षण नित्य शब्द की स्वतःसिद्ध नित्यता का समर्थन कर रहे हैं। प्रयोगादि लक्षण शब्द अनित्य हैं, वाग् लक्षण शब्द सर्वथा नित्य है, यही जैमिनिसूत्रों का विज्ञानसम्मत अर्थ है।

वेदवाक् की नित्यता सूत्रकार सिद्ध करना चाहते हैं। वादी प्रयोगलक्षणा वाक् को लक्ष्य में रखता हुआ **'कर्म्मैके तत्र दर्शनात्'** (१।१।६।) से आरम्भ कर **'वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य'** (१।१।११) इन ६ सूत्रों से शब्दों की अनित्यता सिद्ध कर रहा है। सूत्रकार-प्रकृतिभूता नित्यावाक् को लक्ष्य में रखते हुए पहिले तो **'समं तु तत्र दर्शनम्'** (१।१।१२) से आरम्भ कर **'नादवृद्धिपरा'** (१।१।१७।) इन ६ सूत्रों से अनित्यता-हेतुओं का निराकरण करते हुए अपना यह भाव प्रकट करते हैं कि, परपक्षी जिन ६ हेतुओं से शब्द की अनित्यता सिद्ध करना चाहता है, वे ६ ओं हेतु प्रयोगलक्षण, अतएव सर्वथा अनित्य शब्दों में घटित होते हुए भी वाक् लक्षण नित्य शब्दों से असम्बद्ध हैं। फलतः इन ६ हेत्वाभासरूप हेतुओं से वाग्-लक्षण नित्य शब्द की अनित्यता कथमपि सिद्ध नहीं की जा सकती। इसप्रकार परपक्ष का निराकरण कर आगे जाकर सूत्रकार-**"नित्यस्तु स्यात्, दर्शनस्य परार्थत्वात्"** (१।१।१८) से आरम्भ कर **"लिङ्गदर्शनाच्च"** (१।१।२३।) इन ६ सूत्रो से वाग्लक्षण नित्य-शब्दों की नित्यता का समर्थन कर रहे हैं। इसप्रकार पूर्वमीमांसा के **'औत्पत्तिकस्तु०'** (१।१।५) सूत्र से आरम्भ कर **'लिङ्गदर्शनाच्च'** (१।१।२३) पर्य्यन्त १९ सूत्र क्रमशः १-६-६-६- इन विभागों में विभक्त होते हुए स्वसिद्धान्तोद्घाटन, (१), परपक्षोद्घाटन (६), परपक्षनिराकरण (६), स्वपक्षसमर्थन (६) इन चार श्रेणियों में विभक्त होकर शब्द-नित्यत्व, अनित्यत्व विचार का विश्लेषण करते हुए अन्त में (वाग्लक्षण नित्य- शब्द की अपेक्षा से) 'शब्दनित्यता' का ही स्थापन कर रहे हैं, जैसाकि दार्शनिक प्रकरणारम्भ में उद्धृत सूत्र-प्रतृरणपाठ में स्पष्ट कर दिया गया है।

१९ सूत्रों से शब्दनित्यत्वानित्यत्व का विचार करने के अनन्तर सूत्रकार ने १।१।२४,१।१।२५,१।१।२६, इन तीन सूत्रों से शब्दों के वाचकत्व का समर्थन किया है, जैसा कि दार्शनिक प्रकरण में बतलाया जा चुका है। इन तीन सूत्रों के विज्ञानसम्मत अर्थ के सम्बन्ध में अभी कुछ कहना शेष रह जाता है। शब्दार्थ के औत्पत्तिक सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, अर्थोत्पत्ति में शब्द निमित्त नहीं

है, अतः शब्द को अर्थ का वाचक कैसे माना जाय। **'उत्पत्तौ वाऽचनाः स्युः, अर्थस्यातन्निमित्तत्वात्'** (१।१।२४) यह सूत्र इसी प्रश्न का स्पष्टीकरण कर रहा है। सूत्रकार ने इस प्रश्न का यह समाधान किया है कि, यद्यपि औत्पतिक सम्बन्ध युक्त शब्दार्थों में अर्थोत्पत्ति में शब्द निमित्त नहीं है, तथापि शब्दाविर्भावानुबन्धिनी प्रक्रिया अवश्य ही अर्थोत्पत्ति में निमित्त बन रही है। जिस क्रिया से जैसी क्रिया से अर्थों का आविर्भाव हुआ है, उसी क्रिया से, वैसी ही क्रिया से शब्दों का आविर्भाव हुआ है। दूसरे शब्दों में शब्दार्थाविर्भावानुबन्धिनी प्रक्रिया परस्पर समतुलित है। यही इन दोनों का औत्पत्तिक सादृश्य है। एवं इसी सादृश्य से शब्दों को अर्थों का वाचक मानना सुसङ्गत बन रहा है। **'तद्भूतानां-क्रियार्थेन समाम्नायः-अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्'** (१।१।२५) यह सूत्र इसी समाधान का स्पष्टीकरण कर रहा है।

८--शब्दब्रह्म एवं अर्थब्रह्म का समतुलन—

अब इस सम्बन्ध में जिज्ञासा यह शेष रह जाती है कि, शब्द, तथा अर्थ के औत्पत्तिक क्रिया-सादृश्य का क्या स्वरूप है ? इसी प्रश्न का समाधान कर यह वाचकत्व-प्रकरण समाप्त किया जाता है।

वैदिक-विज्ञान के अनुसार सृष्टिधारा शब्द, अर्थ, भेद से दो भागों में विभक्त मानी गई है। सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादि पदार्थ अर्थसृष्टिधारा है, एवं सूर्य्य, चन्द्र-नक्षत्रादि नाम शब्दसृष्टिधारा है। दोनों के क्रियासमतुलन से पहिले अर्थसृष्टिधारा का स्वरूप अवगत कर लेना उचित होगा। विश्व के जितनें भी पाञ्चभौतिक पदार्थ हैं, वे **'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** के अनुसार 'क्षरात्मक' हैं। 'क्षरात्मक' कह देने मात्र से पदार्थ के पदार्थत्त्व का पूरा पूरा स्पष्टीकरण नहीं हो रहा। इसके लिए हमें उस वैकारिक सृष्टिधारा-क्रम पर दृष्टि डालनी पड़ेगी, जों गुण, अणु, रेणु, महाभूत, सत्त्व, भेद से पाँच भागों में विभक्त है। वैदिक विज्ञान में 'विश्वसृट्' नाम से प्रसिद्ध, सांख्यदर्शन में 'पञ्चतन्मात्रा' नाम से व्यवहृत तात्त्विक भूत 'गुणभूत' हैं। गुणभूतों से अणुभूतों का, अणुभूतों से रेणुभूतों का, रेणुभूतों से महाभूतों का, एवं महाभूतों से सत्त्व नामक अर्थों का विकास हुआ है, जिनका कि विशद वैज्ञानिक विवेचन ईशादि-भाष्यों में किया जा चुका है। इस-प्रकार प्रत्येक अर्थ गुणा-णु-रेणु-महा-सत्त्व-भेद से पञ्चात्मक बन रहा है। ये पाँचों क्षरविवर्त्त हैं। अतएव पञ्चात्मक इस अर्थ को हम अवश्य ही 'क्षर' कह सकते हैं। इस क्षरकूट को एक सूत्र से बद्ध रखने वाला, नियतकालपर्य्यन्त क्षरकूटात्मक अर्थ को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाला 'कूटस्थ' नाम से प्रसिद्ध, विधर्त्ता-प्राणात्मक तत्त्वविशेष ही 'अक्षर' है। यही अर्थ का दूसरा विवर्त्त है। क्षरविवर्त्त उपादानात्मक है, अक्षरविवर्त्त निमित्तकारणात्मक है। क्षर कार्य्य है, अक्षर कारण है। कार्य्य-कारणातीत सर्वालम्बन तत्त्व 'अव्यय' नाम से प्रसिद्ध है, यही अर्थसृष्टि का तीसरा विवर्त्त है। इसप्रकार प्रत्येक अर्थ 'अव्यय-अक्षर-क्षर' भेद से त्रिपर्वा बन रहा है।

क्षर अक्षर को आधार बनाकर ही स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। अक्षर के बिना क्षरस्वरूपावस्थान असम्भव है। अक्षर अव्ययाधार पर प्रतिष्ठित है। क्षर 'स्व' लक्षण (वस्तुबाह्यस्वरूपलक्षण) बनता हुआ **'स्वार्थ'** नामक अर्थ है। अक्षर 'परमलक्षण' (महालक्षण) बनता हुआ **'परमार्थ'** नामक अर्थ है। एवं अव्यय 'परलक्षण' बनता हुआ **'परार्थ'** नामक अर्थ है। स्वार्थ-परमार्थ-परार्थत्रितय की समष्टि एक-एक अर्थ है। तीनों में मध्यस्थ अक्षर है। यही अपने प्रकृतिभाव से अव्यक्त रहता हुआ अपने उत्तर के

महल्लक्षण एकाक्षररूप से क्षरात्मक सम्पूर्ण भूतार्थों का निमित्त बन रहा है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि, महद्ब्रह्मैकमक्षरम् ।
बहु ब्रह्मैकमक्षरम् " । (शत० १०।२।७।६)॥

२—"एतद्ध्येवाक्षरं सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यते"
(शत० १०।२।७।६) ।

३—"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" (ऋक्सं० ८।५८।२) ।

४—"यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति"
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१

उक्त वचनों से यही तात्पर्य्य निकल रहा है कि, भूतात्मिका मर्त्य अर्थसृष्टि का विकास अमृतलक्षण एक ही अक्षर से हुआ है । **'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** के अनुसार अक्षर से ही क्षर नामक 'ब्रह्म' का प्रादुर्भाव हुआ है । **'बहुब्रह्मैकमक्षरम्'** इत्यादि शातपथी श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, अनेक क्षरों में एक अक्षर कूटस्थ बना रहता है । कूटात्मक क्षरब्रह्म का विकास अक्षर से हुआ है । यह विकासक्रम ९ स्थानों में विभक्त हो रहा है ।

अव्ययेश्वर नामक अश्वत्थवृक्ष की सहस्र शाखा मानीं गई हैं । प्रत्येक शाखा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथ्वी' ये पाँच पाँच पर्व हैं । पर्व को विज्ञानभाषा में 'पुण्डीर' कहा गया है, शाखा को 'वल्शा' कहा गया है, ईश्वर को 'प्रजापति' कहा गया है । अतएव यह आश्वत्थी, पञ्चपर्वात्मिका शाखा—**'पञ्चपुण्डीरा (पुण्डीरात्मिका) प्राजापत्य-वल्शा'** नाम से व्यवहृत हुई है । स्वयम्भू पर्व 'सत्यलोक' है, परमेष्ठी पर्व 'जनल्लोक' है, सूर्य्यपर्व 'स्वर्गलोग' है, चन्द्रपर्व 'अन्तरिक्षलोक' है, पृथिवीपर्व 'भूलोक' है ।

अश्वत्थेश्वर के पाँच पर्व अग्नी-सोम नामक तत्त्वों के विवृत-स्पर्श प्रयत्नों से नौ संख्याओं में परिणत हो जाते हैं । अग्न्यक्षर विकासधर्म्मा है, सोमाक्षर संकोचधर्म्मा है । विकासलक्षण ऊष्मा, संकोच-लक्षण स्पर्श, इन प्रयत्नों के तारतम्य से महद्ब्रह्मलक्षण वह एकाक्षर पाँच स्थानों में विभक्त होता हुआ ९ संस्थाओं में परिणत हो जाता है । ये ही उस एक अक्षरपुरुष के ९ ब्रह्मरूप (क्षररूप) हैं । इस सम्बन्ध में यह और ध्यान रखना चाहिए कि, विवृतभाव असङ्ग-अबन्धनलक्षण बनते हुए प्राणप्रधान हैं, एवं स्पर्शभाव ससङ्ग-बन्धन लक्षण बनते हुए वाक्प्रधान है । इन प्राण-वाक्-प्रधान विवृत-स्पर्श-भावों का विशद वैज्ञानिक विवेचन तो **'वैदिकवर्णमातृकाविज्ञान'** नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही देखना चाहिए । यहाँ केवल उनसे सम्बन्द्ध नौ ब्रह्म-पुरुषों की तालिका उद्धृत कर दी जाती है ।

❀	सत्यलोकाः (स्वयम्भूः)	पारमेष्ठ्याः (परमेष्ठी)	स्वर्ग्याः (सूर्य्यः)	भूलोकाः (पृथिवी)	आन्तरीक्ष्याः (चन्द्रः)	❀
❀	१	२	३	४	५	इति-पञ्चपुण्डीरस्थानानि
१	ब्रह्मा	विष्णुः	इन्द्रः	अग्निः	सोमः	इति-पञ्चाक्षराणि
२	ब्रह्मा	विष्णुः	इन्द्रः	अग्निः	सोमः	इति-पञ्चात्मक्षराणि
३	प्राणः	आपः	वाक्	अन्नादः	अन्नम्	इति-पञ्च विश्वसृजः
४	ऋषयः	पितरः	देवाः	असुराः	गन्धर्वाः	इति-पञ्च प्राणाः
५	आकाशः	वायुः	तेजः	पृथिवी	आपः	इति-पञ्च भूतान्यापः
६	सत्या	आम्भृणी	बृहती	अनुष्टुप्	सुब्रह्मण्या	इति-पञ्च वाचः
७	स्वयम्भूः	परमेष्ठी	सूर्य्यः	पृथिवी	चन्द्रमाः	इति-पञ्चाग्नयोऽन्नादाः
८	पुरुषः	अश्वः	गौः	अविः	अजः	इति-पञ्च पशवोऽन्नानि
९	प्रवर्ग्यः	प्रवर्ग्यः	प्रवर्ग्यः	प्रवर्ग्यः	प्रवर्ग्यः	इति-पञ्च प्रवर्ग्यभावाः सत्त्वसृष्टिप्रवर्त्तकाः

अर्थसृष्टिधारा से सम्बद्ध त्रिपुरुषविवर्त्त, ६ ब्रह्मविवर्त्त, इन दो दृष्टियों को लक्ष्य में रखते हुए शब्द-सृष्टिधारा का विचार कीजिए। अर्थब्रह्म ही ईश्वर है, जिसके अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक तीन विवर्त्त हैं। इस त्रिपुरुषात्मक ईश्वर का वाचक 'प्रणव' (ओङ्कार) है। ओङ्कार में 'अ-उ-म्' ये तीन पर्व हैं। मनःप्रधान अव्यय ज्ञानात्मक बनता हुआ असङ्ग है। एवमेव शब्दसृष्टि में अकार कण्ठ-ताल्वादि के स्पर्श से पृथक् रहता हुआ असङ्ग है। प्राणप्रधान अक्षर क्रियात्मक-बनता हुआ क्षरदृष्टि से असङ्ग, तथा अव्ययदृष्टि से ससङ्ग बनता हुआ 'ससङ्गासङ्ग' है। एवमेव शब्दसृष्टि में उकार ओष्ठादिस्पर्श से पृथक् रहता हुआ भी संकोचभावयुक्त

बनता हुआ ससङ्गासङ्ग है। वाक्प्रधान क्षर अर्थात्मक बनता हुआ सर्वथा ससङ्ग है। एवमेव शब्दसृष्टि में मकार ओष्ठस्पर्शमर्य्यादा से युक्त रहता हुआ सर्वथा ससङ्ग है। अकारोच्चारण में कण्ठादि का स्पर्श नहीं होता, उकारोच्चारण में ओष्ठ मिलते तो नहीं, किन्तु सिकुड़ जाते हैं, एवं मकारोच्चारण में ओष्ठ मिल जाते हैं। इस समानधर्म्म से अकार अव्यय का, उकार अक्षर का, एवं मकार क्षर का वाचक मान लिया गया है। इसप्रकार प्रणवदृष्टि से शब्दब्रह्म–अर्थब्रह्म, दोनों का औत्पत्तिक प्रक्रियासादृश्य समतुलित बन रहा है।

अर्थब्रह्म—	–शब्दब्रह्म
१—अव्ययः—	–अकारः
२—अक्षरः—	–उकारः
३—क्षरः—	–मकारः

—"तस्य वाचकः प्रणवः" (योगसूत्र)

दूसरी दृष्टि से समतुलन की मीमांसा कीजिए। परब्रह्म चतुष्पाद माना गया है। विश्वातीत, विश्वात्मा, विश्व, भेद से परब्रह्मसंस्था के तीन मुख्य पर्व हैं। महामायाबल को अपने गर्भ में रखने वाला, सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति, अमायी, व्यापक, तुरीय, अमात्र, किंवा अर्द्धमात्र पद 'परात्पर' है, यही विश्वातीत है। अव्यय–अक्षर समष्टि विश्वात्मा है, क्षर विश्व है। इसप्रकार परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर, भेद से परब्रह्म चतुष्पाद बन रहा है। परात्पर निष्कल है, सर्वाधार है। अव्यय–आनन्दादि भेद से पञ्चकल है, अक्षर ब्रह्मादि भेद से पञ्चकल है, एवं क्षर प्राणादि भेद से अनेककल है।

ठीक यही व्यवस्था शब्दब्रह्म की है। 'अर्द्धमात्रा, स्फोट, स्वर, वर्ण' भेद से शब्दब्रह्म भी चतुष्पाद है। अर्द्धमात्रा परात्पर से समतुलित है, एवं यह निष्कल है। स्फोट अव्यय से समतुलित है, एवं पञ्चकलाव्यय की भाँति तत्समतुलित इस स्फोट के भी महावाक्यादि पाँच विवर्त्त हैं। स्वर अक्षर से समतुलित है, एवं पञ्चकल–अक्षर की भाँति तत्समतुलित इस स्वर के भी अकारादि पाँच विवर्त्त हैं। वर्ण क्षर से समतुलित है, एवं अनेककल क्षर की भाँति तत्समतुलित इस वर्ण के भी अनेक विवर्त्त हैं। क्षर के प्राणादि पाँच विवर्त्त पञ्चीकरणप्रक्रिया से ही अनेककल बन रहे हैं। इसप्रकार निम्नलिखित रूप से भी दोनों का समतुलन हो रहा है—

*—परब्रह्म	* शब्दब्रह्म
१—परात्परः—	–अर्द्धमात्रा
२—अव्ययः—	–स्फोटः
३—अक्षरः—	–स्वरः
४—क्षरः—	–वर्णः

—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्'

परब्रह्म ❀		शब्दब्रह्म ❀
❀-परात्परः	❀	❀-अर्द्धमात्रा
१—अव्ययः	❀	१—स्फोटः
क—आनन्दः	❀	क-महावाक्यस्फोटः
ख—विज्ञानम्	❀	ख-वाक्यस्फोटः
ग—मनः	❀	ग-पदस्फोटः
घ—प्राणः	❀	घ-अक्षरस्फोटः
ङ—वाक्	❀	ङ-वर्णस्फोटः
२—अक्षरः	❀	२—स्वरः
क—ब्रह्मा	❀	क-अ-कारः
ख—विष्णुः	❀	ख-इ-कारः
ग—इन्द्रः	❀	ग-उ-कारः
घ—अग्निः	❀	घ-ऋ-कारः
ङ—सोमः	❀	ङ-लृ-कारः

३—क्षरः—

१—प्राणः—आपः—वाक्—अन्नादः—अन्नम्।

२—आपः—वाक्—अन्नादः—अन्नम्—प्राणः।

३—वाक्—अन्नादः—अन्नम्—प्राणः—आपः।

४—अन्नादः—अन्नम्—प्राणः—आपः—वाक्।

५—अन्नम्—प्राणः—आपः—वाक्—अन्नादः।

४—वर्णाः—

१—अ—ह—ग—क—घ—ख—ङ—ह

२—अ—य—ज—च—झ—छ—ञ—श

३—र—ड़—ड—ट—ढ़—ठ—ण—प

४—ल—ल़—द—त—ध—थ—न—स

५—व—व़—ब—प—भ—फ—स—ह

अथवा एक अन्य दृष्टि से समन्वय कीजिए। त्रिपुरुषपुरुषात्मक अर्थब्रह्म से समतुलित शब्दब्रह्म में भी 'ध्वनि, स्वर, वर्ण' भेद से तीन हीं शब्दपुरुषविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। जिसप्रकार अर्थधारा में अक्षर के बिना क्षर प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, एवमेव शब्दधारा में भी अक्षर से समतुलित स्वर को प्रतिष्ठा बनाए बिना क्षरसमतुलित वर्ण स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकते। एवमेव अर्थधारा में जैसे अव्यय को आलम्बन बना कर ही अक्षर क्षर की प्रतिष्ठा बनता है, वैसे ही अव्ययसमतुलित ध्वनि को आलम्बन बना कर ही स्वर वर्ण की प्रतिष्ठा बनता है। जिसप्रकार एकाक्षरब्रह्म (पूर्वप्रदर्शित तालिका के अनुसार) क्षरव्यूहरूप में परिणत होता है, एवमेव तत्स्थानीय एक अकार स्वर ही स्पर्शोष्मा के तारतम्य से वर्णव्यूहरूप में परिणत होता है, जैसा कि—**'अकारो वै सर्वा वाक्'** इत्यादि ऐतेरेयश्रुति से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है—

परब्रह्म ❀	शब्दब्रह्म ❀
१–अव्ययः——	–१–ध्वनिः
२–अक्षरः——	–२–स्वरः
३–क्षरः——	–३–वर्णः

—"शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः—
परंब्रह्माधिगच्छति"

जिसप्रकार आधिदैविक विश्व में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्यादि पाँच स्थान हैं, एवमेव आध्यात्मिक विश्व में भी पाँच ही मुख्य स्थान मानें गए हैं। शब्दप्रयोक्ता जीवपुरुष जिस मुख से शब्दों का प्रयोग करता है, उस में मुखावयवरूप कण्ठ, तालु, मूर्द्ध, दन्त, ओष्ठ, नामक पाँच स्थान हैं। इन पाँच स्थानों में विवार–स्पर्श के द्वारा प्रयत्नों का भेद हो जाता है। इनमें स्थान एवं करण के स्पर्श से उत्पन्न विवृतवर्ण 'स्वरवर्ण-भावात्मक' बनते हुए प्राणस्थानीय हैं। एवं स्थान–करण के स्पर्शतारतम्य से उत्पन्न स्पृष्ट वर्ण 'व्यञ्जनवर्ण-भावात्मक' बनते हुए वाक्स्थानीय है। प्राण-वाक् भेद से जो ६ विवर्त्त अर्थब्रह्म में हैं, वे ही ६ विवर्त्त स्वर-वर्ण भेद से शब्दब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। इसप्रकार त्रिपुरुषदृष्टि से, चतुष्पाददृष्टि से, एकाक्षरोत्पत्तिदृष्टि से, नवविवर्त्तदृष्टि से अर्थब्रह्म के साथ शब्दब्रह्म अनुरूपतः समतुलित है। अर्थब्रह्म के प्राण-वाङ्मय नौ विवर्त्तों के पूर्वोद्धृत परिलेख को सामने रखिए, एवं शब्दब्रह्म के स्वर-वर्णमय नौ विवर्त्तों के निम्नलिखित परिलेख को सामने रखिए। दोनों के समतुलन से यह प्रमाणित हो जायगा कि, अर्थोत्पत्ति में अनिमित्त बनता हुआ भी शब्द प्रक्रियासादृश्य से निमित्त बन रहा है। एवं इसी आधार शब्दों को अर्थों का वाचक माना जा सकता है।

*	कण्ठ्याः	तालव्याः	मूर्द्धन्याः	दन्त्याः	ओष्ठ्याः	❀
*	१	२	३	४	५	इति-पञ्च मुखस्थानीयाः
१	अ	इ	ऋ	ऌ	उ	इति-अस्पृष्टाः स्वराः
२	।ऽ	य	र	ल	व	इति-ईषत्स्पृष्टा अन्तस्थाः
३	अ़	य़	ड़	ल़	व़	इति-दुःस्पृष्टा अन्तस्थाः
४	ग	ज	ड	द	ब	इति-मृदुस्पृष्टाः स्पर्शाः
५	क	च	ट	त	प	इति-तीव्रस्पृष्टाः स्पर्शाः
६	ङ	ञ	ण	न	म	इति-नासिक्यस्पृष्टाः स्पर्शाः
७	घ	झ	ढ	ध	भ	इति-मृदुस्पृष्टाः सोष्माणः
८	ख	छ	ठ	थ	फ	इति-तीव्रस्पृष्टाः सोष्माणः
९	ह	श	ष	स	ह	इति-अर्द्धस्पृष्टा ऊष्माणः

ऐतरेयोक्त-**'अक्षितिविज्ञान'** दृष्टि से भी उक्त समतुलन की मीमांसा की जा सकती है। वर्णमातृका-विज्ञान ही 'अक्षितिविज्ञान' है। अकारादि-क्षकारान्त मातृकावर्णसमाम्नाय को लक्ष्य बनाते हुए महर्षि ऐतरेयने लोक, देव, वेद, इन्द्रियप्राण, वायव्यप्राण, इनके साथ शब्दब्रह्म का साम्य बतलाते हुए यह प्रमाणित कर दिया है कि, शब्दार्थों का परस्पर प्रक्रिया-सादृश्य है। अतएव अवश्य ही शब्द अर्थ का वाचक है। निम्नलिखित ऐतरेयश्रुति ही इस सम्बन्ध में पर्य्याप्त प्रमाण है—

मूलसिद्धान्तः—

"अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत्, सर्वा ह्येवेमाः सर्वस्यै वाच उपनिषदः। इमां त्वेवाऽऽचक्षते।

लोकसाम्यम्—

(१)–"पृथिव्या रूपं स्पर्शाः, अन्तरिक्षस्योष्माणः, दिवः स्वराः"।

देवसाम्यम्—

(२)–"अग्ने रूपं स्पर्शाः, वायोरूष्माणः, आदित्यस्य स्वराः"।

वेदसाम्यम्—

(३)–"ऋग्वेदस्य रूपं स्पर्शाः, यजुर्वेदस्योष्माणः, सामवेदस्य स्वराः"।

इन्द्रियप्राणसाम्यम्—

(४)–"चक्षुषो रूपं स्पर्शाः, श्रोत्रस्योष्माणः, मनसः स्वराः"।

वायव्यप्राणसाम्यम्—

(५)–"प्राणस्य रूपं स्पर्शाः, अपानस्योष्माणः, व्यानस्य स्वराः"।

—ऐतरेयआरण्यक ३।२।५।

१–पृथिवी २–अग्निः ३–ऋग्वेदः	१–अन्तरिक्षम् २–वायुः ३–यजुर्वेदः	१–द्यौः २–आदित्यः ३–सामवेदः	अधिदेवतम्
४–चक्षुः ५–प्राणः	४–श्रोत्रम् ५–अपानः	४–मनः ५–व्यानः	अध्यात्मम्
स्पर्शाः	ऊष्माणः	स्वराः	अधिभूतम्

मनःप्राणवाङ्मय आत्मा को लक्ष्य बना कर भी इस प्रक्रियासादृश्य का समन्वय किया जा सकता है। **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति के अनुसार आत्मा मनः-प्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थमय है। तीनों का सम्मिलित एक रूप ही आत्मा है। इस एकरूपात्मक

त्रिपर्वा आत्मा की व्याहृति (नाम) 'ओम्' यह एकाक्षर है । **'स्वरोऽक्षरं, सहाद्यैर्व्यञ्जनैः'** इत्यादि प्रातिशाख्य सिद्धान्त के अनुसार 'ओम्' यह एकाक्षरा ब्रह्मव्याहृति है। इसके 'अकार-उकार-मकार' तीन पर्व हैं। विवृत, निर्विकार, अकार असङ्ग निर्विकार मन का संग्राहक है। विवृत, सविकार, उकार-असङ्ग, किन्तु सविकार प्राण का संग्राहक है। स्पृष्ट, तथा पूर्ण विकारात्मक मकार ससङ्ग–पूर्णविकारात्मक वाग् ब्रह्म का संग्राहक है। इसप्रकार 'अ-उ-म्' भेद से वर्णत्रयात्मक बनता हुआ 'ओम्' यह एकाक्षर 'मनः-प्राण-वाक्' भेद से त्रिपर्वात्मक बने हुए एकाक्षरात्मक आत्मा का वाचक बन रहा है।

मनःप्राणवाङ्मय वस्तुतत्त्व 'आत्मा, शरीर' भेद से दो भागों में विभक्त है। मन का विकार रूप है, प्राण का विकार कर्म्म है, वाक् का विकार नाम है। नाम–रूप-कर्म्म, इन तीन वैकारिक रूपों की समष्टि 'शरीर' है। मनः–प्राण वाक्, इन तीन प्राकृतिक रूपों की समष्टि 'आत्मा' है। मनः-प्राण–वाङ्मय–आत्मा सूक्ष्म है, नामरूपकर्म्ममय शरीर स्थूल है। सूक्ष्म आत्मा, स्थुल शरीर, दोनों के एकीभाव से एक वस्तुसंस्था का स्वरूप निष्पन्न हुआ है।

सूक्ष्म आत्मा, स्थूल शरीर, दोनों का एकीभाव, इन तीनों के लिए क्रमशः **'अ–ह्–अम्'** ये तीन शब्द नियत माने गए हैं। आत्मा-शरीर, दोनों स्थूल–सूक्ष्मभावों के एकत्र सन्निपात से सम्पन्न वस्तुतत्त्व **'ईश्वर, प्रतिमा, जीव'** इन तीन भागों में विभक्त है। सूक्ष्म आत्मा, स्थूल शरीर की समष्टि ही ईश्वर है, इन्हीं दोनों की समष्टि प्रतिमा है, एवं इन्हीं दोनों की समष्टि जीव है। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–इन पाँचों को अपने गर्भ में रखने वाला सर्वतः पाणिपादोऽक्षिशिरोमुख पूर्णात्मक तत्त्व ईश्वर है। स्वयम्भू–परमेष्ठी-सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, ये पाँचों पर्व ईश्वरप्रजापति की भक्ति (अवयव) बनते हुए पाँच स्वतन्त्र आत्मपर्व हैं। तीसरा षाट्कौशिक जीवात्मा प्रसिद्ध है। इन तीनों विवर्त्तों के क्रमशः **'ओम्–अहः–अहम्'** ये तीन शब्द वाचक माने गए हैं। तीनों में पहिले क्रमप्राप्त 'ओम्' की ही मीमांसा कीजिए।

ईश्वरप्रजापति सर्वतः पाणिपादादिलक्षण बनता हुआ पूर्णपद है, यह कहा जा चुका है। इसीलिए इसे 'पूर्णेन्द्र' भी कहा गया है। यह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है। किसी दूसरे का अवयव न बनता हुआ स्वयं पद है। इस स्वतन्त्र पद में सूक्ष्म आत्मा, स्थूलशरीर, ये दो पर्व हैं। दोनों के वाचक क्रमशः अकार-हकार हैं। दोनों का एकीभाव हो रहा है। फलतः ईश्वरवाचक शब्द की आरम्भ में **"अ (सूक्ष्म आत्मा)–ह्–(स्थूल शरीर)–अम्–(दोनों का एकीभाव)'** यह स्थिति है। क्योंकि 'अह' वाच्य ईश्वर पूर्णपद है। अतएव इसी पूर्ण-पदत्त्व को सूचित करने के लिए संज्ञाविधायक वैज्ञानिकों ने ईश्वरवाचक 'अह्' के हकार को पदान्त (पूर्णपद का अन्तभाग रूप) मानते हुए इसे 'उ' त्व कर डाला है। उत्त्व हो जाने पर 'अह्–अम्' के स्थान में 'अ–उ'–अम्' यह स्थिति हो जाती है। गुण–पूर्वरूप से 'ओम्' स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। 'ह्' यह विसर्गसदृश भास-मान है। **'विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः'** के अनुसार 'विसर्ग' कर्म्म का सूचक इसलिए बन रहा है कि, कर्म्म क्षणिक बनता हुआ अवसानधर्म्मा है। उधर विसर्ग भी 'वावसाने' के अनुसार अवसानधर्म्मा ही बन रहा है। विसर्ग-वद्भासमान हकार स्थूलकर्म्म का सूचक है, अकार सूक्ष्मज्ञान का सूचक है। अस्मदादि शरीरों में जहाँ स्थूल कर्म्म अपने आवरणरूप से विकसित है, वहाँ ईश्वरीय संस्था में यह विसर्गात्मक कर्म्म ईश्वरीय ज्ञान को आवृत करने में असमर्थ है। इस रहस्य को सूचित करने के लिए भी हकार को उत्त्व कर दिया जाता है। तात्पर्य्य

यही हुआ कि, ईश्वर पूर्णपद है, अतएव तद्वाचक 'अह' का हकार पद का अन्त बनता हुआ पदान्त है। अतएव इसे उत्त्व कर देना न्यायसङ्गत है। पूर्णपदत्वसूचनार्थ ही उत्त्व करते हुए 'अह-अम्' को 'ओम्' रूप में परिणत किया गया है। **'तस्योपनिषदोम्'** यह सिद्धान्त ईश्वर के इसी पूर्णपदत्त्व का समर्थन कर रहा है।

दूसरा प्रतिमाविवर्त्त है, जिसे 'अवतार' विवर्त्त भी कहा जासकता है। ये पाँचों विश्वपर्व अपना अपना स्वतन्त्र वषट्कारात्मक शरीर बनाते हुए उस सहस्रवल्श पूर्णेश्वर के अवयव बने हुए हैं। पाँचों स्वतन्त्र पद नहीं हैं, अपितु उस पूर्णपद (ईश्वर) के अवयव हैं। क्योंकि ये स्वतन्त्र पद नहीं हैं, अतएव पदान्तत्त्व-सम्पत्ति से वञ्चित इन पाँचों की समष्टि के वाचक 'अह' के हकार को उत्व नहीं होता। इस के अतिरिक्त इन पाँचों का एकत्र निपात भी नहीं होता। अतएव यहाँ एकीभाव सूचक 'अम्' का भी अभाव है। इस एकीभाव के अभाव का मूलकारण इन पाँचों का दहरोत्तर-सम्बन्ध है। स्वयम्भू की महिमा के गर्भ में समहिम परमेष्ठी अवस्थित है। परमेष्ठी की महिमा के गर्भ में समहिम सूर्य्य, सूर्य्यमहिमा के गर्भ में समहिमा पृथिवी, एवं पार्थिवमहिमा के गर्भ में समहिम चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। इस दहरोत्तरभाव से पाँचों का एकत्र समन्वय असम्भव है। हाँ पाँचों अपने प्रवर्ग्यभागों से अस्मदादि प्राणियों के जीवन में अवश्य ही उपयुक्त हैं। अतएव जीवनार्थक 'अन्' शब्द से युक्त होता हुआ इन का वाचक 'अह' 'अहन्' अवश्य बन रहा है, जोकि 'अहन्' इन की अहर्गणात्मिका वषट्कारसंस्थासे 'अहः' रूप में परिणत हो रहा है। इसप्रकार अहर्गणशरीरात्मक (वषट्कार-शरीरात्मक-महिमामण्डलात्मक) इस प्रतिमाप्रजापति का वाचक 'अहः' बन रहा है। **'तस्योपनिषदहः'** यह सिद्धान्त प्रतिमाप्रजापति के इसी अपदत्त्व का, एवं अनैक्यसम्पत्ति का समर्थन कर रहा है।

तीसरा जीवविवर्त्त है। इसका शरीर षाट्कौशिक माना गया है। **'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'-पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** इत्यादि ब्राह्मण, तथा उपनिषच्छ्रुति के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा पूर्णोदक्त बनता हुआ यद्यपि पूर्ण है। तथापि पूर्णपद ईश्वर का अंश बनता हुआ यह भी स्वतन्त्र पदसम्पत्ति से वञ्चित रहता हुआ अपद ही माना गया है। इसी आधार पर इसे **'अर्द्धेन्द्र'-अर्द्ध वृगल'** इत्यादि नामों व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है। इसी अपद सम्बन्ध से इस के हकार को भी उकार नहीं होता। परन्तु एक आध्यात्मिक संस्था में सूक्ष्म आत्मा, स्थूल शरीर, दोनों का एकीभाव अवश्य है। अतएव एकीभावसूचक 'अम्' का सम्बन्ध अवश्य है। फलतः इस जीव का वाचक **'अहम्'** बन रहा है। **'तस्योपनिषदहम्'** यह सिद्धान्त जीवात्मा के इसी अपदत्त्व का, तथा ऐक्यभावसम्पत्ति का समर्थन कर रहा है। भगवान् ऐतरेयने जीवकी उक्त उपनिषत् (अहं) का निम्न लिखित शब्दों में अभिनय किया है—

"अः (अह) इति ब्रह्म। तत्राऽऽगतमहममिति। तद्वा इदं बृहतीसहस्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्रस्य सम्पन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि भवन्ति। पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राणि (३६०००) भवन्ति। जीवाक्षरेणैव जीवाहराप्नोति, जीवाह्वा जीवाक्षरम्" इति (ऐ० आ० २।३।८।)।

ओङ्कार, अहस्कार, अहङ्कार, ये तीनों क्रमशः ईश्वर, प्रतिमा, जीव,-भावों के स्वरूपपरिचायक हैं। जसी परिस्थिति, जैसा संस्थानक्रम 'ओम्'-'अहः'-'अहम्' शब्दों का है, वैसी ही परिस्थिति, वैसा ही संस्थान-

क्रम 'ईश्वर'–'प्रतिमा–'जीव' तत्त्वों का है। शब्दद्वारा अर्थ का बोध क्यों हो जाता है ?, इस प्रश्न का रहस्यात्मक यही उत्तर है कि, तत्तदर्थवाचक तत्तद्वैदिक शब्दों का स्वरूपावस्थान तत्तदर्थों के तत्तत्स्वरूपावस्थानों के अनुरूप ही हुआ है। इसी सम्बन्ध में प्रसङ्गोपात्त यह और समझ लेना चाहिए कि, ईश्वरप्रजापति जीवप्रजापति के नेदिष्ठ अवश्य है। परन्तु इसका जीवनस्रोत पाँच प्रतिमाप्रजापतियों में आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में अङ्गिरानामक अपतत्त्व से उत्पन्न होने वाले मध्यस्थ 'सूर्य्य' नामक सत्यप्रजापति से ही सम्बन्ध रखता है। ईश्वरविभूति का अध्यात्मसंस्था में सूर्य्यद्वारा ही आगमन हुआ है, जैसाकि–'सूर्य्य **आत्मा जगतस्थस्थुषश्च'–नूनं–जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'—प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः' इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है।**

सूर्य्य–चर्चा का अभिप्राय यही है कि, जिन पाँच प्रतिमाप्रजापतियों का वाचक 'अहः 'बतलाया है, उस 'अहः' की मूलप्रतिष्ठा सूर्य्य ही है। अहःकालोपलक्षित सृष्टिकाल (पुण्याह) की मूलप्रतिष्ठा सूर्य्यसत्ता ही मानी गई है। कारण यही है कि, पञ्चपर्वात्मक विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ सूर्य्य परस्तात्–के स्वयम्भू परमेष्ठी नामक अमृत प्रजापतियों का, एवं अवस्तात् के पृथिवी–चन्द्रमा नामक मर्त्यप्रजापतियों का संग्राहक बनता हुआ, अमृत–मृत्यु–दोनों से युक्त बनता हुआ सर्वात्मक बन रहा है, जैसाकि–'**निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च**' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। इसी आधारपर ब्राह्मणश्रुतिने सौरमण्डलमध्यवर्त्ती, 'परं भाः' लक्षण आदित्यपुरुष की उपनिषत् 'अहः' मानते हुए इसे ही अहमुपनिषल्लक्षण जीवात्मा की प्रतिष्ठा बतलाया है जैसाकि निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है—

"आप एवेदमग्रऽआसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त।……। तद्यत्–तत् सत्यं, असौ स आदित्यः। य एव एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। रश्मिभिर्वाऽएषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः, प्राणैरयममुष्मिन्। य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, तस्य भूरिति शिरः, एकं शिरः, एकमेतदक्षरम्। भुव इति बाहू, द्वौ बाहू, द्वे ऽएतेऽअक्षरे। स्वरिति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे, द्वे ऽएतेऽअक्षरे। **'तस्योपनिषत्–'अह' रिति**। अथ योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, **'तस्योपनिषत्–'अहम्' इति"** ॥

(शत० १४ कां० ।८ अ० ६ ब्रा०)।

'ओम्–अहः–अहम्' तीनों में से प्रकृत में हमें उस ओङ्कार की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जो पूर्ण परब्रह्म का वाचक बन रहा है। ओङ्कार शब्द पूर्णलक्षण परब्रह्म का संग्राहक बन रहा है, इस सिद्धान्त का समन्वय गोपथश्रुति के आधार पर भी किया जासकता है। एकाक्षरमूर्त्ति, अव्ययालम्बित, क्षरोपादानात्मक, अतएव त्रिपुरुष–पुरुषात्मक परब्रह्म (अर्थब्रह्म) ने एकबार यह चिन्ता की कि, मैं ऐसे कौन से एकाक्षर का आश्रय लूँ, जिसके द्वारा सम्पूर्ण कामनाओं, लोकों, देवों, वेदों, यज्ञों, शब्दों, व्युष्टियों, एवं स्थावरजङ्गमभूतों का अपने आप में अनुभव कर सकूँ। अपनी इस चिन्ता को दूर करने के लिए ब्रह्मने उस ओम्–अक्षर का आश्रय लिया, जिसमें दो वर्ण हैं, चार मात्रा हैं, जो सर्वव्यापक है, सब में व्याप्त है, एवं अयातयाम है।

ओङ्कार में 'ओ–म्' ये वर्ण दो हैं। 'अर्द्धमात्रा, अ–उ–म्' ये चार मात्रा हैं। अर्द्धमात्रा अमृत-मात्रा है, शेष तीनों मृत्युमात्रा हैं। इन चार मात्राओं से वह ओङ्कार चतुर्मात्र बना हुआ है। अक्षरदृष्टि से वह एक है। अपने दो वर्णों, चार मात्राओं, तथा एक अक्षर से वही ओङ्कार भूत-भविष्यत्–वर्त्तमान, इन तीन कालों का, एवं कालातीतभाव का साक्षी बनता हुआ 'सर्वम्' बन रहा है, जैसाकि निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुतियों से स्पष्ट है—

१—"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं–भूतं, भवद्, भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं, तदप्योङ्कार एव"

—माण्डूक्योपनिषत् १।

२—"सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्राः, मात्राश्च पादाः–अकार–उकारो–मकार–इति"। (माण्डूक्य० ८।)।

३—"अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः, प्रपञ्चोपशमः, शिवः, अद्वैतः। एवमोङ्कार आत्मैव। स विशत्यात्मनाऽत्मानं, य एवं वेद, य एवं वेद" (माण्डूक्योपनिषत् १२।)

४—"तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥"

—प्रश्नोपनिषत् ५।६।

ब्रह्मा ने ओङ्कार के प्रथम वर्ण से (ओकार से) अप् तथा स्नेह तत्त्व की व्याप्ति प्राप्त की, एवं दूसरे वर्ण से (मकार से) तेज, तथा ज्योतिर्नामक तत्त्व में व्याप्त हुए। ओङ्कार की प्रथम स्वरमात्रा से पृथिवी, अग्नि, ओषधि–वनस्पति, ऋग्वेद, भूः–व्याहृति, गायत्रीछन्द, त्रिवृत्स्तोम, प्राचीदिशा, वसन्तऋतु, इतने तो आधिदैविक तत्त्व प्राप्त किए, एवं अध्यात्म के रसनेन्द्रिय पर प्रभुत्त्व स्थापित किया।

दूसरी स्वरमात्रा से अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद, भुवः–व्याहृति, त्रिष्टुप्छन्द, पञ्चदशस्तोम, प्रतीचीदिशा, ग्रीष्मऋतु, इन आधिदैविक तत्त्वों को, एवं घ्राणेन्द्रिय नामक आध्यात्मिक तत्त्व को प्राप्त किया।

तीसरी स्वरमात्रा से द्युलोक, आदित्य, सामवेद, स्वः–व्याहृति, जगतीछन्द, सप्तदशस्तोम, उदीचीदिशा, वर्षाऋतु, इन आधिदैविक तत्त्वों को, एवं चक्षुरिन्द्रिय नामक आध्यात्मिक तत्त्व को प्राप्त किया।

चौथी स्वरमात्रा से 'आपः' नामक चतुर्थलोक, चन्द्रमा, अथर्ववेद, नक्षत्रों का, 'ओम्' इस समष्टि से अपनी आत्मसमष्टि का, अनुष्टुप्छन्द, एकविंशस्तोम, दक्षिणादिक्, शरद्ऋतु, इन आधिदैविक तत्त्वों का, एवं इन्द्रियलक्षण मनोनामक आध्यात्मिक तत्त्व का संग्रह किया।

ओङ्कार की 'मकार' श्रुति से इतिहास, पुराण, वाकोवाक्य, गाथा, नाराशंसी, उपनिषत्, अनुशासनादि का संग्रह किया। इसप्रकार इस ओङ्कार के द्वारा ब्रह्म ने सब कुछ प्राप्त कर लिया।" (देखिए-गोपथब्राह्मण, पूर्वभाग १ प्र०।१६,१७,१८,१९,२०)।+

"औत्पत्तिक सम्बन्ध को सुरक्षित रखते हुए शब्दों का वाचकत्त्व इसी प्रक्रिया-सादृश्य पर अवलम्बित है" उक्त शब्दार्थप्रक्रिया-सादृश्य विवेचन का यही निष्कर्ष है। इस निष्कर्ष के साथ **'सर्वे सर्वार्थवाचकाः'** से सम्बद्ध जो विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है, उसका निराकरण-**"लोके सन्नियमात् प्रयोगसंनिकर्षः स्यात्'** (१।१।२६।) इस तीसरे सूत्र से हो रहा है। दार्शनिक प्रकरण में इस सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। इसप्रकार शब्दों का (वागूलक्षण, आत्मानुगत नित्य शब्दों का) नित्यत्त्व बतलाते हुए मीमांसासूत्र (२४-२५-२६ सूत्रों से) वाचकत्त्व-अवाचकत्त्व की मीमांसा करते हुए प्रक्रियासादृश्य के आधार पर वाचकत्त्व प्रतिष्ठित कर रहे हैं। और यही इन २२ सूत्रों की वैज्ञानिक मीमांसा है, जिनका प्रधान लक्ष्य वाक्-लक्षण नित्य-शब्द बन रहे हैं। भगवान् जैमिनि 'शब्द' को अवश्य ही नित्य बतला रहे हैं। परन्तु इस नित्यता के साथ शब्दों के 'वाक्शब्द, नादशब्द, ध्वनिशब्द, प्रयोगशब्द' इन चार विवर्त्तों का विश्लेषण करते हुए हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जैमिनि का लक्षीभूत नित्यशब्द केवल वाक्-शब्द है, जिसे वाक्शब्द न कह कर हम केवल 'वाक्' ही कहेंगे, जिस वाक् का कि 'सत्या-वेदमयी-नित्या-अनादिनिधना-स्वायम्भुवी'-इत्यादि नामों से श्रुति ने यशोगान किया है। ऐसे नित्य वाक्तत्त्व को मूल लक्ष्य बना कर ही हमें वेदों के पौरुषेयत्त्व-अपौरुषेयत्त्व का विचार करना है।

११-वेदापौरुषेयत्त्व-पौरुषेयत्त्व-मीमांसा-

विज्ञ पाठकों को स्मरण होगा कि, केवल-'क्या उपनिषत् वेद है ?" इस प्रश्नसमाधि के सम्बन्ध में हमें भूमिका प्रथम खण्ड के ३७ वें पृष्ठसे आरम्भ कर प्रथमखण्डसमाप्ति पर्य्यन्त मतवादों का निरूपण करना पड़ा। एवं प्रस्तुत तृतीयखण्ड के आरम्भ से अब तक शब्दनित्यता के समर्थन के लिए मीमांसासूत्रों की दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक दृष्टि से मीमांसा करनी पड़ी। इस महारम्भ के अनन्तर अब वह प्रतिज्ञात प्रश्न पाठकों के सम्मुख उपस्थित होने जा रहा है। इस सम्बन्ध में पहिले हम उन मीमांसा-सूत्रों की मीमांसा कर देना आवश्यक समझते हैं, जिनके आधार पर शब्दनित्यानुगामी मीमांसकों की दृष्टि में 'वेद' अपौरुषेय बन रहा है, एवं जोकि अपौरुषेयता सर्वथा प्रामाणिक, अतएव सर्वमान्य है। वेदापौरुषेयत्त्व के समर्थक ६ सूत्रों की समष्टि **'वेदापौरुषेयत्त्वाधिकरण'** नाम से प्रसिद्ध अष्टम अधिकरण है, जिसमें निम्न लिखित सूत्रों का समावेश है-

१—**"वेदांश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्याः"** (१।१।२७।)।
२—**"अनित्यदर्शनाच्च"** (१।१।२८)।
३—**"उक्तं तु शब्दपूर्वत्त्वम्"** (१।१।२९।)।
४—**"आख्याः प्रवचनात्"** (१।१।३०।)।

+-इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन **'सन्ध्याविज्ञान'** नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में देखना चाहिए।

५—"परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (१।१।३१)

६—"कृते वा विनियोगः स्यात्, कर्म्मणः सम्बन्धात्" (१।१।३२)

इति—वेदापौरुषेयत्त्वाधिकरणम्"

भगवान् जैमिनि ने 'वाक्–लक्षण' नित्य शब्द को लक्ष्य बनाते हुए शब्दनित्यत्त्व स्थापित किया है। एवं इसी सिद्धान्त को लक्ष्य बनाते हुए महर्षि ने वेदापौरुषेयत्त्व-अधिकरण का समावेश किया है, और यही विज्ञानानुमोदित्त राद्धान्त है। परन्तु व्याख्याताओं की व्याख्या से ऐसा भान हो रहा है कि, उन्होंनें जैमिनि-सूत्रों को प्रयोगलक्षण–शब्दपरक लगाते हुए इन प्रयोगशब्दों की ही नित्यता का समर्थन किया है, जोकि एकान्तः प्रौढ़िवाद है। उसी प्रयोगशब्द को लक्ष्य में रख कर, इसे ही नित्य मानते हुए व्याख्याताओंनें प्रकृत के वेदापौरुषेयत्त्व अधिकरण के समन्वय करने की चेष्टा की है। अपनी सहजभाषा में व्याख्याताओं के इस मन्तव्य का हम इसप्रकार अभिनय कर सकते हैं कि, शब्दात्मक वेदशास्त्र में पठित प्रयोगात्मक मन्त्रशब्द व्याख्याताओं की दृष्टि में नित्य हैं, एवं ये ही अपौरुषेय हैं। पहिले हम इसी दृष्टि को लक्ष्य बना कर उक्त ६ ओं सूत्रों का समन्वय कर देना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में व्याख्याताओं की २ सूक्तियों पर विशेष ध्यान रखते हुए ही प्रकृत अधिकरण का समन्वय करना चाहिए

१–विध्यादिरूपो यः शब्दः सोऽनित्योऽथाविनश्वरः।
अनित्यो वर्णरूपत्त्वाद्वर्णे जन्मोपलम्भनात्॥

२–अबाधितप्रत्यभिज्ञाबलाद्वर्णस्य नित्यता।
उच्चारणप्रयत्नेन व्यज्यतेऽसौ न जन्यते॥ (जै० न्या० विस्तरः)

"वेदविधिचोदित शब्द अनित्य हैं, अथवा अविनश्वर (नित्य)?, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर सहसा यही निश्चय हो जाता है कि, शब्द वर्णसमष्टिरूप है, एवं वर्णों की कण्ठताल्वादि के अभिघात से उत्पत्ति देखी जाती है। उत्पत्तिधर्म्म नश्वर है, फलतः नश्वर वर्णसमष्टिरूप शब्द सर्वथा अनित्य हैं" यह पूर्वपक्ष केवल न्यायनय से ही सम्बन्ध रखता है। व्याकरणशास्त्र जहाँ शब्दनित्यता का पक्षपाती है, वहाँ न्यायशास्त्र शब्द–अनित्यता का पोषक माना गया है। व्याकरणशास्त्र जिस शब्द को नित्य कहता है, वह वर्णसमष्टिरूप प्रयोगलक्षण शब्द नहीं है। अपितु वर्णसमूहलक्षण शब्द सुनने के अनन्तर जिस तत्त्व के आधार पर समूहालम्बनात्मक जो मानस प्रत्यय होता है, वर्णातिरिक्त वह 'स्फोट' रूप (वाक्) शब्द ही नित्य शब्द है। इस स्फोट की दृष्टि से अवश्य ही शब्द नित्य है। स्फोट पदार्थ को न मानने वाले नैय्यायिकों का वर्णसमूहलक्षण शब्द सर्वथा अनित्य ही है। और इसी न्यायदृष्टि से पूर्वपक्ष बन रहा है।

इसप्रकार प्रथम कारिका से पूर्वपक्ष का उत्थान कर व्याख्याता ने उत्तर कारिका से यह समाधान करने की चेष्टा की है कि, एक ही गोशब्द का अनेक पुरुष एक ही समय में अनेक बार उच्चारण करते हैं। इन सभी गोशब्दों में 'वे ही गगारादि हैं' इसप्रकार की अबाधित प्रत्यभिज्ञा होती है। इस प्रत्यभिज्ञा के

बल से वर्ण अवश्य ही नित्य हैं। रही बात उच्चारण-प्रयत्न से वर्णों के विनिर्गमन की। इस सम्बन्ध में व्यञ्जक-मर्य्यादा से काम चलाया जा सकता है। उच्चारणप्रयत्न वर्णों का अभिव्यञ्जक मात्र है, उत्पादक नहीं। मिट्टी में पहिले से गन्ध विद्यमान है। पानी के छींटों से उसकी अभिव्यक्तिमात्र हो जाती है। अप्-सिञ्चन-प्रयत्न गन्ध का अभिव्यञ्जकमात्र है, न कि उत्पादक। ठीक यही बात यहाँ समझनी चाहिए। वर्ण नित्य,तत् समष्टिरूप प्रयोगलक्षण शब्द भी नित्य,तत्समष्टिरूप वेद भी(वेदशास्त्र भी)नित्य, अतएव शब्दात्मक वेदशास्त्र भी अपौरुषेय ही माना जायगा। अब इस सम्बन्ध में कुछ एक नए पूर्वपक्ष उपस्थित होते हैं। उनका क्रमशः उल्लेख किया जाता है। अनन्तर इनका क्रमिक समाधान किया जायगा।

(१) शब्दात्मक वेदशास्त्र पुरुषप्रयत्नसाध्य बनता हुआ पौरुषेय है ?, अथवा पुरुषप्रयत्नासाध्य बनता हुआ अपौरुषेय है ?, यह प्रश्न है। यदि किसी प्रकार से वेदों का पौरुषेयत्त्व सिद्ध हो जाता है, तो पूर्वप्रतिज्ञात **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः'** यह चोदनाप्रामाण्य निरपेक्ष प्रमाण नहीं रहता। पूर्वपक्षी पूर्वपक्ष उठाते हैं कि, **'तेन प्रोक्तम्'** (पा०सू०४।३।१०१) इत्यादि सूत्रप्रकरणों में **'काठकम्-कौथुमम्-तैत्तिरीयकम्'** इत्यादि रूप से पुरुषसमाख्या देखी-सुनी जाती है। 'कठ से कहा गया काठक' यह व्यवहार सिद्ध कर रहा है कि, वेदमन्त्र पुरुषविशेषों के द्वारा तत्तत्समयविशेषों पर बनाए गए हैं। यही पुरुषसमाख्या वेदों के कालसंनिकर्ष की सूचिका भी बन रही है। कठादि पुरुषों से पहिले काठकादि वेद न थे, यह सिद्ध विषय है। फलतः इस पुरुष-समाख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, ये पौरुषेय वेद न तो अनादि हैं, अतएव न नित्य हैं। अतएवच न इन्हें निरपेक्ष प्रमाण ही माना जा सकता। क्योंकि भ्रान्त पुरुष की रचना कभी निर्भ्रान्त नहीं हो सकती। यही पहिली विप्रतिपत्ति है, जिसका—**'वेदांश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्याः'** सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

(२)—अपिच, वेदप्रतिपादित अर्थ जनन-मरण-धर्म्म से आक्रान्त देखे सुने जाते हैं। **'बबरः प्रावाहणिरकामयत'—'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत'** इत्यादि वेदवचन स्पष्ट ही अनित्यता के समर्थक बन रहे हैं। 'प्रवाहण के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध बबर ने इच्छा की' यह वाक्य बतला रहा है कि, प्रावाहणि से पहिले यह ग्रन्थ न था। अपने पूर्वभावी वृत्त का ही ग्रन्थ में निर्देश रहता है। यदि वेद में प्रावाहणि, औद्दालकि, आदि का निर्देश है, तो मानना पड़ेगा कि, ये पुरुष वेद से पहिले उत्पन्न हुए, एवं वेद पीछे बने। फलतः इस हेतु से भी वेद की अनित्यता ही सिद्ध हो रही है, जिस हेतु का—**'अनित्य-दर्शनाच्च'** सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

(३)—उक्त दो सूत्रों से पूर्वपक्ष का उत्थान हुआ। अब आगे के चार सूत्रों से उत्तरपक्ष का स्पष्टी-करण किया जाता है। वर्ण नित्य, वर्णों की समष्टि रूप शब्द नित्य, शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य, तद्रूप वेद-शास्त्र नित्य, फिर इसे पौरुषेय क्यों कर माना जा सकता है। शिष्य-गुरु-परम्परा से ही वेदों का अध्ययना-ध्यापन सदा से चला आ रहा है। कहीं भी तो वेदकर्त्ता का उल्लेख नहीं है। इसप्रकार **'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'** इत्यादि पूर्व सूत्रों में ही शब्दनित्यता, शब्दार्थनित्यता द्वारा वेद का अपौरुषेयत्त्व बतलाया जा चुका है। पुनः इस सम्बन्ध में प्रयास करना व्यर्थ है। **'उक्तं तु शब्दपूर्वत्त्वम्'** सूत्र इसी सिद्धान्तपक्ष का विश्लेषण कर रहा है।

(४) – शब्दनित्यता, एवं शब्दार्थनित्यता के आधार पर वेद का अपौरुषेयत्त्व तो पहिले ही प्रतिपादित है। अतः इस सम्बन्ध में 'वेद पौरुषेय हैं ?, अथवा अपौरुषेय ?, यह प्रश्न उठाना तो व्यर्थ है। हाँ इस सम्बन्ध में पुरुषाख्या, तथा अनित्यदर्शनरूप जो दो आक्षेप हुए हैं, उनका समाधान सामयिक है। पुरुष–समाख्या अवश्य है। परन्तु इसे अपौरुषेयत्त्व का प्रतिबन्धक नहीं माना जा सकता। यह समाख्या केवल अध्ययनसम्प्रदायप्रवृत्ति का ही समर्थन कर रही है। स्वाध्यायपरम्परा का आरम्भ जिसने सर्वप्रथम किया, वही समाख्या का अधिकारी बन गया। कौन कहता है कि, कठ तित्तिरि आदि से पहिले वेद न थे। कौन कहता है कि, इन्होंनें कठ–तित्तिरि आदि वेदशाखाओं का निर्म्माण किया। यदि ये इनके निर्म्माता होते, तो अध्ययनपरम्परा में कहीं तो निर्म्मातृत्त्वेन इनका उल्लेख होता। रही बात 'काठकम्' 'कौथुमम्' इत्यादि समाख्याभावों की। इस सम्बन्ध में यही समाधान पर्य्याप्त होगा कि, यह समाख्या इनके प्रवचनकर्म्म से, दूसरे शब्दों में अध्ययनसम्प्रदायप्रवर्त्तकरूप से गतार्थ है। अतः पुरुषसमाख्या के हेतु से कथमपि वेदों का अनित्यत्त्व, तथा पौरुषेयत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। **'आख्याः, प्रवचनात्'** सूत्र इसी उत्तर का स्पष्टीकरण कर रहा है।

(५)—दूसरा आक्षेप यह था कि, वेदों में **'बबरः प्रावाहणिरकामयत'** इत्यादि रूप से अनित्य भावों की उपलब्धि हो रही है, अनित्य पुरुषविशेषों का उल्लेख है। इसलिए वेद अनित्य, अतएव पौरुषेय हैं। इस सम्बन्ध में हमें (व्याख्याता को) यह कहना है कि, यहाँ प्रावाहणि से किसी मरणधर्म्मा पुरुषविशेष का ग्रहण अभीष्ट नहीं है। 'प्र' शब्द प्रकृष्टार्थ का वाचक है, 'वहति' प्रापणार्थक है। फलतः 'प्रावाहणिः' का अर्थं है—'यः प्रवाहयति'। 'बबर' अनुकरण है, न कि किसी व्यक्तिविशेष का नाम। प्रवहणशील वायु 'ब-ब' रूप से शब्द करता हुआ इतस्ततः प्रवाहित रहता है, अतः वायु ही 'बबर प्रावाहणि' है। इसप्रकार वेद के जो स्थल अनित्यधर्म्मावच्छिन्न व्यक्तिविशेषों की भ्रान्ति के कारण बने हुए हैं, वे सब यथार्थतः व्यक्तियों के नाम न होकर नित्य तत्त्वों के ही बोधक हैं। फलतः **'अनित्यदर्शनात्'** हेतु का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अनित्यभावदर्शन के आधार पर वादी ने वेदों की अनित्यता के सम्बन्ध में जो दूसरा कारण बतलाया है, वह श्रुतिसामान्यमात्र है। शब्द का साम्यमात्र ही 'प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणिः' इस प्रकार की भ्रान्ति का कारण है। वस्तुतः यह प्रवहणशील नित्य वायुतत्त्व का ही बोधक है"। **'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'** सूत्र इसी आक्षेपनिराकरण का स्पष्टीकरण कर रहा है।

(६)—आक्षेप का समाधान हो चुका। अब एक स्वतन्त्र शङ्का का अपनी ओर से उत्थान करते हुए सूत्रकार उसका समाधान करते हैं। शङ्का का स्वरूप यह है कि–**"वनस्पतयः सत्रमासत'–'सर्पाः सत्रमासत'–'गावो वा एतत् सत्रमासत'** इत्यादि वेदवचन उन्मत्त बालप्रलापस्थानीय बनते हुए सम्पूर्ण वेद के प्रामाणिकता के विघातक बन रहे हैं। 'वनस्पतियों नें यज्ञ आरम्भ किया' यह वाक्य इस लिए प्रलाप है कि, यज्ञ चेतनपुरुषयत्नसाध्य है। भला सर्वथा जड़ वनस्पितियाँ, किंवा चेतन भी सर्प, और गौवें मन्त्र-हविर्द्रव्य–त्रेताग्नि-आदि से युक्त यज्ञका अनुष्ठान करेंगीं, यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा ?। अवश्य ही वेदका कितना ही भाग बुद्धिगम्य पदार्थों का निरूपण करता हुआ तदंश से धर्म्म में प्रमाण माना जा सकता है। परन्तु 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्यादि लक्षण वेदभाग उन्मत्तप्रलापस्थानीय बनता हुआ कथमपि प्रमाण नहीं माना जासकता। फलत : **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः'** इस धर्म्मलक्षण वा सम्पूर्ण वेद के साथ सम्बन्ध नहीं माना जासकता।

सूत्रसूचित शङ्का का सूत्र से ही समाधान करते हुए (व्याख्याता) कहते हैं कि, '**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'**–'**सोमेन यजेत**' इत्यादि विधिवाक्य साध्य-साधनेतिकर्त्तव्यताविशिष्टार्थभावनाविषयक बनते हुए परस्पर सम्बद्धार्थ के प्रतिपादक बन रहे हैं। ऐसे विधिवचनों को कथमपि मत्तप्रलाप नहीं माना जासकता। अब रही बात 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्यादि वाक्यों की। इस सम्बन्ध में यही समाधान पर्य्याप्त होगा कि, पुरुषप्रयत्नसाध्य सत्र (यज्ञ) में उपयुक्त वनस्पत्यादि की स्तुति (प्रशंसा) ही 'वनस्पतयः०' इत्यादि वाक्यों से अभिप्रेत है। "अजी अमुक के अमुक यज्ञ की महत्ता का क्या कहना, इस में चेतन विद्वान् ऋत्विक् ब्राह्मण तो क्या, अचेतन वनस्पतियाँ भी भाग ले रहीं हैं" इसप्रकार योग्य कर्म्मठ याज्ञिकोंके द्वारा सञ्चालित यज्ञकर्म्म के वैशिष्टय सूचन के लिए ही उक्त स्तुतिवचन प्रयुक्त हुए हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि, वनस्पतियाँ सचमुच में पुरुष की भाँति स्वतंत्ररूप से यज्ञानुष्ठान कर रहीं हैं। लोक में भी '**सन्ध्यायां मृगा अपि न चरन्ति, किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणाः**' इत्यादिरूप से व्यवहार देखा जाता है। मृग यह नहीं जानते कि, सन्ध्या–वेला में भोजन करना निषिद्ध है। केवल निन्दनीय बतलाने के लिए मृगों के सम्बन्ध में 'मृगा अपि न चरन्ति' यह कह दिया है। इस प्रकार जिन वेदवचनों के अर्थों में ऐसा बोध प्रतीत होता है, उन्हें स्तुतिपरक मानते हुए ही समन्वय कर लेना न्यायसङ्गत माना जायगा। '**कृते वा विनियोगः स्यात्, कर्म्मणः सम्बन्धात्**' सूत्र इसी न्यायसङ्गति का समर्थन कर रहा है।"

इसप्रकार प्रयोगलक्षण शब्दों को नित्य समझने वाले व्याख्याताओंनें उक्त ६ मीमांसा–सूत्रों का उक्त तात्पर्य्य लगाते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि, प्रयोगलक्षण शब्दसमष्टिरूप वेदशास्त्र सर्वथा अपौरुषेय है। व्याख्याताओं के इस प्रातिस्विक मन्तव्य की मीमांसा इसलिए अनावश्यक है कि, अभी उन्हें उस तात्त्विक वेद के स्वरूप का भान ही नहीं है, जिसे लक्ष्य बना कर भगवान् जैमिनि ने शब्दनित्यता का समर्थन करते हुए प्रकृत अधिकरण से उसकी अपौरुषेयता सिद्ध की है। अस्तु, अब हमें उस विज्ञानदृष्टि से प्रस्तुत अधिकरण की मीमांसा करनी चाहिए, जो विज्ञानदृष्टि सर्वथा निर्भ्रान्त बनती हुई श्रद्धा–विश्वास की मूलभित्ति मानी गई है।

सूत्रकारने महारम्भ के साथ वाग्लक्षण शब्दों की नित्यता सिद्ध करते हुए इनका वाचकत्व व्यवस्थित किया। और इन दो उद्देश्यों की सिद्धि में मीमांसा १ अध्याय के प्रथमपाद के १–१–५ से आरम्भ कर १।१।२६ पर्य्यन्त के २२ सूत्रों का उपयोग हुआ, जिनमें १–१–५ से १–१–२३ पर्य्यन्त के १९ सूत्रोंके द्वारा तो शब्दनित्यत्त्व स्थापित हुआ, एवं २४–२५–२६, इन तीन सूत्रों के द्वारा वाचकता का समर्थन किया गया। इस उद्देश्य की सिद्धि के अनन्तर सूत्रकारके सम्मुख 'वेद पोरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय ?, एतत्–प्रश्नमूलक वेदप्रामाण्यवाद की मीमांसा उपस्थित हुई। इसी के निश्चयार्थ प्रतिपादन के लिए १–१–२७ से आरम्भ कर १–१–३२ सूत्रपर्य्यन्त ६ सूत्रों का 'वेदापौरुषेयत्त्व–अधिकरण' हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ। मीमांसा-सूत्रों की इस सङ्गति को लक्ष्य में रख कर ही हमें इनकी विज्ञानदृष्टि–सम्मत मीमांसा करनी है।

(१) वाग्लक्षण शब्द जहाँ सर्वथा नित्य हैं, वहाँ प्रयोगलक्षण शब्द सर्वथा अनित्य हैं, इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए विषय पर दृष्टि डालिए। प्रयोगलक्षण शब्द क्योंकि सर्वथा अनित्य हैं, अतएव इनका सन्निकृष्टकालत्त्व सूपपन्न है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, प्रयोगात्मक शब्द अनित्य हैं। अतएव मानना पड़ता

है कि, ये सादि-सान्त हैं। क्योंकि वेदशास्त्र भी **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वैशेषिकद०६।१।१) के अनुसार प्रयोगशब्दात्मक बनता हुआ अनित्य है, अतः इसे भी सादि सान्त, अतएव पौरुषेय ही मानना न्यायसङ्गत है। इसके प्रमाण के लिए **"काठकं-कापालकं-पैप्पलादकं-मौद्गलं'** इत्यादि पुरुष-समाख्या हीं पर्य्याप्त हैं। ये पुरुष-समाख्या बतला रहीं हैं कि, प्रयोगशब्दात्मक वेदशास्त्र कठादि के पीछे कृतरूप बनता हुआ सादि ही माना जायगा। बात यथार्थ है। कठादि पुरुषों से समाख्यात वेद कठादि से पहिले क्योंकि अनुपपन्न हैं, अतएव इन्हें अनित्य ही कहा जायगा। (**वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः**)

(२)—अपिच-**'बबरः प्रावाहणिरकामयत'**—**'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत'** इत्यादि लक्षण जनन-मरणभावानुबन्धी वाक्य वेद में सुने जाते हैं। इन अनित्य वाक्य-दर्शनों से भी यह सिद्ध हो रहा है कि, बबर-कुसुरुबिन्दादि पुरुषविशेषों के पीछे ही वेदशास्त्र का निर्म्माण हुआ है। इस अनित्य दर्शन हेतु से भी वेदों का कृतकत्त्व, अनित्यत्त्व, तथा सादि-सान्तत्त्व ही सिद्ध हो रहा है। (**अनित्यदर्शनाच्च**)।

(३)—आक्षेप प्रयोगशब्दहष्टि से यथार्थ हैं। प्रयोगलक्षण शब्द अनित्य हैं, अतएव तद्रूप वेदशास्त्र भी अनित्य ही है। परन्तु वाक्-लक्षण शब्दों की दृष्टि से इन आक्षेपों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। पूर्वपक्षी ने प्रयोगलक्षण अनित्य शब्दों को आगे करते हुए आक्षेप किया है। सूत्रकार वाक् लक्षण नित्य शब्द दृष्टि से आक्षेप का निराकरण करते हुए कहते हैं—**'उक्तं तु शब्दपूर्वत्त्वम्'**।

सूत्र का तात्पर्य्य यही है कि, **'वेद, विद्या, विज्ञान'** तीनों शब्द अभिन्नार्थ के सूचक हैं। नित्यसिद्धा विद्या ही वेद है, यही नित्य (ईश्वरीय) विज्ञान है। नित्यसिद्ध ये विज्ञान शब्दों से प्रतीत होते हैं। इन नित्यसिद्ध, अर्थरूप विज्ञानों का, तथा तद्वाचक नित्यसिद्ध वाक्-लक्षण नित्य शब्दों का औत्पत्तिक (नित्य) सम्बन्ध है, जिसका बोध हमें उपदेश के द्वारा हुआ करता है। यह सिद्धान्त **'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुलब्धे, तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्त्वात्'** इस सूत्र से पूर्व में उक्त है। तत्तदर्थावबोध के लिए तत्तद्विशेष आप्तपुरुषों का तत्तदर्थवाचक तत्तच्छब्दप्रयोग ही उपदेश है। अपने स्वाभाविक औपपत्तिक सम्बन्ध से उपदिष्ट शब्द से सर्वथा अभिन्न, उस अनुपलब्ध-शब्दवाच्य-विशेष विज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। शब्दद्वारा उपलब्ध वह नित्य विज्ञान ही विद्या है, वही वेद है। द्रष्टा महर्षि अपनी आर्षदृष्टि से दृष्ट अर्थ का अस्मदादि अनार्ष व्यक्तियों के लिए उपदेश करते हैं। द्रष्टाओं का यह वाक्य ही जहाँ स्वयं द्रष्टाओं के लिए दृष्टि है, वहाँ हमारे लिए दृष्टिस्वरूपा-(प्रत्यक्षस्थानीया) श्रुति है। इसप्रकार वेदात्मिका नित्यविद्या का अपनी आर्षदृष्टि से साक्षात्कार करके ही द्रष्टा महर्षि शब्दों के द्वारा हमें उपदेश दिया करते है। जिस विद्या का द्रष्टा लोग हमें शब्दों के द्वारा उपदेश करते हैं, वह विद्या नित्य है, पहिले से ही विद्यमान है। द्रष्टागण केवल द्रष्टा हैं, कर्त्ता नहीं। ऋषिगण नित्या वेदविद्या को उत्पन्न नहीं करते, अपितु नित्यसिद्धा विद्या का साक्षात्कारमात्र करते हैं। विद्यावाचक वाक्-लक्षण शब्द नित्य बतलाए गए हैं, साथ ही इन शब्दों का उस विद्या के साथ नित्य ही सम्बन्ध बतलाया गया है। ऐसी स्थिति में वाक्-लक्षणा शब्दपूर्वा विद्या (वेदतत्त्व, किंवा तत्त्वात्मक वेद) कैसे अनित्य हो सकती है। फलतः वेदविद्या का नित्यत्त्व सर्वथा अक्षुण्ण बना रह जाता है।

(४)--'काठकम्-कापालकम्' इत्यादि पुरुषाख्याएँ वेदविद्या का कालसंनिकर्ष बतला रहीं हैं, इस आक्षेप का भी कोई महत्त्व नहीं है। पुरुषाख्या का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, वह पुरुष ही उस आख्यात विषय का कर्त्ता है। अपितु प्रवचन के सम्बन्ध से भी आख्या उपपन्न हो जाती है। विद्या का अध्यापन ही प्रवचन है। नित्यसिद्धा वेदविद्या का बोध उपदेशलक्षण प्रवचन के बिना असम्भव है। उपदेष्टा महर्षि-वेदविद्या को उत्पन्न नहीं करते, अपितु नित्यसिद्धा विद्या को आर्षदृष्टि से हृदयङ्गममात्र करते हैं।

उन वेदविद्याओं में जिस आप्तमहर्षि ने अपनी आर्षदृष्टि से जिस विद्या का सर्वप्रथम आविष्कार किया, (वेदयुगकालीना-यशःख्यापनलक्षणा परिपाटी के अनुसार) वह विद्या भी उसी द्रष्टा महर्षि के नाम से प्रसिद्ध हुई, एवं उस महर्षि का उपदेशलक्षण वाक्यग्रन्थ भी उसी के नाम से व्यवहृत हुआ। उपदेशलक्षण शब्द के प्रयोगभाव के अनित्य रहने पर भी वाक्-लक्षण उपदेशशब्द भी जब अनित्य नहीं है, तो तद्वाच्या वेदविद्या कैसे अनित्य हो सकती है ?। प्रवचनकर्तृत्वेन ही काठकम्-कापालकम्-इत्यादि आख्याएँ प्रचलित हैं, यही निष्कर्ष है।

शब्द और अर्थ का क्योंकि तादात्म्य है, अतएव अर्थात्मक विज्ञान तथा शब्दात्मक शास्त्र, दोनों के लिए 'वेद' शब्द प्रयुक्त हुआ है। नित्या वेदविद्या भी वेद है, तत्प्रतिपादक शब्दशास्त्र भी वेद है। साक्षात्कृतधर्म्मा महामहर्षियों नें असाक्षात्कृतधर्म्मा मनुष्यों को उपदेशलक्षण शब्दवेद से अर्थवेद का बोध कराया है। बिल्मग्रहण के लिए ही वेद-वेदाङ्गलक्षण ग्रन्थ का समाम्नाय संकलित हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित यास्कवचन से प्रमाणित है--

साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्म्मभ्य-उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च, वेदाङ्गानि च" (यास्कनिरुक्त——) इति।

उक्त नैगमिक वचन में पठित **'मन्त्रान् सम्प्रादुः'** का 'मन्त्र' पद नित्यसिद्धा वेदविद्या, तथा तत्प्रतिपादक शब्दात्मक वेदशास्त्र, दोनों का प्रतिपादक बन रहा है। प्रयोगलक्षण अनित्य शब्दराशि की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ वाक्-लक्षण नित्य शब्दराशिरूप शब्दवेद का, तथा तद्वाच्य विद्यावेद का, दोनों का समाम्नायमात्र संनिकृष्टकाल से सम्बन्ध रखता है। नित्या वेदविद्या, एवं तत्प्रतिपादिक नित्या शब्दराशि रूप वेदशास्त्र का काल से कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों ही स्वस्वरूप से सर्वथा अनादि, नित्य, तथा अपौरुषेय हैं। **'आख्याप्रवचनात्'** इस समाधानसूत्र का यही तात्पर्य्य है।

(५)--**'बबरः प्रावाहणिरकामयत'**--**'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत'**--**'कुशिकस्य सूनुः'**--**'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषदन् देवापिः'** इत्यादि अनित्य अर्थ दर्शनों के आधार पर प्रतिष्ठित **'विमतं वेद-वाक्यं पौरुषेयम्। वाक्यत्त्वात्, भारतादिवत्'** इस अनुमान से वेदशास्त्र पौरुषेय है, यह दूसरा आक्षेप था। इस सम्बन्ध में सूत्रकार ने **'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'** इस सूत्र के द्वारा जो समाधान किया है, वैज्ञानिक व्याख्याता उस सूत्र का यह समन्वय करते हैं कि--

यद्यपि नित्यसिद्धा आधिदैविक-विद्याओं का निरूपण ही वेदशास्त्र का मुख्य विषय है। तथापि विद्याप्रदर्शन के प्रसङ्ग में विषयसमन्वय की दृष्टि से ऋषियों नें यत्र तत्र आधिभौतिक–लोकचरित्र (इतिहास) का भी गौणरूप से समावेश कर दिया है। फलतः लह लोकवृत्त-प्रदर्शन अपनी प्रासङ्गिक मर्य्यादा से गौण–श्रुतिसामान्यमात्र (प्रासङ्गिक) बन रहा है। इन प्रासङ्गिक अनित्य लोकवृत्तों के आधार पर नित्यसिद्धा वेद–विद्या, तथा तद्वाचक नित्यसिद्ध वाक्–लक्षण शब्दराशिरूप वेदशास्त्र की नित्यता पर कोई आघात नहीं हो सकता। यद्यपि हम मानते हैं कि, प्रसङ्गोपात्त लोकवृत्तात्मक वेदभाग किसी नित्यविद्या का प्रतिपादक नहीं है। तथापि समष्ट्यात्मक वेदशास्त्र का मुख्य लक्ष्य नित्या वेदविद्या ही है। अतः इस दृष्टि से न तो इसे अनित्य–इतिवृत्तग्रन्थ ही कहा जा सकता, न इसके वेदशास्त्रत्व (नित्यविद्याप्रतिपादकत्व) पर ही कोई आक्षेप किया जा सकता।

(६)—'**कृते वा विनियोगः स्यात् कर्म्मणः सम्बन्धात्**' सूत्र प्रकृत अधिकरण का अन्तिम सूत्र है। व्याख्याताओं नें इस सूत्र को स्वतन्त्र पूर्वपक्ष, तथा स्वतन्त्र समाधानपरक माना है, जैसा कि पूर्व में दार्शनिक अर्थ बतलाते हुए स्पष्ट किया जा चुका है। सूत्र पढ़ा हुआ है उसी अधिकरण में। सूत्रकार क्रमशः पूर्वपक्षों का निराकरण करते आ रहे हैं। पूर्वपक्षोत्थान '**वेदांश्चैके०**'–'**अनित्यदर्शनाच्च**' इन दो सूत्रों से अधिकरणारम्भ में ही हो चुका है। दोनों आक्षेपों का क्रमशः '**आख्याप्रवचनात्**'-'**परं तु श्रुति सामान्यमात्रम्**' इन दो सूत्रों से समाधान भी हो चुका है। उधर सूत्रों की स्वाभाविक शैली यह है कि, पूर्वपक्ष-प्रतिपादक सूत्रों का आरम्भ में सन्निवेश रहता है, उत्तरपक्षप्रतिपादक सूत्रों का उसी पूर्वपक्षक्रम से उत्तर में समावेश रहता है। इधर हमारे ये व्याख्याता इस सूत्रशैली के सर्वथा विरुद्ध '**कृते वा विनियोगः०**' इत्यादि सूत्र को सङ्केतविधि से पूर्वपक्ष का भी सूचक मान रहे हैं, एवं उत्तरपक्ष का भी प्रतिपादक बतला रहे हैं। '**एतत्सूत्रसूचितामेतत्सूत्रेणैव निवर्त्तनीयां शङ्कां प्रदर्शयति**' यह वाक्य हमारे उक्त कथन में प्रमाण बन रहा है। अस्तु।

हमारी दृष्टि से प्रकृत सूत्र न तो सङ्केत विधि से किसी नवीन शङ्का का उत्थापक है, न नवीन समाधान का प्रवर्त्तक। अपितु '**अनित्यदर्शनाच्च**' इस आक्षेप का जो एक समाधान '**परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्**' इस सूत्र से हुआ है, '**कृते वा–विनियोगः०**' अधिकरण का यह अन्तिम सूत्र उसी '**अनित्यदर्शनाच्च**' का एक दूसरा समाधान है। '**कृते वा विनियोगः०**' इत्यादि सूत्र पठित 'वा' शब्द इसी वैकल्पिक समाधान का सूचक बन रहा है। इस सूत्र को स्वतन्त्र शङ्का, एवं स्वतन्त्रसमाधानपरक मान लेने पर 'वा' का क्या स्वारस्य रह जाता है, इस प्रश्न का उत्तरदायित्त्व उन्हीं व्याख्याताओं से सम्बन्ध रखता है। हमें केवल उस अर्थ के समन्वय का अधिकार है, जो अधिकरणमर्य्यादा का अनुगमन करता हुआ 'वा' स्वारस्य का भी समर्थक बन रहा है।

सम्पूर्ण वेदशास्त्र समष्टिरूप से नित्यविद्या का प्रतिपादक है, यह पञ्चम सूत्र व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। वेदप्रतिपादिता, खण्ड-खण्डात्मिका अनन्त विद्याओं का **ब्रह्मविद्या, यज्ञविद्या**, इन दो विद्याओं में अन्तर्भाव किया जा सकता है। मौलिकविद्या ब्रह्मविद्या है, यौगिक विद्या यज्ञविद्या है। तत्त्वविद्या मौलिकविद्या है, रासायनिकसम्मिश्रणानुगता, अग्नीषोमात्मिका विद्या यौगिकविद्या है। जिन दो विज्ञानों

के लिऐ पाश्चात्य सायन्स में **फिजिक्स** (Physics), **केमेस्ट्री** (Chemistry), ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, ठीक उन्हीं के लिए हमारे विज्ञानात्मक वेदशास्त्र में 'ब्रह्मविद्या, यज्ञविद्या' शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

मौलिक तत्त्वविद्या 'प्राण, वाक्' भेद से दो भागों में विभक्त है। प्राण की सामान्य संज्ञा 'देवता' है, वाक् की सामान्य संज्ञा भूत है। सर्वव्यापक, नित्यविज्ञानघन ईश्वरप्रजापति की ये ही दो मुख्य सन्तान हैं— **'दैवतानि च, भूतानि च'**। ऋषि, पितर, असुर, गन्धर्व, पशु, भेद से देवतासंज्ञक प्राणतत्त्व की मुख्य पाँच जातियाँ हैं। एवमेव 'गुण–अणु–रेणु–भूत–महाभूत' भेद से भूतसंज्ञक वाक्तत्त्व की प्रधान पाँच जातियाँ हैं। *पञ्चधा–पञ्चधा विभक्त, त्रिः–त्रिः–मर्य्यादा से युक्त ये देव–भूततत्त्व ही विश्वस्वरूप के आरम्भक (उपादान) बनते हुए विश्व के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण हैं। इन दोनों तत्त्वों का विज्ञान ही ब्रह्मविज्ञान, किंवा ब्रह्मविद्या है, जिसके आधार पर यज्ञविद्या प्रतिष्ठित है। यही वेदशास्त्र का एक मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

दूसरा मुख्य प्रतिपाद्य विषय है यज्ञविद्या। यह यज्ञविद्या नित्ययज्ञविद्या, वैधयज्ञविद्या, भेद से दो प्रकार की है। प्राकृतिक तत्त्वों के पारस्परिक अन्तर्य्याम सम्बन्ध से उत्पन्न, आदान–विसर्ग- क्रियात्मक नित्यभाव नित्य–यज्ञात्मक है। पुरुषप्रयत्नसाध्य अग्निहोत्रादि जितनें यज्ञकर्म्म सुने जाते हैं, वे सब प्रकृति में हो रहे हैं। इसी आधार पर **'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्'** (शत०)इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं। **'अन्नोर्क प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः'–'वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः'** (ऐतरेयआ०) यही नित्य यज्ञ के प्रसिद्ध लक्षण हैं, जिनका **'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः'** इस लक्षण पर पर्य्यवसान माना जा सकता है। **'अग्नीषोमात्मकं जगत्'** इस बृहज्जबालसिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व अग्नीसोमात्मक बनता हुआ यज्ञात्मक है, जिसका मन्त्रकृत्-ऋषि **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्'** इन शब्दों में अभिनय किया करते हैं। इसी प्राकृतिक नित्ययज्ञ के सम्बन्ध से ब्रह्मविज्ञानात्मक ईश्वरप्रजापति 'यज्ञप्रजापति' स्वरूप में परिणित हो रहा है, जिसका विश्वरूप से हम साक्षात्कार कर रहे हैं। जब तक नित्ययज्ञ है, तभी तक विश्वस्वरूप सुरक्षित है।

उक्त प्राकृतिक यज्ञसम्पत्ति से विश्व का कोई भी जड़–चेतन पदार्थ वञ्चित नहीं है। सब में आदान-विसर्गात्मिका नित्ययज्ञप्रक्रिया प्रवाहित है। सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, नक्षत्र, ग्रह मनुष्य, पशु, पक्षी, ओषधि, वनस्पति, कृमि, कीट, आदि सब त्र्यक्षरमूर्त्ति (ब्रह्मेन्द्रविष्णुमूर्त्ति) अन्तर्य्यामी की प्रेरणा से द्व्यक्षरमूर्त्ति (अग्नीषोममूर्त्ति) सूत्रात्मा के आधार पर स्व स्व यज्ञ के यजमान बन रहे हैं। वैधयज्ञ में होता आदि ऋत्विक् सम्पति, गार्हपत्याग्नि आदि अग्निसम्पति,इत्यादि जो जो साधन-सामग्रियाँ होतीं हैं, उस सबका स्व–स्व–स्वरूपसंस्थानानुपात से इन प्राकृतिक यज्ञों में भी समावेश है। यही क्यों, वहाँ (प्रकृति) जैसा है, वैसा ही तो यहाँ होता है।

प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में प्रकृतसूत्रसमन्वयकर्त्ता व्याख्याताओं के उस **'उन्मत्त–बालप्रलाप'** हेतु की भी परीक्षा कर डालिए। **'वनस्पतयः सत्रमासत'** इत्यादि वेदवचनों को व्याख्याता लोग इसलिए उन्मत्त-

---

***—यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।**
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥ (छान्दोग्य०)

प्रलाप बतलाते हैं कि, उनकी दृष्टि में सर्वथा जड़ वनस्पतियाँ यज्ञ करने में असमर्थ हैं। आगे जाकर सूत्रार्थ करते हुए व्याख्याता कहते हैं कि–'**स्तुतयो ह्येताः सत्रस्य। वनस्पतयो नामाचेतना इदं सत्रमुपासितवन्तः, किंपुनर्विद्वांसो ब्राह्मणाः' (शाबरभाष्य १।१।३२)**। व्याख्याता प्राकृतिक यज्ञस्वरूप से अपरिचित रहे होंगे, यह कहना तो धृष्टता मानी जायगी। हाँ इन वाक्यों को स्तुतिपरक बतलाना सर्वथा मीमांस्य है, यह कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। वनस्पतियों मे भी अवश्य ही सत्र हो रहा है। तत्तद् वनस्पतिविशेषों में यज्ञातिशय का तारतम्य है, जैसाकि '**ते हि यज्ञियाः**' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। श्रुति सत्र की महत्ता नहीं बतला रही, अपितु वनस्पतियों में प्रतिष्ठित प्राकृतिक नित्ययज्ञ का विश्लेषण कर रही है। ऐसी दशा में आरम्भ में इसे उन्मत्त प्रलापस्थानीय मानते हुए वेद की अप्रामाणिकता का उत्थान करना, अन्त में स्तुतिपरक मानते हुए प्रामाण्यसमर्थन करना, सभी कुछ बड़ों की बड़ी बातें हैं।

हाँ, तो हम कह रहे थे कि, प्राकृतिक विश्व में प्राकृतिक देवताओं के द्वारा सञ्चालित, विश्वस्वरूपसंरक्षक विश्वरूपात्मक यज्ञ ही नित्ययज्ञ है। यह नित्ययज्ञ उसी नित्य ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित है, जिस ब्रह्मविद्या को 'त्रयीविद्या' भी कहा जाता है। एवं जिसे–'**सैषा त्रयीविद्या यज्ञः**'(शत०ब्रा०)–'**त्रयी वा एषा विद्या–तपति**'(शत०ब्रा०) इत्यादि रूप से यज्ञात्मक बतलाया गया है। ब्रह्मविद्या के आधार पर वितत इस नित्य–यज्ञविद्या का आर्षमहर्षियों नें अपनी आर्षदृष्टि से साक्षात्कार किया। इस साक्षात्कृति से उन्होंनें इस यज्ञकर्म्म का आविष्कार कर डाला, जो आज 'वैधयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है, जिसका वेदवित् विद्वान् अनुष्ठान किया करते हैं। यही वैधयज्ञकर्म्म अनित्य यज्ञविद्या है। हमारे वेदशास्त्र में नित्य ब्रह्मविद्या का, नित्य यज्ञविद्या के साथ–साथ इस वैधयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता का भी प्रतिपादन हुआ है। प्रावाहणि, औद्दालकि, आदि अनित्य अर्थों का इसी वैधयज्ञकर्म्म के साथ सम्बन्ध है।

तात्पर्य्य कहने का यही है कि, अकृतक (नित्य) के साथ कृतक (अनित्य) का सम्बन्ध नहीं हो सकता। फलतः अकृतक ब्रह्म–यज्ञविद्याओं के साथ कृतक औद्दालकि, प्रावाहणि, आदि व्यक्तियों का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु इनका प्रसङ्ग कृतक यज्ञकर्म्म (वैधयज्ञकर्म्म) के साथ ही घटित है। सूत्रकार कहते हैं कि, हम मानते हैं कि औद्दालकि आदि अनित्य व्यक्तियों का वेद में उल्लेख है। परन्तु इनका कृतकयज्ञ में विनियोग है। क्योंकि अनित्य वैधयज्ञकर्म्म के साथ ही इन अनित्य व्यक्तियों का सम्बन्ध घटित है। फलतः उस नित्य ब्रह्म–यज्ञविद्यात्मक, तथा कृतकयज्ञप्रमाणात्मक वेद का वेदत्व तथा नित्यत्व सर्वथा अक्षुण्ण बना रह जाता है। अनित्य यज्ञ से सम्बद्ध अनित्य अर्थों का दर्शन नित्य ब्रह्म–यज्ञप्रतिपादक नित्य वेदशास्त्र की नित्यता, तथा प्रामाणिकता का विघातक नहीं बन सकता, यही निष्कर्ष है, जिसका–'**कृते वा विनियोगः स्यात्, कर्म्मणः सम्बन्धात्**' इस सूत्र से स्पष्टीकरण हो रहा है।

अब इस सम्बन्ध में यही वक्तव्य शेष रह जाता है कि, प्रयोगलक्षण शब्द सर्वथा अनित्य है। तद्रूप शास्त्रोपदेशलक्षण वेद भी अनित्य है। किन्तु वाक्–लक्षण शब्द सर्वथा नित्य है, एवं विद्यालक्षण वेद भी सर्वथा नित्य है। स्पष्ट शब्दों में हमें यह कह देना चाहिए कि, तत्त्वात्मक वेद सर्वथा अकृतक, नित्य, कूटस्थ, अपौरुषेय है, जिसका मीमांसाशास्त्र ने समर्थन किया है। एवं तत्त्वप्रतिपादकात्मक, प्रयोगशब्दात्मक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र कृतक है, अनित्य है, पौरुषेय है। वेदशास्त्र वेद की पुस्तक है, न कि वेद। वेद

वह नित्य तत्त्व है, जो इस पुस्तकद्वारा प्रतिपादित है । ऐसी अवस्था में **'क्या उपनिषत् वेद है ?,** इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना न्यायसङ्गत प्रतीत होता है कि, उपनिषत् ही क्या, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्–ग्रन्थ, चारों ही वेद नहीं हैं, अपितु वेदग्रन्थ हैं । अवश्य ही यह कथन धार्म्मिकजगत् के प्रचलित अन्ध–श्रद्धा विश्वास के विपरीत जाता हुआ उसके आत्यत्यन्तिक क्षोभ का कारण है । परन्तु सत्यरक्षा के नाते इस क्षोभ को ही हम अपने लिए 'इष्टापत्ति' समझ रहे हैं ।

१२–सिंहावलोकन—

पाठकों को स्मरण होगा कि, खण्डत्रयात्मक भूमिकाग्रन्थ के प्रथमखण्ड में **'क्या उपनिषत् वेद है ?,** इस चतुर्थ प्रश्न की मीमांसा आरम्भ हुई थी । मङ्गलरहस्यानन्तर इस प्रकरण को आरम्भ करते हुए यह स्पष्ट किया गया था कि,—**"उपलब्ध अनुपलब्ध संहिताग्रन्थ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, उपनिषद्ग्रन्थ, ये चारों हीं वेद नहीं है । ऐसी अवस्था में प्रकृत प्रश्न के सम्बन्ध में भी हम निःसंदिग्ध होकर कह सकते हैं कि, उपनिषत् वेद नहीं हैं"** (देखिए उ० भूमिका १ खण्ड प्रकरण प्राप्त पृ० सं० १, पूर्वतोऽनुवृत्ता पृ० सं० ५५–)

आगे जाकर उसी प्रथमखण्ड में प्रचलित श्रद्धा–विश्वास की मीमांसा करते हुए प्रकृत प्रश्नमीमांसा की आवश्यकता सिद्ध की गई । अनन्तर **'वेद पौरुषेय हैं ?, अथवा अपौरुषेय ?'** इस प्रश्न के सम्बन्ध में दार्शनिकों के ४२ मतवादों की मीमांसा की गई । अनन्तर खण्डसमाप्ति–पर्य्यन्त वैज्ञानिक दृष्टि को मूल मानते हुए तात्त्विक वेद के १७ विवर्त्तों का क्रमशः स्पष्टीकरण किया गया । इसप्रकार भूमिका प्रथमखण्ड में (१०० पृष्ठात्मक) **१—प्रारम्भिक निवेदन,** (४० पृष्ठात्मक)–**२–उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?,** (७० पृष्ठात्मक)–**३–"उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है ?"** इन तीन प्रतिज्ञात विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए क्रमप्राप्त **'क्या उपनिषत् वेद है ?'** इस चतुर्थ प्रश्न के सम्बन्ध में २५० पृष्ठों में क्रमशः **प्रश्नमीमांसावश्यकता, दार्शनिकमतवाद, तात्त्विकवेदनिरुक्ति,** इन तीन विषयों का प्रतिपादन हुआ । इसप्रकार प्रतिज्ञात आरम्भ के ३ प्रश्नों का सर्वात्मना निरूपण करता हुआ, तथा चतुर्थ प्रश्न के सम्बन्ध में उक्त तीन विषयों का स्पष्टीकरण करता हुआ लगभग ५०० पृष्ठों में भूमिका प्रथमखण्ड समाप्त हुआ ।

५०० पृष्ठात्मक भूमिका द्वितीयखण्ड में प्रतिज्ञात उसी चतुर्थ प्रश्न के सम्बन्ध में वेद की पौरुषेयता, अपौरुषेयता की मीमांसा हुई । जिस वेदतत्त्व का वेदग्रन्थों में निरूपण है, जो वेदतत्त्व व्याख्यादोष से विलुप्त हो गया है, उसके स्पष्टीकरण के लिए हमें महाविस्तार का आश्रय लेना पड़ा । और अपौरुषेय–तात्त्विकवेद–स्वरूपपरिचय के सम्बन्ध में द्वितीयखण्ड में निम्नलिखित विषयों का वैज्ञानिक विवेचन हुआ—

१—वेद का मौलिकस्वरूप	**४—अपौरुषेय वेद का तात्त्विक इतिवृत्त**
२—तात्त्विकवेद, और प्रमाणवाद	**५—छन्दोवितान–रसलक्षणा वेदत्रयी**
३—प्राजापत्यवेदमहिमा	**६—अग्निविकासरहस्य और वेदशाखाविभाग**

प्रस्तुत भूमिका–तृतीयखण्ड पाठकों के सम्मुख है। इसमें आरम्भ में प्रथमखण्ड से अनुवृत्त उसी 'क्या उपनिषत् वेद है ?' इस चौथे प्रश्न की मीमांसा प्रक्रान्त है। इसके अनन्तर प्रतिज्ञात अन्य विषयों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जायगा। इस सिंहावलोकन से पाठकों को विषय–समन्वय में विशेष सुविधा रहेगी, एकमात्र इसी लक्ष्य से यह सिंहावलोकन प्रस्तुत हुआ है।

१३–वेदशास्त्र, और हमारा प्रचलित दृष्टिकोण—

तात्त्विक वेदस्वरूप को यथावत् हृदयङ्गम कर लेने के पश्चात् हमें असंदिग्धरूप से यह स्वीकार कर लेना पड़ता है कि, जिसे आर्षप्रजा ब्रह्म का निश्वास कहती है, जिसके ब्रह्मनिःश्वसित, गायत्रीमात्रिक, यज्ञमात्रिक, आदि अनेक विवर्त्त हैं, जिसके छन्द, वितान, रसात्मक, तीन विवर्त्त प्रधान माने गए हैं, जो सम्पूर्ण विश्व, विश्वप्रजा, प्रजाकर्म्म, की मूलप्रतिष्ठा है, मूलप्रभव है, ऋण–धन भाव से जिसके २१–१०१–१०००–६ विभाग हैं, वह तात्त्विक वेद अवश्य ही अपौरुषेय है। इस अपौरुषेय, नित्य, तात्त्विक वेद की दृष्टि से मूलवेद-चतुष्टयी, तूलवेदत्रयी, दोनों हीं अपौरुषेय हैं, नित्य हैं। ऋक्–यजुः साम–अथर्व–तत्त्वसमष्टि मूलवेदचतुष्टयी है। कर्म्मानुगत ब्राह्मण, उभयानुगत आरण्यक, ज्ञानानुगत उपनिषत्–तत्त्वसमष्टि तूलवेदत्रयी है। इस तात्त्विक, मन्त्रब्राह्मणात्मक, अपौरुषेयवेददृष्टि से यदि हमारे सामने **'क्या उपनिषत् वेद है ?,** यह प्रश्न उपस्थित होगा, तो हम निःसन्दिग्धरूप से कहेंगे **'उपनिषत् अवश्य ही वेद है'।**

यदि उपनिषल्लक्षण तात्त्विकवेद का स्पष्टीकरण करने वाले उपनिषद्ग्रन्थों की दृष्टि से हम से **'क्या उपनिषत् वेद है ?'** यह प्रश्न किया जायगा, तो हमें कहना पड़ेगा कि, **'उपनिषत् वेद नहीं है'।** यदि **'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यन्याय'** की दृष्टि से उपनिषद्ग्रन्थ के सम्बन्ध में हम से उक्त प्रश्न किया जायगा, तो हम कहेंगे–संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, चारों हीं वेद हैं। अतएव 'उपनिषत् अवश्य ही वेद है'। इस प्रकार दृष्टिभेद से प्रश्न के तीन समाधान हो जाते हैं। समाधान–विवर्त्तों को थोड़ी देर के लिए यहीं छोड़ते हुए प्रचलित श्रद्धा–विश्वासानुगता वेदभक्ति का विचार कर लेना भी सामयिक ही माना जायगा।

इस में कोई सन्देह नहीं कि, भगवान् जैमिनि ने शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध बतलाते हुए, शब्दों की नित्यता स्थापित करते हुए वेद की कूटस्थ-नित्यता, तथा अपौरुषेयता का समर्थन किया है। परन्तु साथ ही इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि, जैमिनि के इस अपौरुषेयवाद की तात्त्विक वेदविद्या, एवं तद्वाचक वाक्-लक्षण नित्यवेद ही मुख्य आधारभूमि है। और यह भी निर्विवाद है कि, जिन व्याख्याताओं नें मीमांसा–सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित जिन प्रयोगात्मक अनित्य शब्दों की नित्यता का समर्थन करते हुए प्रयोगात्मक वेदशास्त्र को अपौरुषेय बतलाया है, वह व्याख्याताओं का ऐकान्तिक प्रौढ़िवादमात्र है। सर्वान्त में यह भी निःसंदिग्ध है कि, साम्प्रदायिक युग के अनुग्रह से पुष्पित–पल्लवित होने वाले सन्तमत का अनुयायी आज का भारतवर्ष अनुचित भक्तिवाद का पोषक बनता हुआ अपना प्रतिभाविकास सर्वथा खो चुका है। किसी ने संस्कृतभाषा में कुछ कह दिया, बस वही हम मन्दबुद्धियों के लिए आप्त-प्रमाण बन गया। आज भारतीयशास्त्र बुद्धिक्षेत्र से सर्वथा अगम्य बन चुका है। हम अपनी ओर से विचार करना ब्रह्महत्या से भी बड़ा पाप समझ बैठे हैं। इसी अन्धविश्वास का यह दुष्परिणाम है कि, आज भारतीय विद्वान् तत्त्वान्वेषणकार्य्य से सर्वथा पराङ्मुख बन रहे

हैं । व्याख्याताओंनें जो कुछ कह दिया, वह इनके लिए ब्रह्मवाक्य है । फिर चाहे व्याख्याताओं की व्याख्याएँ तत्त्ववाद से कोई सम्बन्ध न रखतीं हों ।

हम दोष दिया करते हैं पश्चिमी विद्वानों की बाह्यसमालोचनात्मिका बाह्यवृत्ति को । और कहा करते हैं उनके सम्बन्ध में यह कि, पश्चिमीविद्वान् ग्रन्थ के अन्तरङ्ग-विषय पर दृष्टि नहीं डालते । दूसरे शब्दों में ग्रन्थ में किन विषयों का निरूपण है, इस सम्बन्ध में वे कोई विचार न कर, ग्रन्थ कब बना ?, किसने बनाया ?, तत्कालीन भौगोलिक, ऐतिहासिक स्थिति कैसी थी ?, इत्यादि बहिरङ्गपरीक्षाओं में हीं उनका स्वाध्यायकर्म्म (रिसर्चवर्क्) समाप्त हो जाता है । परन्तु दोष देने वाले भारतीय विद्वानों से हम पूँछते हैं कि, व्याकरण–न्यायादि अर्वाचीन ग्रन्थों को छोड़ कर अपने सर्वस्वभूत वैदिक-साहित्य का उन्होंनें अन्तरङ्गदृष्टि से कौनसा, कितना विचार किया ? । वेदों में किन किन तात्त्विक विद्याओं का निरूपण है ?, क्या हमनें कभी भूल कर भी इस दिशा में कोई प्रयास किया ? । बस केवल एक, हाँ एकमात्र यही हमारा परम पुरुषार्थ बन रहा है कि, 'वेद अपौरुषेय है' इस कल्पना को सुरक्षित रखने के लिए अपना सम्पूर्ण प्रतिभा-बल समाप्त करते रहना । मानलीजिए वेदशास्त्र अपौरुषेय है, सर्वविद्यानिधि है । यह भी मान लिया कि, आपने व्यर्थ के शब्दाडम्बर का आश्रय लेते हुए युक्तियों से दूसरों को इसकी अपौरुषेयता का लोहा भी मनवा दिया । परन्तु एतावता आपने स्वयं तो क्या पुरुषार्थसिद्धि कर ली, और दूसरों का कौनसा उपकार कर डाला ? जबतक वेदप्रतिपादित तत्त्वों का प्रचार-प्रसार नहीं हो जाता, तबतक आपका यह अपौरुषेय वेदशास्त्र पाषाणप्रतिमावत् दूर से ही प्रणम्य है । कहने की इच्छा न रहते हुए भी कहना पड़ रहा है कि, इस अपौरुषेयवाद–भ्रान्तिने हीं हमें अपने इस तात्त्विक साहित्यज्ञान से वञ्चित किया है । ईश्वर की वाणी, और उसे हम समझलें–असम्भव, इसी महा-बिभीषिकाने हमारे इस अन्तरात्म-स्थानीय वैदिक साहित्य को हमसे पृथक् करते हुए हमें निर्जीव बना डाला है ।

१४–वेदप्रामाण्यरक्षा, और प्राचीन व्याख्याता—

व्याख्याताओं नें तथा तदनुगामी भक्तों ने क्यों ऐसा किया ?, वेदकी अपौरुषेयता के सम्बन्ध में शक्ति-समर्पण क्यों किया ?, इसका एकमात्र कारण है–'वेदप्रामाण्यरक्षा' । व्याख्याताओं का यह विश्वास रहा है कि, मनुष्य की रचना भ्रान्ति से शून्य नहीं रह सकती । फलतः मनुष्यरचित ग्रन्थ कभी धर्म्म में निरपेक्ष प्रमाण नहीं बन सकता । यदि वेद को भी पौरुषेय मान लिया जायगा, तो यह निरपेक्ष प्रमाण न रहेगा । वेद अपौ-रुषेय है, ईश्वर का निःश्वास है, ईश्वर भ्रान्ति से रहित है, अतएव तन्निःश्वासरूप वेद भी निर्भ्रान्त प्रमाण है । अपने इस प्रामाण्यवाद की रक्षा के लिए व्याख्याताओं नें जब वेद को अपौरुषेय मान लिया, तो इनके सामने कई एक विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित हो पड़ीं । जिनमें मुख्य स्थान लोकवृत्तलक्षण इतिवृत्त (इतिहास) का है । वेद अपौरुषेय है, इसीलिए उसमें 'इतिहास' नहीं है । मानवसृष्टि उत्तरभाविनी है, वेद ईश्वरकृत है । भला उसमें मनुष्य चरित्र का समावेश कैसे सम्भव है ?

कैसा आश्चर्य ! 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' से प्रवहणशील वायु का ग्रहण, इतिहासप्रसिद्ध बबर का कोई मूल्य नहीं । व्याख्याताने 'बबरः प्रावाहणिः' का तो अपनी कल्पित अपौरुषेयता की रक्षा के लिए 'यश्च प्रवाहणिरिति तन्न०' यह कल्पित समाधान कर डाला, परन्तु अपने उठाए हुए पूर्वपक्षभाष्य के **'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत'** वाक्य का कोई समाधान न किया । सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि के पुत्र

कुसुरुविन्द नामक पुरुषविशेष का अनुकरण शब्द उन्हें न मिल सका। 'मानवेतिवृत्त के स्वीकार करने से वेद का सादित्व सिद्ध हो जायगा' यह कैसा शून्य तर्काभास है, इसका विचार विज्ञ पाठकों को ही करना चाहिए *।

थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, वेदशास्त्र अपौरुषेय भी है, और इसमें इतिहास भी है। सूर्य-चन्द्र-पृथिवी-आदि प्राकृतिक सृष्टियाँ ईश्वर से पीछे हुईं हैं, यह सभी स्वीकार करेंगे। यदि उत्तरभावी इन सृष्टिविवर्तों के निरूपण के रहते भी ईश्वरीय वेद का अपौरुषेयत्त्व सुरक्षित है, तो उत्तरभावी मानवसृष्टि-विवर्त्त के निरूपण से अपौरुषेयत्त्व पर कौनसी आपत्ति आगई ?। त्रिकालज्ञ ईश्वर क्या आगे होने वाले मानवविवर्त्तों से अपरिचित था ? अस्तु, वेदों में इतिहास है ?, अथवा नहीं ?, यह एक स्वतन्त्र विषय हैं, जिसका **'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्त्वम्'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से निरूपण हुआ है। अभी तो हमारा मुख्य लक्ष्य 'वेदापौरुषेयत्त्व-पौरुषेयत्त्व' विषय ही बन रहा है, जिसके सम्बन्ध में यही निश्चित सिद्धान्त है कि, प्रयोगलक्षण अनित्य शब्दात्मक वेदग्रन्थ अवश्य ही कृतक, अनित्य, तथा पौरुषेय है।

"मीमांसासिद्धान्त को लक्ष्य बनाते हुए शब्दनित्यता स्वीकार की जा सकती है। और माना जा सकता है कि, 'अ-आ-क-च-ट-त-पादि वर्ण उत्पन्न नहीं होते, अपितु इनकी अभिव्यक्ति होती है। मिट्टी से घट का निर्म्माण करना घटोत्पत्ति है, एवं अन्धेरे में पहिले से रक्खे घट को दीपादि प्रकाश से पा लेना घट की अभिव्यक्ति है। कण्ठ-तात्वादि प्रयत्नों से वर्ण अभिव्यक्तमात्र होते हैं, अतएव वर्ण अपौरुषेय हैं। जब वर्ण अपौरुषेय हैं, तो वर्णात्मक शब्द भी अपौरुषेय ही मानें जायँगे" क्या इस तर्क का कुछ महत्त्व है ?

इस दृष्टि से तो कोई भी वस्तु 'उत्पन्न' नहीं कही जा सकती। क्योंकि सत्कार्य्यवादसिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न वस्तुमात्र बीजरूप से पहिले से ही अपने उपादानकारण में प्रतिष्ठित रहती है, जिसका **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। शुक्र-शोणित के मिथुनभाव से उत्पन्न प्रजा बीजरूप से पहिले से ही वहाँ प्रतिष्ठित है। दधि से उत्पन्न घृत पहिले से ही दधि में प्रतिष्ठित है। नहीं तो, पानी से घृत क्यों नही निकाल लिया जाता ?। और इस दृष्टि से वर्ण, तत्समूहात्मक शब्द ही क्या, सम्पूर्ण पदार्थ अभिव्यक्तिकोटि में आते हुए अपौरुषेय हैं। यदि तर्कवादी महोदय वेदों की ऐसी अपौरुषेयता स्वीकार करते हैं, तो इष्टापत्ति है। वादी को स्मरण रखना चाहिए कि, मीमांसा का शब्दनित्यत्त्ववाद वाक्-लक्षण नित्यशब्द से ही सम्बद्ध है, जिसके आधार पर तद्रूप वेद ही अपौरुषेय माना जा सकता है, न कि प्रयोगशब्दात्मक वेदग्रन्थ।

---

*—"यच्च प्रावाहणिरिति, तन्न। प्रवाहणस्य पुरुषस्यासिद्धत्त्वात्। न प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणिः। प्र शब्दः प्रकर्षे सिद्धः, वहतिश्च प्रापणे। नत्वस्य समुदायः कश्चित् सिद्धः। इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धस्तथा क्रियायामपि कर्त्तरि। तस्माद्यः प्रवाहयति, स प्रवाहणिः। 'बबरः' इति शब्दानुकृतिः। तेन यो नित्योऽर्थः, तमेवैतौ शब्दौ वदिष्यतः। अत उक्तं, 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्र'मिति" (शाबरभाष्य १।१।३१)।

अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए वादी के अभिव्यक्तित्वपक्ष को स्वीकार करते हुए हम वर्ण, एवं तत्समूहात्मक शब्दों को अपौरुषेय मान लेते हैं। और मान लेते हैं यह कि, शब्दनिर्म्माण करना मनुष्यशक्ति के बाहिर है। कण्ठ–ताल्वादि प्रयत्न से नित्य विद्यमान शब्दों की अभिव्यक्तिमात्र होती है। यदि ऐसा है, तो वेद ही क्या, विश्व का समस्त साहित्य अपौरुषेय क्यों नहीं ? हिन्दीबालबोध भी अपौरुषेय क्यों नहीं ? उक्त विप्रतिपत्ति का यदि यह समाधान किया जाता है कि, "यद्यपि वर्ण तो अपौरुषेय ही हैं, परन्तु इनके पूर्वापरसन्निवेश से शब्दों का, शब्दों से वाक्यों का स्वरूपनिर्म्माण पुरुष–प्रयत्नाधीन है। एवमेव शब्दों, वाक्यों का स्व–स्व–विशेष अर्थों का जो सम्बन्ध है, वह भी पुरुषप्रयत्नरूप संकेत से पौरुषेय है। देशभेद, जातिभेद से शब्दार्थसंकेत परस्पर विभिन्न हैं। यह भी सिद्ध विषय है कि, ये संकेत समयानुसार बदलते भी रहते हैं। इसप्रकार वर्णों के अपौरुषेय होने पर भी शब्द वाक्यादि रचना के, तथा अर्थसंकेत के पौरुषेय होने से कालिदासादि की कृतियों को पौरुषेय ही माना जायगा"।

तो हम कहेंगे कि, वर्ण भी अनित्य हैं। शब्दरचना–अर्थसकेत पुरुषप्रयत्नसाध्य होने से ही तो आपके मतानुसार पौरुषेय हैं। उधर आप यह कह रहे हैं कि, कण्ठ–ताल्वादि प्रयत्न से वर्णाभिव्यक्ति होती है। उत्पत्ति न सही, अभिव्यक्ति ही सही, परन्तु अभिव्यक्तिसाधक व्यापार तो पुरुष का है। फिर वर्ण अपौरुषेय कैसे रहे ? 'शब्दरचना, अर्थसंकेत तो पुरुष का व्यापार है, कण्ठ-ताल्वाद्यभिघात पुरुष का व्यापार नहीं है' क्या किसी युक्ति से आप यह सिद्ध कर सकेंगे ? । थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, वर्ण अपौरुषेय हैं, पद–वाक्यादि पौरुषेय हैं। यदि यह मान भी लिया जाता है, तब भी आप वेदों का अपौरुषेयत्त्व सुरक्षित नहीं रख सकते। क्या वेदमन्त्रों में पद–वाक्य नहीं है ?। यदि हैं, तो रघुवंशादिवत् ये भी पौरुषेय क्यों नहीं ?। उत्तर दीजिए !

यहाँ आकर जब वादी के सब प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं, तो वह एकमात्र अपनी अन्धःश्रद्धा का अनुगमन करता हुआ कहने लगता है कि, रघुवंशादि के पद–वाक्य तो पुरुषप्रयत्नाधीन होने से पौरुषेय हैं। किन्तु वेदमन्त्रों के पद–वाक्य, पद–वाक्यार्थ, सभी अपौरुषेय हैं। '**अग्निमीले पुरोहितं, होतारं रत्नधातमम्। यज्ञस्य देवमृत्त्विजम्**' यह मन्त्र अनादिकाल से ज्यों का त्यों चला आ रहा है। ऋषिगण तपोबल से इस अनादिसिद्ध मन्त्र को देख कर इसे अभिव्यक्तमात्र कर देते हैं। ऋषिगण मन्त्रों के द्रष्टा हैं, कर्त्ता नहीं। तभी तो '**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**' यह कहा गया है।

१५–मन्त्रद्रष्टारः, और मन्त्रकृतः—

कौन कहता है कि–'मन्त्रद्रष्टारः' इस यास्कवचन को हम प्रमाण नहीं मानते ?, और कौन कहता है कि, वेद अपौरुषेय नहीं है ?। अवश्य ही ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा हैं, कर्त्ता नहीं। अतएव अवश्य ही वेद अपौरुषेय हैं। परन्तु कौन से मन्त्र ?, कौनसे वेद ?, तत्त्वात्मक मन्त्र, तत्त्वात्मक वेद। ऋग्–यजुः-सामा–थर्वलक्षण तत्त्वमन्त्र अनादि हैं, तत्समष्टिरूप तत्त्ववेद भी अनादि हैं। अवश्य ही ऋषिगण इनके द्रष्टामात्र हैं। परन्तु इस तत्त्वात्मिका वेदविद्याका स्पष्टीकरण करने वाले प्रयोगशब्दात्मक वेदग्रन्थ कभी अपौरुषेय नहीं हो सकते। ऋषियों नें तपोबल से तत्त्वात्मक वेदमन्त्रों को देखा, तदनुरूप अपनी भाषा में वेदमन्त्रों की रचना की। '**बुद्धिपूर्वा–वाक्यकृतिर्वेदे**' यह वैशेषिक सिद्धान्त इस वेदकृतकता, तथा पौरुषेयता का ही समर्थन कर रहा है। और

सम्भवतः आस्तिकसमाज यास्क की भाँति भगवान् कणाद के वचनों पर भी कम निष्ठा नहीं रखता। तत्त्ववेद की अपौरुषेयता, शब्दवेद की पौरुषेयता स्वीकार कर लेने से जहाँ जैमिनि, यास्क, कणादादि आप्त पुरुषों के सिद्धान्तों का यथावत् निर्विरोध समन्वय हो जाता है, वहाँ शब्दात्मक वेद की अपौरुषेयता स्वीकार करने से अथ से इतिपर्य्यन्त पारस्परिक विरोध का साम्राज्य हो रहा है* ।

यह स्मरण रखने की बात है कि, वेदमहर्षियों को स्वयं वेदमन्त्रों में अनेक स्थानों पर 'कवि' शब्द से सम्बोधित किया गया है। कवि शब्द ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, वेद उन क्रान्तिदर्शी कवियों का

---

*—महर्षि कणाद ने अपने सुप्रसिद्ध 'वैशेषिक दर्शन' में विस्पष्ट शब्दों में प्रयोगशब्दात्मक वेदग्रन्थ का ऋषिकृतत्त्व स्थापित करते हुए सहजसिद्धा (प्रकृतिसिद्धा) मानवीय बुद्धिनिष्ठा का ही परिचय दिया है । "**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिः**' द्वारा कणाद ने स्पष्ट ही वेदग्रन्थ का ऋषिकृतत्त्व प्रमाणित किया है । वेदग्रन्थों में प्रकृति के सञ्चालक आधिदैविकभावापन्न प्राणात्मक **अग्नि-वायु-आदित्य-रुद्र-इन्द्र-मित्र-वरुण-अर्य्यमा-भग-पूषा**-आदि आदि देवताओं की यथास्थान-यथाकर्म्म स्तुतियाँ हुई हैं, यशोगान हुआ है । प्राकृतिक प्राणशक्तिरूप देवता उक्थरूप विश्वाध्यक्ष विश्वेश्वर की अर्करूपा शक्तियाँ हैं। "सर्वप्राणशक्त्यधिष्ठाता विश्वेश्वर '**अग्निमीले पुरोहितम्**' (हम पुरोहित अग्नि की स्तुति कर रहे हैं) इस प्रकार प्ररोचनात्मक वाक्य-माध्यम से स्वशक्तिभूत अग्न्यादि की स्तुति करते हुए तन्माध्यम से अग्न्यादि को प्रसन्न करने के लिए आतुर हैं", क्या ईश्वरसत्ता के प्रति यत्किञ्चित् भी आस्था-श्रद्धा रखने वाले किसी भी प्रज्ञाशील का प्रज्ञातन्त्र ऐसा स्वीकार कर सकता है ? । कदापि नहीं। कथमपि नहीं। '**तस्माद्धान्यो न परः किञ्चनास**' से सर्वश्रेष्ठ सर्वज्यायान् प्रमाणित ईश्वर अपनीं शक्तियों की किसी लाभकामना से स्तुति करेंगे, और ईश्वर की स्तुति से प्रसन्न होकर अग्न्यादि देवता ईश्वर में किसी वैशिष्ट्य का आधान करेंगे, क्या यही अभिप्रेत है उन अर्वाचीन आस्तिकम्मन्यों को, जो इत्थंभूत वेदशास्त्र को ईश्वर के द्वारा ही निर्म्मित मानने के दम्भ से अभिनिविष्ट बने हुए हैं ?। आलम्यालम् ! ! !

भगवान् जैमिनि, कणाद, आदि आप्त पुरुषों में हीं क्या परस्पर वैमत्य है । यदि हाँ, तो तटस्थ जिज्ञासु आस्तिक के लिए दोनों हीं दूर से ही प्रणम्य है। ऐसी स्थिति में वेद के सम्बन्ध में परस्पर विरूद्ध दृष्टिकोण रखने वाले कणाद-जैमिनि आदि की भगवत्ता का क्या कोई मूल्य शेष रह जाता है ? । '**ब्राह्मणे संज्ञाकर्म्म सिद्धिलिङ्गम्**',-इत्यादि कणादसूत्र भी मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दवेद का कृतत्त्व ही प्रमाणित कर रहे हैं। "**अथापि खल्वियं बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे । न त्वनादिरियं वेदराशिरिति । कुत एतत प्रतिपत्तव्यम् ? । प्रयत्नकार्य्यत्वाद्वचनस्य, वाक्यान्तरवत् । यथा खलु वाक्यान्तराणि (लौकिकानि) प्रयत्नकार्य्याणि, तथा वैदिकमपि वाक्यं प्रयत्नकार्य्यम् । नत्त्वनादिर्वेदराशिः । न खलु पौर्वापर्य्यभावोऽप्यनादिर्भवितुमर्हति**" इत्यादि चन्द्रकान्तीय कणादभाष्यवचन के द्वारा भी प्रयोगशब्दराशिभूत शब्दात्मक वेदग्रन्थ का ऋषिकृतत्त्व ही प्रमाणित हो रहा है, जो कि प्रमाणन सर्वथा बुद्धिसङ्गत ही माना जायगा ।

तत्त्वप्रदर्शक अपूर्व काव्य है। *। युग युग के अन्त में वेदज्ञान विलुप्त होता रहता है, पुनः युग-युग के आरम्भ में ऋषिगण अन्य-अन्य वेदों की रचना किया करते हैं, जैसाकि तत्द्विशेषवचनों से प्रमाणित है A।

अब हमें कुछ एक उन शास्त्रीय वचनों का समन्वय करना है, जो स्पष्ट शब्दों में वेदमन्त्रों का कृतकत्व प्रमाणित कर रहे हैं। सर्वप्रथम पुराणवचनों की मीमांसा करते हुए हमें इसी तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, वेदमन्त्र तत्तत्–ऋषिविशेषोंके द्वारा समयविशेष में रचे गए हैं। अतएव पुराण ने उन्हें 'मन्त्रकृतः' कहा है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

एते मन्त्रकृतः सर्वे कृत्स्नशस्तु निबोधत ॥
भृगुः काश्यः प्रचेताश्च दधीचोह्यात्मवानपि ॥१॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या ऋषिपुत्रास्तथा स्मृताः।
ऋषीणाश्च सुता ह्येते ऋषिपुत्राः श्रुतर्षयः ॥

—मत्स्यपुराण १२१ अ०।

स्वयं ऋषि शब्द की व्याख्या भी इस सम्बन्ध में दृढतम प्रमाण बन रही है। भूमिका द्वितीयखण्ड में ऋषिशब्द का विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि, प्रकृत विषय के समन्वय के लिए वे एकबार उस प्रकरण पर अवश्य दृष्टि डालने का अनुग्रह करेंगे। 'वेद का ऋषिपदार्थ' एतन्नामक प्रकरण से पहिले—**'वेदविद्या के संस्थाविभाग'** नामक प्रकरण का समावेश है। उसमें मन्त्रार्थपरिज्ञान, मन्त्रार्थपरिज्ञानपूर्वक अक्षरज्ञान, तत्त्वसाक्षात्कार, तत्त्वाधान, सर्वतत्त्वाधान, भेद से वेदविद्या की मन्त्रविद्या, अक्षरविद्या, दृष्टिविद्या, यज्ञविद्या, सिद्धविद्या, ये पाँच संस्थाएँ बतलाईं गईं हैं (देखिए, भू० २ खण्डपृ० ६८से७५पर्य्यन्त)। इससे अगले प्रकरणमें ऋषिपदार्थकी वैज्ञानिक मीमांसा हुई है। वहाँ यह बतलाया गया है कि, 'वाक्यसंग्रह भी मन्त्र है, तत्प्रतिपाद्य नित्यविद्यातत्त्व भी मन्त्र है। विद्यात्मक (तत्त्वात्मक) मन्त्रों का

---

*—"त एव पदविन्यासास्ता एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रन्थनकौशलात् ॥

A "युगे युगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्" (ऋक्सं०६।८।५)।
युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥
प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते।
ऋचो यजूंषि सामानि यथावत् प्रतिदैवतम् ॥
ऋषीणां तप्यतामुग्रं तपः परमदुश्चरम्।
मन्त्राः प्रादुर्बभूवुर्हि पूर्वमन्वन्तरेष्विह ॥ (वायुपुराण ५६ अ०)।

ऋषियों नें अपनी आर्षदृष्टि से प्रत्यक्ष किया, इसलिए तो इन्हें 'मन्त्रद्रष्टा' (तत्त्वसाक्षातुकारकर्त्ता)कहा गया। अपने इस दृष्ट अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए दृष्ट अर्थस्वरूप के अनुरूप ऋषियों नें बुद्धिपूर्वक वाक्यरचना की। वाक्यरचनात्मक, विद्याप्रतिपादक, शब्दात्मक वेदमन्त्रों के निर्म्माणाभिप्राय से ही इन्हें 'मन्त्रकृतः' कहा गया। जो मन्त्रद्रष्टा थे, वे ही मन्त्रकृतः कहलाए। जिन्होंनें शब्दात्मक मन्त्र का तात्पर्य्य भलीभाँति देख-समझ लिया, प्रत्यक्ष कर लिया, वें 'मन्त्रवित्' कहलाए। एवं जिस शब्दात्मक वेदमन्त्र में प्राणात्मक जिस ऋषितत्त्व का निरूपण हुआ, उस मन्त्र की अपेक्षा वह प्राण-ऋषि 'मन्त्रपति' कहलाया। इसप्रकार तत्त्वदर्शन, मन्त्र-निर्म्माण, मन्त्रतात्पर्य्यवेदन, आधिपत्य, भेद से ऋषिशब्द ४ संस्थाओं में विभक्त हो गया, जिन इन ऋषि-संस्थाओं का स्वयं वेद में उल्लेख हुआ है। देखिए!

यामृषयो 'मन्त्रकृतो' मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके ॥१॥

नमा ऋषिभ्यो 'मन्त्रकृद्भ्यो' 'मन्त्रपतिभ्यः'।
मामाऋषयो मन्त्रकृतो 'मन्त्रविदः' प्राहुर्दैवीं वाचम् ॥२॥

ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः ॥३॥

—ऋक्सं० ६।११४।२।

विचारशील पाठक यह स्वीकार करेंगे कि, शब्दात्मक वेदग्रन्थ की पौरुषेयता स्वीकार किए बिना मन्त्रोक्त 'मन्त्रकृतः'—'मन्त्रकृतां' शब्दों का प्रयत्नसहस्रों से भी समन्वय नहीं किया जा सकता। इसप्रकार अबतक के आम्रेडन से हमें निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि—

"तत्त्वात्मक ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद, तत्त्वात्मिका ज्ञानानुगता उपनिषत्, उभयानुगत आरण्यक, कर्म्मानुगत ब्राह्मणवेद सर्वथा अपनी तत्त्वदृष्टि से,तथा वाक्—लक्षण नित्यशब्ददृष्टि से कूटस्थ नित्य हैं, अकृतक हैं, अपौरुषेय हैं। एवं प्रयोगलक्षण शब्दात्मक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद कृतक हैं, पौरुषेय हैं। अनित्यसमर्पक हेतुओं का, प्रमाणों का पौरुषेय-शब्दात्मक वेद से सम्बन्ध है, एवं नित्यसमर्पक हेतु-प्रमाणों का अपौरुषेय तत्त्वात्मक वेद से सम्बन्ध है"।

१६–वेदप्रामाण्य पर आपत्ति, और उसका निराकरण—

अब इस सम्बन्ध में केवल एक विप्रतिपत्ति रह जाती है, और वह है 'वेदप्रामाण्यवाद' से सम्बन्ध रखने वाली। यदि शब्दात्मक वेद पौरुषेय हैं, तो इन्हें निर्भ्रान्त, निरपेक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता। कणादसिद्धान्त के अनुसार बुद्धिपूर्वक इनका निर्म्माण स्वीकार कर लेने पर ये वेद भ्रान्तिदोष से युक्त रहते हुए अप्रामाण्यकोटि में आ जाते हैं, जोकि किसी भी आस्तिक भारतीय को सह्य नहीं है। मनुष्य कभी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। अवश्य ही उसकी रचना में भ्रान्ति निश्चित है।

दूसरी यह भी विप्रतिपत्ति उठाई जा सकता है कि, यदि प्राकृतिक तत्वों के आधार पर अपनी भाषा में मनुष्यों नें वेदमन्त्रों का निर्म्माण किया है, तो क्या आज भी कोई वैसा बुद्धिमान् नवीन वेदमन्त्र बना सकता है ?। यदि उत्तर में हाँ कहा जायगा, तो अनादिकाल से प्रचलित वेदमन्त्रों का यज्ञानुगत पद्धतियों की अपेक्षा से कोई महत्त्व न रहेगा। यज्ञकर्म्म में वेदमन्त्र नियत हैं। न उनमें एकाक्षर बढ़ाया जासकता, न घटाया जासकता। उधर निर्म्मित नवीन मन्त्रों का कोई उपयोग भी अवश्य किया जायगा। इसप्रकार एकरसरूप से प्रवाहित वेदशास्त्र एक काल्पनिक, अमर्य्यादित, अप्रामाणिक, बालविनोद–साधनमात्र बन जायगा।

तीसरी विप्रतिपत्ति यह भी उठाई जासकती है कि, विगत शताब्दियों में अवतारसदृश उद्भट विद्वानों नें भारतवसुन्धरा को अलंकृत किया। सबनें स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रभूत संख्या में निर्म्माण किया। परन्तु अधावधि यह न सुना गया कि, अमुक विद्वान् ने अमुक वेदमन्त्रों का निर्म्माण किया। यदि वेदग्रन्थ अन्य ग्रन्थों की भाँति पुरुषरचना के विषय होते, तो विगत ३–४ सहस्र वर्षों में कोई विद्वान उदाहरण के रूप से कुछ तो मन्त्रों का निर्म्माण करता। इस दृष्टि से भी यही पक्ष समीचीन प्रतीत होता है कि, वेदशास्त्र अनादिसिद्ध ईश्वरीय शास्त्र है, अपौरुषेय शास्त्र है। इसीलिए इसकी निरपेक्ष प्रामाणिकता सर्वथा सुरक्षित है।

पहिली विप्रतिपत्ति का सम्बन्ध 'स्वतःप्रामाण्यवाद' से है। स्मृत्यादि इतर शास्त्र जहाँ परतःप्रमाण है, वहाँ श्रुतिशास्त्र स्वतःप्रमाण है, निरपेक्षप्रमाण है। यदि मन्वादि स्मृतियों की भाँति ऋगादि श्रुतियाँ भी पौरुयेय हैं, तो इन्हें स्वतःप्रमाण किस आधार पर माना गया ?, प्रथम विप्रतिपत्ति का यही स्वरूप है। और उसका निराकरण यों किया जासकता है।

पाठकों को स्मरण होगा कि, वाक्के चार पदोंका विश्लेषण करते हुए पूर्व में हमनें **'वाक्शब्द, नादशब्द, ध्वनिशब्द, प्रयोगशब्द'** भेद से वाक् के इन चार भावों का विश्लेषण किया था। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया था कि, ये चारों क्रमशः आत्ममयी, वायुमयी, इन्द्रमयी, अग्निमयी हैं। चारों में आत्ममयीवाक् सर्वथा नित्या है, वायु–इन्द्रमयीवाक् नित्या–अनित्या है, एवं अग्निमयीवाक् सर्वथा अनित्या है। चाहे शास्त्रीय वाक् हो, अथवा लौकिक वाक्, प्रयोगात्मिका प्रत्येक वाक् में इतर तीनों का अन्तरान्तरीभाव से समावेश रहता है। हमारी अध्यात्मसंस्था में **'आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रिय'** भेद से चार प्रधान विवर्त्त हैं। इन चारों आध्यात्मिक विवर्त्तों के साथ क्रमशः उक्त चारों वाग् विवर्त्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनका आग्नेयीवाक् से सम्बन्ध है। एवं यह प्रयोगलक्षणा आग्नेयीवाक् **'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वागिन्द्रिय से प्रधान सम्बन्ध रखती है। ध्वनिवाक् इन्द्रदेवतामयी होने से ऐन्द्री है। उधर प्रज्ञानमन में 'प्रज्ञा–प्राण' नाम से दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। यह प्रज्ञात्मक प्राण ही–**"या वै प्रज्ञा–सः प्राणः, यः प्राणः–सा प्रज्ञा, सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्व"** (कोषीतकिब्राह्मणोपनिषत्) इस कौषीतकि–सिद्धान्त के अनुसार इन्द्र है। प्रज्ञान मन साक्षात् इन्द्र है। फलतः ध्वनिलक्षणा ऐन्द्रीवाक् का आध्यात्मिक मनके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। तीसरी वायव्यावाक् ही नादात्मिकावाक् है, जिसका

मूलस्वरूप ब्रह्मग्रन्थि में प्रतिष्ठित माना गया है*, एवं जिसे चैतन्यलक्षण कहा जाता है÷। 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' के अनुसार चिदात्मा का निकटवर्त्ती, विज्ञान (बुद्धि) ही चैतन्य (अक्षर) है। तन्मय नाद अवश्य ही बुद्धि से सम्बद्ध माना जासकता है। चौथी वाक्-लक्षणा नित्या वाक् का मनःप्राणवाङ्मय आत्मा से सम्बन्ध है।

आत्मविवर्त्त अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, विकारक्षर, भेदसे चार भागों में विभक्त माना गया है। इन चारों आत्मविवर्त्तों का क्रमशः आत्मा बुद्धि, मन, इन्द्रिय के साथ प्राधान्य है। अव्ययप्रधान आत्मा नित्या आत्म-वाक् लक्षणा परावाक् से सम्बद्ध है। अक्षरप्रधाना बुद्धि नित्यानित्या वायव्यवागलक्षणा पश्यन्तीवाक् से युक्त है। आत्मक्षर प्रधान प्रज्ञानमन नित्यानित्या ऐन्द्रीवाक्लक्षणा मध्यमावाक् से युक्त है। एवं विकारक्षरप्रधान वागिन्द्रिय अनित्या आग्नेयीवाक्-लक्षणा वैखरीवाक् से युक्त है। इसप्रकार उपादिभेद से एक ही वाक्तत्त्व चतुःसंस्थ बन रहा है। इस चतुःसंस्थ वाक्तत्त्व का अधिकारीभेद से यत्र तत्र समन्वय होरहा है।

यद्यपि पूर्वकथनानुसार सर्वविध वाक्प्रयोगों में इतर तीनों संस्थाएँ अन्तरान्तरीभाव से प्रतिष्ठित हैं। एक अज्ञ मनुष्य अपनी वागन्द्रिय से जिस सामान्य लौकिकवाक् का प्रयोग करता है, उसमें भी ऐन्द्री-वायव्या-आत्म-नामक तीनों वाक्तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। तथापि ऐसी लौकिकवाक् में आग्नेयीवाक् की ही प्रधानता रहती है। और इसी प्रधानता-अप्रधानता के तारतम्य से वाक्प्रयोक्ताओं को हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

सर्वप्रथम व्यवहारजगत् की दृष्टि से हम वाक् को **'शास्त्रीयवाक्, लौकिकवाक्'** भेद से दो भागों में विभक्त करेंगे। बिना पढ़े लिखे सर्वसाधारण मनुष्यों में जिस वाक् का प्रयोग होता है, वह लौकिकवाक् है। एवं विद्वानों की विद्यानुगता भाषा शास्त्रीयावाक् है, और लौकिकीवाक् की अपेक्षा इस शास्त्रीयवाक् में अधिक प्रामाण्यबुद्धि रहती है। सामान्य जन स्वत एव ऐसी निष्ठा रखते हैं कि, हम जो कुछ कहते सुनते हैं, उसकी अपेक्षा शिक्षित मनुष्यों का कहना-सुनना विशेष महत्त्व रखता है।

शिक्षितों की शास्त्रीयभाषा को हम **'निगम, आगम'** भेद से दो भागों में विभक्त देखते हैं। एवं अशिक्षितों की लौकिकभाषा को सभ्यभाषा (नागरिक भाषा), असभ्यभाषा (ग्राम्य यथाजातभाषा) भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। जिन व्यक्तियों नें कभी किसी पुस्तक के दर्शन न किए हों, उन व्यक्तियों की भाषा सर्वथा काल्वालीकृत, अतएव अलग्ल (अस्पष्ट) होती है। कब, कहाँ, कैसे, क्या बोलना चाहिए, इसप्रकार का विवेक करने में असमर्थ, अस्पष्ट-अशुद्ध-अलग्ल-वर्णस्वरादिपूर्वक उच्चारण करने वालों की भाषा में

***—ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्।**
नाभि-हृत्-कण्ठ-मूर्द्धा-स्ये-ष्वाभिर्भावयते ध्वनिम् ॥

÷—चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ॥

—सङ्गीतरत्नाकरः।

केवल वागिन्द्रियानुगत आग्नेयी-वाक् की ही प्रधानता रहती है। ऐसी वाक् की लोकदृष्टि से भी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। ऐसे व्यक्तियों का कथन लौकिक व्यवहार में भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। यह एक प्रकार की बालभाषा है, जिसका उद्देश्य एकमात्र भोजन-शयन-गमन-इत्यादि प्राकृतिक इच्छाओं का व्यक्त करना होता है। एवं यही वाक् का पहिला, किंवा चौथा संस्थान है।

वागिन्द्रिय के साथ साथ प्रज्ञानमन का सहयोग प्राप्त हुआ, इससे सामान्य मनुष्य सामान्य मनुष्य न रह कर 'प्राज्ञ' बन गया। मानसीवाक् के सहयोग से इसकी प्रयोगात्मिका वाक् में कुछ विशेष बल आ गया। लोकव्यवहार से स्पष्टा-शुद्धा उपयोगिनी भाषा व्यवहृत होने लगी। लोकोन्नति के लिए नवीन साहित्य का निर्म्माण होने लगा। और इसप्रकार आग्नेयी ग्राम्यभाषा ने नागरिकरूप धारण कर लिया। एवं ऐसे ही व्यक्ति लोकदृष्टि से शिक्षित कहलाने लगे। इनका कथन, इनकी रचना, इनका साहित्य व्यावहारिक जगत् में प्रामाणिक माना जाने लगा। इसप्रकार मानस धरातल के सहयोग से एक दूसरी किंवा, तीसरी वाक्संख्या का उदय हो गया। जिस साहित्य का विशुद्ध व्यवहारजगत् से सम्बन्ध है, जिस साहित्य का ऐहलौकिक उन्नति के अतिरिक्त पारलौकिक-अभ्युदयमार्ग से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह सम्पूर्ण वाङ्मय साहित्य विशुद्ध लोक-साहित्य है। एवं लोक में लौकिक मनुष्य ही अपने विशुद्ध ऐहलौकिक व्यवहारों में इसे प्रमाण मानते हैं। इसप्रकार लोकोन्नतिप्रवृत्तिलक्षणा नागरिकभाषा, तथा नागरिकसाहित्य, एवं जीवनयात्रानिर्वाहकैकलक्षणा-ग्राम्यभाषा, तथा ग्राम्यसाहित्य (किस्सा-कहानी) दोनों लौकिकवाक् हैं। जिन्हें लोकाभ्युदय के साथ साथ आत्मनिःश्रेयस् अपेक्षित है, उन बुद्धिमानों के लिए ये दोनों ही भाषाएँ दोनों हीं साहित्य सर्व्वथा अप्रामाणिक, तथा अनुपादेय है। भारतीय आस्तिकवर्ग ने 'लोकायतिक' कहते हुए इस कोटि को सर्वथा उपेक्षणीय ही माना है।

इसी सम्बन्ध में थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लीजिए। वर्त्तमान जगत् को आज हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। एक विभाग तो ऐसा है, जिसका एकमात्र उद्देश्य 'खाना-पीना-मौज़ उड़ाना' है। दूसरे शब्दों में जो केवल 'भोजन के लिए ही जीवित हैं'। जो परमपुरुषार्थ भारतवर्ष के ग्राम में रहने वाले, ग्राम्य जीवन बिताने वाले एक अशिक्षित ग्रामीण का है, वही उद्देश्य उक्त उद्देश्यानुगामी शिक्षितों का है। माता-पिता के सर्वस्व-समर्पण-योग से शिक्षित बनने वाले इस वर्ग की शिक्षा का लोकोन्नति से सम्बन्ध तो दूर रहा, अपनी कुटुम्बोन्नति का भी यहाँ अवकाश नहीं है। शिक्षाकाल समाप्त कर देने के अनन्तर माता-पिता-भाई-बहिन-कुटुम्ब-जातिबन्धु-आदि को अनन्यनिष्ठा से नमस्कार समर्पण करता हुआ यह पुरुषार्थी ? एकमात्र अपने जीवन की रक्षा में ही अपनी शिक्षा का सदुपयोग ? करने लग पड़ता है। जहाँ एक अशिक्षित ग्रामीण भारतीय कम से कम कौटुम्बिक व्यवस्था का समर्थक बना रहता है, वहाँ हमारे ये पुरुषार्थी-शिक्षित इससे भी हाथ धो लेते हैं। वकालत, इञ्जिनीयरी, प्रोफेसरी, आदि आदि नवशिक्षानुत, जो भी कर्म्म किया जायगा, सबके मूल में ऐकान्तिक स्वार्थ हो प्रतिष्ठित रहेगा।

दूसरा विभाग ऐसा है, जो अपने साथ साथ अपनी जाति की भी उन्नति चाहता है। और सम्भवतः यह श्रेय केवल पश्चिमी जगत् को है। लोकोन्नति को सद्भावना से, चाहे उस भावना का भारतवर्ष से कोई सम्बन्ध न हो, शिक्षाबल पर नवीन भौतिक आविष्कार, उपयोगी साहित्य का निर्म्माण, आदि इनका पुरुषार्थ

है। यह दूसरी बात है कि, आत्मसम्पति से वञ्चित यह साहित्य, ये आविष्कार परिणाम में भले ही उन्नति के स्थान में केवल **'समूलस्तु विनश्यति'** के ही कारण सिद्ध होते हों।

महाभारत के कुछ आगे से आरम्भ कर वर्त्तमान युगपर्य्यन्त उक्त दोनों श्रेणियों की कैसी, क्या व्यवस्था रही ?, यह भी एक मनोरञ्जक प्रश्न है। इस कम के विकास-ह्रास के इतिवृत्त से हमें यह समझने लेने में सुविधा रहेगी कि, भारतवर्ष ने कब से अपने शास्त्रीय वाङ्मयकोष की उपेक्षा कर विशुद्ध लोकसाहित्य को अपनाया है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चहिए कि, प्रतिपाद्य ग्राम्य-नागरिक, दोनों का ही लोक-दृष्टि से सम्बन्ध है। शास्त्रीयदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला विकास-ह्रासभाव इससे सर्वथा पृथक् है।

कम से कम महाभारतयुग में ग्राम्यसाहित्य निगमागमवार्त्ता थी, नागरिकसाहित्य निगमागम स्वाध्याय था। शतपथसमकालीन महाभारतकाल की साधारण जनता में निगमागमचर्चा ने ही विनोद का स्थान ग्रहण कर रक्खा था *। एवं उस युग के नागरिकों में निगमागमस्वाध्याय का ही व्यसन था। आगे जा र नागरिक जीवन में निगमागम-स्वाध्यायचर्चा शिथिल पड़ने लगी, क्रमशः भक्तिमार्गापरपर्य्यामक सम्प्रदायवाद ने आर्षसाहित्य पर आक्रमण करना आरम्भ किया। और इसप्रकार इस युग में भक्ति-साहित्य ही नागरिकों का प्रधान केन्द्र बन गया। ग्राम्यजीवन ने भी निगमागम चर्चा के स्थान में भक्तिगाथाओं का स्थान ग्रहण कर लिया। आगे जाकर नागरिक जीवन भक्तिसाहित्य से भी वञ्चित हो गया। अपनाया इसने सर्वथा काल्पनिक काव्य-नाटकादि साहित्य को। हाँ इस युग में भी ग्राम्यजीवन भक्तिगाथा का ही अनुगामी बना रहा। और इसके मूलाधार बने रामायण, सूरसागर, प्रेमसागर, आदि भाषाग्रन्थ।

अब वर्त्तमान युगदृष्टि से विचार कीजिए। पश्चिमी दृष्टिकोण के सम्बन्ध से नागरिकों की किस साहित्य पर निष्ठा है ?, एवं उपयोगकी दृष्टि से उसका कितना महत्त्व है ?, प्रश्नों का समाधान किया जा चुका है। अब केवल भारतीयदृष्टि से विचार कर लीजिए। सामयिक समाचारपत्र, उपन्यास, गल्प, सिनेमासाहित्य, छायावाद, आदि काल्पनिक साहित्य आज का नागरिकसाहित्य है। आल्हाऊदल, नोटङ्की, ढोलामारू, हीररांझा, आदि वर्त्त-मानयुग का ग्राम्यसाहित्य है। इसप्रकार अपना ऐसा बीभत्स पतन कराता हुआ भारतवर्ष आज अपने मौलिक साहित्य के परिज्ञान से बहुत आगे अनुधावन कर चुका है। अस्तु, प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना था कि, प्रज्ञामनोऽनुता सभ्यभाषा, एवं तदनुगामी लोकोन्नतिमात्रैकसाधक नागरिक साहित्य लौकिकवाक् का एक विभाग है। एवं वागिन्द्रियानुगता ग्राम्यभाषा, एवं तदनुगामी अनुरञ्जकमात्र ग्राम्यसाहित्य लौकिक-वाक् का एक विभाग है। इसप्रकार लौकिकवाक्-विवर्त्त शिक्षित-अशिक्षित श्रेणि-भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है।

दूसरा शास्त्रीय वाग्विवर्त्त है। भारतीय दृष्टिकोण से इसके निगम आगम, भेद से मुख्य दो विवर्त्त हैं। बुद्धि से अनुगता तात्त्विकभाषा आगमभाषा है। सम्पूर्ण स्मृतियाँ, दर्शन, पुराण, महाभारत, कल्पसूत्र, निबन्ध, व्याकरण, ज्योतिष, आदि संस्कृतवाङ्मय साहित्य आगमसाहित्य है, एवं

---

* तद्धैतदविद्वांस अप्याहुः-'सैषा त्रयीविद्या तपति' इति।

—शतपथब्राह्मण १० काण्ड।

आध्यात्मिक स्थान-प्रयत्नों का यथावत् अनुगमन करने वाली, अतएव शुद्धा, सुपरिष्कृता, लौकिक-वाग्विवर्त्तद्वयी की अपेक्षा अतिशयरूपेण प्रमाणभूता, बुद्धिसहकृता वायव्य-वागनुगता-प्रयोगवाक् आगम-भाषा है, जिसे हम विद्वानों की भाषा कहा करते हैं, जिसके छन्दोबद्ध पद्य 'श्लोक' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इस वाक् का बुद्धिपूर्वकत्त्व ही सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है।

अनेक शाखाओं में विभक्त मन्त्रसंहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् भेद से चार विवर्त्तों में विभक्त वैदिकसाहित्य 'निगमसाहित्य' है। एवं वर्ण-स्वर-पद-वाक्य अर्थादि की दृष्टि से प्राकृतिक तत्त्वों के साथ अनुरूपशः समतुलिता, आत्मवागनुगता, विज्ञानसम्मता, अन्यप्रमाणानपेक्षस्थानीया, स्वतःप्रमाणभूता, 'छन्दोभ्यस्ता' नाम से प्रसिद्धा भाषा ही **'निगमभाषा'** है, जिसे हम ऋषियों की भाषा कहते हैं। एवं जिसके पद्य-गद्य-गेय भागों को 'मन्त्र' शब्द से व्यवहृत किया गया है। इस वाक् का बुद्धिपूकत्त्वावच्छिन्न आत्मसहयोगत्त्व ही अन्यतम वैशिष्ट्य है। इसप्रकार आत्मा-बुद्धि-मन-इन्द्रिय-भेद से भाषा के ऋषिभाषा, पण्डितभाषा, नागरिकभाषा, ग्राम्यभाषा (प्रान्तीयभाषा), भेद से चार विवर्त्त हो जाते हैं। चारों में उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्व-पूर्व भाषा प्रमाणभूता है। चारों में ऋषिभाषा प्रकृति से समतुलित बनती हुई ईश्वरभाषावत् सर्वप्रमाण-मूर्द्धन्या है, स्वतःप्रमाणभूता है। अबतक भाषा सम्बन्ध के जो विवर्त्त बतलाए गए हैं, उनका निम्न लिखित परिलेखों से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि, ये चारों हीं विवर्त्त प्रयोगभाषा से ही सम्बन्ध रखते हैं। प्रयोक्ताओं की दृष्टि भिन्न है, प्रयोगत्त्वेन प्रयोगभाषा समान है।

२ शास्त्रीयावाक्	१-१-ऋषिभाषा—निगमभाषा ('छन्दोऽभ्यस्ते' ति विश्रुता वेदभाषा-एतद्देश एवाविर्भूता)।
	२-२-विद्वद्भाषा—आगमभाषा ('भारती' ति विश्रुता संस्कृतभाषा-एतद्देशीयैव)।
२ लौकिकीवाक्	३-३-नागरिकभाषा-राष्ट्रीयभाषा (वर्त्तमानभारतवर्षे नागरिकहिन्दी, न तु हिन्दूस्थानी अन्यराष्ट्रेषु चान्यान्या)।
	४-२-ग्राम्यभाषा—-प्रान्तीयभाषा (भारतवर्षे म०बं०गु०क०तै०मा०-इत्यादिभेदेनानेकधा विभक्ता:)।

शास्त्रीयावाक् २

१-१-आत्मानुगामिनी—आत्मविज्ञानप्रधाना-प्रयोगभाषा (लोकोत्तरा—ऋषिभाषा)

२-२-बुद्ध्यनुगामिनी—बुद्धिप्रधाना———प्रयोगभाषा (अलौकिकी—पण्डितभाषा)

लौकिकीवाक् २

३-१-मनोऽनुगामिनी—मनःप्रधाना———प्रयोगभाषा (लौकिकी—नानाविधा)

४-२-वागिन्द्रियानुगामिनी-इन्द्रियप्रधाना——प्रयोगभाषा (लौकिकी—नानाविधा)

शास्त्रीयावाक् २

१-१-इन्द्रिय-मनो-बुद्धियुक्ता-आत्मप्रधाना-कृत्स्नात्मिका-प्रा०भा०-श्रुतिभाषा (ऋषि०)।

२-२-आत्मे-न्द्रिय-मनोयुक्ता-बुद्धिप्रधाना-- ,, - ,, -स्मृतिभाषा(पण्डित०)।

लौकिकीवाक् २

३-१-आत्म-बुद्धि-इन्द्रिययुक्ता-मनःप्रधाना- ,, - ,, -लोकसाहित्यभाषा(नाग०)

४-२-आत्म-बुद्धि-मनोयुक्ता-इन्द्रियप्रधाना-- ,, - ,, -ग्रामसा०भा० (ग्रा०)।

शास्त्रीयावाक् २

१-१-अव्ययप्रधानः--आत्मा--तन्मयी-आत्मवाक् (वाक्लक्षणः शब्दः--ऋ०)

२-२-अक्षरप्रधाना—बुद्धिः—तन्मयी-बुद्धिवाक् (नादलक्षणः शब्दः—पं०)

लौकिकीवाक् २

३-१-आत्मक्षरप्रधानं-मनः—तन्मयी-मनोवाक् (ध्वनिर्लक्षणः शब्दः-ना०)

४-२-विकारक्षरप्रधानं-इन्द्रियम्-तन्मयी-इन्द्रियवाक् (प्रयोगलक्षणः शब्दः-ग्रा०)

२ शाब्दीयावाक्

१–२–वाक्-लक्षणा शब्दवाक्––वाक्––तद्रूपा 'परावाक्'–––स्वतःप्रमाणा

२–२–नादलक्षणा शब्दवाक्–––नादः–तद्रूपा 'पश्यन्तीवाक्––परतःप्रमाणा

२ लौकिकीवाक्

३–१–ध्वनिर्लक्षणा शब्दवाक्––ध्वनिः–तद्रूपा 'मध्यमावाक्'–लोकप्रमाणा

४–२–प्रयोगलक्षणा शब्दबाक्–शब्दः–तद्रूपा 'वैखरीवाक्'––अप्रमाणा

उक्त चारों वाग्विवर्त्तों को सामने रखिए, और प्रामाण्यवादानुगता–प्रथमा विप्रतिपत्ति की मीमांसा कीजिए। चारों वाग्विवर्त्तों में से परावाक्–लक्षण, अव्ययात्मानुगत, नित्यवाग्विवर्त्त ही हमारे वेदप्रामाण्यवाद का स्वरूप–रक्षक बना हुआ है। जैमिनि–सूत्रों की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, जिन शब्दों को ऋषि ने नित्य बतलाया है, जिन शब्दों का अर्थों के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध बतलाया है, वे शब्द उक्त चारों वाग्विवर्त्तों में से वाक्–लक्षण प्रथमशब्द विवर्त्त से ही सम्बन्ध रखते हैं। **'वागर्थाविव-सम्पृक्तौ'–'न ह्यशब्दमिवास्ति'** के अनुसार प्रकृतिसाम्राज्यगर्भ में यथानुरूप प्रतिष्ठित यच्चयावत् नित्य अर्थ यदि आत्मस्थानीय हैं, तो तदनुरूप वाग्लक्षण नित्यशब्द शरीरस्थानीय हैं। ऐसे नित्यार्थ, नित्यसमष्टिलक्षण, शब्दार्थमय, नित्यप्राकृतिकविज्ञानात्मक, नित्य वेद का ही नाम 'अपौरुषेयनित्यवेद' है। इस शब्दार्थराशिरूप नित्य वेद का आप्तमहर्षियों नें अपनी आर्षदृष्टि से साक्षात्–कार किया। किंवा ईश्वरानुग्रह से यह शब्दार्थमय नित्यविज्ञान ऋषियों के तपःपूत पवित्र अन्तःकरणों में स्वतः प्रकट हुआ।

ऋषियों नें इससे लोकाभ्युदय की इच्छा की। इस इच्छा को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए उन्होंनें वाक्–नाद–ध्वनिगर्भित प्रयोगलक्षण अनित्यशब्दों का आश्रय लिया, जो कि प्रयोगलक्षण नित्यशब्दा-श्रयण प्रयोगात्मक वेदशास्त्र की पौरुषेयता का समर्थक बनता हुआ शब्दतत्त्वानभिज्ञ लौकिक मनुष्यों की दृष्टि में अप्रामाण्यलेश का संग्राहक बन रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि, वेदशास्त्र अनित्यप्रयोगशब्दात्मक है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि, इस दृष्टि से वेदशास्त्र कृतक है, पौरुषेय है। परन्तु एतावता ही प्रयोगशब्दात्मक इतर साहित्य के साथ प्रयोगशब्दात्मक इस वैदिक साहित्य की तुलना नहीं की जा सकती। इसका एकमात्र कारण है, प्रयोगलक्षण अनित्यशब्दात्मक वेदमन्त्रों का वाक्–लक्षण नित्यशब्दमन्त्रों के आयतन (साँचे) में प्रतिष्ठित रहता। इसी आधार पर तो वेदशास्त्र के प्रयोगात्मक शब्दों को वाग्लक्षण नित्यशब्दायतनप्रधान मानते हुए 'विज्ञानवाङ्मय' माना जाता है।

१७–वेदमन्त्रों का मन्त्रत्व, और विज्ञानवाक्—

'विज्ञानवाक्' का वही स्वरूप है, जो स्वरूप आत्मलक्षणा नित्यावाक् का है। प्राकृतिक नित्य अर्थों से युक्त प्राकृतिक वाक्-लक्षण नित्यशब्दों का जिस उच्चावचभाव से, जिस स्वरलहरी से प्रकृतिमण्डल में समावेश है, ठीक उसी के अनुरूप जिस प्रयोग का सन्निवेश होता है, वही 'विज्ञानवाक्' है। वही 'विज्ञानवाक्' 'मन्त्र' नाम से व्यवहृत हुई है। ऋषियों नें इनका बुद्धिपूर्वक निर्म्माण अवश्य किया है, परन्तु इस निर्म्माणप्रक्रिया में वे सर्वथा परतन्त्र रहे हैं। प्राकृतिक वाक् के अनुरूप ही उन्हें शब्द-सन्निवेश करना पड़ा है। अतएव मन्त्रवाक् पौरुषेय-बनती हुई भी अपौरुषेयनित्यावाक् से समतुलिता होती हुई अपौरुषेयवत् बन रही है। जो महत्त्व मन्त्रप्रतिपाद्य विषय-का है, वही महत्त्व तद्वाचक मन्त्र-वाक् का है। और यही मन्त्र का मन्त्रत्व है, जिसका स्वरूपनिर्म्माण वैदिक वर्णमात्रा के आधार पर हुआ है।

किसी वर्णमाला में २०, किसी में ५०, किसी में ६४ वर्ण हैं। परन्तु विज्ञानसिद्धा वैदिकवर्णमाला के २८८ वर्ण हैं। इस वर्णमाला का स्वरूप सर्वथा वैज्ञानिक है, जो कि वैदिकवर्णमालाविज्ञान 'पथ्यास्वस्ति'※ नाम से प्रसिद्ध है। संस्कृत व्याकरण से वैदिक व्याकरण का कोई समतुलन नहीं है। भगवान् पाणिनि ने भी अपने व्याकरणशास्त्र में वेदव्याकरण का पृथक्करण कर दिया है, जो दुर्भाग्य से आज पठन-पाठन प्रणाली में नहीं है। इसप्रकार वैदिक वर्णों के संघातरूप वैदिक शब्द उस नित्यवाक्तत्त्व से समतुलित रहते हुए तद्रूप बन कर तच्छक्तिसमर्पक बने हुए हैं, जो वाक्शक्ति अन्य प्रयोगशब्दों में नहीं पाई जाती।

क्योंकि मन्त्रशब्द नित्यवाक् से समतुलित हैं, अतएव इनका तद्वाच्य प्राकृतिक अर्थों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। जिस कर्म्मसिद्धि के लिए जो वेदमन्त्र विनियुक्त हैं, उनके यथानुरूप उच्चारणमात्र से कर्म्मसिद्धि हो जाती है। क्योंकि समतुलन-सम्बन्ध में शब्दमन्त्र तत्पतिपाद्य शक्तिरूप हैं, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत' सामिधेनीब्राह्मण में द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिए गायत्रीमन्त्र को ही लीजिए। गायत्रीमन्त्र गायत्रीतत्त्व की प्रतिकृति है। जैसा स्वरूपविन्यास गायत्रीतत्त्व का है, वैसा ही विन्यास गायत्रीमन्त्र का है। इस मन्त्र का उस तत्त्व से स्वाभाविक सम्बन्ध है। और इस सम्बन्ध का मूलरहस्य है-छन्दःसम्पत्ति। प्राकृतिक गायत्र देवता 'अग्नि' है। यह प्राकृतिक अग्नितत्त्व जिस अष्टावयव सीमा से सीमित रहता है, वह वाक्परिमाण ही छन्द है। हमारा यह गायत्रीमन्त्र उसी स्वर-वर्ण-मात्रा के अनुरूप बनता हुआ तद्रूप है। यदि आप प्राकृतिक गायत्रदेवता को अपने अध्यात्म में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, तो तत्प्रतिकृतिरूप गायत्रीमन्त्र का यथाविधि जप कीजिए। यदि आप मन्त्र का अर्थ जानते हैं, तो सर्वोत्तम पक्ष है। यदि अर्थ नहीं भी जानते हैं, तब भी कोई चिन्ता नहीं है। विद्युद्रहस्यविज्ञानवेत्ता व्यक्ति के स्विच दबाने से जैसे तत्सम्बद्ध विद्युद्यन्त्र प्रकाशित हो पड़ता है, वैसे विद्युद्रहस्य न जानने वाला भी स्विचमात्र के सम्बन्ध से प्रकाश का अधिकारी बन जाता है। ठीक इसी प्रकार अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति भी यदि गायत्रीमन्त्र का जप करता है, तो तत्सम्बद्ध गायत्रदेवता समानाकर्षणसिद्धान्त के अनुसार अध्यात्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, जैसे स्विच दबाने की प्रक्रिया से भी अनभिज्ञ व्यक्ति करेन्ट के सम्पर्क से

※—"वाग्वै पथ्यास्वस्तिः।

अपना नाश करा बैठता है, एवमेव मात्रा–स्वर–वर्णोच्चारण में अव्यवस्था करने वाला मन्त्रजपकर्त्ता अभ्युदय के स्थान में अपना नाश करा बैठता है। इसी आधार पर भगवान् पतञ्जलि का–**'तस्य वाचकः प्रणवः'–'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** (योगसूत्र १।२६,२७) इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुए हैं।

इसके अतिरिक्त मन्त्र–जपाधिकार भी एक प्रधान नियम माना गया है। जिस वर्ण के आध्यात्मिक-क्षेत्र में जन्मतः गायत्रतत्त्व बीजरूप से प्रतिष्ठित है, वही इस दीक्षा का अधिकारी है, जैसाकि कल्पसूत्रवचनों से प्रमाणित है। गायत्रीमन्त्र मन्त्र है, तत्त्व की प्रतिकृति है। ऋषियों नें संकलन अवश्य किया है, परन्तु संकलन तत्वानुरूप हुआ है। अतएव इसके स्वरूप में मानवीय बुद्धि की गति सर्वथा अवरुद्ध है। मन्त्र अपने स्वरूप में रहता हुआ ही मन्त्र है। यदि कोई इस सम्बन्ध में अपने ये विचार व्यक्त करे कि, 'मन्त्रभाषा कठिन है, अर्थ समझ में नहीं आता, अतः प्रचलित लोकभाषा में परिवर्तित कर उसका जप क्यों न कर लिया जाय' तो कहना पड़ेगा, अभी वह मन्त्र के मन्त्रत्व से सर्वथा अपरिचित हैं। *।

तत्त्वात्मिका नित्यावाक्, और मन्त्रवाक् का क्या सम्बन्ध है ?, इस प्रश्न की मीमांसा की गई। तत्त्वात्मिका वाक् ऋषि की दृष्टि है। इसी दृष्टिसम्बन्ध से ऋषि उस विषय के 'आप्त' (विषयप्राप्त–पहुँचवान) हैं। इन आप्तों ने दृष्ट तत्त्व के अनुरूप जो शब्द कहा है, वह हमारे लिए दृष्टिवत्–प्रत्यक्षप्रमाण है। दृष्टिलक्षणा ऐसी श्रुति के लिए अन्य प्रमाण अनपेक्षित है। प्रत्यक्ष में अन्य प्रमाण की कोई अपेक्षा नहीं रहती। ऋषियों की वह आर्षदृष्टि वही आत्मदृष्टि है, जिसके प्रभाव से ऋषि त्रिकालदर्शी बने हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, इस लोकोत्तरा आर्षदृष्टि का महत्त्व वर्त्तमान युग के केवल भूतदृष्टिपरायण इन्द्रियप्रत्यक्षवादी लोकायतिक नहीं समझ सकते। परन्तु एक आस्तिक भारतीय सदा से इसके महत्त्व के सामने अपना मस्तक झुकाता आया है।

---

* सौर प्राणदेवताओं के संग्राहक शब्दात्मक मन्त्र 'निगममन्त्र' कहलाए हैं, एवं पार्थिवप्राणदेवता–संग्राहक मन्त्र 'आगममन्त्र' कहलाए हैं। सर्वभाषात्मक शाबरमन्त्रों का आगममन्त्रों में हीं अन्तर्भाव है, जिनमें स्वर–वर्ण–मात्रा–छन्द आदि का नियमन नहीं है, जबकि निगममन्त्र स्वरादि नियमों से सर्वात्मना नियमित मानें गए हैं। इन उभयविध मन्त्रों के अतिरिक्त (निगमागममन्त्रों के अतिरिक्त) काल्पनिक मतवादात्मक साम्प्रदायिक जितनें भीं मन्त्राभास हैं, वे सब सहज भावुक भारतीय आस्तिक हिन्दू मानव के निष्ठाधरातल के संहारक ही माने जायँगे, जिस साम्प्रदायिक संहारकर्म्म का खण्डचतुष्टयात्मक 'भावुकता' निबन्ध में सविस्तर यशोगान ? हुआ है।

प्रयोगलक्षण शब्दात्मक वेदमन्त्र उस वाक्-लक्षण-नित्य वेदतत्त्व की प्रतिकृति है,प्रतिमा है । अतएव नित्यविज्ञानरूप नित्य प्राकृतिक देवता की प्रतिकृतिभूत वेदमन्त्र भी साक्षात्-देवता है * । अबतक जिस आत्मवाक् का हम यशोगान करते आये हैं, उसका विश्लेषण किन शब्दों में किया जाय ?, यह मीमांस्य है । कहा गया है कि, विज्ञानवाङ्मय वेदमन्त्र आत्मवाग् लक्षणा नित्यावाक से समतुलित है । इस नित्या वाक् के आधार पर प्रतिष्ठित होने से ऋषिवाक् भी आत्मवाक्-समाना बन रही है । इसे हम अपनी सहजभाषा में **'सहजभाषा'** नाम से ही व्यवहृत करेंगे, और यही आत्मवाक का सहज विश्लेषण माना जायगा । जिस भाषा में कृत्रिमता का लेश भी न हो, जो निर्म्मलान्तःकरणों से निकली हुई प्राकृतिक भाषा हो, वही सहजभाषा है, एवं ऐसी सहजभाषा अवश्यमेव ईश्वरीय प्रेरणा है । इसी सहजभाषा को मन्त्रभाषा कहा जाता है, इसी प्रयोग को 'आर्षप्रयोग' माना जाता है, जिसमें व्याकरणशास्त्र का प्रवेश निषिद्ध है । प्रवेशाधिकार है प्राकृतिकभाषा का विश्लेषण करने वाले एकमात्र निरुक्तशास्त्र को । 'छन्दोऽभ्यस्ता' नामकी वेदभाषा जैसे अलौकिक-सहजभाषा है, वैसे ही विश्व की अन्यान्य लोकभाषाएँ भी प्राकृतिक तत्त्वों के साथ समतुलित होतीं हुईं सहजभाषाएँ ही मानीं गईं हैं । इसी आधार पर तन्त्र-शास्त्र का **'अमन्त्रमक्षरं नास्ति'** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है । सुप्रसिद्ध शाबरमन्त्रों का मन्त्रत्त्व इसी सहजभाषा के आधार पर प्रतिष्ठित है । तत्तद्देश-विशेषों के तत्तत् तपःपूत महापुरुषों के तपःपूत अन्तःकरणों में तत्तत् प्राकृतिक देवताओं के अनुरूप तत्तत् भाषाओं के जो स्वाभाविक उद्‌गार निकले हैं, वे सब मन्त्र हैं । हम मानते हैं कि, लोकभाषामय सर्पमन्त्र, कृत्यामन्त्र, आदि का प्रत्यक्ष में न तो कोई अर्थ ही प्रतीत होता है, न व्याकरणसिद्धा शुद्धि का ही वहाँ समावेश है । परन्तु इसके साथ ही इन मन्त्रों का प्रत्यक्ष चमत्कार देखा-सुना जाता है । यह सब उसी आत्मवाक्-मूला सहजभाषा का अव्यर्थ प्रभाव है, जिसका वैदिक महर्षि 'कामगवी' से सम्बन्ध बतलाया करते हैं । कामगवी गौ का अहोरात्र के २४ घन्टों में जिस समय में हमारी अध्यात्मसंस्था में उपभोग होता है, उस समय हमारी वागिन्द्रिय से जो शब्द निकलते हैं, वे मन्त्र हैं, उनका फल अव्यर्थ है । मन्त्रवाक् वही मन्त्रवाक् है, जिसमें हमारी इन्द्रिय, हमारे प्रज्ञानमन, हमारी लौकिक बुद्धि के कृत्रिम व्यापार आदि का सम्बन्ध न रहे । सम्बन्ध रहे एकमात्र आत्मा के स्वाभाविक सत्य भाव का । ऐसी मन्त्रवाक् में भूल कर भी अप्रामाण्य-बुद्धि नहीं हो सकती ।

*—"यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता, यां यजुः,सैव देवता । सर्क् । सा उ देवता । तद्यजुः" । (शत०ब्रा० ७।५।१।४) ।

ब्रह्मरहस्यवेत्ता (प्राकृतिक वेदतत्त्वरहस्यवेत्ता) महर्षि **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** के अनुसार साक्षात् लौकिक ब्रह्म है। इन लौकिक ब्रह्मों के अलौकिक आत्मधरातल से विनिःसृत स्वाभाविक मन्त्र साक्षात् ब्रह्म की सत्यवाणी है। रागद्वेषादि से युक्त, कृत्रिम व्यापाराश्रय से कृत्रिमता के अनन्यानुगामी, अस्मदादि लौकिक पुरुषों की कृत्रिम लोकभाषा में (आत्मसम्पत्तिविरह से) भ्रान्तिदोष की सम्भावना की जा सकती है। परन्तु जिन महर्षियों का पवित्र अन्तःकरण राग-द्वेषादि पाप्माओं से बर्हिभूत है, **'यथोदकं शुद्धे शुद्धम्'** * के अनुसार जो अपने आत्मा को उस व्यापक आत्मतत्त्व से युक्त कर चुके हैं, उनके अन्तःकरण से निकली हुई वाणी में स्वप्न में भी दोषकल्पना करना अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बनाना है।

इसप्रकार वाग्विवर्त्तविज्ञान का सम्यक्-बोध प्राप्तकर लेने के अनन्तर जब हम यह समझ लेते हैं कि, वेदमन्त्रभाषा प्रयोगलक्षणा बनती हुई, अतएव अनित्य बनती हुई भी आत्मवाग्लक्षणा नित्यवाक् से समतुलिता होती हुई तत्प्रतिकृतिरूपा है, तो इसके स्वतःप्रामाण्य में कोई आशङ्का नहीं रह जाती। आत्मवागनुग्रह के सम्बन्ध से ही अनित्या भी, पौरुषेया भी वेदवाक् नित्यवत्, अपौरुषेयत् मान ली गई है। यही कारण है कि, आर्षप्रजा की वेदमन्त्रों पर, इस ऋषि-कृति पर ईश्वरवाक्यवत् परिपूर्ण श्रद्धा है, दृढ़ विश्वास है। हम देखते हैं कि, अपनी अल्पज्ञता से पुराण, धर्म्मशास्त्र, निबन्धादि प्रामाणिक शास्त्रों की प्रामाणिकता में सन्देह करने वाले भी महानुभाव वेदप्रामाण्य के सामने अपना मस्तक झुका देते हैं। जिसका आत्मा लोकालोकसीमा पर पहुँच चुका है, उसके सम्बन्ध में तो कुछ कहा नहीं जा सकता। साथ ही ऐसे 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' सज्जन यदि वेदप्रामाण्य में भी सन्देह करें, तो स्वाभाविक ही है। परन्तु जिसमें थोड़ा भी आस्तिक्य है, ऐसा कोई भी भारतीय कम से कम वेदप्रामाण्य का तो अवश्य ही अनुगामी है। इस श्रद्धा-विश्वास का मूलकारण है-ऋषियों की आत्मानुगता सत्यवाणी। "वेद किसी पुरुषविशेष के बनाए हुए नहीं है, अपितु साक्षात् ईश्वर की रचना है" यह कल्पना उक्त-श्रद्धा-विश्वास का कारण नहीं है। अपितु-सर्वज्ञ, तत्त्वदर्शी, ऋषियों का सन्देश है, इसलिए **'वेदाः प्रमाणम्'**। हमें तो ऐसा लगता है कि, आत्मावागनुगता-सहजभाषामय वेद-शास्त्र नित्य आत्मवाक् से अभिन्न होने से ही प्रचलित अपौरुषेयता का प्रचारक बन गया है। और ऐसी अपौरुषेयता सभी विचारशीलों को मान्य है। यदि इसी दृष्टि से हम शब्दात्मक वेदशास्त्र को अपौरुषेय, नित्यकूटस्थ कहते हैं, तब तो सर्वथा इष्टापत्ति है। वास्तव में वाग्लक्षणा शब्ददृष्टि से शब्दप्रपञ्च भी अपौरुषेय है, तद्वाच्य नित्य अर्थतत्त्व भी अपौरुषेय है, दोनों का स्वाभाविक सम्बन्ध भी अपौरुषेय है। एवं तत्प्रतिकृतिरूप प्रयोगलक्षण वेदशास्त्र भी इस दृष्टि से अपौरुषेय माना जा सकता है। यह सब कुछ स्वीकार कर लेने पर भी **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** इस आप्तवचन-प्रमाण से वाक्यरचनात्मक वेदशास्त्र की पौरुषेयता का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसप्रकार श्रुतिशास्त्र की अपौरुषेयता समतुलित पौरुषेयता स्वीकार कर लेने से सर्वश्रुति-सर्वसिद्धान्त समन्वय भी हो जाता है, एवं मन्त्रवाक् की उक्त परिभाषा के आधार पर स्वतःप्रामाण्यानुगता पूर्वोपात्त पहिली विप्रतिपत्ति का भी भलीभाँति निराकरण हो जाता है।

***—यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।**
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ (कठोपनिषत् ४।८।)।

दूसरी विप्रतिपत्ति का स्वरूप यह था कि, "यदि प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर पुरुषविशेषों नें वैदिकसाहित्य की रचना की है, तो क्या आज भी कोई तत्त्वज्ञ उन तत्त्वों के आधार पर नवीन वेदमन्त्रों का निर्म्माण कर सकता है ?। यदि ऐसा हुआ, जो कि होना पौरुषेयतापक्ष में सम्भव है, तो उन नवीन मन्त्रों का विनियोग कहाँ होगा ?, क्या अनादिसिद्ध यज्ञपद्धतियों का स्वरूप बदल दिया जायगा"। नेति–होवाच। प्रकृति में जितनें तत्त्व हैं, उन सबका अन्वेषण हो चुका है, यह आर्षप्रजा का दृढ़ विश्वास है। प्रकृति में तत्त्वात्मक वेद के जितने पर्व हैं, उन सबके अनुरूप मन्त्र–ब्राह्मणात्मक शब्दवेद की रचना हो चुकी है, जैसाकि भूमिका–द्वितीयखण्ड में यत्र–तत्र प्रकरणविशेषों में स्पष्ट कर दिया गया है। जो कुछ जानने योग्य था, सब कुछ जाना जा चुका है। जो नहीं जानने का है, वह आकल्पान्त नहीं ही जाना जायगा। ऐसी सिद्ध–दशा में साध्यदशा से सम्बन्ध रखने वाली उक्त विप्रतिपत्ति का उत्थान ही सम्भव नहीं है। हाँ, कल्पान्त में जब वेदवाङ्मय कालातिक्रम से लुप्त हो जायगा, तो कल्पादि में पुनः तत्त्ववेद ऋषियों के अन्तःकरणों में प्रस्फुटित होगा, एवं पुनः तदनुरूप शब्दवेद का अविर्भाव होगा। पूर्वोपात्त तीसरी विप्रतिपत्ति का निराकरण भी प्रकृत निराकरण से ही गतार्थ है।

हाँ इस सम्बन्ध में पाठकों को यह सूचित कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा कि, यज्ञेतिकर्त्तव्यता से सम्बन्ध रखने वाला मन्त्र–ब्राह्मण–आरण्यक, नामक वेदभाग तो यज्ञपद्धतियों के नियन्त्रण से आजतक स्व स्वरूप से सुरक्षित चला आ रहा है। परन्तु ज्ञानकाण्डानुगत, वेदका उपनिषत् भाग विक्षिप्तों की प्रक्षिप्तशीला के अनुग्रह से अवश्य ही आंशिकरूप से कलुषित हो गया है। त्रेतायुगकालीन राम–सीता का महत्त्व बतलाने वाली **'रामतापनीयोपनिषत्'**–द्वापरान्त–कलिसन्धि में अवतीर्ण कृष्ण–राधा का महत्त्व प्रतिपादन करने वाली **'गोपालतापनीयोपनिषत्'**, 'हरे राम–हरे राम' की ध्वनि से समाकुलित **'कलिसन्तरणोपनिषत्'** आदि कतिपय उपनिषद्ग्रन्थ वेदमर्य्यादा से एकान्ततः बहिर्भूत है, स्वार्थियों की स्वार्थलीलामात्र है, जोकि ऐसा कथन हमारे अन्धश्रद्धालु–धार्म्मिक जगत् के लिए एक कटूक्ति ही मानी जायगी।

१८–उपनिषच्छास्त्र का अक्षुण्ण वेदत्त्व—

अबतक के परिच्छेदों से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, तत्त्वात्मक वेद अपौरुषेय है, नित्य-कूटस्थ है, अकृतक है। एवं तत्त्वप्रतिपादकात्मक, तत्त्ववाक्समतुलित, अतएव अपौरुषेयसम शब्दात्मक मन्त्र-ब्राह्मणलक्षण वेदशास्त्र पौरुषेय है, अनित्य है, कृतक है। तत्त्वात्मक वेद वास्तविक वेद है, शब्दात्मक वेद वेदग्रन्थ है, उपचारविधि से वेद है। यदि उपचारविधि को छोड़ते हुए हमसे शब्दात्मक वेद की अपेक्षा से 'क्या उपनिषत् वेद है ?' यह प्रश्न किया जायगा, तो हम उत्तर देंगे कि, "संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्" चारों ही ग्रन्थ वेदग्रन्थ हैं, वेद नहीं है, फलतः उपनिषत् वेद नहीं है"। यदि उपचारविधि को आगे करते हुए उक्त प्रश्न किया जायगा, तो कात्यायन, आपस्तम्ब, यास्क, शबर, पाणिनि, भितृभूत, शङ्कर, कुमारिल, विश्वरूप, मेधातिथि, कर्क, वृद्धवाचस्पति, उव्वट, सायणादि आचार्यों नें इस सम्बन्ध में जो सिद्धान्त स्थापित किया है, हमें भी उसी आस्तिक–सर्वसम्मत–अनादिसिद्ध सिद्धान्त का अनुगमन करना पड़ेगा, और कहना पड़ेगा, कि—**'उपनिषित् अवश्य ही वेद है'**।

१९–वेदभक्तों की वितण्डा, और उसका निराकरण—

उचित था कि, पूर्वतोऽनुवृत प्रस्तुत ४ थे प्रश्न की मीमांसा यहीं समाप्त कर दी जाती। परन्तु अकारणवत्-एक कारणविशेष से इस सम्बन्ध में दो शब्द कहना और शेष रह गया है। यद्यपि हम जानते हैं कि,

कारण–विशेष से प्रयुक्त दो शब्दकथन विद्वानों की दृष्टि में सर्वथा महत्वशून्य, अतएव आत्यन्तिक रूप से व्यर्थ है। तथापि सामान्य आस्तिकप्रजा की स्वाभाविक निष्ठा की रक्षा के नाते हमें उस व्यर्थकारण का भी आश्रय लेना पड़ रहा है।

'प्रियं च नानृतं ब्रूयात्' इस मन्वादेश को शिरोधार्य्य करने वाला एक भारतीय गतानुगतिक उस प्रिय कथन का कदापि अनुगमन नहीं कर सकता, जो अनृतभाव का पोषक है। यदि किसी के सिद्धान्त से सत्यसिद्धान्त पर आक्रमण होता है, तो हमें उस कल्पित सिद्धान्त का अवश्य ही स्पष्टीकरण कर देना चाहिए, फिर चाहे सामान्यजनसमाज में वह सिद्धान्त, तथा सिद्धान्तप्रवर्त्तक व्यक्ति सम्मानार्ह ही क्यों न रहा हो।

कुछ समय पूर्व वेदसंदेश को आगे कर सर्वश्री स्वामी दयानन्दजी ने वेदशास्त्र के सम्बन्ध में अपना यह मन्तव्य प्रकाशित किया था कि, 'वेद का मन्त्रभाग, उसमें भी उपलब्ध चार संहिताएँ तो ईश्वरकृत होने से वेद है, परन्तु तैत्तिरीयादि कृष्णयजुःसंहिताएँ (वेदशाखाएँ), विधिनात्मक ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, एवं उपनिषत्-ग्रन्थ, ऋषिकृत होने पौरुषेय हैं, वेद नहीं, किन्तु वेदव्याख्यानमात्र हैं"। उधर स्वामी जी से पहिले जितनें वेदविचारक उत्पन्न हुए, सबने एकस्वर से मन्त्र–ब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेद का वेदत्त्व स्वीकार किया है। आर्यप्रजा के श्रद्धा–विश्वास दोनों पर समानरूप से प्रवाहित रहा हैं। और उपचारविधि से ऐसे श्रद्धा–विश्वास सर्वथा मान्य हैं। वर्त्तमानयुग के वेदविचारकों में सर्वश्री **सत्यव्रत** 'सामश्रमी' महाभाग का नाम भी गणनार्ह है। आपने **निरुक्तालोचन, ऐतरेयालोचन, त्रयीटीका, त्रयीपरिचय,** आदि कई एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। १८४६ खिस्ताब्द मई की २८ ता० को पाटलीपुत्र (पटना) में आपका जन्म हुआ, एवं १६११ खिस्ताब्द १जून को स्वःप्रयाण हुआ। आपकी विचारशैली भी वैदिक-साहित्य के सम्बन्ध में एक उपयोगी दृष्टिकोण का समर्थन करने वाली है। आपने भी अपने स्वतंत्र ग्रन्थों में **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। साथ ही कृतकत्त्वाकृतकत्त्व सन्बन्ध में भी आपने 'कृतकत्त्व' पक्ष को ही बलप्रदान किया है। इसप्रकार प्राचीन-अर्वाचीन सभी वेदविचारकों नें मन्त्रवत् ब्राह्मणभाग का भी वेदत्त्व स्वीकार किया है। परन्तु अङ्गिरादि ४ ऋषियों के ही अन्तःकरण में प्रकट होने वाली ४ मन्त्रसंहिताओं के समर्थक स्वामी जी ने ब्राह्मणभाग के वेदत्त्व की उपेक्षा कर अपनी अनन्य वेदनिष्ठा का आदर्शपरिचय ? देने का अनुग्रह किया है, जिस परिचय का सर्वथा भ्रान्तिपूर्णत्त्व, अतएव निर्मूलत्त्व, अतएव च बालबुद्धिकल्पनामात्रत्त्वेन निःसारत्त्व विद्वज्जनों द्वारा तत्तत् समयविशेषों में प्रमाणित किया जा चुका है।

हमारा अपना ऐसा संकल्प था कि, अज्ञ जनता को छोड़ कर जो विचारशील आर्यसामाजिक विद्वान् हैं, वे अवश्य ही स्वामी जी के वैदिक–दृष्टिकोण से अपने आपको पृथक् कर चुके होंगे। उदाहरण के लिए अथर्ववेदभाष्यकार सर्वश्री प्रो० राजाराम महोदय, तथा सुप्रसिद्ध वेदप्रेमी श्रीदामोदरसातवलेकर महोदय के सायणभाष्यानुगत अथर्वभाष्य, मृतपितृश्राद्धसमर्थक 'यमपितृपरिचय' नामक रचनाएँ सन्तोष का कारण बन रही थी। परन्तु हमारा यह सुखस्वप्न उस समय सर्वथा विलीन होगया, जब माननीय भगवद्दत्तजी महोदय लिखित **'ब्राह्मणग्रन्थेतिदासप्रकाशिका'** नामकी भूमिका से युक्त, वि० सं० १६८२ में प्रकाशित **'वैदिककोश'** देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

भूमिका भागके—**'क्या ब्राह्मण वेद है ?'** इस द्वितीय प्रकरण का आरम्भ करते हुए आपनें निम्न-लिखित उद्गार प्रकट किए हैं।

"शबर, पितृभूति, शंकर, कुमारिल, विश्वरूप, मेधातिथि, कर्क, वाचस्पतिमिश्र, रामानुज, उव्वट, सायण, प्रभृति सब ही बड़े बड़े आचार्य, मन्त्र ब्राह्मण दोनों को वेद मानते आए हैं। गत ३००० वर्षों में आर्यावर्त्त के किसी विद्वान् * को इस बात का सन्देह नहीं हुआ। इतने काल में आर्यों के हृदयों में ब्राह्मणों की श्रुतियों का उतना ही मान रहा है ÷, जितना संहिताओं के मन्त्रों का। आर्यों के समस्त श्रौतकर्म इन दोनों को तुल्य मान कर ही होते चले आए हैं+ + + + + +।

यह सब कुछ ही था×, पर विक्रम की इस बीसवीं शताब्दी में दयानन्द सरस्वती ने इन सबके विरुद्ध इस बात का प्रकाश किया कि, ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं है। वे ऋषिप्रोक्त हैं, ईश्वरोक्त नहीं A। इत्यादि। दयानन्द सरस्वतीने स्वपक्षपोषणार्थ अनेक युक्तियाँ B दीं। वे युक्तियाँ इस बातको सिद्ध करने के लिए पर्याप्त ही हैं। उनके विरुद्ध जो उचित पूर्वपक्ष उठाया गया है, हम उसका उत्तर तो देंगे ही, पर कुछ एक सर्वथैव नए प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। इन प्रमाणों से ब्राह्मणों का अनीश्वरोक्त होना सिद्ध होजायगा। अन्त में हम यह भी बतावेंगे कि, इतने बड़े बड़े पुराने आचार्यों को इस बात में भ्रम क्यों होगया C.। लीजिये अब प्रमाणों के बल को देखिये, और सत्य को ग्रहण कीजिये + + + + +। (वै० को० भू० ३४ पृ०)।

"एवमिमे सर्वे वेदा निर्म्मिताः, सकल्पाः, सरहस्याः, सब्राह्मणाः, सोपनिषत्काः, सेतिहासाः सान्वाख्यानाः, सपुराणाः, सस्वराः, ससंस्काराः, सनिरुक्ताः, सानुशासनाः, सानुमार्जनाः, सवाकोवाक्याः" (गो० ब्रा० पू० २।९।)।

यहाँ ब्राह्मणकार स्वयं कह रहे हैं कि, (१) कल्प, (२) रहस्य, (३) ब्राह्मण, (४) उपनिषत्, (५) इतिहास, (६) अन्वाख्यान, (७) पुराण, (८) स्वर, (९) संस्कार, (१०) निरुक्त, (११) अनुशासन, (१२) अनुमार्जन, और (१३) वाकोवाक्य, आदि ग्रन्थ वेद नहीं है। जब ब्राह्मणकार स्वयं इन्हें वेद नहीं मानते, तो फिर हम क्यों इन्हें वेद मानें" (भू० पृ० ३४)।

उक्त कथन से श्रीमानों का यह अभिप्राय विदित होता है कि, गोपथब्राह्मण में 'वेदाः' शब्द पृथक् निर्दिष्ट है, एवं 'सब्राह्मणाः', सोपनिषत्काः', पृथक् निर्दिष्ट है। यदि ब्राह्मणारण्यकोपनिषत् भी वेद होते तो

---

*—यथार्थ कथन हैं। जो वास्तव में विद्वान् हैं, उन्हें तो आज भी ब्राह्मणभाग के वेदत्त्व पर कोई सन्देह नहीं है।

÷—आर्यभूमि में उत्पन्न एक सच्चा आर्य तो अपनी इस मान्यता का आज भी अनुगमन ही करेगा।

×—'यह सब कुछ ही था, और तबतक रहेगा, जबतक वेदार्थवित्–विद्वान् इससे विपरीत, अशास्त्रीय, कल्पित भावनाओं के निराकरण के लिए सदा सन्नद्ध रहेंगे।

A—क्या स्वामीजी का अभिमत निराकार ईश्वर भी मन्त्रोच्चारण किया करता है ?।

B.—केवल युक्तियाँ, क्योंकि इस सम्बन्ध में प्रमाण मिलना असम्भव था। और विशुद्ध युक्तिवाद का आर्षप्रजा की दृष्टि में कितना महत्व है ?, इस सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है।

C.—इसलिए कि, वे स्वामी जी के अनार्षविचारों के अनुगामी न थे !

इनका पृथक् निर्देश न होता। इस सम्बन्ध में यही कहना है कि, जिस तत्त्वात्मक वेद का पूर्वखण्डों में विस्तार से निरूपण किया गया है, उस तात्त्विकवेद के मूल-तूल भेद से दो विभाग हैं। मूलतत्त्ववेद की प्रतिकृति मन्त्रवेद है, तूलतत्त्ववेद की प्रतिकृति ब्राह्मणवेद है। मूलवेद, तूलवेद के समतुलन में मूलवेद प्रधान है, तूलवेद गौण है। केवल इस अङ्गाङ्गीभाव के स्पष्टीकरण के लिए ही दोनों का पृथक् पृथक् निर्देश हुआ है।

हमें तरस आता है आपके उपर्युक्त उद्धरण पर इसलिए कि, 'ब्राह्मणभाग ईश्वरोक्त नहीं है' जिस अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए आप उक्त उद्धरण उद्धृत कर रहे हैं, वह आपके मन्तव्य के सर्वथा विपरीत ब्राह्मणभाग का भी ईश्वरकर्तृत्व सिद्ध कर रहा है। 'एवमिमे सर्वे वेदा विनिर्मिताः' के सम्बन्ध में यदि आप 'केन निर्मिताः' का निर्णय कर लेते, तो सम्भवतः ऐसी भूल न होती। किसने वेदादि की रचना की ?, इस प्रश्न का समाधान करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

"एवं वा अरेऽस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्–ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्वाङ्गिरसः, इतिहासः, पुराणं, विद्याः, उपनिषदः, श्लोकाः, सूत्राणि, अनुव्याख्यानि, व्याख्यानानि। अस्यैवैतानि निःश्वसितानि" (बृ० आ० उ० २।४।१०।)।

जो महान्भूत मन्त्रवेद का प्रवर्त्तक है, वही ब्राह्मणवेद का प्रवर्त्तक है, साङ्गवेद उसी का निःश्वास है" इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में श्रुति मन्त्रवत्–ब्राह्मणभाग का भी ईश्वरकर्तृत्व सिद्ध कर रही है। कदाचित् आप यह कहेंगे कि, बृ० श्रुति में उपनिषत् शब्द तो आया है, परन्तु 'ब्राह्मण' शब्द नहीं आया। उत्तर में कहेंगे क्या आप उपनिषद्भाग को वेद मानते हैं ?। नहीं, तो क्यों ? हाँ, तो तत्सम ब्राह्मण भी वेद क्यों नहीं ? फिर आपके (पृष्ठ संख्या ३६) कथनानुसार इतिहास-पुराणशब्द तो ब्राह्मणभाग की ही संज्ञा है। तब तो उक्त कथन में भी कोई सार नहीं रह जाता। उधर तत्त्ववेददृष्टि से हमारे पक्ष में भलीभाँति उक्त वचन चरितार्थ हो रहे हैं।

एक दूसरे काल्पनिक हेतु की मीमांसा और कर लीजिये। आगे जाकर स्मृति के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत करते हुए आप कहते हैं—

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (मनुः २।१४०।)।

इस श्लोक में रहस्य शब्द आया है। रहस्य शब्द आरण्यक, अथवा * उपनिषत् का द्योतक है। उपनिषत्, और आरण्यक आज कल ब्राह्मणों का भागमात्र है। मनु इनका वेद से पृथक निर्देश करते हैं। अतएव मनुजी की दृष्टि में ब्राह्मण वेद नहीं है" (भू० ३५ पृ०)

कैसा अश्रुतपूर्व साहस है। श्रीमानों के ही द्वारा आरम्भ में उद्धृत पूर्वोक्त गोपथवचन 'सकल्पाः-सरहस्याः-सब्राह्मणाः-सोपनिषत्काः' इत्यादिरूप से कल्प-रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषत्, आदि का परस्पर भेद

* क्यों, क्या निश्चयात्मक निर्णय नहीं कर सके, जिससे 'अथवा' कहना पड़ा ?

बतला रहा है। और इसी विभागदृष्टि को प्रामाणिक समझते हुए आपने १३ संख्या उद्धृत की हैं। और आज मनूक्त 'सरहस्यं' को आप उपनिषदादि का द्योतक मानने की भयङ्कर विस्मृति के अनुगामी बन रहे हैं।

अलमतिपल्लवितेन। 'छिन्ने मूले०' न्याय से जब मूलारम्भ ही कल्पित है, तो आगे के हेतुओं की मीमांसा व्यर्थ है। 'स्थालीपुलाकन्याय' से विद्वान् सबकी यथार्थता का अनुमान लगा सकते हैं। ब्राह्मणभाग का वेदत्व प्रमाणित करने वाले निम्नलिखित वचनों पर दृष्टि डालिए—

(१)–"वेदे खल्वपि–पयोव्रतो ब्राह्मणः, यवागूव्रतो राजन्यः, आमिक्षाव्रतो वैश्यः" (म० भा० १।१।१।)।

(२)–"वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति–योऽग्निष्टोमेन यजते, य उ चैनमेवं वेद"।

(३)–"वेदेऽपि–य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यास्ते, इति तेषामनुकुर्वंस्तद्वत् सत्राण्यध्यासीत" (इत्यादि)

उक्त वचनों में ब्राह्मण भाग के लिए 'वेदे खल्वपि'–'वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति'–'वेदेऽपि' इत्यादि स्पष्ट शब्दों में 'वेदे' नाम व्यवहृत हुआ है। इसप्रकार इन प्रमाणों से अपने कल्पित मन्तव्य का आमूलचूड़ निराकरण होते देख कर आप निम्नलिखित शब्दों में उक्त वचनों का समन्वय करने की व्यर्थ चेष्टा करने लगते हैं—

"वेदव्याख्यान होने से, तथा प्रवचन की भाषा होने से ही इन्हें वेद के अत्यन्त समीप माना जाता है। जिस प्रकार हम भी कल्पों को वैदिक तो मानते हैं (बड़ा अनुग्रह), पर साक्षात् ईश्वरक वेद नहीं। वैसे ही प्राचीन लोग भी ब्राह्मणों को वैदिक तथा औपचारिक दृष्टि से वेद कहते थे" (भूमिका)।

४—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आपस्तम्बश्रौतसू० २४।१।३१)।

५—"मन्त्रब्राह्मणं 'वेद' इत्याचक्षते" (बोधायनगृ० सू० २।६।२।)।

६—"आम्नायः पुनर्म्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च" (कौशिकसू० १।३।)।

इत्यादि वेदसमर्थक आर्षप्रमाणों के सम्बन्ध में भी आप उसी कल्पित भावना को आगे कर निम्न-लिखित उद्गार प्रकट कर रहे हैं—

"श्रौतसूत्रों का जन्मदाता जब ब्राह्मण स्वयं कह चुका है कि, वह वेद नहीं है (सिद्ध कीजिए!), तो कल्पसूत्रों के इन स्मार्त्त प्रमाणों का क्या मूल्य हो सकता है"।

कल्पसूत्र स्मार्त्त प्रमाण हैं। कृपाकर यह और बतला दीजिए कि ब्राह्मणभाग को आप किस प्रामाण्य-कोटि में रखते हैं ?। स्मार्त्तकोटि का तो आपके मुख से ही खण्डन हो रहा है। शेष रहती है श्रुतिकोटि। श्रुतिप्रमाण स्वतःप्रमाण बनता हुआ वेदप्रमाण है। कैसी विशृङ्खलता है, कैसी श्लथ-विचारधारा है ?, पाठक स्वयं मुकुलितनयन बनकर विचार करें।

यह है कल्पनारसिकों के गन्धर्वनगर का भग्नावशेष । इस विषय में अधिक कहना समय का दुरुपयोग करना है । ब्राह्मण (विधि, आरण्यक उपनिषत्) भाग वेद है, अथवा नहीं?, इस प्रश्न का सम्यक्-समाधान तो पूर्वप्रतिपादित वेदस्वरूपरण से ही गतार्थ है । अब इस सम्बन्ध में केवल एक दृढ़तम-अश्माखण-प्रमाण बतला कर प्रकरण समाप्त किया जाता है ।

अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए ब्राह्मणभाग के समर्थक श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों को थोड़ी देर के लिए काल्पनिक मतवादियों के अनुसार हम भी प्रक्षिप्त, अथवा अर्थान्तरप्रतिपादक मान लेते हैं । यह सब कुछ स्वीकार कर लेने पर भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व को अक्षुण्ण बनाए रखने वाला एक ऐसा हेतु बच रहता है, जिसका प्रयत्नसहस्रों से भी निराकरण नहीं किया जासकता । उपनिषद्ग्रन्थों में ईशादि-दशोपनिषद् ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं । सभी इन्हें प्रमाण मानते हैं । इनमें पहिली 'वाजसनेय' नाम की ईशोपनिषत्' है । ईशोपनिषत् आत्मा की उपनिषत् (मूलरहस्यविज्ञान) बतलाने वाली ब्रह्मविद्यात्मिका उपनिषत् है । यह भी सर्वविदित है कि, वादी के द्वारा मूल-ईश्वरीय-वेद-रूप से स्वीकृत उपलब्ध शुक्लयजुःसंहिता के ४० वें अध्याय का ही नाम 'ईशोपनिषत्' है । इससे पूर्वके ३९ अध्यायों में यज्ञकर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण हुआ है । कर्म्म करना ही क्यों चाहिए ?, इस प्रश्न की उपनिषत् 'आत्मविद्या' है, जैसा कि भूमिका-प्रथमखण्डान्तर्गत 'उपनिषच्छब्दार्थ' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । ऋषि ने पहिले विविध यज्ञ-कर्म्मों का निरूपण किया । अनन्तर ४० वें अध्याय में उसकी उपनिषत् बतलाई । 'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि' इत्यादिरूप से आत्मज्ञानोदयोपयिक-निष्कामकर्म्मलक्षण बुद्धियोग का उपदेश दिया ।

संहिता वेद हैं, यह सर्वसम्मत है, संहितावेद का ४० वाँ अध्याय ही ईशोपनिषत् है, यह भी सर्वविदित है । क्या उपनिषयों के वेदत्व के सम्बन्ध में इससे भी अन्य कोई प्रमाणअपेक्षित है? । प्रमाणसिद्ध इस प्रत्यक्ष स्थिति को देखते हुए भी जो महाशय ब्राह्मणभाग को वेद न मानने का दुःसाहस करते हैं, उन्हें आज से ही अपनी मानी हुई वेदसंहिता को भी वेद शब्द से व्यवहृत करना छोड़ देना चाहिए, क्योंकि उनके मतानुसार मनुष्यकृत ईशोपनिषत् यजुःसंहिता का ही अन्तिम भाग है ।

अस्तु इस सारहीन चर्चा को यहीं नमस्कार कर अन्त में हम अपने प्रक्रान्त प्रश्न के सम्बन्ध में यही कह देना चाहते हैं कि—

"उपनिषत् अवश्य ही वेद है" ।

———×———

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

'वेद-पौरुषेय-अपौरुषेयत्व-मीमांसा' नामक

प्रथमस्तम्भ-उपरत

१

—×—

श्री:

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत-

'उपनिषत्प्रतिपाद्यविषयादिग्दर्शन' नामक

द्वितीय-स्तम्भ

२

श्रीः

उपनिषत्प्रतिपाद्यविषयदिग्दर्शन

द्वितीय स्तम्भ

१–द्वितीय स्तम्भोपक्रम—

गुहानिहित जिस आत्मविद्या के स्वरूप प्रतिपादन के लिए वेदशाखानुगत अनेक (११३१) उपनिषद् ग्रन्थ अवतीर्ण हुए, उनके प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में 'उपनिषदों में क्या है ?' इस प्रश्न का विशेष महत्त्व नहीं है। इस प्रश्न का यथावत् समाधान तो स्वयं उपनिषद्-ग्रन्थों पर ही निर्भर है। प्रासङ्गिक भूमिका-परिलेख में उपनिषद्-प्रतिपाद्य विषयों की तालिका का स्पष्टीकरण भी असम्भव है। यदि प्रतिपाद्य-विषयों की केवल सूची भी उद्धृत की जाय, तो इसके लिए भी लगभग ४०० पृष्ठात्मक एक स्वतन्त्र-ग्रन्थ अपेक्षित है। फलतः उक्त प्रश्न के सम्बन्ध में सिद्धान्ततः यही उत्तर पर्य्याप्त माना जायगा कि, 'उपनिषदों में क्या है ?' जिज्ञासा शान्त करने के लिए अनन्य निष्ठा से स्वयं उपनिषद्-ग्रन्थों का ही स्वाध्याय करना चाहिए। और इसप्रकार इसी समाधान पर हमारा प्रस्तुत द्वितीय स्तम्भ समाप्त माना जा सकता है।

क्योंकि आरम्भ में प्रतिज्ञा की जा चुकी है। अतः तद्रक्षार्थ इस सम्बन्ध में भी परिभाषा-दृष्टि से कुछ तो भी निवेदन कर देना आवश्यक बन जाता है। प्रकृत स्तम्भ में बतलाईं जानें वालीं परिभाषाओं के आधार पर ही पाठक यह अनुमान लगा सकेंगे कि, उपनिषत्-साहित्य भारतवर्ष की वह अमूल्य निधि है, जिसे अपने समीप रखता हुआ भारतवर्ष सम्पूर्ण विश्व में अपना एक महत्त्व-पूर्ण स्थान सुरक्षित रख लेने के महान् उत्तरदायित्व से प्रकृत्या ही सुसमन्वित है।

२–भूतसर्ग, और शास्त्रोपदेश—

(१)–यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
—श्वेता० उ० ३।९।

(२)–अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ —श्वेता० ३।२०।

(३)–ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥ —श्वे० ३।७।

(४)–सर्वव्यापिनमात्मानं, क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥ —श्वे० १।१६

(५)–पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ —ईशोपनिषत् १

(६)–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति–'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' ॥
—ऋक्सं० ६।४।२६।

उक्त उपनिषत्–मन्त्र–श्रुतियों के अनुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि लक्षण सच्चिदानन्दघनमूर्त्ति ईश्वर–प्रजापति से कोई स्थान विरहित नहीं है । वह सर्वत्र, सब जीवों में साक्षी–रूप से विद्यमान है । वही सब कुछ बना है, सबमें प्रतिष्ठित है, वही 'सर्वम्' है । जीवात्मा इसी सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) ईश–प्रजापति का अंश है । जीवसर्ग असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, ससंज्ञ, भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त है । धातुजीव असंज्ञ हैं, इनमें केवल अर्थ-शक्तिप्रधान वैश्वानर आत्मा का विकास है, अतएव इन्हें 'एकात्मक' जीव कहा गया है । 'स्तम्ब' से आरम्भ कर ओषधि-वनस्पति आदि वृक्षवर्ग अन्तःसंज्ञ जीव हैं, इनमें अर्थलक्षण वैश्वानर के साथ साथ क्रियाशक्तिप्रधान तैजस आत्मा का भी विकास है, अतएव इन्हें 'द्व्यात्मक' जीव कहा गया है । इनका मूलभाग भूगर्भ में बद्ध रहता है, इनका स्थानपरित्याग नहीं होता, मूलत्याग नहीं होता, अतएव इन्हें 'मूलजीव' भी कहा जाता है । कृमि से आरम्भ कर देवयोनिलक्षण 'ब्रह्म' नामक (चान्द्रदेवात्मक) जीवपर्य्यन्त सम्पूर्ण जीववर्ग ससंज्ञ नाम से प्रसिद्ध हैं । इनमें अर्थ–क्रियालक्षण वैश्वानर–तैजस के साथ साथ ज्ञानशक्तिप्रधान प्राज्ञ–आत्मा का भी विकास है, अतएव इन्हें 'त्र्यात्मक' जीव भी कहा गया है । यह तीसरा ससंज्ञ नामक जीववर्ग ही लोकभाषा में 'जीव' नाम से प्रख्यात है ।

मातृस्थानीय पार्थिव 'श्यैत' प्राण, तथा पितृस्थानीय सौर 'नौधस' प्राण, इन दोनों के समन्वय से ही उक्त संसज्ञ–जीवसर्ग का विकास हुआ है । इन द्यावापृथिव्य प्राणों के समन्वयतारतम्य से यह जीवसर्ग १३ भागों में विभक्त हो रहा है । कृमि, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्य' ये पाँच सर्ग 'तिर्य्यक्सर्ग' हैं । एवं इनमें गुणात्मिका प्रकृति (योगमाया) के रजोगुण की प्रधानता है । अतएव यह पञ्चसर्गसमष्टि सांख्य–भाषा में 'रजोविशालसर्ग' नाम से व्यवहृत हुई है । कृमिसर्ग के द्यावापृथिव्य प्राण के सन्निवेशतारतम्य से सहस्रपात्,शतपात्, द्वात्रिंशत्पाद, षोडशपात्, भेद से चार विवर्त्त हैं । कीट का अष्टपात् विवर्त्त प्रधान है । पार्थिव आकर्षण को शिथिल करने वाला सौर प्राण ज्यों ज्यों अधिकाधिक मात्रा में आता जाता है, त्यों–त्यों पार्थिवाकर्षणबल अधिकाधिक कम होने लगता है । कृमि,–कीट, इन दो सर्गों में (प्राण–संनिवेशतारतम्य रहने पर भी) पार्थिव प्राण की प्रधानता है । तीसरे पशुसर्ग में दोनों प्राण सममात्रा से युक्त रहते हैं। अतएव चतुष्पाद पशुसर्ग पार्थिव पुच्छभागसे तथा सौर शिरोभाग से समुतिलित-सा बन कर खड़ा रहता है । आगे के पक्षि–मनुष्य सर्गों में पार्थिवप्राण गौण है, सौरप्राण प्रधान है । सौरप्राण की मात्रावृद्धि से शिरोभाग आंशिकरूप से उन्नत हो जाता है, पार्थिवप्राणप्रधान पुच्छभाग अवनत रह जाता है । पक्षिसर्ग का यही स्वरूप है । पक्षी जब भी बैठता हैं, शिरोभाग उन्नत रहता है, तिर्य्यग्रूप से बैठता है । सौरप्राण और अधिक मात्रा से आता है, शिरोभाग सर्वथा ऋजु (सीधा) बन जाता है, एवं मानवसर्ग का यही स्वरूप है ।

उक्त पाँच तिर्य्यक्-जीवसर्गों के अतिरिक्त 'राक्षस, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व, ऐन्द्र, पैत्र, प्राजापात्य, ब्राह्म' यह अष्टविध ससंज्ञजीवसर्ग और है। इनमें पार्थिवप्राणाकर्षण का आत्यन्तिक अभाव है, अतएव इन्हें 'अपाद' जीव कहा गया है। इसके अतिरिक्त मनुष्यों में जहाँ ११ इन्द्रियाँ हैं, वहाँ इनमें ८ सिद्धि, ६ तुष्टि भेद से १७ इन्द्रियाँ अधिक हैं। सम्भूय इनमें २८ इन्द्रियों का समावेश है। पार्थिव आकर्षण का स्थान चान्द्रसौम्यप्राण ग्रहण कर लेता है, अतएव इन्हें 'चान्द्रदेवता' भी कहा गया है। चन्द्र-चन्द्रिका ही इन सौम्य जीवों की आवासभूमि है। सौर ताप इनके लिए एकान्ततः असह्य है। सोम ही सत्त्वगुण की प्रतिष्ठा है। अतएव इन्हें 'सत्वविशालसर्ग' माना गया है। इसप्रकार रजोविशाल पञ्चविधतिर्यक्सर्ग, सत्वविशाल अष्टविध ऊर्ध्वसर्ग, ससंज्ञ सर्गके १३ विभाग हो जाते हैं। अन्तःसंज्ञ नामक वृक्षसर्ग, असंज्ञ नामक धातुसर्ग, दोनों तमोविशाल अधःसर्ग हैं, एवं दोनों का 'स्तम्ब' शब्द से ग्रहण है। इसप्रकार स्तम्ब से आरम्भ कर ब्रह्मपर्य्यन्त १४ प्रकार का भूतसर्ग (जीवसर्ग) हो जाता है, जैसा कि निम्नलिखित प्राधानिक वचन से भी प्रमाणित है—

ऊर्ध्वं सत्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादि-स्तम्बपर्य्यन्तः। (सां० का० ५४)।

यद्यपि कारिकाने तिर्यक्सर्ग में 'पशु-पक्षी-सर्प-कीट-स्थावर' नामक पाँच सर्गों का समावेश मानते हुए मानुषसर्ग को स्वतन्त्र माना है, परन्तु उक्त कारिका के समन्वय की दृष्टि से 'कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य' यही विभाग सुसङ्गत प्रतीत होता है। यद्वा-तद्वास्तु, सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है।

उक्त चतुर्दशविध भूतसर्ग **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** के अनुसार ईशप्रजापति की काम-तपः-श्रमलक्षणा व्यापारत्रयी से उत्पन्न होने के कारण यद्यपि 'ईश्वरांश' ही माना जायगा। तथापि इस अंशभाव का पूर्ण विकास एकमात्र मानवसर्ग में ही माना गया है। देवसर्ग परतन्त्र है, धातु-मूलसर्ग अचेतन है, कृमि-कीट-पशु-पक्षी-सर्ग चेतना के पूर्ण विकासाभाव से परतन्त्रवत् है। परन्तु मनुष्यसर्ग पूर्णेश्वर की यच्चयावत् पूर्ण विभूतियों से युक्त रहता हुआ सर्वसर्गापेक्षया प्रधान है, तत्समतुलित है। इसी चित्-पूर्णता के सम्बन्ध से इसे प्रजापति के नेदिष्ठ (निकटतम) कहा गया है, जैसा कि **'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** इत्यादि ब्राह्मणवचन से प्रमाणित है।

असंज्ञादि त्रिविध जीवों के साथ क्रमशः वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ नामक आत्मविवर्त्तों का सम्बन्ध बतलाया गया है। ये तीनों आत्मविवर्त क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र-नामक प्राणदेवताओं से अनुगृहीत हैं। तीनों में 'इन्द्रप्राण' ही चैतन्यब्रह्म (अक्षरब्रह्म) के निकटतम है। प्रज्ञा सोमांश है, तदभिन्न प्राण इन्द्र है। प्रज्ञात्मक प्राण ही इन्द्र है। प्रज्ञासोम शुभ्र है, इसी पर चित् का आभास होता है, इसी चित् के सम्बन्ध से प्रज्ञात्मक प्राणेन्द्र 'चिदाभासलक्षण' जीवात्मस्वरूप में परिणत होता है। यद्यपि कृमि-कीटादि पाँचों हीं सर्गों में प्राज्ञेन्द्र का सम्बन्ध है। परन्तु पूर्ण विकास केवल मानवसर्ग में ही हुआ है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, ऐन्द्रव्याकरण का विकास केवल मनुष्य में ही हुआ है। ज्ञानेन्द्र ही क-च-त-ट-पादिवर्णविभक्तिलक्षण व्याकरण का प्रवर्त्तक है। अन्य सर्गों में वर्णवाक् का अभाव है, केवल मनुष्य ही-**'तुरीयं वाचो वदन्ति'**। इस प्राज्ञेन्द्र के पूर्ण विकास से ही मनुष्यसर्ग प्रजापति के नेदिष्ठ माना गया है। तलवकारोपनिषत् नें इस विषय की विशद-

वैज्ञानिक मीमांसा की है। वहाँ बतलाया गया है कि, अग्नि–वायु–इन्द्र, तीनों में से केवल इन्द्र ने हीं ब्रह्म का समीप से स्पर्श किया–**'स हि नेदिष्ठं पस्पर्श'** (केनोपनिषत्४।३)।

अपिच एक और कारण से भी मानवसर्ग की उक्त नेदिष्ठता का समन्वय किया जा सकता है। ईश-प्रजापति में जितनें संख्या–विभाग हैं, जीवसर्ग में से केवल मानवसर्ग में हीं उन सबका यथानुरूप पूर्ण विकास है। ईश्वरांश–ईश्वरावयव-रूप स्वयम्भू-परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रादि का अंशत्व ईश्वरात्मा से सम्बद्ध है। इन में किसी में सर्वत्व नहीं है। परन्तु मनुष्य में स्वयम्भू–आदि सब पर्वों का अव्यक्तादिरूप से समावेश है। जो अमृत–ब्रह्म–शुक्र नामकी संस्थाएँ ईश्वर में हैं, वे ज्यों की त्यों मनुष्य में हैं, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। नेदिष्ठ होने के कारण अपनी ज्ञान–क्रिया–अर्थ-कलाओं से उसकी ज्ञान–क्रिया–अर्थ-कलाओं का सम्बन्ध जोड़ता हुआ एकमात्र मनुष्य ही ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड, कर्म्मकाण्ड का अधिकारी माना गया है! एकमात्र मानवसर्ग ही अपने ऐहिक जन्म में अपनी स्वाभाविक–स्थिति से उच्चभूमिका में पहुँच सकता है। शेष जीवसर्ग केवल अपने सहज–जीवन के ही अनुगमन में समर्थ है। सम्पूर्ण शब्दोपदेश एकमात्र मानवसर्ग को उद्देश्य बना कर ही प्रवृत्त हुए हैं।

जब मनुष्य ईश्वर का अंश है, साथ ही अंश का अंशी के साथ जब स्वाभाविक सम्बन्ध है, एवं इसी सम्बन्ध से जब मनुष्य प्रजापति के नेदिष्ठ है, तो फिर इसे उपदेश देने की क्या आवश्यकता है?, क्यों यह ज्ञान–उपास्ति–कर्म्म-का अनुगमन करे, जब कि इसकी ज्ञान–क्रिया–अर्थ–कलाएँ स्वतएव उसकीं ज्ञान–क्रिया–अर्थ–कलाओं से सम्बद्ध हैं?, इन प्रश्नों का समाधान 'पाप्मा' विवर्त्त है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, पूर्णेश्वर की यच्चयावत् पूर्ण विभूतियों से युक्त रहता हुआ मनुष्य पूर्ण है, स्वतन्त्र है, बन्धनरहित है। और यही इसका वास्तविक स्वरूप है। परन्तु ६ ऊर्म्मि, ६–अवस्था, ५–क्लेश, इन १७ पाप्माओं से युक्त रहने के कारण यह उसके स्वाभाविक सम्बन्ध से वञ्चित हो रहा है। इन्हीं पाप्माओं के अनुग्रह से यह उससे पृथक् होता हुआ अपने स्वाभाविक दिव्य स्वरूप को भूल रहा है। दूसरे शब्दों में मध्यस्थ पाप्माओं नें इसे उससे पृथक् कर रक्खा है। और यही इस पूर्ण की अपूर्णताप्रवृत्ति का मुख्य कारण है। इसी अपूर्णता से प्रज्ञा-पराध का अनुगामी बनता हुआ जीवात्मा अपनी स्वाभाविक शक्तियों का अभिभव करता हुआ निर्बल बन जाता है। ऐसा निर्बल आत्मा **'नायमात्मा बलहीनेन** लभ्यः' के अनुसार उस व्यापक आत्मतत्व–विभूति की अनुग्रह-प्राप्ति में तो सर्वथा असमर्थ ही बना रहता है।इसके साथ ही शक्तिह्रास के कारण आधिदैविक-आधिभौतिक–आध्यात्मिक तापों से यह दुःखी भी बना रहता है।

३–समाधानपरम्परा—

तापत्रयनिवृत्तिपूर्वक दुःखात्यन्तनिवृत्ति के लिए, साथ ही पाप्मानिवृत्तिपूर्वक अपने विशुद्ध आत्म-स्वरूप में आते हुए उसकी स्वाभाविक विभूतियों की अनुग्रहप्राप्ति के लिए अवश्य ही मनुष्य का कुछ कर्त्तव्य हो जाता है। उस कर्त्तव्य–शिक्षण के लिए शास्त्रोपदेश प्रवृत्त हुआ है। ज्ञान–क्रिया–अर्थमय आत्मा की कर्त्तव्यधारा कर्म्म–उपास्ति–ज्ञान–भेद से तीन धाराओं में विभक्त है। इन तीनों के लिए कर्त्तव्यवेद के विधि–आरण्यक–उपनिषत्–नामक तीन शास्त्रोपदेश प्रवृत्त हुए हैं। कर्म्मात्मक विधिभाग, उपासनात्मक आरण्यक भाग, दोनों का विचार अनपेक्षित हैं। अपेक्षित है ज्ञानात्मक उपनिषद्–भाग का

विचार। उपनिषत् का मुख्य उद्देश्य है जीवात्मा के ज्ञानमय मानस पटल पर आए हुए आवरणों को हटाने का उपाय-प्रदर्शन। अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपनिषत् को ईश्वरप्रजापति, जीवात्मा, आवरण-स्वरूप, आवरणनिवृत्युपाय, इन चार विषयों को लक्ष्य बनाना पड़ता है। यह स्मरण रखने की बात है कि, उपनिषत्-शास्त्र जीवाभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। अतः इसका प्रधान-प्रतिपाद्य विषय तो जीवात्मा ही है। परन्तु जीव उस ईश्वर का अंश है, एवं अंश-तभी अंशी की विभूतियों का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है, जबकि इसे उसके स्वरूप का बोध हो जाय। एकमात्र इसी उद्देश्य से उपनिषत् को गौण रूप से ईश्वरात्मा का भी विश्लेषण करना पड़ता है। इसप्रकार प्रस्तुत विवेचन से हमें 'उपनिषदों में क्या है !,' इस प्रश्न के सम्बन्ध में निम्न लिखित समाधानपरम्परा का अनुगामी बनना पड़ता है—

१–उपनिषदों में जीवात्मा के तात्त्विक स्वरूप का निरूपण है।

२–उपनिषदों में ईश्वरात्मा का प्रासङ्गिक विश्लेषण है।

३–उपनिषदों में आत्मस्वरूपावरक पाप्माओं का प्रदर्शन है।

४–उपनिषदों में आवरणनिवृत्युपायप्रदर्शन है।

५–उपनिषदों में संचर-प्रतिसंचररूप से सृष्टिविज्ञान का उपबृंहण है।

"आत्मस्वरूप-प्रतिपादनपुरःसर, आगत दोष-निवृत्युपाय बतलाते हुए उसके साथ इसका सम्बन्ध करा देना ही उपनिषच्छास्त्र का मुख्य कर्त्तव्य है" इस वाक्य से दो उद्देश्य सूचित हो रहे हैं। आत्मस्वरूप का प्रतिपादन पहिला, एवं मुख्य उद्देश्य है। एवं जीवात्मा को उपायों के द्वारा निर्धूत-कल्मष बना कर इसे उसके साथ अभिन्न बनाते हुए अमृतत्त्व प्राप्त करा देना दूसरा उद्देश्य है। क्योंकि शास्त्रोपदेश का लक्ष्य एकमात्र जीवात्मा है। अतएव मानना पड़ता है कि, उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा 'जीवात्मा' ही है। जीवात्मा-परमात्मा का अंश है। इस अंशस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में गौणरूप से परमात्मा का भी यदि निरूपण हो जाय, तो एतावता ही उपनिषत् के मुख्य प्रतिपाद्य उद्देश्य की कोई क्षति नहीं मानी जा सकती। ऐसी दशा में जिन व्याख्याताओं नें उपनिषदों को परमात्मप्रतिपादनप्रधान मानते हुए इस शास्त्र को अखण्डात्मप्रतिपादक बतलाया है, उनके सम्बन्ध में कुछ न कहना ही प्रचलित श्रद्धा-विश्वास की रक्षा का एकमात्र मार्ग है।

४–उपनिषदों के सन्तमतानुयायी प्राचीन व्याख्याता—

सन्तमत को पुष्पित-पल्लवित करने वाले सम्प्रदायवाद ने अपने समय में अवश्य ही भारतीय साहित्य, संस्कृति, धर्म्म की रक्षा में अपना हाथ बँटाया होगा। परन्तु आज तो इस सम्प्रदायवाद ने (वैदिकतत्त्वविलुप्ति से) रकार, क्षकार, ककार के स्थान में क्रमशः भकार-क्षकार-ककार को ही प्रतिष्ठित कर रखा है। कहना न होगा कि, **'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'** आभाणक की अवहेलना करने से इसी सम्प्रदायवाद ने वैदिक तत्त्व-विलुप्ति में पर्य्याप्त सहयोग दिया है। हम देश के साहित्यसेवी विद्वानों से सानुनय यह निवेदन करेंगे कि, यदि वे वैदिक-साहित्य का वास्तव में समुद्धार चाहते हैं, तो उन्हें सम्प्रदायवाद का आश्रय छोड़ कर विशुद्ध-आर्ष-प्रणाली से ही उन्हें स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिए। प्रत्येक दशामें उन्हें निम्न लिखित श्रौत-आदेशों का अनुगमन करना पड़ेगा, और तभी वे अपने उद्देश्य में सफल हो सकेंगे—

"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि ।
यान्यनवद्यानि कर्म्माणि, तानि त्वया सेवितव्यानि, नो इतराणि" (तै० उ० १।११।१,२,।)

श्रद्धा–विश्वास के आधार पर अपना गौरव सुरक्षित रखने वाले भारतवर्ष ने अपने अतिशय उदार–क्रोड़में अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया । सभी सम्प्रदायों नें स्व प्रतिष्ठा के लिए अपनी प्रामाणिकता के लिए उस सुप्रसिद्ध प्रस्थानत्रयी (उपनिषत्, भगवद्गीता, शारीरकसूत्र) का आश्रय लिया, जिसके बिना कोई भी सम्प्रदाय प्रतिष्ठित नहीं माना जासकता । फलस्वरूप सम्प्रदायप्रवर्त्तक स्वनामधन्य श्रीवल्लभ, रामानुज, माध्व, निम्बार्क, शङ्कर, आदि सम्प्रदायप्रवर्त्तकों नें अपने अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से प्रस्थानत्रयी पर स्वतन्त्र भाष्य लिखे । उपलब्ध होनें वाले इन साम्प्रदायिक भाष्यों में आजदिन विद्वत्समाज में शाङ्कर–भाष्य का विशेष समादर है, यह निर्विवाद है । अतः दो शब्दों में हम इस भाष्य के दृष्टिकोण का ही दिग्दर्शन करा देना पर्य्याप्त समझते हैं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, जिस साम्प्रदायिक-कलहयुग में भगवान् शङ्कराचार्य्य अवतीर्ण हुए थे, उस युग की दृष्टि से शाङ्कर–भाष्य अपना एक विशेष महत्त्व रखता है । और तद्युगापेक्षया हम शाङ्कर–भाष्य का महोपकार मानने के लिए बाध्य हैं । प्रकृतिसिद्ध शाश्वत धर्म्म के सनातन नियमों में जब जब ग्लानि उपस्थित होती है, तब तब भगवंदश भारतवसुन्धरा में अवतीर्ण हुआ करता है, यह आर्षप्रजा का चिरन्तन, साथ ही प्रामाणिक विश्वास है* । कोई युग था, जिसमें यज्ञविद्यात्मक सूर्य्य अपनी सहस्रकलाओं से भारतवर्ष में तप रहा था । कालातिक्रम से आगे जाकर वैधपशुबलि का दुरुपयोग होने लगा । स्वार्थियों नें वैध–विधियों की उपेक्षा कर ईश्वर के नाम पर अवैध विधि से सर्वथा निरर्थक असंख्य मूक पशुओं को बलिवेदि पर चढ़ाना आरम्भ कर दिया । इसी हिंसावृत्ति ने कालान्तर में उस सम्प्रदायवाद को जन्म दे डाला, जो अपने अवैध अकाण्ड ताण्डवों से आगे चल कर **'कापालिक'** नाम से प्रसिद्ध हुआ । प्रकृतिस्वरूपसंरक्षणात्मक यज्ञकर्म्मों की उपेक्षा, तन्माध्यम से–**'न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये, न च मैथुने"** (मनुः ५।५६) इत्यादि मनूपवर्णित अवैदिक अनाचारों का प्राधान्य, प्रकृतिविरुद्ध असदाचरणात्मक असद्भावों के काल्पनिक चमत्कारों का महान् व्यामोहन, फलस्वरूप सहज सनातनधर्म्म का अभिभव, आस्थाश्रद्धापरायणा भारतीय जनता का निःसीम क्षोभ, इसकी सहज भावुकता से लाभ उठाने में कुशल काल्पनिकों के द्वारा अहिंसा के माध्यम से सहसैव प्रादुर्भुत वेदविरुद्ध अहिंसापथ का आविर्भाव, तत्परिणामस्वरूप सहजभावुक वेदमर्म्मानभिज्ञ बुद्धादि के द्वारा प्राकृतिक सहज सौन्दर्य्यविघातक शून्य–क्षणिकवाद का महतासमारम्भेण प्रचार प्रसार, आदि आदि अकाण्ड–ताण्डवों नें शाश्वत सनातन वैदिक आचारात्मक धर्म्म को सर्वथैव म्लानकोटि में ला उपस्थित किया ।

एवं हि श्रूयते— अहिंसा का असामयिक डिन्डिमघोष करने वाले यज्ञविज्ञानशून्य बौद्ध मतवादानुयायी तत्कालीन नरपतियों नें प्रकृतिसिद्ध वैदिक यज्ञकर्म्म के समूलोत्पाटन का दृढ़ संकल्प

---

* यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। (गीता) ।

कर डाला। सत्यासत्य का निर्णायक भगवान् है। परन्तु जनश्रुति कहती है कि, यज्ञकाल में वैध विधियों का उल्लंन करने वाले व्यक्तियों के द्वारा जो अवस्था निरपराध मूक पशुओं की थी, वही स्थिति यज्ञकर्म्म-परायण भूसुरों की हुई। बौद्धों के इस अत्याचार से धर्म्मग्लानि सीमोल्लंधन कर गई। वेदधर्म्मविलुप्ति के उपक्रम दृष्टिगोचर होने लगे। **'किं करोमि, क गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति'** का आर्त्तनाद प्रतिध्वनित हो पड़ा। पुकार सुनी गई, स्वनामधन्य, प्रातःस्मरणीय भट्टपाद (श्रीकुमारिलभट्ट) का प्रादुर्भाव हुआ। भट्टपादशिष्य सर्वश्रीमण्डनमिश्र के प्रातिनिध्य में भारतवर्ष ने पुनः एकबार यज्ञकाण्ड का भेरीनाद फूंक दिया। भारतीय बौद्धों को चीन-जापान का आश्रय लेना पड़ा।

जनता कर्म्मकाण्ड के ऐसे भयावह स्वरूप से ऊब चुकी थी। उसके सामने कोई निश्चित उद्देश्य नहीं रह गया था। खण्डोपासना से अनेक मतवाद राष्ट्रीय संघटन के अन्यतम शत्रु प्रमाणित हो रहे थे। इन सब धर्म्मग्लापक विषम भावों के उपशम के लिए उसी युग में सत्यकाम जगदीश्वर की ज्ञानकलाने भी अवतीर्ण होना आवश्यक समझा। एवं वही ज्ञानावतार धार्मिक जगत् में 'शङ्कर' नाम से प्रसिद्ध हुआ। आपने वर्त्तमान स्थिति पर दृष्टि डाली, और यह सिद्धान्त स्थिर किया कि, जनता के सामने इस समय कोई ऐसा आदर्श रखना चाहिए, जिससे यह वेदसिद्ध यज्ञकर्म्मनिष्ठा से भी पराङ्मुख न हो जाय, साथ ही लोग नानामतवादों के कुचक्र से भी अपनी रक्षा कर सकें। अपने इसी सामयिक, उपयुक्त, उद्देश्य को सफल बनाने लिए भगवान् शङ्कर ने प्रस्थानत्रयी को आगे करते हुए 'अद्वैतसम्प्रदाय' को जन्म दिया। सर्वकर्म्मन्यासमूलक संन्यास पथ को आगे करते हुए अद्वैतवाद स्थापित किया। आपने धार्मिक जगत् के सामने यह सिद्धान्त रखना सामयिक समझा कि, क्षरप्रधान, अष्टादश (१८) अवान्तर अवरकर्म्मों से युक्त यज्ञकर्म्म शास्त्रीय अवश्य है, साथ ही शास्त्रने स्वर्गादि जो फल इन कर्म्मों के बतलाए हैं, वे भी सर्वथा प्रामाणिक हैं। तथापि—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥

—मुण्डकोपनिषत् १।२।७।

उक्त श्रौत सिद्धान्त के अनुसार ये यज्ञकर्म्मलक्षण नौकाएँ मृत्युलक्षण क्षरात्मक संसार-सागर से तरण कराने में अन्त में व्यर्थ ही सिद्ध होती हैं। अतः **'नास्त्यकृतः कृतेन'**-*-**"न कर्म्मणा, न प्रजया धनेन, त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः"** इत्यादि आदेशों के अनुसार कामनाप्रधान यज्ञकर्म्म का परित्याग कर ज्ञानप्रधान (विशुद्ध ज्ञानात्मक), सर्वकर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण संन्यासमार्ग का ही आश्रय लेना चाहिए। तभी पराशान्तिलक्षण शाश्वत आनन्द प्राप्त हो सकता है। अपने इस सामयिक दृष्टिकोण के समर्थन के लिए प्रस्थानत्रयी के उपलब्ध भाष्य असमर्थ थे। फलतः इस दृष्टिकोण से नवीन भाष्य लिखे गये। इन भाष्योंके द्वारा ज्ञानमार्ग का प्राधान्य स्थापित किया गया, और यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि, सम्पूर्ण-उपनिषत् एकमात्र विश्वातीत अखण्ड आत्मा की ही प्रतिपादिका हैं।

*"ज्ञानप्रधान आत्मा 'कृत' लक्षण कर्म्म से विरहित होता हुआ, विशुद्ध ज्ञानरूप बनता हुआ 'अकृत' नामसे, तथा कर्म्म 'कृत' नाम से प्रसिद्ध है। कृत (कर्म्म) से अकृत (आत्मा) का बोध नहीं होसकता" शङ्कर-मतानुसार प्रकृत वाक्य का यही समन्वय है।

जो अखण्ड तत्त्व विज्ञानशास्त्र में 'निर्विशेष' नामसे, विज्ञानशास्त्र-(वेदशास्त्र)-सम्मत गीताशास्त्र में 'ऐकान्तिकसुख' नामसे प्रसिद्ध है, जो निर्विशेष आत्मतत्व निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, निर्धर्म्मक, निष्कल, अनवच्छिन्न बनता हुआ विश्वातीत है, वाङ्मनसपथातीत बनता हुआ शब्दशास्त्रनिरूपणमर्य्यादा से एकान्ततः बहिर्भूत है, सर्वथा शास्त्रानधिकृत, अतएव सर्वथा अविज्ञेय वही व्यापक ब्रह्म शाङ्करभाष्यों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बना। जिस तत्त्व को वेद नहीं जान सकते, वेदाविर्भावकर्त्ता ब्रह्मा जिसके बोध से वञ्चित हैं, वेदरक्षक विष्णु जिसे दूरसे ही प्रणम्य समझते हैं, समयरहस्यवेत्ता शङ्कराचार्य्य ने उसी को उपनिषदों का प्रतिपाद्य बना डाला। इसप्रकार—

१—यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ (केनोपनिषत् २।३।)

२—संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ (तै० उ० २।६।)

३—अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः-
—महिम्नस्तोत्र

इत्यादि श्रौत--स्मार्त्त प्रमाणों के अनुसार जो तत्त्व शास्त्रानधिकृत बनता हुआ सर्वथा अविज्ञेय था, वह भगवान् शङ्कराचार्य की प्रचण्ड प्रतिभा से कुछ समय के लिए विज्ञेय-मान लिया गया। उस समय की उपयोगिता की दृष्टि से, एवं विभिन्नमतवादमूला दार्शनिक दृष्टिसे, सम्भव है शाङ्करभाष्य की प्रामाणिकता का आर्षप्रजा समादर करे। परन्तु वैदिकविज्ञानकाण्ड में अखण्डात्मनिरूपण का कितना ?, और कैसा महत्त्व है ?,इस प्रश्न के निर्णयका भार नीरक्षीरविवेकी विचारशील विज्ञ पाठकों पर हीं छोड़ते हुए प्रकृत विषय का अनुसरण किया जाता है।

५–उपनिषदों के गौण-प्रधान-लक्ष्य—

प्रकरणारम्भ में प्रतिपाद्य विषय का दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य'जीवात्मा'ही है। कारण स्पष्ट है। दार्शनिक मतवाद के शब्दों में भी उपनिषत्-शास्त्र आत्मज्ञान के लिए प्रवृत्त हुआ है। ज्ञानप्राप्त्यपेक्षा अल्पज्ञ जीवात्मा को है, न कि सर्वज्ञ ईश्वर को। वह तो स्वयं ही स्वस्वरूप से नित्यविज्ञानानन्दघन है। अतएव स्वीकार करना पड़ेगा कि, उपनिषदों का आत्मपदार्थ मुख्यतः 'जीवात्मा' को ही अपना लक्ष्य बना रहा है। जीवात्मा उसका अंश अवश्य है। परन्तु पाप्मामूलक अविद्यादि दोषों से आक्रान्त हो कर, ईशसम्पत्ति से वञ्चित होता हुआ-'अनीशया शोचति मुह्यमानः' (मुण्डक३।१।२) के अनुसार यह दुःखार्णव में निमग्न रहता है। इस दुःखनिवृत्ति के लिए-'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (यजुःसंहिता) के अनुसार तच्छरणप्रपत्ति ही एकमात्र पथ है।

यदा चर्म्ममयाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति * ॥

उक्त औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार बिना तत्स्वरूपज्ञान के हृद्ग्रन्थिविमोकलक्षणा परा शान्ति सर्वथा असम्भव है। ऐसी दशा में प्राप्तिकर्त्ता के लिए (जीवात्मा के लिए) प्राप्तव्य का स्वरूप जानना भी आवश्यक हो जाता है। और यही उपनिषदों का दूसरा, किन्तु गौण प्रतिपाद्य विषय है। जीवात्मा स्वस्वरूपबोधपूर्वक परस्वरूपपरिज्ञान प्राप्त करता हुआ जिन उपायों से अपने आपको शुद्ध बना कर प्राप्तव्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है, तदुपायप्रतिपादन ही उपनिषत् का तीसरा प्रतिपाद्य विषय है। इसप्रकार पूर्वोक्त ५ प्रतिपाद्य-विषयों का प्रस्तुत दृष्टिकोण से **१-जीवात्मप्रतिपादन, २-परमात्मप्रतिपादन, ३-परमात्मप्राप्त्युपाय-प्रदर्शन**, इन तीन विषयों पर भी पर्य्यवसान माना जा सकता है।

दार्शनिकम्मन्यों के सदनुग्रह से, दूसरे शब्दों में विभिन्नमतवादप्रवर्त्तक सम्प्रदायों के पारस्परिक आकर्षणप्रत्याकर्षण (खैंचातानी) से जीव, ईश्वर, प्राप्त्युपाय, उक्त तीनों हीं प्रतिपाद्य विषयों का स्वरूप अपरिष्कृत कोटि में नहीं,तो परिष्कृत कोटि में भी नहीं रह गया है। तीनों के स्वरूप-सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियों का आभास हो रहा है। साधारण मनुष्य आत्मशान्तिलाभकामना से इन मतवादात्मक-व्याख्याताओं की शरण में जाता हुआ अधिक अशान्ति का सत्पात्र बन जाता है, किंवा बना दिया जाता है। इस समस्या को समन्वित करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को प्रणम्य मानते हुए विशुद्ध आर्षदृष्टिसे ही प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख रख दिया जाय।

जीवात्मा परमात्मा का अंश है। **'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'-'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्'** के अनुसार वह (परमात्मा) प्रधान है, यह (जीवात्मा) गौण है। इसका प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण वह है। अतः पहिले न्यायप्राप्त उस प्राप्तव्य का ही संक्षिप्त, किन्तु विज्ञानसम्मत (वेदसम्मत) स्वरूप उपनिषत्-प्रेमियों के सम्मुख रक्खा जाता है। प्रस्तुत विषय सम्पूर्ण उपनिषदों का मूल धरातल है। अतः पाठकों से निवेदन किया जायगा कि, वे इसे अपना मुख्य दृष्टिकोण बनाने का अनुग्रह करेंगे।

६-निगम-अनुगम-रहस्यमीमांसा—

श्रौतवचन 'निगम-अनुगम' भेद से दो भागों में विभक्त मानें गए हैं। कई शताब्दियों से, अति-शयोक्ति न मानी जाय, तो कई सहस्राब्दियों से वेद का परिभाषा-ज्ञान लुप्तप्राय हो चुका है। वेद पर वर्त्तमान में जितनें भाष्य, जितनी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, 'यज्ञकर्म्मपद्धतिविश्लेषण' के अतिरिक्त उनमें पाठकों को कोई विशेषता उपलब्ध न होगी। वेदवचन अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत, अधियज्ञ (वैधकर्म्मकाण्ड), भेद से चार संस्थाओं के संग्राहक हैं। प्रचलित, तथा उपलब्ध वेदभाष्यों का चारों में से एकमात्र 'अधियज्ञ'

---

* जिसप्रकार व्यापक आकाश को चर्म्म के सदृश शरीर के चारों ओर लपेटना नितान्त असम्भव है, एवमेव बिना ईशदेव को जाने दुःख का अन्त असम्भव है। जिस दिन मनुष्य आकाश को चर्म्म बना कर लपेट लेंगे, उस दिन उसे बिना जाने भी दुःख की निवृत्ति हो जायगी, जैसाकि सर्वथा असम्भव है।

संस्था ही लक्ष्य बन रहा है। और परिभाषाज्ञानविलुप्ति ही इस सीमितोद्देश्य का मुख्य कारण है। परिभाषा-ज्ञान के बिना केवल व्याकरण के बल पर वैदिक शब्दों का शब्दार्थमात्र कर देने से उनका तात्त्विक बोध सर्वथा असम्भव है। उन्हीं लुप्त परिभाषाओं में से 'निगम-अनुगम' भी महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द मानें गए हैं, जिनके बोधाभावमें वेदवचनों का समन्वय कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। इस सम्बन्ध में हमारा अपना तो यह विश्वास है कि, यदि इन दोनों परिभाषाओं का तत्त्व अवगत कर लिया जाता है, तो कितनें ही अंशों में वैदिक तत्त्वों की ग्रन्थियाँ सुलझ जातीं हैं, और उस स्थिति में 'बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि' के अनुगमन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

किसी विशेष तत्त्व का निरूपण करने वाला वेदवचन 'निगम' कहलाता है, एवं अन्वितार्थ की दृष्टिसे तद्घटित अनेक तत्त्वों का संग्राहक वचन 'अनुगम' कहलाता है। उदाहरण के लिए—'**अग्निमीले पुरोहितं होतारं रत्नधातमम्**' (ऋक्०सं०१।१।१।) यह मन्त्र पार्थिव, पुरोधा, होतृलक्षण, वसुवित्, अग्नि का निरूपक बनता हुआ 'निगम' माना जायगा। इसीप्रकार—

"**रूपं रूपं मघवा वोभवीति**" (ऋक् संहिता ३।५३।८।)।
"**इन्द्रो रूपाणि करिक्रदचरत्**" (सामसंहिता उ० ६।७।३।)।
"**त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकिरोति**" (कौ०ब्रा०उप०३।६।)।
"**अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः**"
(रो०ब्रा०१।१।७।६।)।
"**बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः**"(शत०ब्रा०८।५।६।६।)।
"**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**" (ऋक्संहिता १०।१२१।१।)।

इत्यादि वचन क्रमशः इन्द्र, त्वष्टा, अग्नि, विष्णु, बृहस्पति, इन्द्र, हिरण्यगर्भ, इन इन विशेष तत्त्वों का निरूपण करते हुए निगमकोटि में प्रविष्ट हैं। एवं—

"**चत्वारि वाक्परिमिता पदानि**"(ऋक्संहिता १।१६४।४५।)।
"**चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा**"(ऋक्संहिता ४।५८।३।)।
"**त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**"(यजुःसंहिता ८।३६।)।
"**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**"(शाङ्खायनब्राह्मण १।६।)।
"**षोडशकलं वा इदं सर्वम्**"(कौ०ब्रा०······८।१।)।
"**त्रिवृद्धि यज्ञः**"(शत०·········)।
"**पाङ्क्तो वै यज्ञः**"(शत० १।१।२।१६।)।
"**विराड् वै यज्ञः**"(शत०१।१।१।२२।)।
"**यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि**"(छान्दोग्योपनिषत् २।२१।४।)।

इत्यादि वचन अन्वितार्थघटित यचयावत् स्थलों के संग्राहक बनते हुए अनुगमकोटि में प्रविष्ट हैं। पूर्व के शब्दार्थनित्यता-प्रकरण में 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' मन्त्र का इसी अनुगमभाव के आधार पर अनेक स्थलों में समन्वय हुआ है। 'चत्वारि शृङ्गा०' इत्यादि मन्त्रका आध्यात्मिक वृषभ दृष्टिसे-'मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, इन चार सींगों वाला, कारण-सूक्ष्म-स्थूलशरीर भेद से (प्रतिष्ठात्मक) तीन पैरों वाला, चित्याग्नि (मर्त्याग्नि), चितेनिधेयाग्नि (अमृताग्नि) भेद से दो मस्तकवाला, सप्तक्रियात्मक प्राणों से सात हाथों वाला, मूल-हृदय-ब्रह्म रन्ध्र भेद से तीन स्थानों में बद्ध रुद्राग्निमूर्त्ति वृषभ शब्द (अनाहतनाद) करता हुआ अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित है, इसप्रकार भी समन्वय किया जा सकता है।

आधिदैविक सम्वत्सरचक्र की दृष्टि से —पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः, इन चार सींगों वाला, भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान-भेद से तीन पैरों वाला, ब्रह्मौदनलक्षण सम्वत्सराग्नि, प्रवर्ग्यलक्षण सान्तपनाग्नि भेद से दो मस्तक वाला, अहोरात्रवृत्तात्मक सप्तछन्दोरूप सात हाथों वाला, प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-सायंसवन-भेद से प्रातः-मध्यान्ह-सायं भेद से त्रिःस्थान से बद्ध सम्वत्सराग्निलक्षण वृषभ शब्द करता हुआ सवंत्सरत्रिलोकी में प्रतिष्ठित है।

अधियज्ञपक्ष की दृष्टि से—"ऋग्-यजु-साम-अथर्व-मन्त्र भेद से चार सींगों वाला, त्रिसवन भेद से तीन पादवाला, ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्यान्न भेद से दो मस्तक वाला, सप्तछन्दोलक्षण सात हाथों वाला, मन्त्र-कल्प-ब्राह्मण-भेद से त्रिधा बद्ध यज्ञ-वृषभ शब्द कर रहा है। (देखिए गो० ब्रा० पू० २।१६)।

ईश्वरप्रजापति के अव्यय-अक्षर-क्षर-नामक तीन ज्योतिर्विवर्त्त हैं। त्रैलोक्यप्रजापति के 'सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि नामक तीन ज्योतिर्विवर्त्त हैं। विषयावच्छिन्नज्ञान, शब्दावच्छिन्नज्ञान, संस्कारावच्छिन्नज्ञान भेद से आध्यात्मिक प्रजापति के तीन ज्योतिर्विवर्त्त हैं। इन सब विवर्त्तों का 'त्रीणि ज्योतींषि०' इस अनुगम से संग्रह हो रहा है।

परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर, चारों आत्मपर्व सबमें सामानरूपेण अनुप्रविष्ट हैं। कं-खं-रं-शं, नामक अन्न-आवपन-अन्नाद-शान्ति-लक्षण चारों भावों का सर्वत्र समन्वय है। प्रत्येक पिण्ड स्तौम्यलोकात्मक बनता हुआ चतुर्लोकात्मक है। गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, पशुश्रपणाग्नि, भेद से याज्ञिक अग्नि भी चतुर्द्धा ही विभक्त है। ब्रह्माग्नि, देवाग्नि, भूताग्नि, पाशुकाग्नि भेद से-**'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास'** (शत० आप्त्याब्राह्मण) के अनुसार लोकाग्नि भी चतुर्द्धा ही विभक्त है। इन सब विवर्त्तों का **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** से संग्रह हो रहा है।

निष्कल परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, भेद से सर्वप्रपञ्च षोडशकल है। पञ्चदशस्तोम के सम्बन्ध से इन्द्र भी षोडशी बन रहा है। एकादश इन्द्रियवर्ग, मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार चतुष्टयी, आत्मा, इस दृष्टि से अध्यात्मविवर्त्त भी षोडशकल प्रमाणित हो रहा है। सप्तशीर्षण्य प्राण, प्राणापानादि ५ वायव्यप्राण, ४ गुहाप्राण, भेद से भी १६ कलाओं का समन्वय किया जा सकता है। एवं **'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** अनुगम अपनी अन्वर्थता से इन सबका संग्राहक बन रहा है।

आत्मा, प्रजा, वित्त भेद से भी यज्ञ त्रिवृत् है। आत्मा-प्राण-पशु भेद से आध्यात्मिक यज्ञ भी त्रिवृत् है। अन्न-ऊर्क्-प्राण भेद से अन्नयज्ञ भी त्रिवृत् है। त्रेताग्नि के सम्बन्ध से अधियज्ञलक्षण वैधयज्ञ भी त्रिवृत् है। एवं 'त्रिवृद्धि यज्ञः' अनुगम से इन सब विवर्तों का संग्रह हो रहा है।

अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास,-चातुर्मास्य-पशुबन्ध, ज्योतिष्टोम भेद से वैध यज्ञ भी पाङ्क्त (पञ्चावयव) है। अहोरात्र, शुक्लकृष्णपक्ष, ऋतु, अयन, सम्वत्सर, के भेद से प्राकृतिक साम्वत्सरिक यज्ञ भी पाङ्क्त है। इष्टि, पशु, सोम, अतियज्ञ, शिरोयज्ञ, भेद से भी यज्ञ पाङ्क्त है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन पाँच पर्वों से विश्वस्वरूपसम्पादक 'सर्वहुत' यज्ञ भी पाङ्क्त है। अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूतात्मा, भेद से आध्यात्मिक 'विश्वदानि' यज्ञ भी पाङ्क्त है। पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज, भेद से पशुयज्ञ भी पञ्चधा ही विभक्त है। एवं इन सब पाङ्क्त-यज्ञविवर्त्तों का 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' इस अनुगम से संग्रह हो रहा है।

अब्-वायु-सोम-अग्नि-यम-आदित्य-ऋक्-साम-यत्-जू-भेद से विश्वप्रवर्त्तक मौलिक वेदयज्ञ भी दशाक्षरसम्पत्ति से 'विराट्' है। क्योंकि विराट्छन्द के दश अक्षर ही मानें गए हैं। १-गार्हपत्य, १-आहवनीय, ८ धिष्ण्याग्नि भेद से त्रैलोक्यव्यापक स्तोमयज्ञ भी विराट् है। दशर्षिप्राणसमष्टिरूप सौर हिरण्यगर्भयज्ञ भी विराट् है। एवं इन सब विराट्-भावों का-'विराट् वै यज्ञः' इस अनुगम से संग्रह हो रहा है।

उद्धृत-अनुगम प्रतीकों में सर्वान्त में **'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि०'** यह प्रतीक है, एवं प्रकृत में इसी की ओर पाठकों का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करना है। पूरे अनुगम वचन का स्वरूप निम्न लिखित है—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥ (छां० उप० २।२१।४।)

"पाँच स्थानों में विभक्त जो तीन तीन तत्त्व हैं, उनसे अतिरिक्त महान् और कोई वस्तु नहीं है। जो व्यक्ति पञ्चधा विभक्त इस त्रित्व विवर्त्त का स्वरूपज्ञान प्राप्त कर लेता है, उस विद्वान् के लिए सम्पूर्ण दिशाएँ (चारों ओर से) बलि (भोग्यसम्पत्ति) समर्पण करतीं रहतीं हैं" उक्त अनुगम-मन्त्र का यही अक्षरार्थ है। पूर्वप्रतिपादित अनुगम वचनों की भाँति अपने अनुगमभाव से इस अनुगममन्त्र का भी अनेक विवर्त्तों के साथ सम्बन्ध हो रहा है। परन्तु प्रकृत में केवल उसी अर्थ का विश्लेषण किया जायगा, जिसका 'ईशप्रजापति' से सम्बन्ध है। पञ्चधा विभक्त त्रयी-तत्त्व को उत्पन्न कर **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** सिद्धान्त के अनुसार वह ईशप्रजावपि उस पञ्चधा विभक्त त्रयी तत्त्व के गर्भ में प्रविष्ट है। पञ्चधा विभक्त त्रयीतत्त्व का प्रतिपादन करने वाले उक्त मन्त्र के वैज्ञानिक विश्लेषण-से पहिले यह आवश्यक होगा कि, इसके उत्पादक ईश्वरप्रजापति के स्वरूप पर थोड़ा प्रकाश डाल लिया जाय।

७—आत्मन्वी—ईशप्रजापति—

राजा, प्रजा, पिता, पुत्र, पति, पत्नी, इत्यादि शब्दों की भाँति 'ईश्वर' शब्द एक सापेक्ष शब्द है। प्रजापेक्षया 'राजा' शब्द की, राजापेक्षया 'प्रजा' शब्द की, पुत्रापेक्षया 'पिता' शब्द की, पिता की अपेक्षा से

'पुत्र' शब्द की, पत्नी की अपेक्षा 'पति' शब्द की, पति की अपेक्षा 'पत्नी' शब्द की स्वरूपरक्षा है। एव-मेव ईश्वर शब्द भी आत्मन्वी का स्थान ग्रहण करता हुआ विश्वसापेक्ष है। विशुद्ध 'आत्मा' ईश्वर नहीं है, अपितु आत्मा, तथा विश्व दोनों की समष्टिलक्षण 'आत्मन्वी' भाव ही ईश्वर है। ईशिता (शास्ता) ही ईश्वर है *। वह अपनी विश्वप्रजा पर शासन कर रहा है। विश्वप्रजारूपा सम्पत्ति के सम्बन्ध से ऐश्वर्य्यशाली बनता हुआ ही वह महामायी, विश्वव्यापक आत्मतत्व (तद्विशिष्टरूप से) 'ईश्वर', किंवा उपनिषदों की भाषा में 'ईश' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ऋषि, पितर, असुर, देवता, गन्धर्व, पशु, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पिशाच, ग्रह, नक्षत्र, कृमि, कीट, वन, उपवन, नद, नदी, सागर, त्रैलोक्यत्रिलोकी, ओषधि, वनस्पति, पर्वत, धातु, उपधातु, रस, उपरस, विष, उपविष, आदि आदि स्थावर-जङ्गमात्मक जितनें भी पदार्थ हैं, सब उस आत्मेश्वर की प्रजा है। एवं वह इस प्रजा का अपने शासनबल से शास्ता बनता हुआ ही लोक एवं वेद में 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। प्रजाविवर्त्त-समष्टि ही 'विश्व' है। त्रिपुरुष-पुरुषात्मक आत्मेश्वर अपने क्षरभाग से (विकारक्षर नामक, पञ्चतन्मात्रात्मक गुणभूत से) इसे उत्पन्न कर पूर्वकथनानुसार इसके गर्भ में प्रविष्ट हो कर आत्मन्वी बना हुआ है। अतएव **'विशत्यस्मिन्नात्मा'** इस निर्वचन से उक्त प्रजासंघ को **'विश्व'** कहना अन्वर्थ बन रहा है। हमारा ईश्वर शब्द, किंवा ईश शब्द विश्व, तथा विश्वप्रविष्ट आत्मा, दोनों की समष्टि का संग्राहक बन रहा है। इसी आत्मन्वी ईश्वरप्रजापति का स्वरूप विश्लेषण करता हुआ निम्नलिखित यजुर्म्मन्त्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है—

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

—यजुः०सं० ८।३६। ।

"उत्पन्न होने वाले यच्चयावत् जड़-चेतनपदार्थ जिससे भिन्न नहीं है, जो सम्पूर्ण भुवनों में अन्तःप्रविष्ट है, (अपनी) प्रजा के साथ संयुक्त होता हुआ वह षोडशी प्रजापति तीन ज्योतियों से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। श्रुति ने 'यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति' इस वाक्य से प्रजा, और प्रजा-पति का अभेद बतलाया है। साथ ही उसे भुवनों में प्रविष्ट भी बतलाया है। इसके साथ साथ उसे 'षोडशी' (षोडशकल) बतलाते हुए, तीन ज्योतियों से समन्वित मानते हुए सर्वव्यापक भी माना है। प्रकृत 'ईश-स्वरूपप्रकरण' में हमें "प्रजापति, प्रजा, षोडशी, त्रीणि ज्योतींषि, भुवनानि" इन शब्दों का विश्लेषण करते हुए 'सचते' इस क्रिया पद के रहस्यार्थ का निरूपण करना है। इस रहस्यज्ञान के अतिरिक्त ईश-स्वरूप के सम्बन्ध में और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता।

*** य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।**
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ (श्वे० उ० ३।१।)।

८–कार्य्यरूप विश्व के दो तत्त्व—

सर्वव्यापक प्रजापतितत्त्व के 'आत्मा, विश्व' नामक दो पर्व बतलाए गए हैं। प्रजापति के ये दोनों ही पर्व 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' इस अनुगमन वचन के अनुसार १६–१६–कलाओं से युक्त हैं। 'स्थूलारुन्धती-न्याय' का समाश्रय लेते हुए पहिले विश्व की १६ कलाओं का दिग्दर्शन कराया जायगा, अनन्तर विश्वात्मा की १६ कलाओं का स्पष्टीकरण होगा।

उच्चावच-भावापन्न-क्षणे क्षणे नव-नवरूपेण प्रतीयमान-सम्भूति-विनाशलक्षण विवधभावों से नित्य समाकुलित स्थावर–जङ्गमात्मक विश्व के भूत–भौतिक पदार्थों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो उन पदार्थों में हमें परस्परात्यन्त विरुद्ध दो भावों की उपलब्धि होती है। प्रत्येक पदार्थ जहाँ एक दृष्टि से हमें सर्वथा स्थितिभाव से युक्त प्रतीत हो रहा है, वहाँ वही पदार्थ एक विभिन्न दृष्टिकोण से गतिभावात्मक भी प्रतीत हो रहा है। 'स्थिति–गति'–दोनों परस्पर तमः–प्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध हैं। दोनों का एक स्थान पर, एक ही बिन्दु पर सहावस्थान यद्यपि असम्भव है। परन्तु आश्चर्य है कि, सर्वत्र इसी आश्चर्यमयी स्थिति के प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि तमःप्रकाशवत् परस्परात्यन्तविरुद्ध विषय, विषयी, दोनों का जैसा एकत्र समन्वय देखा सुना जाता है, और दार्शनिक लोग जिस समन्वय को मायिक कहते हुए 'मिथ्या' कहने का साहस किया करते हैं, वही समन्वय परस्परात्यन्तविरुद्ध स्थिति-गति भावों का हो रहा है।

प्रत्येक पदार्थ क्षण–क्षण में नवीन नवीन रूप धारण कर रहा है। यह विश्वसनीय है कि, वस्तु का जो स्वरूप पूर्वक्षण में रहता है, उत्तरक्षण में उसका आत्यन्तिक अभाव है। इसी क्षणपरिवर्त्तन से वस्तुस्वरूप में परिवर्त्तन होता रहता है। इसी परिवर्त्तनरूपा क्षणिक क्रिया को अपना मुख्य–लक्ष्य बना कर कितने एक स्याद्वादानुयायी विश्वप्रपञ्च को 'नास्तिसार' कहा करते हैं। इस परिवर्त्तन के साथ साथ उस प्रत्यक्षदृष्ट अपरिवर्त्तन का भी अपलाप नहीं किया जा सकता, जिसके अनुग्रह से क्षण–क्षण में स्वरूपान्तर धारण करता हुआ भी पदार्थ ' स एवायं–स एवायं' इत्याकारा प्रत्यभिज्ञा का जनक बना रहता है। इसी अपरिवर्त्तनीय तत्त्व को अपना दृष्टिकोण बनाने वाले ब्रह्मवादी विश्वप्रपञ्च को 'अस्तिसार' कहा करते हैं। प्रत्येक पदार्थ बदलता हुआ भी नहीं बदल रहा, चलता हुआ भी नहीं चल रहा, नास्तिसार बनता हुआ भी अस्तिसार है, गतिमत् भी स्थितियुक्त है। इसप्रकार स्थितिलक्षण अपरिवर्त्तन, तथा गतिलक्षण परिवर्त्तन, दोनों का सर्वत्र प्रत्येक पदार्थ में समन्वय उपलब्ध हो रहा है, जिसके दो एक उदाहरण बतला देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

गर्भ, शिशु, बाल, पौगण्ड, तरुण, युवा, प्रौढ, वृद्ध, स्थविर, दशमी *, इन १० अवस्थाओं से युक्त (जो कि दशावस्थाएँ स्वरूपतः परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं) एक पुरुष को उदाहरण बना कर वस्तुस्थिति से सम्बद्ध स्थिति–गति–भावों का समन्वय कीजिए। मानव की ये दसों अवस्थाएँ परस्पर विरुद्ध हैं, इन सब विरुद्धावस्थाओं का एक ही मनुष्य में कालभेद से समन्वय हो रहा है। दस परिवर्त्तनों नें एक अपरिवर्त्तन को आधार बना रक्खा है। वही किसी समय गर्भावस्थापन्न था, वही शिशु था, वही बालादि था। गर्भ अन्य था,

* "शूद्रोऽपि 'दशमी' ज्यायान्, किंपुनर्ब्राह्मणो यदि" इत्यादि वचनानुसार यह अन्तिम अवस्था 'दशमी' नाम से व्यवहृत हुई है।

शिशु अन्य था, बालादि भिन्न थे, किन्तु वही–वही सर्वत्र सत्र भिन्न स्वरूपों में अभिन्न था। क्या इन १० अवस्थाओं में परिवर्त्तन का अवसान है ?, नहीं। ये तो स्थूल परिवर्त्तन हैं। सूक्ष्मप्राण–विचारदृष्टि हमें बतला रही है कि, गर्भस्थिति से आरम्भ कर दशमी अवस्थापर्य्यन्त पुरुष की अनन्त अवस्थाएँ हैं। प्रतिक्षण में अवस्था परिवर्त्तन हो रहा है। अतिसौक्ष्म्यात् उसका हम चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष न कर सकें, यह दूसरी बात है। इस क्षणिक–अवस्था परिवर्त्तन से ही गर्भावस्थापन्न प्रादेशमित (१०॥ अंगुलमित) प्राणी क्रमशः वृद्धि–भाव को प्राप्त होता हुआ ३॥ हाथ का दीर्घकाय युवक बन जाता है। इन्हीं क्षणिक अवस्थाओं के अनुग्रह से आगे जाकर यही युवा क्रमशः प्रौढ, वृद्ध, स्थविरादि अवस्थाओं का अनुगामी बनता हुआ एक दिन धराशायी हो जाता है। प्रादेशमित गर्भ किसी नियत क्षणविशेष में ३॥ हाथ लम्बा बन गया, यह कौन स्वीकार करेगा। अवश्य ही मानना पड़ेगा कि, प्रतिक्षणविलक्षण प्रक्रान्त परिवर्त्तन से सम्बन्ध रखने वाले रसासृङ्मांसादि के वृद्धिक्रम ने ही इसे दीर्घकायावस्था में परिणत किया है। और यही एक ऐसा अन्वर्थ हेतु है, जिसके आधार पर इस अवस्था–परिवर्त्तन को हम क्षणिक मानने के लिए सन्नद्ध हैं। इस क्षणभाव के साथ साथ हम 'यह वही देवदत्त है, जिसे हमनें बचपन में अमुक स्थान पर देखा था, आज यह इतना बड़ा हो गया है' इत्यादि लोक-व्यवहार के मूलमूत अक्षणभाव के भी दर्शन कर रहे हैं। एकपुरुषानुगत स्थितिलक्षण अपरिवर्त्तन, एवं एकपुरुषानुगत गतिलक्षण अनन्तावस्थारूप परि-वर्त्तन, दोनों का एक ही पुरुषसंस्था में समन्वय उपलब्ध हो रहा।

अनुष्णाशीत दुग्ध में दधिस्वरूपकामना से गृहलक्ष्मी दधि का आतञ्चन (जाँवण) देती है। प्रातः हम दुग्ध को दधि स्वरूप में पाते हैं। जिस सायंकालीन क्षणमें दुग्ध में दध्यातञ्चन दिया जाता है, उसी क्षण से दधिस्वरूपनिर्म्माणोपयुक्ता क्रिया आरम्भ हो जाती है। दूध किसी नियत–विशेष–क्षण में दधि नहीं बन जाता। अपितु क्षणिक क्रियाधारा ही दुग्ध की एक विशेष अवस्था को 'दधि' उपाधि के योग्य बनाती है। दधि बन जाने पर क्या परिवर्त्तन क्रिया का अवसान हो गया ?, नहीं। परिवर्त्तन प्रक्रान्त है। दधि को उपयोग में न लेकर यों हीं रहने दीजिए। आप देखेंगे कि, वही मधुर दधि उसी प्रक्रान्त क्रिया के अनुग्रह से कालान्तर में अम्ल दधि बन गया है। कालान्तर में उसमें जाल का (फफूँद का) उदय हो जायगा, घनता बढ़ने लगेगी, द्रवभाग सूखने लगेगा, सूखते सूखते आपका दधि दधि–अवस्था से वञ्चित होकर–मृत्तिका रूप धारण कर लेगा, मृत्तिका कालान्तर में पत्थर, पत्थर लोहा, लोहा हिरण्य बन कर संचरप्रक्रिया से उपरत होता हुआ लोहा पत्थर, पत्थर मिट्टी, बन जायगा। इसी प्रतिसञ्चरक्रिया–प्रक्रान्ति से मिट्टी कालान्तर में मृदनुगता बलग्रन्थि के विमोक से पानी बन जायगी। पानी अग्निरूप में, अग्नि वायुरूप में, वायु आकाशरूप में परिणत हो जायगा। आकाश प्राणरूप में आता हुआ अन्ततोगत्त्वा आत्मलक्षण मनःस्वरूप में परिणत होता हुआ प्रतिसञ्चरक्रिया से उपरत हो जायगा। पुनः सञ्चरक्रिया का सञ्चार होगा। फिर मन से प्राण, प्राण से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से मिट्टी, मिट्टी से ओषधि–वनस्पति, इन के पशुद्वारा भक्षण-चर्व्वण से दुग्ध, (दध्यातञ्चनरूप मानवक्रिया से माध्यम के समावेश से) दुग्ध से दही, दही से मिट्टी, **'एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्'**। इसप्रकार सञ्चर–प्रतिसञ्चररूप से क्रिया का क्षणिक परिवर्त्तन धारावाहिकरूप से निरन्तर प्रकान्त है। साथ साथ अक्षणभाव का आधारत्त्व भी सुरक्षित है।

रथकार सुदृढ कार्ष्मर्य्यादि काष्ठ से एक मञ्जूषा बना कर लाता है। उसे किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता है। अपनी नूतनावस्था में काष्ठमञ्जूषा के अवयव ऐसे सुदृढ रहते हैं कि, हस्ताघात की कौन

कहे, लौहाघात भी इसे सहसा विदीर्ण करने में असमर्थ हो जाता है। १००-२०० वर्षों के अनन्तर 'वही' सुदृढा-वस्थापन्ना मञ्जूषा सर्वथा श्लथावस्थापन्ना बन जाती है। अङ्गुली-स्पर्श से ही मञ्जूषा के अवयव पृथक् होने लगते हैं। यह उसी क्षणिक-परिवर्त्तन का अव्यर्थ अनुग्रह है। मञ्जूषा को इस श्लथावस्था में परिणत होने के लिए, विदित नहीं कितनीं (असंख्य) अवस्थाओं का आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा होगा।

क्षणिक परिवर्त्तन ही जीर्णता का मूलाधार है। यदि क्षणिक परिवर्त्तन न होता, तो कोई वस्तु जीर्ण न होती। निर्म्माण के गर्भ में ध्वंस प्रतिष्ठित है, ध्वंस के गर्भ में निर्म्माण प्रतिष्ठित है। उत्पत्ति के साथ साथ ध्वंस प्रक्रान्त है, ध्वंस के साथ साथ उत्पत्ति प्रक्रान्त है। जीवन का क्षण क्षण मृत्यु से आक्रान्त है, मृत्यु का क्षण क्षण जीवनधारा है। सम्भूति-विनाश, दोनों एकत्र समन्वित हैं। नवनिर्म्माण ध्वंस का निमन्त्रण कर रहा है, ध्वंस नवनिर्म्माण का आमन्त्रण कर रहा है। यही विश्व का चिरन्तनप्रवाह है, जिसका त्रिकालज्ञ महर्षि–'**सम्भूतिंच विनाशंच यस्तद्वेदोभयं सह**' इन शब्दों में यशोगान किया करते हैं। प्रत्येक पदार्थ क्षणिक क्रियाओं का प्रवाहमात्र है। पूर्व पूर्व क्रिया का उत्तर-उत्तर क्षण में विलयन है। जो क्रिया प्रथम क्षण में है, दूसरे क्षण में उसका, तीसरे क्षण में दूसरी का, चौथे में तीसरी का तिरोभाव है। अतएव मानना पड़ेगा कि, संसरणधर्म्मा, अतएव संसार–नाम से प्रसिद्ध जगत् के यच्चयावत् पदार्थ क्षणिकबल-विकासात्मक क्रियाभाव के अनुग्रह से '**नास्तिसार**' ही है। 'नास्ति' का अर्थ है—'कुछ नहीं'। यह 'कुछ नहीं' हीं वस्तुस्वरूप की पहली भूमिका है। इस भूमिका के दार्शनिक विद्वान् '**नास्ति-अस्ति-नास्ति**, ये तीन संस्थाविभाग बतलाया करते हैं। प्रथम क्षण में क्रिया सुप्त है, मध्य क्षण में क्रिया उद्बुद्ध है, तृतीय क्षण में पुनः क्रिया सुप्त है। प्रथम क्षण नास्ति है, अन्तिम क्षण नास्ति है, अतएव तन्मध्यपतित मध्य का अस्तिक्षण भी नास्ति ही है। इसप्रकार त्रिक्षण-क्रिया का अन्ततोगत्त्वा नास्तिसारत्त्व ही सिद्ध हो रहा है। आदि में अव्यक्तभाव, अतएव अन्त में अव्यक्तभाव, मध्य का व्यक्तभाव भी अव्यक्तगर्भीभूत होता हुआ अव्यक्तभाव ही माना जायगा। निम्नलिखित वचन क्रियामय विश्व के इसी अव्यक्त–भाव का स्पष्टीकरण कर रहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (गीता२।२८।)।

अव्यक्तभावप्रधाना बनती हुई क्रिया जब नास्तिसारा है, तो इस नास्तिदृष्टि से क्रियामय विश्व को, एवं तद्गर्भीभूत पदार्थमात्र को हम 'नास्ति' शब्द से ही व्यवहृत कर सकते हैं। 'नास्ति'-'कुछ नहीं' है, 'कुछ नहीं' हीं 'शून्यम्' है। एकमात्र इसी दृष्टिकोण से विशुद्ध 'नास्ति' तत्त्व (क्रियातत्त्व) की ही आराधना करने वाला, अपने नास्तिभाव की रक्षा के लिए सत्ता का '**अर्थक्रियाकारित्त्वं सत्**' यह लक्षण करने वाला नास्तिकदर्शनानुयायी विद्वान् विश्व के सम्बन्ध में अपने निम्नलिखित उद्गार प्रकट किया करते हैं—'**सर्वमिदं–क्षणिकं–क्षणिकं, अतएव शून्यं शून्यम्**'।

सब सर्वप्रपञ्च क्षणिक क्रियारूप है, तो अवश्य ही सब शून्य है, 'कुछ नहीं' ही (नास्ति ही) विश्व का तात्त्विक स्वरूप है। क्रिया क्षणिक है, अतएव अन्य क्षणिक क्रिया के साथ उसका समतुलन असम्भव है। 'अमुक क्रिया अमुक क्रिया जैसी है' इस प्रकार का क्रिया–लक्षण तभी सम्भव है, जब कि एक ही क्षण में

उन दोनों क्रियाओं की स्थिति उपलब्ध हो। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि, "**रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव**" के अनुसार प्रत्येक क्षणिक क्रिया का लक्षण स्वयं वही क्षणिक क्रिया ही है। इसी दृष्टि से '**स्वलक्षणं स्वलक्षणम्**' की प्रवृत्ति हुई है। '**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः**' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति के अनुसार 'ख'कार इन्द्रियों का वाचक है। ऐच्छिक विषयागमन से यह 'ख' (इन्द्रियाँ) पूर्ण बनता हुआ, सुष्ठुभावात्मक 'सु' भाव का अनुगामी बनता हुआ जहाँ 'सुख' नाम से व्यवहृत हुआ है। वहाँ विषयागमन के अभाव में अपूर्णता, किंवा रिक्तालक्षण दुष्टभाव का अनुगामी बनता हुआ 'दुःख' नाम से व्यवहृत हुआ है, और सुख-दुःख द्वन्द्व का यही वैज्ञानिक निर्वचन है। जब सम्पूर्ण प्रपञ्च क्षणिक क्रियासारात्मक बनता हुआ शून्य है, तो इस शून्य वैषयिक जगत् से पूर्णतासम्पत्तिलक्षण सुखभाव कैसे सम्भव हो सकता है? पूर्णता में सुख है। पूर्णता नहीं, तो सुख कहाँ। इसी आधार पर '**दुःखं दुःखम्**' इस अन्तिम वाक्य की प्रवृत्ति हुई है।

इसप्रकार क्षणिक, अतएव शून्य, अतएव स्वलक्षण, अतएव दुःखरूप क्रियामय पदार्थों में हम प्रतिक्षणविलक्षण नास्तिप्रधान परिवर्त्तन का साक्षात्कार कर रहे हैं। यह परिवर्त्तन नियति का अमोघ-दण्ड-विधान है। मनुष्य अपने कर्त्तव्य से विमुख हो सकता है, परन्तु पदार्थों का यह क्षणिक सरण, क्षणिक गमन क्षणमात्र के लिए भी अवकाश ग्रहण नहीं करता। जिस क्षण में सृष्टिधारा का उपक्रम हुआ, उस क्षण से आरम्भ कर उसी प्रकार अद्यावधि पर्य्यन्त सम्यगरूप से (बिना किसी व्यवधान के) विश्व का सरण हो रहा है, आप्रलयान्त होता रहेगा, जैसाकि-'**याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः**'-'**धाता यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः**' इत्यादि आस्तिक सिद्धान्तों से भी प्रमाणित है। प्रकृति का यह परिवर्त्तन कर्म्म अस्मदादि कर्म्मों की भाँति अस्तव्यस्त बनता हुआ असम्यक् नहीं है, अपितु स्वनियतिभाव से वह 'सम्यक्' है। अतएव उसके सरण से युक्त विश्व '**सम्यक्-सरति**' निर्वचन से '**संसार**' कहलाया है। एवं इसी स्वाभाविक गतिभाव से इसे '**गच्छतीति जगत्**' निर्वचन के आधार पर '**जगत्**' कहना भी अन्वर्थ बन रहा है। इस-प्रकार आत्मप्रवेशदृष्टि से 'विश्व' नाम से, सम्यक्सरणदृष्टि से 'संसार' नाम से, एवं गत्यपेक्षया 'जगत्' नाम से प्रसिद्ध ईशात्मा का शरीरस्थानीय यह महाभुवन अवश्य ही नास्तिसार है।

पदार्थमात्र परिवर्त्तनशील हैं, यह भी निर्विवाद है। साथ ही अपने क्षणिक परिवर्त्तन से सब क्षणिक हैं, यह भी निःसंदिग्ध है। परन्तु यहीं तत्त्ववाद को विश्राम नहीं दिया जा सकता। आश्चर्य है कि, सर्वथा नास्तिसार इन पदार्थों के लिए '**अस्ति**' शब्द का भी प्रयोग देखा सुना जाता है। मनुष्य प्रतिक्षण बदल रहा है, मानते हैं। परन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि, वह कल भी था, आज भी है, कल भी रहेगा। कलतक ही क्यों, चिरकाल पर्य्यन्त रहेगा चिरकाल पर्य्यन्त ही क्यों, सदा रहेगा। उसके अस्तित्त्व को कौन मिटा सकता है। नामरूपकर्म्मात्मक नास्तिभाव भले ही बदलता रहे, अस्तित्त्व कभी नहीं बदला करता। वह नास्ति-अस्ति (अभाव-भाव) सर्वत्र समरूप से सदा प्रतिष्ठित है। 'देवदत्त है' इस अस्तिसूचक वाक्य में यदि 'है' इत्याकारक अस्तित्त्व विद्यमान है, तो 'देवदत्त नहीं-है'-इत्याकारक नास्तिसूचक वाक्य के अन्त में भी 'है' इत्याकारक अस्तित्त्व विद्यमान है। देवदत्त तो नामरूपकर्म्म की समष्टि है, वह बदलती रहे, उसके शुद्ध अस्तित्व को, दार्शनिक-भाषा में आत्मा को कौन मिटा सकता है।

नास्तिलक्षण केवल क्षणिक तत्त्व की ही उपासना करने वाले नास्तिकों का इस सम्बन्ध में यही कहना है कि, नास्ति से पृथक् अस्ति नामक कोई नित्य–शाश्वत तत्त्व नहीं है। हम उन नास्तिसार–नास्तिकों से प्रश्न करेंगे कि, यदि 'नास्ति' के अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो–**'मनुष्योऽयमस्ति'–'घटोऽस्ति'–'पटोऽस्ति'** इत्यादि व्यवहार किस आधार पर प्रतिष्ठित हैं ?। यदि वे धाराबल के द्वारा समाधान करते हैं, तो उनका प्रयास व्यर्थ है। एक चक्र मे १२ पक्ष (पंखे) हैं। चक्र प्रबल वेग से घूम रहा है। इस धारा–वेग से १२ हों पक्षों का द्वादशसंख्यात्त्व उच्छिन्न हो रहा है, एक चक्र प्रतीत हो रहा है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में क्षणिक-क्रिया-सन्तान परम्परा का ऐसा द्रुतगामी परिवर्त्तन हो रहा है, जिससे एकत्वानुरूपा स्थिरता-सी प्रतीत होने लगती है। धाराबल को आगे कर आप यही न कहना चाहते हैं। स्वागतम्। कोई आपति नहीं है। सीधे शब्दों में न सही, 'धाराबलसन्तान' नाम से आपको क्रिया से अतिरिक्त एक तत्त्व मानना पड़ रहा है, जिसे हम सत्ता कहा करते हैं। अवश्य ही आपके मतानुसार भी वह सत्ताभाव उस क्षणिक–क्रिया से सर्वथा अपूर्व है। केवल नाम मात्र में विवाद है।

दूसरी दृष्टि से सत्तास्वीकृति के अनुगामी बनिए। सम्पूर्ण विश्व को अव्यक्तसार मानते हुए आप कम से कम **'नास्ति'** इस तत्त्व का अस्तित्त्व अवश्य स्वीकार कर रहे हैं। आपके माने हुए 'न-अस्ति' लक्षण नास्ति में नकारात्मक क्षणिक तत्त्व, अस्तिरूप अक्षण तत्त्व दोनों का समावेश हो रहा है। क्या आप अपने माने हुए नास्ति में 'अस्ति' पद की सत्ता स्वीकार नहीं कर रहे ?। अथवा छोड़िए इस विवाद को। 'नास्ति' से यदि केवल आपका अभिप्राय 'न' कार ही है, तब भी एकतत्त्वास्तित्त्व की स्वीकृति से आप अस्ति-स्वीकृति से अपने आपको बहिर्भूत नहीं कर सकते।

यदि इस सन्बन्ध में आप यह कहने का साहस करेंगे कि, 'नास्ति' भी हमारे मतानुसार 'नास्ति' स्वरूप ही ही है, सत्तात्मक नहीं। नास्ति की सत्ता बन ही कैसे सकती है। फलतः 'नास्ति' मन्तव्य के आधार पर हमें सत्तानुगामी बतलाना कैसे सम्भव हो सकता है। तो उत्तर में हमें यह निवेदन करना पड़ेगा, कि तब तो आपने साक्षात्–रूप से ही 'अस्तितत्त्व' मान लिया। अभावाभाव सत्ता का संग्राहक माना गया है। सम्भवतः आप भी मानते हैं कि, घटाभावाभाव (घटके अभाव का अभाव) घटसत्ता का कारण है। सुतरां नास्ति का नास्तित्त्व अस्तित्त्व का संग्राहक बन रहा है। अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए इन व्यर्थ के तर्कवादों को थोड़ी देर के लिए छोड़ कर ही हम आपके 'नास्ति' की मीमांसा कर लेते हैं। मान लेते हैं, आपका 'नास्ति' ही तात्त्विक सिद्धान्त हैं। आपके इस नास्तिवाद का यही तो तात्पर्य्य है कि, संसार भी कुछ नही है, संसार के पदार्थ भी शून्यं शून्यं बनते हुए कुछ नहीं हैं। यदि ऐसा है, तब आप यह किस आधार पर कह सकते हैं कि–'नास्ति' यही हमारा मौलिक सिद्धान्त है। आप ही के शब्दों में जब कोई भी वस्तुतत्त्व 'हाँ' कहने योग्य नहीं है, तो स्वयं आप, आपका नास्तिसिद्धान्त, नास्तित्त्व के प्रतिपादक आपके ग्रन्थ, सब कुछ नास्तिकोटि में आते हुए शून्यं–शून्यं हों तो हैं। यदि इस पर आप अपने नास्तिसिद्धान्त की इस नास्ति को इष्टापत्ति मानते हैं, तो वही पूर्वोक्त अभावाभावात्मक सत्ताभाव आपका गलग्रह कर लेता है। बात वास्तव में तथ्यपूर्ण है। जो महानुभाव क्षणिक क्रिया के अभिनिवेश में आकर एकहेलया सबको 'असत्' कह जाते हैं, उनका स्वरूप ही कालान्तर में असत् बन जाता है। मनोविज्ञानसिद्धान्त के अनुसार 'यह भी नहीं, वह भी नहीं, सब मिथ्या' कहने वालों की प्रतिष्ठा कालान्तर में सचमुच उच्छिन्न हो जाती है। ठीक इसके विपरीत अस्तिब्रह्मोपासक विद्वान् 'सन्त' पद

के अधिकारी बनते हुए उभयलोकसम्पत्ति के सत्पात्र बने रहते हैं। इसी भाव का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

तत्त्वतः बात तो यह है कि, क्रिया क्षणिक है, परिवर्त्तनशीला है। इसे स्वसंचार के लिए अवश्य ही किसी अक्षण-अपरिवर्त्तनशील धरातल अपेक्षित है। एक क्षणिक क्रिया अन्य क्षणिक क्रिया का आधार बन जाय, यह असम्भव है। एवं बिना आधार के क्रियोपपत्ति असम्भव है। पैर के आधार पर गतिक्रिया का सञ्चार होता है। मुखाधारेण अन्नचर्वण क्रिया का सञ्चार है। स्थिर नागदन्त (खूँटी) पर वस्त्र-निधानलक्षण-कर्म्म सम्भव है। निदर्शन मात्र है। कहीं असतोधृतिरूप से, कहीं सतोधृतिरूप से, एवं सर्वत्र आत्मधृतिरूप से (परसत्ता-स्वसत्ता-आत्मसत्तारूप से) सम्पूर्ण क्रियाओं में आप एक निष्क्रिय स्थिर आलम्बन देखेंगे। इन्हीं सब प्रत्यक्ष परिस्थितियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि, जहाँ प्रत्येक पदार्थ क्रियामय बनता हुआ 'नास्ति' लक्षण है, वहाँ आधारभूत नित्यसत्तापेक्षया वह 'अस्ति' लक्षण भी है। मनःप्राणवाङ्मय-सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा ही सत्ता का स्वरूपलक्षण है। एवं **'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति'** (गी०२।१७) के अनुसार सत्ता का त्रिकाल में भी विनाश असम्भव है। पञ्चभूतसमष्टि का ही विनाश है, सो भी तिरोभावात्मक, लयात्मक। अतएव वैज्ञानिक महर्षि विश्वविनाश न कहकर 'विश्वप्रलय' कहा करते हैं। जो सत्तातत्त्व कर्म्मानुगृहीत आयुर्भोगपर्य्यन्त देवदत्त के शरीरपिण्ड से संक्रान्त रहता है, कर्म्मभोगानन्तर वह इस पिण्डसम्बन्ध से पृथक् होकर अन्य आतिवाहिक-शरीरपिण्ड के साथ संक्रान्त हो जाता है। साथ ही पूर्वपिण्ड भाव का भी अनुग्राहक बन जाता है। 'देवदत्तोऽस्ति' वत् 'देवदत्तो नास्ति' इस अभावात्मक वाक्य में भी अस्तित्व अक्षुण्ण है। वस्तुसत्ता, वस्त्वभाव, सर्वत्र अस्तितत्त्व नित्य सम्बद्ध है। कभी सत्ता को वस्तु अपने गर्भ में ले लेती मै, तो कभी सत्तावस्तु को अपने गर्भ में भुक्त कर लेती है। प्रथमदशा भावात्मिका सत्ता है, तो द्वितीयदशा अभावात्मिका सत्ता है। इसप्रकार विश्वदशा में उस नित्य सत्ताधरातल पर नानाभावाक्रान्त अनित्य क्रियाबल नृत्य कर रहे हैं। नृत्य करने बाले क्षण क्षण में नव नवरूप धारण करते रहते हैं, इनके सम्बन्ध से रङ्गमञ्च भी नव-नव सा प्रतीत होने लगता है, परन्तु वस्तुतः रङ्गमञ्चस्थानीय स्थिर सत्ता-धरातल सदा-सर्वदा आपूर्यमाण समुद्रवत् एकरस है, अचलप्रतिष्ठ है।

९—कारणस्वरूप विश्वमूल के दो तत्त्व—

छोड़िए इस मतवादात्मक दार्शनिक कलह की अप्रियचर्चा को। हमें तो विज्ञानसम्मत उस विश्वमूल की मीमांसा करनी है, जहाँ विवादप्रवेशाधिकार **'देवालयेषु-आर्यधर्म्मेतराणां, असच्छूद्राणां च प्रवेशो सर्वथा निषिद्धः'** के अनुसार सर्वथा अवरुद्ध है। किसी भी वस्तुतत्त्व के मूल की खोज करने के लिए उस वस्तुस्वरूप का अन्वेषण विशेष सुविधाजनक माना गया है। क्योंकि—**'कारणगुणाः कार्यगुणानारम्भन्ते'** न्यायानुसार कारण के गुण-धर्म्म हीं कार्य्य के गुण-धर्म्मों के आरम्भक (उपादान) बना करते हैं। सुतरां कार्य्य के स्वरूप दर्शन से कारणस्वरूप का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। हमें कार्य्यरूप विश्व के कारणरूप मूल का अन्वेषण करना है। अतएव कार्यरूप विश्व के स्वरूपदर्शन के लिए अग्रेसर होने पर

हमें यहाँ 'अस्ति, नास्ति' भेद से सर्वथा विरुद्ध दो तत्त्वों का एकत्र समन्वय उपलब्ध होता है। अस्ति अविनाशी बनता हुआ 'अमृत' है, नास्ति विनाशी बनता हुआ 'मृत्यु' है। अमृत-मृत्यु की समष्टि कार्यरूप विश्व है। एकमात्र इसी आधार पर हमें यह सिद्धान्त स्वीकार कर लेना चाहिए कि, जबकि कार्य्यरूप विश्व में नित्यानित्य दो विरुद्ध तत्त्वों का समन्वय है, तो तत्कारणभूत विश्वात्मा में भी अवश्य ही नित्यानित्य दो मूल प्रतिष्ठित होंगे। अस्ति-नास्ति-लक्षण विश्वकार्य्य के कारणभूत, नित्यानित्य-लक्षण, अतएव परस्परात्यन्त-विरुद्ध, साथ ही विश्वातीत होने से सर्वथा अचिन्त्य वे ही दोनों मूल तत्त्व विज्ञानकाण्ड में क्रमशः— "आभू-अभ्व" नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। कार्य्याधार पर अनुमेय इसी कारण-परिज्ञान का अपनी अर्थ-गभीर संक्षिप्तभाषा में स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य्यप्रवर कहते हैं—

यदस्ति किञ्चित् तदिदं प्रतीमोऽविचालि शश्वत्स्थमनाद्यनन्तम् ।
प्रतिक्षणान्यन्यविकारसृष्टिप्रवाहवत्तद्द्विविरुद्धभावम् ॥१॥
विरुद्धभावद्वयसन्निवेशात् सम्भाव्यते विश्वमिदं द्विमूलम् ।
'आभ्वभ्वसंज्ञे' स्त इमे च मूले द्रष्टाभु दृश्यं तु मतं तदभ्वम् ॥२॥

—श्रीगुरुप्रणीत संशयवाद।

सर्वव्यापक, नित्य तत्त्व ही **'आसमन्ताद् भाति'** निर्वचनानुसार **'आभू'** है। दूसरा अभ्वतत्त्व परिच्छिन्न होता हुआ क्षणिक, अतएव अनित्य है। 'नास्ति' ही इसका स्वरूप लक्षण है। सर्वथा नास्ति-लक्षण बनता हुआ (अतएव स्वलक्षण बनता हुआ) भी यह अभ्वतत्त्व उस अस्तिलक्षण आभूतत्त्व से अनुग्रहीत होकर नाम-रूप-कर्म्मात्मना प्रतीति का विषय बन रहा है, अतएव **'अभवन्-भाति'-'अभूत्वा भवति, भाति च'** इत्यादि निर्वचनों से इसे **'अभ्व'** कहा गया है। आभूतत्त्व नित्यधर्म्म से सत् है, अमृत है। अभ्वतत्त्व अपने अनित्यधर्म्म से असत् है, मृत्यु है। मृत्यु उस अमृत का आवरक है। परन्तु मृत्यु स्व-स्वरूप से विनष्टप्राय है, अमृतलक्षण आभू की तुलना में नगण्य है, तुच्छ है। मुक्तिकाल में जहाँ अमृताभू-का प्राधान्य रहता है, वहाँ सृष्टिकाल में इस 'तुच्छ' मृत्युरूप अभ्व का ही साम्राज्य रहता है। उस समय (सृष्टिदशा में) अमृतलक्षण आभू अन्तर्लीन रहता है, इसके चारों ओर मृत्युलक्षण इस तुच्छ अभ्व का ही आवरण रहता है। इसी स्थिति को लक्ष्य में रखकर वेदमहर्षि ने कहा है—**'तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्'** (ऋक् सं० १०।१२९।३।)। सृष्टिमूलभूता यही तत्त्वद्वयी तत्तत्सृष्टिविशेषों की अपेक्षा से तत्तत्प्रकरणविशेषों में निम्न लिखित रूप से अनेक नामों से सम्बोधित हुई है—

(१)-१-आभू———२-अभ्वम्		
(२)-१-रसः———२-बलम्		
(३)-१-अमृतम्———२-मृत्युः	}	—**"ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे, महती यक्षे"** (नाम-रूपे)
(४)-१-ज्योतिः———२-तमः		
(५)-१-विद्या———२-अविद्या		
(६)-१-सत्———२-असत्		

सृष्टिमूलभूत 'आभू-अभ्व' नामक तत्त्वद्वयी के 'विश्व-विश्वातीत' रूप से दो प्रधान विवर्त्त मानें गए हैं। विश्वविवर्त्त कार्य्यात्मक है, विश्वातीतविवर्त्त कारणात्मक है। कारणात्मक दोनों तत्त्व उन्मुग्धावस्थापन्न हैं, कार्य्यात्मक दोनों तत्त्व उद्‌बुद्धावस्थापन्न हैं। उद्‌बुद्ध दशा में कार्य्यात्मक आभूतत्त्व के **'सत्ता, चेतना, आनन्द,'** भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं, एवं कार्य्यात्मक अभ्वतत्त्व के **'नाम, रूप, कर्म्म,'** भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इन तीनों अभ्वरूपों में से यदि कर्म्मविवर्त्त का रूप में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो अभ्व के 'नाम-रूपात्मक' दो ही विवर्त्त शेष रह जाते हैं। सच्चिदानन्दघन आभूब्रह्म के नाम-रूप नामक ये अभ्व अतिशयरूपसे प्रभावशाली मानें गए हैं। जिन्होंनें अपने प्रतिष्ठारूप स्वयं आभूब्रह्म को आवृत करते हुए उसे सृष्टिकर्म्मसञ्चालन के लिए काम-तपः-श्रमात्मक सृष्ट्यनुबन्धों का अनुगामी बना डाला हो, उनके प्रभाव का क्या कहना है। इसी आधार पर श्रुति का-**'ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे, महती यक्षे'** (शत॰११।२।३।४।५।) यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

अभ्वात्मक नाम-रूप विवर्त्त सचमुच अस्मदादि संसारियों के लिए आभूब्रह्म की सबसे बड़ी बिभीषिका है। सम्पूर्ण बिश्वप्रजा नामरूप की बिभीषिका से भयत्रस्त हैं। इसप्रकार यह अभ्व पदार्थ हम लौकिक मनुष्यों को डराने के लिए सचमुच अभ्व (हौआ) बन रहा है। हमें भयत्रस्त करने वाला नामरूपात्मक अभ्व, तथा सच्चिदानन्दघन आभू, दोनों परस्पर बिजातीय हैं। आभू तत्त्व असङ्गधर्म्म से निरञ्जन, व्यापक धर्म्म से दिग्देशकालानवच्छिन्न, अमृतधर्म्म से नित्य, एकरसात्मक धर्म्म से शान्त, एवं परिपूर्ण है। ठीक इसके विपरीत अभ्व तत्त्व आसक्तिधर्म्म से साञ्जन, व्याप्यधर्म्म से दिग्देशकालावच्छिन्न, मृत्युधर्म्म से अनित्य, विभिन्न बलधर्म्म से अशान्त, तथा अपूर्ण है। साथ ही दोनों हीं विभिन्न दृष्टिकोणों से 'अनन्त' हैं। रसात्मक आभूब्रह्म संख्या से जहाँ एक है, वहाँ दिग्देशकालानवच्छिन्न बनता हुआ स्वरूपतः अनन्त है। बलात्मक अभ्व दिग्देशकालावच्छिन्न बनता हुआ जहाँ संख्या से अनन्त है, वहाँ स्वरूपतः सादिसान्त है। शुद्धरसात्मक आभूब्रह्म विशेषक बलों से अस्पृष्टदशा में **'निर्विशेष'** नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं वही आभूब्रह्म विशेषक-अशेष बलों से युक्तावस्था में आकर सर्वबलविशिष्टरसरूपेण **'परात्पर'** नाम से सम्बोधित हुआ है। इसप्रकार शुद्धरस, एवं अशेषबलवद्रस भेद से अमृत-मृत्युमय बिश्वातीत कारणब्रह्म के 'निर्विशेष'-'परात्पर' भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं।

बलों का आत्यन्तिकरूप से रस से पार्थक्य हो जाय, यह सर्वथा असम्भव है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। फलतः शुद्धरसात्मक 'निर्विशेष' का अशेषबलवद्रसरूप 'परात्पर' में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। निर्विशेष व्यवहार की मूलप्रतिष्ठा बुद्धिगम्य मानस-प्रत्ययमात्र ही माना गया है। **'घटे घटत्त्वम्'** इस वाक्य के समन्वय के लिए विशेषण की अविवक्षा करते हुए-**'घटत्त्वोपहिते घटे घटत्त्वम्'** यह वाक्यार्थ मानना पड़ता है। घट के साथ तद्‌विशेषणभूत घटत्त्व का नित्य सम्बन्ध है। बिना घटत्त्व सम्बन्ध के घट शब्द ही सर्वथा अनुपपन्न है। ऐसी दशा में 'घटे घटत्त्वम्' का 'घटत्त्वविशिष्टे घटे-घटत्वम्' इसप्रकार विशेषण पूर्वक समन्वय होना चाहिए था। परन्तु **'सामान्ये सामान्याभावः'** के अनुसार व्यक्ति में जाति की प्रतिष्ठा सम्भव है, किन्तु जाति में जातिप्रतिष्ठा एकान्ततः अनुपपन्न है। घटत्त्व घट में रहता है, घटत्त्व घटत्त्व में नहीं रहता। जब घटत्त्व में घटत्त्व नहीं रहता, तो 'घटत्त्वविशिष्टे घटे घटत्त्वम्' कहना असम्भव है। साथ ही बिना घटत्त्व लगाए 'घटे घटत्त्वम्' का समन्वय भी असम्भव है। इस विप्रतिपत्ति के

निराकरण के नित्य विद्यमान घटत्व की अपने बौद्धजगत् में अविवक्षा कर 'घटत्वोपहिते घटे घटत्वम्' इस प्रकार समन्वय कर लिया जाता है। ठीक यही प्रक्रिया यहाँ समझिए। **'शुद्धरसो निर्विशेषः'** का **'बलोपहितः शुद्धरसो निर्विशेषः'** इस रूप से समन्वय करना पड़ेगा। क्योंकि अपने प्रत्यय–जगत् में आप रस को बल से पृथक् कर सकते हैं, किन्तु सत्तादृष्टि से दोनों अभिन्न हैं। बिना बल के शुद्धरस अनुपपन्न है। इस प्रकार ज्ञानीय जगत् में बल की अविवक्षा करते हुए शुद्धरस को 'निर्विशेष' कहना सुसङ्गत बन सकता है।

'अयं घटः'–अयं पटः'-'अयं पुरुषः' ये घट-पट पुरुषादि शब्द विशेषात्मक बनते हुए परस्पर एक दूसरे के व्यावर्त्तक बन रहे हैं। घट इसलिए घट है कि, वह पटादि नहीं है। शुद्धरस एकाकी है, उसमें अनेकत्त्वानुयोगिक, एकत्त्वप्रतियोगिक इन विशेषभावों का अभाव है। विशेषभावों का उदय होता है अनेकत्त्वानुयोगिक, एकत्त्वप्रतियोगिक बलों के सम्बन्ध से। अतएव **'निर्गता विशेषा यस्मात्'** इस निर्वचन से विशेषक बल विरहित इस विशुद्ध रस को 'निर्विशेष' कहना अन्वर्थ बन रहा है। **'रसो ह्येव सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा–आनन्दी भवति'** (तै० उप० २।७।१।) इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार विशुद्ध रसरूप निर्विशेषब्रह्म आत्यन्तिकसुख (पराशान्तिलक्षण शान्त आनन्द) रूप है। दुःखरूप विशेषक बल का (भाति दृष्टि से) इसके साथ अणुमात्र भी स्पर्श नहीं है। इसी आधार पर श्रौती उपनिषत् का अक्षरशः अनुगमन करने वाली स्मार्त्ती उपनिषत्' (भगवद्गीतोपनिषत्) ने इसे **'ऐकान्तिक सुख'** नाम से व्यवहृत किया है, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है।

विशेषभावप्रवर्त्तक यच्चयावत्–बलों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला, अतएव अशेषबल–वद्रसमूर्त्ति, सर्वधर्म्मोपन्न विश्वातीत तत्त्व 'परात्पर' है। यह असीम है, अपरिच्छिन्न है, नित्यधर्म्मा है। विश्वा–तीतत्वेन व्यापक होने से कभी ग्रन्थिविमोकलक्षण नाश की सम्भावना नहीं है। अतएव इसे **'शाश्वतधर्म्म'** नाम से व्यवहृत किया गया है। शाश्वतधर्म्मलक्षण इस सर्वबलविशिष्ट रसात्मक, सर्वधर्म्मोपपन्न परात्पर को मूलाधार बना कर ही हमें प्रजापति की १६ कलाओं का उपक्रम करना है। इसी परात्पर से इसी के गर्भ में एक बलविशेष के अनुग्रह से सीमाभावोत्पत्ति के द्वारा हमारे प्रकृत प्रकरण के 'ईशप्रजापति' का विकास होने वाला है, जिसे हम 'षोडशीप्रजापति' भी कहा करते हैं। निर्विशेषवत् विश्वातीत परात्पर भी अपनी सर्वधर्म्मता से अतद्व्यावृत्त बनता हुआ वाङ्मनसपथातीत है, अतएव अविज्ञेय है, अनुपास्य है। विज्ञेय है एकमात्र तदंशभूत ईश्वर प्रजापति, जिसके सम्बन्ध में–**'पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः'** यह कहा जाता है।

१०–विश्वात्मा के १६ बलकोश—

ईशप्रजापति के मूलकारणात्मक परात्पर–परमेश्वर की रस, बल नाम की जिन दो कलाओं का अबतक यशोगान हुआ है, वह प्रत्येक कला **'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** इस अनुगम की अधिकारिणी बन रही है। इन षोडशीभावों का विकास स्वयं परात्पर में नहीं होता, अपितु परिच्छिन्न ईशप्रजापति में ही होता है। अतएव श्रुति ने प्रजापति को ही 'षोडशी' कहा है। ईशप्रजापति के रसभाग से सम्बन्ध रखनें वालीं १६ कलाओं को थोड़ी देर के लिए यहीं छोड़ पहिले बलभागानुता १६ कलाओं की मीमांसा कर लीजिए।

बलतत्त्व अनन्त हैं, असंख्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु कोशदृष्टि से इन असंख्य बलों का १६ महाबलों में ही अन्तर्भाव हो रहा है। यच्चयावत् बल १६ जातियों में विभक्त हैं, एवं १६ बलजातियों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले १६ महाबल 'कोशबल' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन बलकोशों के तात्त्विक विश्लेषण के लिए तो एक स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है। यहाँ केवल प्रकरणसङ्गति के लिए संक्षिप्त परिचय के साथ-साथ उनका नामोल्लेख कर देना ही पर्य्याप्त होगा। पहिला बलकोश **'विद्याबल'** है, एवं इसका एक स्वतन्त्र विभाग है। **'माया, जाया, धारा, आप:'**इन चार बलकोशों का एक स्वतन्त्र विभाग है। **'हृदय-भूति-यज्ञ-सूत्र'** इन चार बलकोशों का एक स्वतन्त्र विभाग है। **'सत्य-यक्ष-अभ्व-मोह'** इन चार बलकोशों का एक स्वतन्त्र विभाग है। **'वय, वयोनाध, वयुन'** इन तीन बलकोशों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इसप्रकार १-४-४-४-३ भेद से पाँच विभागों में विभक्त रहते हुए १६ बलकोश विविध भावापन्न बलात्मक विश्व के आरम्भक बन रहे हैं।

(१)-मायाबलम्—

रस-बलात्मक व्यापक परात्परप्रदेश को मित (सीमित) बना देने वाला जो सर्वप्रधान बलकोश है, वही **'मीयते अनया-'मिनोति या सा'** इत्यादि निर्वचनों के अनुसार **'माया'** नाम से प्रसिद्ध है। इस बल के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, इतर पन्द्रह बलकोशों को भी यह मायाबलकोश अपने गर्भ में रखता हुआ महान् बन रहा है। मायाबलप्रवृत्ति ही इतर बलकोशप्रवृत्ति का मुख्य कारण है। मायाबल ही एक ऐसा बल है, जिसके उदय से व्यापक परात्पर प्रदेशावच्छेदेन सीमित बन कर 'पुरुष' नाम धारण करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टि का प्रवर्त्तक बनने में समर्थ होता है। मायाबल क्योंकि बल है, मृत्युलक्षण है, अतएव इसे 'असत्' कहने की भी इच्छा होती है। सद्रस के आधार पर उदित होने से इसे 'सत्' भी कहने की इच्छा होती है। सदसद्विश्व एकमात्र माया का ही विजृम्भण है, अतएव इसे 'सदसत्' कहने की भी इच्छा होती है। परन्तु ये तीनों हीं इच्छाएँ व्यर्थ सिद्ध हो रहीं हैं। सद्रसानुबन्ध से इसे एकान्ततः 'असती' भी नहीं कहा जा सकता, बलस्वरूपानुबन्ध से इसे एकान्ततः 'सती' भी नहीं कहा जा सकता है। सत्-असत के परस्पर विरोध से (जो सत् है, वह असत् नहीं, जो असत् है-वह सत् नहीं, इस दृष्टि से) इसे 'सदसती' भी नहीं कहा जा सकता। इसप्रकार अचिन्त्य परात्पर को पुरुषरूप में परिणत करने वाली माया भी अस्मदादि गर्भीभूत प्रजा के लिए सर्वथा अचिन्त्य ही बन रही है। उसके गर्भ में एक अतिस्वल्प क्रोड में जन्म लेने वाला मनुष्य जगन्माता के 'इदमित्थं' रूप को यदि जानने में असमर्थ रहता है, तो इस में कोई आश्चर्य नहीं है। मायाबल की इसी अनिर्वचनीयता का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्तों नें कहा है—

न सती सा, नासती सा, नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद् विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी॥

इस मायाबल के **'महामाया, योगमाया, विष्णुमाया, ब्रह्ममाया, शिवमाया,** आदि भेद से अनेक विवर्त्त मानें गए हैं। सर्वप्रथम उद्भूत, इतर मायाविवर्त्तों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली, 'विश्वात्मा' नाम से प्रसिद्ध ईशप्रजापति का स्वरूप निर्म्माण करने वाली, विश्वव्यापिनी आदिमाया ही **'महामाया'** है। महामायी ईशप्रजापति है, जिसके गर्भ में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्यादि अनेक भावों का समावेश है। इन पर्वों

का स्वरूप सम्पादन करने वाली मायाएँ पृथक्-पृथक् हैं। माया सीमाभाव है, सीमा (आवपन लक्षण आयतन) बलविशेष है। सीमात्मिका माया ही पर्वजन्म का हेतु बनती है। पर्वात्मिका ये मायाएँ ईशप्रजापतिस्वरूप-निर्मात्री माया के गर्भ में उदित होतीं हुईं स्वभक्तिबल के सम्बन्ध से महामाया से युक्त रहतीं हैं। अतएव इन्हें **'योगमाया'** नाम से व्यवहृत किया गया है। एक विश्व में महामाया एक है, योगमाया अनन्त हैं। महासीमा में सीमा, सीमा में सीमा, इसप्रकार दहरोत्तर-सम्बन्ध से विश्वगर्भ में अनन्त पदार्थ भेद से अनन्त योगमायाएँ व्याप्त हो रहीं हैं। योगमायाओं की दहरोत्तर-सम्बन्धानुगता इस सर्वव्याप्ति का यह परिणाम है कि, आज वह महामायी अव्ययेश्वर सर्वसाधारण के लिए विदूर बन रहा है। जो महामायी अव्यय महामायानुबन्ध से प्रत्यक्ष है, वही योगमायाखण्डों से आवृत होकर तिरोहित है। योगमायानुबन्धी पुरुष योगमाया के (त्रिगुणात्मिका प्रकृति के) जाल में ही फँसा रहता है। इन योगमायाजालों से जालवान् × बनता हुआ वह ईश जालात्मिका इन्हीं योगमायाओं से योगमायावच्छिन्न विश्वप्रजा का शासन करता हुआ योगमाया के सम्बन्ध से शासित प्रजा के लिए अप्रत्यक्ष बन रहा है। आत्मस्वरूप को आवृत करने वाली, खण्ड-खण्डात्मिका-त्रिगुणात्मिका यही माया वह योगमाया है, जिसके सम्बन्ध में स्मृति का निम्नलिखित स्पष्टीकरण है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ (गी० ७।२५)।

प्रतिष्ठाप्रवर्त्तक, किंवा प्रतिष्ठालक्षण, हृद्य ब्रह्माक्षर का स्वरूप सम्पादन करने वाली प्रतिष्ठात्मिका माया ही 'ब्रह्ममाया' है, जो ब्रह्माक्षर के सहयोग से त्रयीमूर्त्ति बनती हुई विश्व की मूलोत्पादिका बन रही है ❀। प्रत्येक पदार्थ में जो प्रतिष्ठात्मक एक ठहराव उपलब्ध होता है, वह इसी ब्रह्ममाया का अनुग्रह है। इसके अतिरिक्त वस्तु की उपलब्धि भी इसी ब्रह्ममाया से होती है। उपलब्ध वस्तुतत्त्व त्रयीवेदसम्पत्ति से युक्त है, जैसाकि भूमिका प्रथमखण्डान्तर्गत-**'उपलब्धिवेदनिरुक्ति'** प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। महामायावच्छिन्न, सर्वज्ञ, सर्ववित्, ज्ञानमय-तपोमूर्त्ति, ईशप्रजापति इसी ब्रह्ममायासहयोग से ब्रह्मात्मिका वेद-प्रतिष्ठा के प्रवर्त्तक बनते हुए सृष्टिकर्म्म आरम्भ करने में समर्थ होते हैं-**'तस्मादेतद् ब्रह्म'**÷।

× **य एको जालवानीशत ईशनीभिः, सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।**
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
—श्वेताश्वतर० ३.१।।

जालवान्—योगमायावच्छिन्नः। ईशानीभिः—योगमायाभिः।

❀ **शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।**
देवी 'त्रयी' भगवती भवभावनाय वार्त्ता च सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्री॥
—सप्तशती

÷ **यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः।**
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूप-मन्नं च जायते॥ (मुण्डकोपनिषत् १।१।६।)।
ब्रह्म-प्रतिष्ठा। नामरूपं-ज्योतिः। अन्नं-यज्ञः।

विश्वान्तर्गत अणोरणीयान्, महतो महीयान्, सब पदार्थों में 'सर्वमिदमन्नं, सर्वमिदमन्नाद:' इस निगम के अनुसार परस्पर अन्न-अन्नाद (भोग्य-भोक्तृभाव) भाव प्रतिष्ठित है, जिसका- 'यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नं, अन्नमदन्तमद्मि' इत्यादि मन्त्रवर्णन से भी समर्थन हुआ है। परस्परान्नान्नाद सम्बन्ध से ही पदार्थों की स्वरूपरक्षा हो रही है। इसी आदान-प्रदानात्मक, जीवनसाधक कर्म्म को 'यज्ञ' कहा जाता है। इस यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा आहरणधर्म्मा हृद्य विष्णु नामक अक्षर है। अतएव 'यज्ञो वै विष्णुः'-'विष्णुर्वै यज्ञः' इत्यादि रूप से अन्न-अन्नादात्मक (अग्नीषोमात्मक) यज्ञ, एवं तत्प्रवर्त्तक, अशनायाशक्तियुक्त हृद्य-विष्णु-अक्षर का अभेद मान लिया गया है। प्रतिष्ठात्मिका ब्रह्ममाया की भी प्रतिष्ठित बनाने वाली यज्ञात्मिका यही 'विष्णुमाया' है। सृष्टिपालन-धर्म्म इसी माया का स्वधर्म्म है। अन्नादानलक्षणा यज्ञसत्ता ही सृष्टिस्वरूपरक्षा है। तभी तक हृद्य प्रतिष्ठाब्रह्म सुरक्षित है। जिस योगमाया का (वस्तुपिण्डात्मिका सीमा का) पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वह योगमाया यज्ञात्मिका इस विष्णुमाया के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। जब तक विष्णुमाया का अनुग्रह है, तब तक अन्नयज्ञ सुरक्षित है। जब तक अन्नयज्ञ है, तभी तक वस्तुसीमात्मिका योगमाया का विकास है। इसी आधार पर प्राचीनों नें योगमाया का विष्णुमाया में अन्तर्भाव मानते हुए इसे भी विष्णु-माया ही कह दिया है, जैसाकि 'योगमाया हरेश्चैतत् तथा संमोह्यते जगत्' (सप्तशती) इत्यादि रहस्य-प्रमाण से प्रमाणित है। इसप्रकार सर्वज्ञादिलक्षण वही ईशप्रजापति विष्णुमाया के सहयोग से ही अन्नात्मक यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते हुए सृष्टिपालनकर्म्म में समर्थ बन रहे हैं-'अन्नं च जायते'।

चौथी 'शिवमाया' नामरूपात्मक विश्व का शिवभाव सुरक्षित रखती है। नामरूप ही अर्थप्रपञ्च है, अर्थ ही भूत है, तत्सम्बन्ध से ही इन्द्राग्निसोम के भेद से त्र्यक्षरमूर्त्ति शिव भूतपति कहलाए हैं। भूतपति शिव में प्रधानतः इन्द्राक्षर का ही विकास माना गया है। अतएव इस माया को विज्ञानभाषा में हम 'इन्द्रमाया' ही कहेंगे। पुराणशास्त्र की शिवमाया, एवं वेदशास्त्र की 'इन्द्रमाया' अभिन्न पदार्थ हैं। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार इन्द्र ही नामरूपात्मिका माया के सहयोग से अर्थविवर्त्त का अध्यक्ष बन रहा है *।

उक्त मायात्रयी का निष्कर्ष यही हुआ कि, त्रिगुणात्मिका योगमाया के गर्भ में सत्त्व-रज-तम-इन तीन गुणों के आधार पर क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्राक्षरों से सम्बद्ध ब्रह्म-विष्णु-इन्द्र (शिव) माया का विकास होता है। तीनों उस त्रिगुणात्मिका योगमाया का ही विस्तार है। समष्टिरूप से वही योगमाया है, व्यष्टिरूप से वही ब्रह्ममायादि नाम से व्यवहृत होने लगती है। इसप्रकार महामाया, योगमाया, भेद से विभागद्वयात्मिका माया चतुर्विभागात्मिका बन रही है।

---

*-रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश॥
—ऋक्सं० ६।४७।१८।

१-१—महामाया—ईशप्रजापतिस्वरूपलक्षणा-एका-गुणातीता ।

-—योगमाया—खण्डसृष्ट्यनुग्राहिका-गुणत्रयात्मिका ।

२-१—ब्रह्ममाया—प्रतिष्ठाब्रह्मात्मिका वेदमयी (प्रतिष्ठा)-ब्रह्म ।

३-२—विष्णुमाया-अन्नयज्ञात्मिका (यज्ञः)-अन्नम् ।

४-३—इन्द्रमाया—नामरूपात्मिका ज्योतिर्लक्षणा (ज्योतिः)—नामरूपे ।

यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म—नामरूप—मन्नं च जायते ॥

प्रकृत में मायाबल के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि, जायादि १५ बलकोशों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला, सञ्चरदशा में सर्वप्रथम उद्भूत होने वाला, सीमाभावसम्पादक बलविशेष ही पहिला **'मायाबल'** है । मायाबलोदय के अनन्तर ही अन्य बलों का उदय होता है ।

(२)-हृदयबलम्—

अव्ययपुरुषानुबन्धी बल जहाँ 'मायाबल' है, वहाँ अक्षरपुरुषानुबन्धी बल 'हृदयबल' नाम से व्यवहृत हुआ है । बतलाया गया है कि, इतर बलकोश माया नामक बलकोश के गर्भ में प्रतिष्ठित है । सञ्चरदशा में सर्वप्रथम मायाबल का उदय होता है । परात्पर के जिस प्रदेश में (जबकि मायोदय से पहिले व्यापक परात्पर के सम्बन्ध में प्रदेश शब्द अनुपन्न है) माया का विस्तारलक्षण तनन होता है, वह प्रदेश सीमित बनता हुआ एक रेखात्मक पुर बन जाता है । इस मायापुर के सम्बन्ध से रसबलात्मक वह परात्पर ही मायाप्रदेशावच्छेदेन 'पुरुष' कहलाने लगता है । मायी पुरुष (अव्यय) के गर्भ में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-नामक हृ-द-य-इन तीन अक्षरों का, किंवा त्र्यक्षरमूर्त्ति एकाक्षरपुरुष का विकास होता है । यही नियतिलक्षण बल **'हृदयबल'** नामक दूसरा बल है, जिसका उदय मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही हो जाता है । व्यापक बस्तुतत्त्व में कोई नियत केन्द्र नहीं होता, अपितु वह सर्वात्मना केन्द्र है, किंवा उसकी प्रतिबिन्दु केन्द्र है । केन्द्रभाव परिच्छिन्न वस्तुतत्त्व से ही सम्बन्ध रखता है । मायाबलोदय से पहिले असीम बने हुए परात्पर में हृदयबल का अविकास था । परन्तु मायी परात्पर में, जिसे हम अब पुरुष कहेंगे, हृदयबल का उदय हो जाता है । हृदयबल की मूलोपनिषत् गतितत्त्व ही मानी गई है । यह गतितत्त्व ही गतिसमष्टि, अर्वाग्गतिलक्षणा विशुद्धा आगति, पराग्गतिलक्षणा विशुद्धा गति, गतिसमष्टिगर्भिता आगति, गतिसमष्टिगर्भिता गति, भेद से पाँच अवस्थाओं में परिणत होकर स्थिति, विशुद्धा आगति, विशुद्धा गति, स्थितिगर्भिता आगति, स्थितिगर्भिता गति भेद से परिणित हो रही है । इन्हीं पाँच गतिभावों को विज्ञानभाषा में क्रमशः 'ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम, अग्नि' नामों से व्यवहृत किया गया है । **'यदक्षरं पञ्चविधं समेति, युजो युक्ता अभियत्संवहन्ति'** (ऐतरेय-आरण्यक) इत्यादि ऐतरेय श्रुति के अनुसार पञ्चाक्षरमूर्त्ति यही अक्षरतत्त्व नियन्ता है, अन्तर्य्यामी है । इस पञ्चाक्षर विवर्त्त के अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा-भेद से आगे जाकर दो विवर्त्त हो जाते हैं । त्र्यक्षरमूर्त्ति हृदयाक्षर अन्तर्य्यामी है, द्व्यक्षरमूर्त्ति पृष्ठ्याक्षर सूत्रात्मा है । अन्तर्य्यामी के आधार पर प्रतिष्ठित सूत्रात्मा ही अपने क्षरभाव से विश्व का उपादान

बनता है। 'तस्मिन्ह तस्थौ भुवनानि सर्वा' का तस्मिन् अन्तर्यामी है, भुवनानि सूत्रात्मा है। हृदय ही वस्तुभुवन की प्रतिष्ठा है। 'गृह्णाति-इति गर्भः' निर्वचन से सर्वप्रतिष्ठालक्षण हृदय बल 'गर्ह' है। 'हृ-ग्रहोर्भश्छन्दसि' से गर्ह ही वेदभाषा में 'गर्भ' रूप में परिणित हो रहा है। मायानन्तर उद्भूत इस हृदयबल में ही इतर प्राणकोश प्रतिष्ठित हैं, एवं हृदयबल का यही संक्षिप्त स्पष्टीकरण है।

१—१—गतिसमष्टिः	स्थितिः	ब्रह्मा (यम्)		
२—२—अर्वाग्गतिः	आगतिः	विष्णुः (हृ)		हृदयं-अन्तर्यामी
३—३—पराग्गतिः	गतिः	इन्द्रः	(द)	

४—१—स०ग०ग०अर्वाग्गति-स्थितिगर्भिता आगतिः-सोमः	पृष्ठं सूत्रात्मा
५—२—स०ग०ग०पराग्गतिः-स्थितिगर्भिता गतिः—अग्निः	

(३)—भूतिबलम्—

प्रत्येक वस्तु में आदाननिबन्धन प्राणन, एवं विसर्गनिबन्धन अपानन व्यापार हुआ करता है। सौर दिव्यप्राण, पार्थिव भूतप्राण, दोनों प्राणों के सन्निवेशतारतम्य से उत्पन्न त्रैलोक्यगत पदार्थमात्र में (प्रत्येक-में) दोनों प्राण प्रतिष्ठित हैं। सौर प्राण 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है, यही प्राणन व्यापार का प्रवर्त्तक है। पार्थिव प्राण 'अपान' है, एवं यही अपानन व्यापार की प्रतिष्ठा है। प्राणनव्यापार से पदार्थावयवों का आविर्भाव होता रहता है, यही पदार्थों की सम्भूति है। अपानन व्यापार से इन अवयवों का तिरोभाव होता रहता है, एवं इनका विनाश है। सम्भूति-विनाश-प्रवर्त्तक प्राणन-अपाननव्यापारसमन्वयावस्था ही सम्भूतिलक्षण **'भूतिबल'** यही है। बिना विनाश (विसर्ग) के सम्भूति का उदय असम्भव है। आदान की प्रवृत्ति प्रदान पर ही अवलम्बित है। भूतिलक्षण सम्भूति के गर्भमें आदानभावानुगता प्राणनव्यापारलक्षणा सम्भूति, एवं विसर्गभावानुगता अपाननव्यापारलक्षणा विनष्टि, दोनों प्रतिष्ठित हैं। आविर्भाव, तिरोभाव का समन्वय ही भूतिलक्षणा सम्भूति की मूलप्रतिष्ठा है। प्राणनापानन-स्वरूप आदानविसर्गात्मक भूतिबल जब तक पदार्थों में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक पदार्थों का सम्भूतिलक्षण विकास (स्वरूपस्थिति) है। जिस क्षण उभयात्मक यह भूतिबल उच्छिन्न हो जाता है, पदार्थ विशुद्ध विनाश का अनुगामी बन जाता है। उभयात्मक इस भूतिबल के सम्बन्ध से ही प्रत्येक पदार्थ में नानावस्था--परिवर्त्तन हुआ करता हुआ है।

उदाहरण के लिए सूर्य्य को ही लीजिए। प्रातः सूर्य्य का आविर्भाव होता है, मध्यान्ह में युवावस्था है, सायं निम्राभमूलक तिरोभाव है। यह तो हुई स्थूलदृष्टि। अब सूक्ष्मदृष्टि से भूतिबल का समन्वय कीजिए। क्षणावस्थापन्न प्रत्येक बल आविर्भाव-तिरोभावलक्षण भूतिबल से युक्त है। पहिले बल सुप्त था, आविर्भूत हुआ, उत्तर क्षण में इसका तिरोभाव हुआ। पुनः उदय, पुनः तिरोभाव। इसप्रकार नास्ति-अस्ति-नास्तिस्वरूप

आविर्भाव तिरोभाव भूतिबल से क्षण-क्षण में प्रक्रान्त है। इसी भूतिबल के समन्वय से विश्व की सम्भूति हुई है। प्राणापानानरूप इसी भूतिबल के समन्वय से विश्वात्मा विश्वविभूति का भोक्ता बना हुआ है। अपने इसी भूतिबल के सम्बन्ध से जीवात्मा पशुबल, वित्तबल, प्रजाबल, जायाबल, आदि बलविभूतियों से युक्त होता हुआ पुष्टिमान् बन रहा है। भूतिबलाभाव में पराभूति निश्चित है। और यही भूतिबल का संक्षिप्त निदर्शन है।

(४-५,)-यज्ञबल एवं सूत्रबल—

जिस बल के आधार पर शारीराग्नि में अन्नाधान होता है, दूसरे शब्दों में जिस हृद्य-विष्णु-अनुगत बलाकर्षण से आकर्षित अन्न शारीर अग्नि में आहुत होता है, वही बल **'अशं नयते'** निर्वचन से **'अशनाया'** नाम से प्रसिद्ध है। 'अश' अन्न है, इसे शारीराग्नि में पहुँचाने वाला बलविशेष ही अशनाया है। अशनाया-बल ही लोकभाषा में 'बुभुक्षा' (भूख) नाम से व्यवहृत हुआ है। प्राणकोशात्मक यह अशनायाबल **'यज्ञ-सूत्र'** भेद से दो भागों में विभक्त है। 'अन्नाद' नाम से प्रसिद्ध शारीर अग्नि में जिस बल के द्वारा अन्न की आहुति होती है, अशनायामूलक वही बल 'यज्ञबल' है। जबतक हमारी अध्यात्मसंस्था में यह यज्ञबल प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक आहुत अन्न अन्नाद अग्नि में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता रहता है। यज्ञबल के उच्छिन्न हो जाने पर आहुत अन्न का अन्नादाग्नि से अन्तर्य्याम सम्बन्ध नही होने पाता, अपच (बदहजमी) हो जाता है। इसका स्थायीरूप कालान्तर में अन्नादोत्क्रान्ति का कारण बन जाता है। जब तक खाया हुआ अन्न हजम होता रहे, तब तक मानना चाहिए कि, यज्ञबल सुरक्षित है। कुण्डाग्नि में पुरोडाश का आहित होना यज्ञबल है। शारीराग्नि में अन्नाहिति होना यज्ञबल है, वस्त्र में रङ्ग का आहित होना यज्ञबल है। आहिति ही आहुति है (शत० १०।६।२।२।), आहुति ही यज्ञ है। यही विष्णुबल है। स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहने वाला, अन्नाद में आहित अन्न (भुक्तान्न) का अन्नाद से अन्तर्य्याम सम्बन्ध कराके दोनों के समन्वय से एक तीसरा अपूर्व (रक्तासृङ्मांसादि लक्षण) स्वरूप उत्पन्न करने वाला विष्णुमूलक स्थायी बल ही **'यज्ञबल'** है।

अन्य देश में अवस्थित अन्न को अन्नादाग्नि में आहित करने वाला, गतिधर्मावच्छिन्न, अशनाया-मूलक जो आकर्षणबल है, वही **'सूत्रबल'** है। सूर्य्य इसी सूत्रबल से रश्मियों के द्वारा पार्थिव रसात्मक अन्न को अपने सावित्राग्नि में आहित किया करता है। ध्रुवने आकर्षणलक्षण इसी सूत्रबल से विष्वद्वृत्तानुगत भूचक्र (पृथिवी) को नियतमार्ग (क्रान्तिवृत्त) पर परिभ्रमण करने के लिए विवश कर रक्खा है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का भोग्य बनता हुआ जिस बलाकर्षण से परवश बन जाया करता है, भोग्यतालक्षण परवशता-सम्पादक, अशनायामूलक, गतिशील, वही आकर्षणबल सूत्रबल है। स्थायी यज्ञबल, जायी सूत्रबल, दोनों की प्रतिष्ठा परम्परया साक्षात् विष्णु है, विष्णुशक्ति ही अशनाया है। एक ही अशनाया के स्थिति-गति भेद से उक्त दो विवर्त्त हो जाते हैं। इसी आधार पर हमनें दोनों का अशनायाबलरूप से संग्रह कर लिया है।

(६)-जायाबलम्—

पदार्थ-स्वरूप को स्थूलरूप देने वाला, दूसरे शब्दों में पदार्थों को उत्पन्न करने वाला बलविशेष ही **'जायाबल'** नाम से प्रसिद्ध है। विजातीय बलों के चितिसम्बन्ध से ही वस्तु उत्पन्न होती है। बलों से साथ होने वाला सम्बन्ध यों तो असंख्य-संख्या में विभक्त है। परन्तु इसके प्रधान १३ विभाग मानें गए हैं, जो

कि विज्ञानकाण्ड में-१-अलक्षण, २-विभूति, ३-योग, ४-बन्ध, ५-अमितवृत्तित्व, ६-उदार, ७-आसङ्ग, ८-समवाय, ६-सन्धि, १०-दहरोत्तर, ११-ओतप्रोत, १२-महातिग्रह, १३-अध्यूढ" इन नामों से प्रसिद्ध हैं। प्रकृत में इन तेरह सम्बन्धों में से चौथा 'बन्ध' नामक सम्बन्ध ही अभिप्रेत है। ग्रन्थि-बन्धनलक्षण, अपूर्वस्वरूपोपपादक अन्तर्याम सम्बन्ध ही 'बन्ध' सम्बन्ध है। इसी को यज्ञपरिभाषा में 'चितिसम्बन्ध' कहा गया है। दार्शनिक भाषा में यही सम्बन्ध 'संसृष्टि', किंवा 'सृष्टि' नाम से प्रसिद्ध है। विजातीय अनेक बल परस्पर एक दूसरे में आहुत होते हुए, अपने पूर्वस्वरूपों का परित्याग करते हुए जिस सम्बन्ध के सहयोग से तीसरे अपूर्व स्वरूप में परिणत हो जाते हैं, रासायनिक-सम्मिश्रणमूलक वही सम्बन्ध 'चिति' कहलाया है। संसृष्टिलक्षण सम्पूर्ण सृष्टिविवर्त्तों का मूलप्रवर्त्तक यही चितिसम्बन्ध है।

सोरा-कोयला समन्वित होकर इसी सम्बन्ध से 'बारूद' नामक अपूर्व सृष्टिरूप में परिणत हो रहे हैं। संसृष्टिलक्षण इसी चितिसम्बन्ध से योषाप्राणप्रधान सौम्य शुक्र, तथा वृषाप्राणप्रधान आग्नेय शोणित, दोनों पूर्वरूपों का परित्याग कर अपत्यरूप में परिणत होते हैं। इसप्रकार जिस हृद्ग्रन्थिलक्षण चितिबल से बलों का परस्पर ग्रन्थिबन्धन होता है, उस चितिबल का मूलाधार बल ही **'जायाबल'** कहलाया है। जायाबल से चितिबल को प्रेरणा मिलती है। चितिबल की प्रेरणा से जायाबल की सीमा में वस्तु उत्पन्न होती है। जाया ही जनन की अधिष्ठात्री है, अतएव **'यदस्यां जायते'** निर्वचन से इसे 'जाया' कहना अन्वर्थ बनता है। स्त्री के गर्भाशय में वृषाप्राणप्रधान शोणित का प्राधान्य है। इस शोणिताग्नि में योषाप्राणप्रधान पुरुष के शुक्रात्मक सोम की आहुती होती है। शुक्रशोणित का ग्रन्थिबन्धन स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठत जायाबल के आधार पर होता से, अतएव स्त्री को 'जाया' कहा जाता है। इसी जायाबल के अनुग्रह से हृद्ग्रन्थिलक्षण चितिबल के द्वारा हृदयस्थ प्रज्ञान मन में काम- तपः-श्रम नामक सृष्ट्यनुबन्धों का उदय होता है। इसी जायाबल से प्रज्ञानप्रतिष्ठित विज्ञान में काम-वीर्य्य-शुक्रत्रयी का आविर्भाव होता है। इसी जायाबल की प्रेरणा से अक्षरानुगृहीत पारमेष्ठ्य महानात्मा में काम-क्रिया-आवरण, दूसरे शब्दों में काम-विक्षेप-आवरणत्रयी का विकास होता है। निदर्शन मात्र है। सम्पूर्ण मैथुनीसृष्टि का मूलोपादान सुब्रह्मलक्षण, सुवेदमूर्त्ति (अथर्ववेद-मूर्त्ति) यही जायाबल है, जिसकी मूलोपनिषद् भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व माना गया है-(देखिए गो० ब्रा० पू० १।१।)।

(७)-धाराबलम्—

बतलाया गया है कि, बल प्रतिलक्षण-विलक्षण अवस्थाओं से क्षण-क्षण में परिवर्त्तनशील है। इन क्षणिकबलों का परस्पर सम्बन्ध सर्वथा अनुपपन्न हो जाता, यदि एक विशेषबल इनके मूल में प्रतिष्ठित न होता तो। जिस विशेष बल के सम्बन्ध से क्षणिक बलों का धारावाहिक रूप से सम्बन्ध उपपन्न है, वही विशेषबल **'धाराबल'** नाम से नाम प्रसिद्ध हैं, जिसे दूसरे शब्दों में **'सन्तानबल'** भी कहा जाता है। इसी धाराबल से बलसंघातलक्षण पदार्थ बलों के स्वाभाविक क्षणधर्म्म के नित्य विद्यमान रहने पर भी स्थिर प्रतीत होने लगते हैं। गाङ्गेयतोय प्रतिक्षण में आविर्भाव-तिरोभाव धर्म्मों से परिवर्त्तित है। प्रथम क्षणमें एकत्र विद्यमान गङ्गातोय उत्तरक्षण में विलीन है। फिर भी 'गङ्गा' रूप से समूहालम्बनलक्षणा प्रत्यभिज्ञा सुरक्षित है। उत्पत्ति-स्थिति-विनाश, रूप से प्रतिक्षण विलक्षण तत्तत् पदार्थस्थिति धाराबल के अनुग्रह से अभिन्न

प्रतीत होती है । भोजन, गमन, शयन, पठन, इत्यादि क्रियाएँ (प्रत्येक क्रिया) अभिक्रम-प्रक्रम-सम्बन्ध से असंख्य क्रियाओं का कूटरूप एक एक व्यूहन है । स्वस्वरूप से इस क्रिया का संघातलक्षण व्यूहन असम्भव है । क्योंकि उत्तरोत्तर क्षणों में पूर्व-पूर्व क्रिया का विलयन है । फिर भी भोजन-गमनादि व्यूहात्मिका क्रियाएँ एक-एक क्रिया मानी जा रही है । यह इसी धाराबल-सम्बन्ध की महिमा है । इसी धाराबल का दार्शनिक भाषा में स्पष्टीकरण करते हुए प्राचीनों नें कहा है—

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ (वाक्यपदी) ।

एक सरोवर में ऊपर तक पानी भर दीजिए । साथ ही विरुद्ध दिशाओं में दो मार्ग (मोरी) समानाकार वाले बना दीजिए । एक से समानमात्रा में पानी निकलने दीजिए, दूसरे मार्ग से समानमात्रा में पानी आने दीजिए । इस समानमात्रागमन-निर्गमन से आप को सरोवर का पानी स्थिरवत् प्रतीत होगा, और यह भी धाराबल का एक अनुगत उदाहरण माना जायगा । इस धाराबल की मूलोपनिषत् भी भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व ही मानी गई है ।

(८)—आपोबलम्—

'समूहः क्रमजन्मनाम्'-'गुणकूटो द्रव्यम्' इत्यादि के अनुसार प्रत्येक पदार्थ असंख्य बलसमष्टिलक्षण है । साथ ही यह भी निर्विवाद है कि, पदार्थस्वरूपसम्पादक ये बल पृथक्-पृथक् रहते हुए अपनी क्षररूपता का समर्थन कर रहे हैं । बालुका-राशि का प्रत्येक बालुकण पृथक्-पृथक् है । ठीक यही स्वरूप इन क्षरात्मक बलों का है । सर्वथा विभक्त, विजातीय-सजातीय, इन नाना बलों को हृदयस्थ आत्मानुयोगिक बना कर इन सब पर एकरूप से व्याप्त होने वाला बलविशेष ही **'आपोबल'** है । प्रत्येक वस्तु के शक्ति, वीर्य्य, गुण, प्रभाव, पराक्रम, पाँचों बल भिन्न भिन्न हैं । प्राणात्मक इन पाँचों बलों को स्व स्वरूप में एकत्र प्रतिष्ठित रखने वाला, व्यासज्यवृत्ति से सब पर व्याप्त रहने वाला आप्तिलक्षण बल ही आपोबल है । जिस पुरुष की आध्यात्मिक संस्था से आपोबल उत्क्रान्त हो जाता है, उसके उक्त पाँचों बल शिथिल हो जाते हैं । उत्साह, धैर्य्य, शक्ति, पराक्रम, आदि की प्रतिष्ठा यही आपोबल है । प्राणात्मक यह पारमेष्ठ्यबल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एकरूप से व्याप्त है, अतएव **'यदाप्नोत्'** इस निर्वचन से श्रुति मे 'आपः' नाम से सम्बोधित हुआ है । आप भ्रमण करते हुए जा रहे हैं । चलते चलते आप थक जाते है । थकान का अर्थ यही है कि, आध्यात्मिक आपोबल के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला गतिधर्म्मा शारीर प्राण अधिक मात्रा में खर्च हो जाता है । गतिधर्म्मा प्राण के निर्वीर्य्य बन जाने से आगे चलना अशक्य हो जाता है । विश्राम के लिए कहीं बैठ जाते हैं । सर्वव्यापक वही प्राणात्मक आपोबल शरीर में प्रविष्ट होता हुआ श्रान्त-शरीरावयवों को सबल बना देता है, पुनः गमन प्रक्रान्त हो जाता है । अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवतादि भेद से यह आपोबल अनेक संस्थाओं में विभक्त हो रहा है । इस आपोबल की उपनिषत् भी भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व ही माना गया है ।

'जाया, धारा, आपः' तीनों बल यदि एक ही क्षरभाग में समन्वित हो जाते हैं, तो वह क्षरद्रव्य 'अप्द्रव्य' नाम से व्यवहृत होने लगता है । अप्द्रव्य जाया-धारा-आपोबल के ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध से

उद्भूत है। यही कारण है कि, पानी में तीनों बलकर्म्म उपलब्ध हो रहे हैं। सिञ्चनकर्म्म से जायाभाव का प्रत्यक्ष है। धारात्व स्फुट है, आप्ति भी प्रत्यक्ष है । सत्यपिण्ड की भाँति पानी नियत स्थान पर न रह कर अपने आप्तिधर्म्म से आसमन्तात् व्याप्त हो जाता है। साथ ही लोकसृष्टिरूप से भी यह अपने आप्तिधर्म्म-जायाधर्म्म-धाराधर्म्मों का स्पष्टीकरण कर रहा है। निम्नलिखित गोपथवचन अप्तत्त्व में प्रतिष्ठित आपोमयी इस बलत्रयी का भलीभाँति विश्लेषण कर रहा है—

'आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि, जनयिष्यामि, आप्स्यामि, तद्-धारा-जाया-आपः-अभवत्। तद्धाराणां, जायानां, अपां-धारात्वं, जायात्वं, अप्त्वम्'।

(गो० ब्रा० पू० १।२।६।१०।११।)।

(६,१०,११,)—सत्य, यज्ञ, अभ्व-बलानि—

सत्य-यज्ञ-अभ्व, इन तीनों बलों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। तीनों में सत्य-बल आधार है, यज्ञ-अभ्व-बल आधेय हैं। मनःप्राणगर्भिता, अर्थप्रवर्त्तिका, रुत्या नाम से उपस्तुता, नित्या वाक्तत्त्व से समतुलित वाक्-लक्षण आत्मशब्दात्मक अपौरुषेय, नित्यकूटस्थ, तत्त्वात्मक, त्रयीवेद ही 'सत्यबल' है, जिसका पूर्वप्रकरण में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। क्योंकि आधारभूत **'वेदाः सत्यम्'** बल ऋक्-साम-यजुर्भेद से त्रिकल है, अतएव इस पर प्रतिष्ठित यज्ञ, अभ्व बलों के भी तीन तीन विवर्त्त हो जाते हैं।

वेदसत्य के तीन पर्वों में से ऋक्-साम आयतनमात्र हैं, ब्रह्माग्निलक्षण यजुःपुरुष ही मुख्य सत्य है। **'सहृदयं सशरीरं सत्यम्'** ही सत्यतत्त्व का वैज्ञानिक लक्षण है। ब्रह्माग्निलक्षण यजुःपुरुष सहृदय है, यज्ञ, और अभ्वबल इसके शरीरस्थानीय हैं। अतएव यज्ञाभ्वयुक्त त्रयीवेद को अवश्य ही उक्त लक्षणानुसार 'सत्य' कहा जा सकता है।

इस सत्यबल की प्रथम विकासभूमि 'स्वयम्भूलोक' है। अतएव यह लोक 'सत्यलोक' नाम से प्रसिद्ध है। स्वयम्भूलोक ब्रह्माक्षर के अनुग्रह से ब्रह्ममूर्त्ति बन रहा है। **'ते हैते-ब्रह्मणो महती अभ्वे, महती यक्षे'** के अनुसार अभ्व, और यक्ष वेदमूर्त्ति इसी स्वयम्भू ब्रह्म की महा बिभीषिका है। यजुः का वास्तविक स्वरूप 'यज्जूः' बतलाया गया है। यत् भाग प्राण है, जूभाग वाक् है। प्राण वायु है, वाक् आकाश है। स्वायम्भुव यह वेदाकाश **परमव्योम, परमाकाश,** आदि नामों से प्रसिद्ध है, एवं यत्-लक्षण प्राण **'परोरजा'** नाम से प्रसिद्ध है। यह वेदात्मक प्राणसत्य यक्षरूप विश्वसत्य से आवृत होकर ही विश्व का उपादान बनता है। यक्षावच्छिन्न इसी प्राणसत्य से, जिसे हम आत्मसत्य भी कह सकते हैं, नाम-रूप-कर्म्म का विकास हुआ है। सत्यलक्षण, अमृतधर्म्मा यह वेदप्राण सर्वालम्बनभूत, पञ्चकोशात्मक अव्ययपुरुष से अविनाभूत है। पञ्चकोशात्मक अव्ययपुरुष का मनः-प्राण-वाङ्मय सत्ताभाग सृष्टि-साक्षी है। इसके सम्बन्ध से वेदात्मक, किंवा वेदरूप सत्यप्राण भी मनः-प्राण-वाङ्मय बन रहा है। मनःप्राणवाङ्मय, वेदमूर्त्ति, इस परोरजा प्राण के प्राणगर्भित-मनोभाग से रूप का, प्राणगर्भित प्राणभाग से कर्म्म का, एवं प्राणगर्भित वाग्भाग से नाम का विकास हुआ है। त्रिमूर्त्ति, अमृतसत्यात्मक परोरजाप्राण की तीनों कलाओं से उद्भूत नाम-रूप-

कर्म्मात्मिका मृत्युत्रयी ही 'यज्ञबल' है। नामरूपकर्म्मसमष्टिलक्षण यक्ष विश्वरूप सत्य है। इस सत्य का भी सत्य त्रिमूर्ति वह परोरजाप्राण है। त्रिःसत्यात्मक इसी अमृतप्राण का निम्नलिखित श्रुति-स्मृतियों से स्पष्टीकरण हुआ है—

१—तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्।
तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नम्। प्राणो वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम्।
ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः" (शत०१४।५।१।३।)।

२—सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रे सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
—श्रीमद्भागवत

अमृतसम्पत्ति से सल्लक्षण बने हुए प्राणसत्य से, एवं मृत्युसम्पत्ति से असल्लक्षण बने हुए नामरूप-कर्म्मात्मक यक्षबल से, दोनों से विलक्षण (सदसद्विलक्षण), इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध कराने वाला जो एक अनिर्वचनीय बल है, वही तीसरा 'अभ्वबल' है। नाम, रूप, कर्म्म, इन तीनों का प्रत्येक पदार्थ में जो परस्पर भेद प्रतीत हो रहा है, वह मृत्युमूलक है। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'** के अनुसार नानात्वलक्षण भेद अवश्य ही मृत्युनिबन्धन है। अमृतप्राण के आश्रित नाम-रूप-कर्म्म की भेद प्रतीति का प्रवर्त्तक बनने वाला एतल्लक्षण बलविशेष ही यक्षबल है। एवं कुछ न होकर भी रात्रि-तम-दिक्-देश-काल-संख्या-परिमाण-योग-विभाग-संयोग-पृथक्त्व-परत्व-अपरत्व, आदि भातिसिद्ध पदार्थ जिस सदसद्विलक्षण बलविशेष के अनुग्रह से व्यवहारकोटि में प्रविष्ट हैं, दूसरे शब्दों में जो केवल भातिसिद्ध पदार्थों का अवलम्बन बन रहा है, वही 'अभ्वबल' है। सम्पूर्ण विश्व समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से उभयथा सत्य-यक्ष-अभ्व-त्रयी का समन्वयमात्र है।

(१२)-मोहबलम्—

अभ्वबल का विकास ही मोहबल है। जो न होकर, दूसरे शब्दों में अभाववत् होकर भावात्मना प्रतीत होता है, वही मोहबल है। इस बल की प्रेरणा से असत्य पदार्थ भी सत्य प्रतीत होने लगते हैं। रज्जु में सर्प की प्रतीति, शश में शृङ्गप्रतीति, वन्ध्यापुत्र की प्रतीति, खपुष्पप्रतीति, शुक्ति में रजत की प्रतीति, मरीचिका में तोय की प्रतीति, ये सब भ्रान्त प्रतीतियाँ है, असत्-प्रतीतियां हैं, यही अभ्वमूलक मोह है। अविद्या के साथ विद्या का सम्बन्ध हो जाना ही अध्यास है, यही अध्यास मोह है। इस मोहबल के अनुग्रह से असंभावित पदार्थ भी सम्भव कोटि में आजाते हैं। जिस अविद्याबल के उद्रेक से जीवात्मा का विद्यालक्षण ज्योतिर्भाग आवृत हो जाता है, अविद्याबलात्मक विषयों से उत्पन्न, तमोभावमूलक वह वासनासंस्कार ही मोह है। नामरूपकर्म्मात्मक यक्ष के सहयोगी भातिभावप्रवर्त्तक अभ्व को मूल बनाने वाला अनुकूलसम्बन्धमूलक राग, एवं प्रतिकूल सम्बन्धमूलक द्वेष ही मोह की मूलोपनिषत् मानी गई है। यही—**'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'** के अनुसार दुःखप्रवृत्ति की भी मूलोपनिषत् बन रहा है।

(१३, १४, १५,)–वय–वयोनाध–वयुन–बलानि—

ज्ञानीयजगत् में भासित होने वाले पदार्थमात्र वय, वयोनाध, एवं वयुन की समष्टि है । ज्ञान में उपलब्ध वस्तु वयुन है । इस वयुन में वय–वयोनाध प्रतिष्ठित हैं । गुण–कर्म्ममय वस्तुतत्त्व वय है, वस्तुतत्त्व को सीमित बनाने वाला, आकारविशेषप्रदान करने वाला आयतन वयोनाध है, जो याज्ञिक परिभाषानुसार 'छन्द' नाम से व्यवहृत हुआ है । वयोनाधलक्षण छन्द, और छन्द से छन्दित वयलक्षण वस्तुतत्त्व, दोनों को एक सूत्र में बद्ध रखने वाला, दूसरे शब्दों में वय का वयोनाध के साथ सम्बन्ध कराता हुआ वय–वयोनाधात्मक द्विपर्वा–पदार्थ पर समानरूप से व्याप्त रहने वाला तत्त्व ही वयुन है ।

इन तीनों बलों में वयुन–बल ही प्रधान है । अतएव वयुन के ग्रहण से वय–वयोनाध दोनों का संग्रह हो जाता है । वय सदा एक रहता है, परन्तु वयोनाध बदलता रहता है । इस वयोनाध (छन्द-आकार) के परिवर्त्तन से वह एकरूप वय भिन्न भिन्न नाम–रूप धारण कर लेता है । एक ही आपोद्रव्य (पानी) केवल आयतनरूप वयोनाध (छन्द) भेद से सर, पुष्करिणी (पोखर), नदी, समुद्र, वापी, कूप, तड़ाग, आदि विविध नाम–रूपों में परिणत हो रहा है । इस वयोनाध के अनुग्रह से एक ही ब्रह्म (क्षर) विविध भावापन्न विश्वरूप में परिणत हो रहा है । भेदस्वरूपसमर्पक वयोनाधबल से नित्य वेष्टित वयबल **स्वरूपाधायक, विशेषक, औत्पातिक, स्वयंसिद्ध, परिपन्थी,** इन पाँच प्रकार के बलग्रामों से युक्त रहता है, जिन बलग्रामों का ब्रह्मविज्ञानादि स्वतन्त्र निबन्धों में विस्तार से निरूपण हुआ है ।

(१६)—विद्याबलम्—

पूर्वप्रतिपादित मायादि १५ हों बल अविद्याप्रधान बनते हुए 'अविद्याबल' नाम से संगृहीत है । अविद्याप्रधान इन १५ माया–जाया–धारादि बलग्रन्थियों से सृष्टि की प्रवृत्ति होती है । अतएव इन्हें हम 'प्रवर्त्तकबल' नाम से व्यवहृत करेंगे । जिस बलविशेष से इन अविद्याबल–ग्रन्थियों का विमोक होता है, मुक्तिप्रवर्त्तक, वही निवर्त्तक बल 'विद्याबल' नाम से प्रसिद्ध है । ईश्वरपुरुष पञ्चदश बलात्मक अविद्याबल, विद्याबल, दोनों से युक्त है । आनन्द-विज्ञान-मनोमय पुरुष विद्याप्रधान है, मनःप्राणवाङ्मय पुरुष अविद्या–प्रधान है । पञ्चदश अविद्याबलों से पुरुष का अविद्या भाग उपकृत है, विद्याबल से पुरुष का विद्याभाग उपकृत है । ईश्वरपुरुष निष्कामकर्म्म करता हुआ भी अविद्याबन्धन से मुक्त रहता है । क्योंकि उसमें अविद्या-विद्या, दोनों समतुलित हैं । ठीक इसके विपरीत काम्य कर्म्मों में लिप्त रहने वाला जीवपुरुष प्रज्ञापराध से अस्मितादि दोषों का संग्रह कर इनसे आत्मा के अविद्याभाग को उत्तेजना देता हुआ अविद्याभाग-प्राधान्यप्रवृत्ति का कारण बन जाता है । अतएव इसका आत्मविद्याभाग मेघाच्छन्न सूर्य्यवत् आवृत रहता है । अतएव च आध्यात्मिक संस्था में दुःख, भ्रान्ति, ऊर्म्मि, अवस्था, आदि पाप्माओं का साम्राज्य बना रहता है । इन्हीं षोडश कोशबलों का संक्षेप से स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य ने कहा है—

१—अनेककरणी–'माया'' मित्यानेकत्वसम्भवः ।
अवान्तरव्यवच्छेदादेको नानात्वमश्नुते ॥

२—जन्मप्रदायिनी–'जाया[२]' सत्तान्वितबले बलम् ।
निचाय्य धत्ते सत्तायां कृत्वा सत्ता प्रदात् पृथक् ॥

३—प्रवाहकारिणी 'धारा[३]' सन्तानयति गच्छतः ।
गति-स्थित्योः समं योगं या प्रयोजयतेऽद्भुतम् ॥

४—ऋत–'मापो[४]' बलात् सिद्धं, सत्यं 'हृदयतो[५]' बलात् ।
द्विधैवेदं जगत् सर्वं ऋतं वा सत्यमेव वा ॥

५—वित्तं, पशुः, प्रजा, गात्रं, वेदा, एभिर्हि पञ्चभिः ।
अभिवृद्धि–'भूति[६]' बलात् गात्रवृद्धिर्द्रुमाङ्कुरः ॥

६—भोक्तारमभि भोग्यार्थोपसत्ति 'यज्ञ[७]' मूलिका ।
स्थिरे भोग्ये तु या भोक्तुराक्रान्तिः 'सूत्र[८]' मस्ति तत् ॥

७—वाचः प्राणस्य मनसो नाम्नि रूपे च कर्म्मणि ।
अभियोगोऽस्ति तत् 'सत्यं[९]'–'यत्त्वं[१०]' रूपादि भक्तयः ॥

८—बलानामसतामेषां मृत्यूनाममृते रसे ।
अपृथक्त्वमभेदो यस्त–'दभ्व[११]' बलदर्शनम् ॥

९—अभावो भाववद् भाति मिथ्यार्थे सत्यताग्रहः ।
सोऽध्यासो–'मोह[१२]' एकत्वं यदत्यन्तविरुद्धयोः ॥

१०—ज्ञाने विषयसंसर्गो विषयाकारिताधियः ।
'वयुनं[१३]' विषयाणां वा धिया त्यागपरिग्रहौ ॥

११—द्रव्याणि गुणकर्म्माणि मात्रावन्ति विभान्ति नः ।
तद्–'वयो[१४]' याश्च तन्मात्राः स 'वयोनाध[१५]' इष्यते ॥

१२—इत्थं पञ्चदशैतानि बलान्यन्योऽन्यमीरते ।
अविद्यैषा पञ्चदशी, 'विद्या[१६]' तत् प्रतिबन्धना ॥

(श्रीगुरुप्रणीत ब्रह्मविज्ञान-निर्विशेषानुवाका)

१-विद्या (१)	(२)-माया (१)	(६)-हृदयम् (१)	(१०)-सत्यम् (१)	(१४)-वयः (१)
इति केवलमन्यत्	(३)-जाया (२)	(७)-भूतिः (२)	(११)-यत्नम् (१)	(१५)-वयोनाधः (२)
	(४)-धारा (३)	(८)-यज्ञः (३)	(१२)-अम्भम् (३)	(१६)-वयुनम् (३)
	(५)-आपः (४)	(९)-सूत्रम् (४)	(१३)-मोहः (४)	इति सध्रीचीनानि त्रीणि-अन्यानि
	इति सध्रीचीनानि चत्वारि-अन्यानि	इति सध्रीचीनानि चत्वारि-अन्यानि	इति सध्रीचीनानि चत्वारि-अन्यानि	
१	४	४	४	३
१६—'षोडशकलं बलं वा इदं सर्वम्' ।				

११—प्रविविक्तब्रह्मविवर्त—

परिच्छिन्न ईशप्रजापति के बलभाग से सम्बन्ध रखने वाले १६ बलकोशों का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया। अब रसभागानुगत षोडश भावों का संक्षेप से स्पष्टीकरण किया जाता है। विश्वातीत्, सर्वबलविशिष्ट-रसमूर्त्ति परात्पर को हमनें व्यापक कहा है। इस व्यापक परात्पर के यत्किञ्चित प्रदेश में सर्वप्रथम 'मायाबल' का उदय होता है। जितने प्रदेश में उदित मायाबल व्याप्त रहता है, वह मायी परात्पर-प्रदेश (मायामित-प्रदेश) 'अव्ययपुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगता है। विश्वातीत, अमायी परात्पर असीम बनता हुआ *'रेखा' परपर्य्यायक 'लेखा' रूप मायापुर से विरहित रहता हुआ परात्पर था, पुरुषमर्य्यादातिक्रान्त था, परन्तु आज वही (अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से) मायामय लेखात्मक पुर में सीमित हो, अपना व्यापक स्वरूप खोता हुआ **'पुरि शेते'** निर्वचन से 'पुरुष' अभिधा का पात्र बन रहा है। यद्यपि **''परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्''** (मुण्डको० ३।२।८।) इस उपनिषच्छ्रुति के अनुसार परात्पर भी पुरुष शब्द से व्यवहृत होता देखा गया है, तथापि इस श्रुति के 'परात्पर' से विश्वातीतपरात्परका ग्रहण न कर विश्वात्मलक्षण परात्पर का ग्रहण करते हुए

*''लेखा हि पुरम्''(शत० ६।३।३।२५।)।

विरोध परिहार कर लेना चाहिए। विज्ञानपरिभाषा में अव्ययपुरुष के लिए 'पर' सङ्केत है। यह परतत्त्व (अव्ययतत्व) ईश्वराव्यय, जीवाव्यय, भेद से (महामाया, योगमायानुबन्धों से) दो विवर्त्त भावों में परिणत रहता है। मुक्तिदशा में अपनी आध्यात्मिक अक्षरादि कलाओं का आधिदैविक अक्षरादि कलाओं में विलयन करता हुआ जीवाव्यय सर्वान्त में ईश्वराव्यय में लीन हो जाता है, जैसाकि-**'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'** (मुण्डक० ३।२।७।) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। ठीक इसी स्थिति का 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस श्रुति से समर्थन हुआ है। जीवाव्यय पर है, इस पर की (जीवाव्यय की) अपेक्षा वह पर (ईश्वराव्यय) पर है, उत्कृष्ट है, एकमात्र इसी हेतु से श्रुति नें **'परात्-परः'** (जीवाव्ययात् उत्कृष्टः) इस निर्वचन के आधार पर ईश्वराव्यय को 'परात्पर' शब्द से व्यवहृत कर दिया है। अब प्रश्न रह जाता है, विश्वातीत 'परात्पर' शब्द के निर्वचन का। उसका समाधान अनुपद में ही होने वाला है।

१२—श्वोवसीयस्-ब्रह्म—

बतला रहे थे कि, परात्पर का मायावच्छिन्न प्रदेश 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हुआ। रसबलात्मक परात्पर के अंशरूप पुरुष में भी रस बल के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?। रस अमृत है, सत् है। बल मृत्यु है, असत् है। गीतापरिभाषानुसार-'अहं' शब्द से व्यवह्रियमाण अव्ययपुरुष रसबलात्मक बनता हुआ अमृत-मृत्युमय है, सदसन्मूर्त्ति है, जैसाकि-**"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !"** इत्यादि गीतावचन से प्रमाणित है*।

मायावच्छिन्न, रसबलरूपेण द्विकल, अव्ययपुरुष की यह प्रथमावस्था आर्षविज्ञान में **'मन'** (श्वोवसीयस्, किंवा श्वोवस्यस् नामक अव्ययमन) नाम से प्रसिद्ध है। **'उभयात्मकं मनः'** सिद्धान्तानुसार यह अव्ययमन रस-बलात्मक है। मनोमय, उभयात्मक, यह अव्ययब्रह्म ही प्रवर्त्तक बल का अनुगामी बनता हुआ काम-तपः-श्रम-नामक सृष्टिकर्म्म के सामान्य अनुबन्धों से उत्तरोत्तर वसीयस् बनता हुआ विश्व का आलम्बन बनता है। अतएव इसे **'श्वः श्वः वसीयान्'**-निर्वचन से श्वोवसीयस्, एवं तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार **'तदेतच्छ्वोवस्यसं ब्रह्म'** (तैत्तिरीय०२।२।६।१०।) इत्यादि रूप से श्वोवस्यस् नाम से व्यवहृत किया गया है।

जो तत्त्व अपरिच्छिन्न होता है, उसमें हृदयबल का (केन्द्रसम्पत्ति का) अभाव है। इसीलिए अपरिच्छिन्न विश्वातीत परात्पर केन्द्रसम्पत्ति से वञ्चित था। अतएव च उसमें कामना-व्यापार का अभाव था, और इसीलिए वह काममूल-विश्वसर्ग-मर्य्यादा से पृथक् था। क्योंकि कामना मानस-व्यापार है, **'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरंविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** (यजुःसं०३४।६) । इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार मन की प्रतिष्ठा हृदय माना गया है। परात्पर में जब हृदय का ही विकास नहीं, तो काममय मन का स्वरूप कब सम्भव है। इधर अव्ययपुरुष मायासीमानुग्रह से सकेन्द्र है। अतएव तत्प्रतिष्ठ रसबलात्मक मन काम-व्यापार में समर्थ है।

---

* चार-पाँच स्थलों को छोड़ कर गीतोक्त 'अस्मच्छन्द' (अहं) सर्वत्र एकमात्र अव्ययपुरुष का ही वाचक है, जैसा कि गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत आचार्यखण्ड के 'गीताकृष्णरहस्य' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है।

१३-पञ्चगतिसमष्टिलक्षण अक्षरब्रह्म—

किसी विशेष रहस्य को लक्ष्य में रख कर ही ऋषियों नें केन्द्रबिन्दु को 'हृदय' नाम से व्यवहृत किया है । मायाबलोदय के अनन्तर, मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तर-क्षण में ही उदित होने वाला सब से पहिला बल यही हृदयबल है । गतितत्त्व ही इस हृदयबल का मौलिक स्वरूप है । यह गतितत्त्व ही स्थिति, गति, आगति, रूप से तीन स्वरूपों में परिणत होता हुआ 'हृदय' नाम से व्यवहृत होने लगता है । गतिसमुच्चय ही स्थिति है । आप जितनें भी स्थितिभावयुक्त पदार्थ देख रहे हैं, विश्वास कीजिए—वे एक ही समय में, एक ही क्षण में चारों ओर गतिमान् बन रहे हैं । यदि उसमें से किसी ओर की गति निकल जाती है, किंवा निकाल दी जाती है, तो वह पदार्थ उस दिक् से विरुद्ध दिक् में चल पड़ता है । समानबलशाली दो मल्लों के द्वारा विरुद्ध दिग्द्वय में आकर्षित रज्जु स्थितिभाव में परिणत होती देखी गई है । दो विरुद्ध दिग्गतियों के एकत्र निपात से ही यह स्थितिभाव उत्पन्न हुआ है । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि, सर्वतोदिग्गतिसमन्वय का, अथवा कम से कम विरुद्धदिग्द्वयगतिसमन्वय का ही नाम 'स्थिति' है । फलतः स्थितितत्त्व का पर्य्यवसान गतितत्त्व पर ही मानना पड़ता है । गतिसमष्टिलक्षणा यही स्थिति 'ब्रह्मा' है, यही मूल प्रतिष्ठा है ।

हृदय (केन्द्र) से प्रधि (परिधि) की ओर अनुगत रहने वाली गति 'गति' है, यही उत्क्रान्ति है, यही बलकृति है । **'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत'** (यास्कनिरुक्त) के अनुसार यही बलकृतिलक्षणा, किंवा परागगतिलक्षणा गति इन्द्र है । एवं प्रधि से केन्द्र की ओर अनुगत रहने वाली, अर्वागगतिलक्षणा गति 'आगति' है, यही विष्णु है । इसप्रकार एक ही गतितत्त्व अवस्थाभेद से स्थिति-गति-आगति-लक्षण ब्रह्मा-इन्द्र-विष्णु-रूप में परिणत हो रहा है । अर्वागगतिलक्षण विष्णुतत्त्व आगतिधर्म्म से अन्नाहरण करते हुए पालक बन रहे हैं, परागगतिलक्षण इन्द्रतत्त्व गतिधर्म्म से विक्षेपण करते हुए संहारक बन रहे हैं । दोनों का नियमन करने वाले स्थितिलक्षण ब्रह्मा स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर सर्जन कर रहे हैं । तीन देवता नहीं है, एक ही देवता की, एक ही तत्त्व (गति) की तीन अवस्थाविशेष है—**"एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः"** ।

स्थित्यादि तीनों भावों में 'गति' तत्त्व ही प्रधान है । क्योंकि गति ही तीनों का उदर्क् (अन्तिम अवस्था-परिणाम) है । अतएव विशुद्ध गतिलक्षण इन्द्र श्रेष्ठ, ओजिष्ठ, बलिष्ठ माने गए हैं । पुराण-शास्त्र के ये ही शिव-देवता हैं । पुराण ने 'महादेव' सम्बोधन के द्वारा इनकी श्रेष्ठतादि का समर्थन किया है । आगतिलक्षण विष्णु इन्द्र से अवर कक्षा में प्रतिष्ठित, अतएव 'उपेन्द्र'-'इन्द्रावरज' आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं । साथ ही 'इन्द्र-विष्णु' का नित्य सम्बन्ध माना गया है । शुद्ध आगति विष्णु है, शुद्ध गति इन्द्र है । स्थिति गर्भिता आगति सोम है, स्थिति गर्भिता गति अग्नि है । इसप्रकार स्थिति-गर्भता से गति के अग्नि-सोमात्मक दो विवर्त्त और हो जाते हैं । इन पाँचों में प्रथमा त्रयी हृद्या बनती हुई अन्तर्य्यामी नाम से प्रसिद्ध है ।

'हरति-अन्नं' निर्वचन से आगतिधर्म्मा विष्णु अशनायाबल से अन्नाहरण करते हुए 'हृ'-अक्षर से गृहीत हैं । **'द्यति-अन्नम्'** निर्वचन से गतिधर्म्मा इन्द्र उत्क्रान्तिलक्षण विक्षेपबल से अन्न निर्गमन के प्रवर्त्तक बनते हुए 'द' अक्षर से अनुगृहीत हैं । **'नियमयति गतिश्चागतिश्च'** निर्वचन से

स्थितिधर्म्मा ब्रह्मा स्व-प्रतिष्ठा-बलाकर्षण से इन्द्रा-विष्णु का नियमन करते हुए 'यम्' अक्षर से अनुगृहीत हैं। तीनों की समष्टि ही 'हृदयम्' है।

प्रत्येक पदार्थ हृदय, पृष्ठ, भेद से दो भागों में विभक्त माना जाता है। हृदय-स्थान में हृ-द-यम्- लक्षण त्र्यक्षरमूर्त्ति हृद्य अन्तर्य्यामी प्रतिष्ठित है, अतएव इस त्रयी को 'हृद्याक्षर' कहा जाता है। पृष्ठ वस्तुपिण्ड है, एवं इसकी प्रतिष्ठा अग्नि-सोम नामक अक्षरद्वयी है, यही पृष्ठ्याक्षर है, यही सूत्रात्मा है, जैसा कि मायाबलकोशनिरुक्ति में स्पष्ट कर दिया गया है। अन्तर्य्यामी हृद्य सत्यसृष्टि का मूलाधार बनता हुआ भी 'अजायमानः' के अनुसार असङ्ग है। एवं पिण्डानुगत अग्नि-सोम क्षरसृष्टि के सम्पर्क से ससङ्ग है। इस प्रपञ्च से वक्तव्यांश यही है कि, गतिलक्षण हृदयबल पञ्चाक्षररूप में परिणत होता हुआ विश्व का निमित्त- कारण बन रहा है। अव्ययालम्बन पर प्रतिष्ठित पञ्चाक्षरमूर्त्ति हृद्य अक्षरपुरुष ही सृष्टि का निमित्त माना गया है, जैसा कि—"**तथाऽऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति**" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

उक्त पाँच अक्षरों में, किंवा एक ही अक्षर की पाँच कलाओं में इन्द्राक्षर मध्य स्थानीय बनता हुआ केन्द्रसम्पति का संग्राहक बन रहा है। उस ओर ब्रह्मा-विष्णु हैं, इस ओर अग्नि-सोम हैं, केन्द्रो- पलक्षित मध्य भाग में इन्द्र है। मध्यस्थ तत्त्व में बल का विशेष उद्गम माना गया है।अतएव 'मध्यत ऐन्ध' निर्वचन से हृदयानुगामी इस मध्याक्षर को 'इन्ध' कहा जाता है, जो कि इन्ध शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है (शत०६।१।१।२)। क्योंकि इन्द्र मध्यस्थ है, अतएव 'देहली- दीपक' न्याय से इसका ब्रह्मा विष्णुयुग्म से, अग्नि-सोमयुग्म से, दोनों से सम्बन्ध है। 'ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र' समष्टि अन्तर्य्यामी है, 'इन्द्र-अग्नि-सोम' समष्टि सूत्रात्मा है। क्षरजगत्-दृष्टि से इन्द्र स्वज्योतिर्लक्षण सूर्य्य- ज्योति है, अग्नि रूपज्योतिर्लक्षण पार्थिवज्योति है, सोम परज्योतिर्लक्षण चन्द्रज्योति है। इन्द्र का जब तक अग्नीषोमात्मक यज्ञ से सम्बन्ध नहीं होता, तब तक वह रुद्र बनता हुआ संहारक है। सूर्य्यभुक्त सामित्राग्नि में जब तक पारमेष्ठ्य सोमाहुति हो रही है, तब तक यज्ञस्वरूपरक्षा है, तभी तक तत् सम्बन्ध से सौर रुद्र शिव बनता हुआ अभ्युदयकर है। जिस दिन सूर्य्यात्मक इन्द्र, किंवा इन्द्रात्मक सूर्य्य सोमाग्निसमन्वयलक्षण यज्ञसम्पत् से वियुक्त हो जायगा, उस दिन अपने विशुद्ध रौद्रभाव में परिणत होता हुआ सौर इन्द्र संसार को भस्मसात् कर देगा। तीनों के समन्वित रूप में हीं क्योंकि विश्व का अभ्युदय है, अतएव इस त्रिमूर्त्ति को 'शिव' कहा गया है। अग्नि प्रथम नेत्र है, सोम (चन्द्र) द्वितीय नेत्र है। जब तक अग्नि-सोम का समन्वय है, तब तक सूर्य्यरुद्रात्मक तृतीय नेत्रपटल बन्द है। यज्ञावसान के अव्यवहितोत्तर-क्षण में हीं तृतीय नेत्र खुल जायगा, और भवनेत्रजन्मा यह वह्नि सम्पूर्ण विश्व को स्मृतिगर्भ में विलीन कर देगा। पुराण ने इन्द्राग्निसोम के समन्वितरूप को लक्ष्य बनाते हुए 'ब्रह्मा-विष्णु-शिव' रूप से त्रिदेवतावाद का विश्लेषण किया है। एवं वेद ने पाँचों को पृथक् पृथक् मानते हुए पञ्चदेवतावाद का विश्लेषण किया है। दोनों पक्ष तत्त्वतः अभिन्न हैं।

हृ-द-य-रूप अन्तर्य्यामी, अग्नि-सोमात्मक सूत्रात्मा, दोनों की समष्टि पञ्चकलात्मक 'अक्षरतत्त्व' है, यह पूर्व निरूपण से स्पष्ट हो जाता है। हृदयभाव से वही अक्षर अन्तर्य्यामी है, पृष्ठ्यभाव से वही अक्षर

सूत्रात्मा है। अन्तर्य्यामीरूप से अक्षर सहृदय है, सूत्रात्मरूप से सशरीर है, अतएव शरीरयुक्त हृदयावच्छिन्न अक्षरतत्त्व पूर्वोक्त सत्यपरिभाषानुसार 'सत्यं' है। 'तदेतत्सत्यं' लक्षण यही अक्षर पूर्वप्रतिपादित श्वोवसीयस् नामक अव्ययमनोरूप अव्ययपुरुष को पञ्चकल बनाता है। अक्षर चेतना है, इसीके व्यापार से रस-बलचिति होती है। इसी चिति से चिदात्मा (अव्यय) की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। अतएव अव्ययरूप का उपक्रम-मात्र कर पहिले हमें चितिप्रवर्त्तक पञ्चकल अक्षरस्वरूप का विश्लेषण करना पड़ा। अब पुनःअव्यय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१४–काममय पुरुषब्रह्म—

पूर्वप्रतिपादित, श्वोवसीयस्, यविष्ठ नामक, रसबलात्मक अव्ययमन हृदय में प्रतिष्ठित है। हृदयावच्छिन्न अव्ययमन उक्थरूप से जहाँ मायापुर के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, वहा अर्करूप से उक्थबिम्ब से निकल कर माया-परिधि पर्य्यन्त व्याप्त हो रहा है। मायासीमा से यह अपने व्यापकभाव से सीमाभाव में आ गया है। इस सीमानिवृत्ति के लिए इसमें 'कामना' का उदय होता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति ही कामनोत्थान का बीज है। अपरिच्छिन्न परात्पर के लिए कुछ भी अप्राप्त न था, अतएव वह सर्वथा आप्तकाम, आत्मैककाम था। किन्तु परिच्छिन्न मायी पुरुष के लिए अप्राप्त-विवर्त्त विद्यमान है। अतः तत्प्राप्ति के लिए यहाँ कामनोदय अनिवार्य्य है। अव्ययपुरुष की इसी स्वाभाविक कामना का **'एकोऽहम् बहु स्याम्'** इन शब्दों में अभिनय किया जाता है। इसी कामना से-**'काममय एवायं पुरुषः'** के अनुसार यह काममय कहा जाता है।

काममय अव्ययपुरुष (अव्ययमन) की कामना हृदयबल से संयुक्त है। अतएव हृदयस्थान से, दूसरे शब्दों में हृदयावच्छिन्न श्वोवसीयस् मन से विनिर्गत कामना का सर्वप्रथम हृदय में प्रतिष्ठित, हृ-द-य-मूर्त्ति अक्षर के साथ सम्बन्ध होता है। अव्यय की कामना से गतिलक्षण अक्षर सृष्टिकर्म्म में प्रवृत्त हो जाता है, और अक्षर की इस मानसीसृष्टि का फलभोक्ता अव्ययपुरुष ही बनता है। हृदयानुगता इसी कामनोदय का विश्लेषण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

—ऋक्सं० १०।१२६।४।

कामनामय यह अव्ययमन रस-बलमूर्त्ति है। साथ ही रस असङ्ग है, बल ससंग है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। ससङ्गासङ्गवृत्तियों से उभयात्मक उक्थ-रूप मन से निकलनें वालीं अर्करूपा काम-रश्मियाँ भी दो स्वरूपों हीं परिणत रहतीं हैं। साथ ही यह भी निश्चित है कि, इन दोनों हीं कामनाओं में असङ्ग रस, ससङ्ग बल, दोनों का समन्वय है। केवल प्रधानता, अप्रधानता में भेद है। एकत्र रस की प्रधानता है, अन्यत्र बल का प्राधान्य है। बलगर्भिता रसप्रधाना मानसकामना रसप्रधानता से असङ्ग बनती हुई बल-ग्रन्थि-विमोक की प्रतिष्ठा बनती हुई 'मुमुक्षा' (मुक्तिकामना) नाम से प्रसिद्ध है। रसगर्भिता बलप्रधाना मानसकामना बलप्रधानता से ससङ्ग बनती हुई-'सिसृक्षा' (सृष्टिकामना) नाम से प्रसिद्ध है। मुमुक्षा नामक रसकामना

से निवृत्ति–कर्म्म का उदय होता है, सिसृक्षा नामक बलकामना से प्रवृत्ति–कर्म्म का उदय होता है। निवृत्ति–कर्म्म रसचिति का प्रवर्त्तक, बलचिति का निवर्त्तक बनता हुआ मुक्ति का प्रवर्त्तक है। प्रवृत्तिकर्म्म बलचिति का प्रवर्त्तक, रसचिति का निवर्त्तक बनता हुआ सृष्टि का प्रवर्त्तक है।

उक्त दोनों कामनाव्यापारों का हृदयस्थ अक्षर के साथ सम्बन्ध होता है, यह कहा जा चुका है। गति (प्राण) लक्षण अक्षर के आदानलक्षण विष्णुव्यापार से, विसर्ग–लक्षण इन्द्रव्यापार से हृदयस्थ रस-बलात्मक अव्यय मन पर माया–परिधिपर्यन्त व्याप्त रस–बल की चिति होती है। मुमुक्षा–कामना से अक्षर द्वारा अव्यय मन पर बलगर्भित रस की चिति होती है, सिसृक्षा–कामना से अक्षर के द्वारा अव्यय मन पर बलगर्भित बल की चिति होती है। मुमुक्षानुगता बलगर्भिता रसचिति के बलतारतम्य से दो विभाग हो जाते हैं। प्रथमा रसचिति में रस की प्रधानता रहने पर भी बल जाग्रत रहता है। यही पहिली रसचिति **'विज्ञानचिति'** है। आगे जाकर बल सर्वथा अन्तर्लीन हो जाता है, शुद्ध रस का उद्रेक रह जाता है। यही दूसरी **'आनन्दचिति'** है। रसात्मिका ये दोनों चितियाँ **'अन्तश्चिति'** नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनका निवृत्तिकर्म्मानुगता मुमुक्षा (रसकामना) से सम्बन्ध है। इसी प्रकार सिसृक्षानुगता–रसगर्भिता बलचिति के भी बलतारतम्य से दो विभाग हो जाते हैं। प्रथमा बलचिति में बल की प्रधानता रहने पर भी रस जाग्रत रहता है। यही पहिली बलचिति **'प्राणचिति'** है। आगे जाकर रस सर्वथा अन्तर्लीन हो जाता है, शुद्ध बल का उद्रेक रह जाता है। यही दूसरी **'वाक्चिति'** है। बलात्मिका ये दोनों चितियाँ **'बहिश्चिति'** नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनका प्रवृत्ति–कर्म्मानुगता सिसृक्षा (बलकामना) से सम्बन्ध है। इसप्रकार 'चेतना' नाम से प्रसिद्ध अक्षर के व्यापार से अव्यय मन पर रस–बल के तारतम्य से 'आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक्' ये चार चितियाँ प्रतिष्ठित हो जातीं हैं। इस चिति के सम्बन्ध से निष्कल अव्ययपुरुष अक्षरवत् पञ्चकल बन जाता है। पाँचों में रस एक-रूप है, केवल बल का तारतम्य है। बलतारतम्य से तद्भिन्न रस का भी तारतम्य प्रतीत होने लगता है, यह दूसरी बात है। रसत्वेन रस सदा सर्वदा एकरस ही है। इसी रसदृष्टि से वह चिदात्मा (बलापेक्षा विविध भावापन्न रहता हुआ भी) विविधभावशून्य है। अतएव ऋषि ने अव्यय का निम्न लिखित ही लक्षण माना है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ (गोपथब्राह्मण)।

अव्ययपुरुष की उक्त पाँच कलाएँ हीं तैत्तिरीयोपनिषत् में **'पञ्चकोश'** नाम से प्रसिद्ध हैं। मोद–प्रमोद–हर्ष–उल्लास–प्रसादादि भेदभिन्न संसार के जितनें भी समृद्धानन्द (विषयानन्द) है, वे सब शान्तानन्द (आत्मानन्द) लक्षण अव्ययानन्द के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। इसी आत्मानन्द की मात्रा लेकर सब आनन्द-वान् बन रहे हैं। वह आनन्दमय है, आनन्दघन है, अतएव अनानन्द है। इसकी आनन्दमात्रा से सब आनन्दवान् हैं। विज्ञान, प्रज्ञान, ऐन्द्रियकज्ञान, अज्ञान, आदि भेदभिन्न जितनें भी क्षणिक विज्ञान (विषयज्ञान) हैं, वे सब नित्यविज्ञान (आत्मविज्ञान) लक्षण अव्ययविज्ञान के विज्ञान भाग पर प्रतिष्ठित हैं। इसी आत्म-विज्ञान की मात्रा ले कर सब विज्ञानवान् बन रहे हैं। वह विज्ञाममय है, विज्ञानघन है, अतएव अविज्ञान है। इसकी मात्रा से सब विज्ञानवान् हैं। सत्त्व, चित्त, महत्, आदि भेदभिन्न जितनें भी बहिर्मन हैं, वे सब अन्तर्मनो (आत्ममनो) लक्षण अव्ययमन के मनोभाग पर प्रतिष्ठित हैं। इसी आत्ममन की मनो मात्रा

लेकर सब समनस्क बन रहे हैं। वह मनोमय है, मनोघन है, अतएव अमना है। इसकी मात्रा से सब समनस्क हैं। सप्तशीर्षण्य प्राण, पञ्च वायव्यप्राण, उद्गीथ नासिक्यप्राण, स्पृतप्राण, आदि भेदभिन्न जितनें भी विश्वप्राण है, सब अन्तःप्राण (आत्मप्राण) लक्षण अव्ययप्राण के प्राणभाग पर प्रतिष्ठित हैं। इसी आत्मप्राण की प्राणमात्रा ले कर सब प्राणवान् (प्राणी) बन रहे है। वह प्राणमय है, प्राणघन है, अतएव 'अप्राण' है। इसकी मात्रा से सब प्राणवान् हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, रसासृङ्मासादि सप्तधातु, रस, विषादि भेदभिन्न जितनें भी वाग्विवर्त्त हैं, सब अन्तर्वाक् (आत्मवाक्) लक्षण अव्ययवाक् के वाग्भाग पर प्रतिष्ठित हैं। इसी आत्मवाक् की वाङ्मात्रा लेकर सब वाग्मी बन रहे हैं। वह वाङ्मय है, वाग्घन है, अतएव अवाक् है। इसकी वाङ्मात्रा से सब वाग्मी हैं।

अव्यय की पाँचों कलाएँ आत्मलक्षण बनतीं हुईं निर्विकार हैं, कोशमात्र हैं, आलम्बनमात्र हैं। आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाक्–युक्ता प्रकृति (अक्षर) ही सृष्टि का निमित्त बनती है। स्वयं अव्यय तो 'सामान्ये सामान्याभावः' के अनुसार आनन्द-विज्ञान–मनः–प्राण–वाग्घन बनता हुआ अनानन्द–अविज्ञान–अमना–अप्राण–अवाक् बनता हुआ क्षरोपादानलक्षण क्षरसृष्टि से सर्वथा पृथक् रहता हुआ अपने विशुद्ध अव्ययस्वरूप से विश्वातीत परात्पर की भाँति–वाङ्मनसपथातीत बनता हुआ अचिन्त्य, अविज्ञेय ही है। अव्ययपुरुष के इसी तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

१–एतदालम्बनं श्रेष्ठं, एतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठोप० १।२।१७)।
२–दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥
३–एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ (मुण्डक २।१।२,३, ।)

कहा गया है कि, आनन्द–विज्ञान–मनोमय वही अव्ययपुरुष मुमुक्षाद्वारा जहाँ मुक्तिसाक्षी है, वहाँ मनः–प्राण–वाङ्मय वही अव्ययपुरुष सिसृक्षाद्वारा क्षरानुगत–अक्षरसहयोग से सृष्टिसाक्षी बन रहा है। सृष्टिप्रपञ्च में आनन्द–विज्ञान–मनोमय अव्यय आलम्बनमात्र है। प्रधानता मनः–प्राण–वाङ्मय अव्यय की है। अतएव उक्त श्रुति ने 'एतस्माज्जायते' द्वारा मन, प्राण, पञ्चभूतात्मिका वाक्, इन तीन के साथ ही 'जायते' का सम्बन्ध बतलाया है। **'किंस्विदसीदासीदधिष्ठानम्'** का यही (अव्ययपुरुष ही) **'एतदालम्बनं श्रेष्ठम्'** एतदात्मक सम्यक् समाधान है।

पञ्चकलात्मक, महामायावच्छिन्न, इसी अव्ययपुरुष के आधार पर, तदभिन्न, तत्सहकालोदित, 'पराप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध पूर्वप्रतिपादित गतिधर्म्मा, सृष्टिनिमित्तकारणभूत, हृदयावच्छिन्न, पञ्चकल अक्षरपुरुष प्रतिष्ठित है। रस–बलात्मक परात्पर का प्रत्यक्षभूत अव्ययपुरुष जैसे रस–बलात्मक है, एवमेव मायी अव्यय के रस–बलात्मक हृदयस्थान से आविर्भूत, अतएव अव्ययांशभूत अक्षर को भी रस–बलात्मक

ही माना गया है। रस–बल, नामक ये दो तत्त्व हीं तो अवस्थाभेद से भिन्न भिन्न स्वरूप धारण कर विश्वरूप में परिणत हो रहे हैं। रस–बल–मूलक विश्व में रस–बल के अतिरिक्त तीसरी तत्त्वोपलब्धि की आशा रखना व्यर्थ है। फलतः अक्षर के साथ भी इन्हीं दोनों का समन्वय सिद्ध हो रहा है।

१५–प्राकृत ब्रह्म के २ विवर्त्त—

रस–बलात्मिका अक्षरनाम्ना प्रसिद्धा इस प्रकृति के भी रस–बल के तारतम्य से दो विवर्त्त हो जाते हैं। बलगर्भिता, रसप्रधाना, अतएव 'अमृता' नाम से प्रसिद्धा प्रकृति, एक विभाग है। रसगर्भिता, बल-प्रधाना, अतएव 'मर्त्या' नाम से प्रसिद्धा प्रकृति एक विभाग है। इसप्रकार एक ही प्रकृति का रसप्रधान अर्द्धभाग अमृत है, बलप्रधान अर्द्धभाग मर्त्य है। भावद्वयावच्छिन्ना, अमृतमृत्युमयी, यही प्रकृति 'अव्यक्त' नाम से प्रसिद्ध है। यह अव्यक्ता प्रकृति ही अपने अमृतभाग से विश्व का निमित्तकारण है, मर्त्यभाग से विश्व का उपादानकारण है। उभयात्मक यही अव्यक्त तत्त्व मर्त्यभाग से प्रजोत्पत्ति का उपादानकारण बनता हुआ **'प्रजापति'** अभिधा को चरितार्थ कर रहा है। अमृतभाग से यह प्रजा का शास्ता है, मर्त्यभाग से प्रजा का उपादान है, यही निष्कर्ष है। प्रजापति नामक अव्यक्ततत्त्व के इन्हीं अमृत–मर्त्यभावों का **'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** (शतपथब्राह्मण) इस ब्राह्मणश्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है।

प्रकृतिविवर्त्त का रसप्रधान, अमृत नामक अर्द्धभाग अविपरिणामी है, नित्य है, क्षरमर्य्यादा से बर्हिभूत है। अतएव इसे **'न क्षीयते'**निर्वचन से 'अक्षर' कहा जाता है। यद्यपि यह ठीक है कि, अपने मर्त्य-भाग से यह क्षरधर्म्म का अनुयायी है। तथापि अमृतदृष्टि से इसे अक्षर ही माना जायगा। यह बतलाया ही जा चुका है कि, अक्षर गतिधर्म्मा है, गति ही इन्द्र है। अतएव श्रुति ने इन्द्रात्मकत्वेनैव अक्षर का विश्लेषण किया है—

> **"यद्धे वाचः–नाक्षीयत, तस्मादक्षयम्। अक्षयं ह वै नामैतत्–तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते"** (जै० उ० १।२४।२।)।
>
> **"कतमत्तदक्षरमिति। यत् क्षरन्–नाऽक्षीयतेति, इन्द्र इति"**
>
> (जै० उ० १।४।३।८।)।

यही अमृताक्षर गीताशास्त्र में 'पराप्रकृति' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकृति का बलप्रधान, मर्त्य नामक अर्द्धभाग विपरिणामी है, अनित्य है, क्षरमर्य्यादाक्रान्त है, अतएव इसे **'यदक्षरत्'** निर्वचन से 'क्षर' कहना अन्वर्थ बनता है। यही गीताशास्त्र की 'अपराप्रकृति' है। पञ्चमहाभूत, प्रज्ञानमन, विज्ञान, महान्, भेद से इस क्षरप्रकृति के आठ पर्व हैं। एवं महदक्षररूप जीवात्मा का सम्बन्ध अक्षर नामक पराप्रकृति से है। प्रकृति के अक्षर–क्षरात्मक पर–अपर–नामक इन्हीं दोनों विवर्त्तों का विश्लेषण करता हुआ गीताशास्त्र कहता है—

[1]भूमि–[2]रापो–[3]ऽनलो–[4]वायुः–[5]खं–[6]मनो-[7]बुद्धिरेव च ।
[8]अहङ्कार (महानात्मा), इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयम्...................................... ।
.........इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे (अव्ययस्य) पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥ (गी० ७।४, ५, ।)।

अक्षर की ब्रह्मा–विष्णु–आदि पाँच कलाओं का पूर्व में विश्लेषण हुआ है । ये ही पाँच कलाएँ (एतन्नामक ही) अक्षराविनाभूत क्षर की हैं । क्षर की ब्रह्मादि पञ्चकलाएँ विपरिणामी अवश्य हैं, परन्तु अक्षरसहयोग से ये भी आत्मनित्यता से अनुगृहीत होतीं हुईं सर्वथा नित्य हैं । तभी तो इसे 'आत्मक्षर' कहना न्यायसङ्गत बनता है । संसार में जितने भी उपादानकारण हैं, वे कार्य्यस्वरूप में परिणत हो कर अपने कारण-स्वरूप को छोड़ देते हैं । दुग्ध शर (थर–मलाई–बालाई) रूप में परिणत होने के अनन्तर दुग्ध नहीं रहता । लौह किट्ट (जंग) भाव में आकर लौहा नहीं रहता । शुक्र–शोणित का मिथुनीभाव अपत्यरूप में आकर शुक्र–शोणितरूप में नहीं रहता । इसप्रकार लौकिक कार्य्य–कारण–भावों में सर्वत्र विकृत–परिणामवाद का समन्वय है । परन्तु क्षरानुगत कार्य्यकारणभाव ऐसा नहीं है । अनन्त विकारोद्भव के अनन्तर भी उपादानात्मक आत्मक्षर अपने उसी पूर्वरूप से सुरक्षित रहता है, जैसाकि विकारविनिर्गमन से पहिले था । क्षर के इसी परिणामवाद को इसी नित्यता-सम्बन्ध से 'अविकृतपरिणामवाद' कहा गया है । इसी आधार पर श्रुति ने क्षर की कारणता को 'अदिति' कहा है, जिसका–'**एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्**' इत्यादि श्रुति से समर्थन हुआ है । '**ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्**' के अनुसार, कतिपय विशेष स्थलों को छोड़ कर विशेषणोपाधिशून्य 'ब्रह्म' शब्द सर्वत्र क्षर का ही वाचक माना गया है । अतएव श्रुति के 'ब्रह्मणः' का 'क्षरस्य' यही अर्थ न्यायसङ्गत माना जायगा ।

१६–षोडशकल ईशप्रजापति—

इसप्रकार मायाबल के अनुग्रह से विश्वातीत परात्पर को (यत्किञ्चित् प्रदेश से) विवश होकर अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, इन तीन विवर्त्तभावों में परिणत होना पड़ता है । विश्वाधिष्ठाता, विश्वात्मा, ईशप्रजापति का स्वरूप प्रक्रान्त है । अतएव आगे के तत्तत् प्रकरणों में प्रधानरूप से मनः–प्राण–वाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय का ही उल्लेख किया जायगा । क्योंकि विश्व (सृष्टि) सम्बन्ध से इसी की प्रधानता है । मन ज्ञानशक्तिघन है, इसका विकासस्थान स्वयं अव्यय–पुरुष है, अतएव अव्यय को 'ज्ञानात्मा' कहा जायगा । प्राण क्रियाशक्तिघन है, इसकी विकासभूमि अक्षरपुरुष है, अतएव इसे 'कामात्मा' कहा जायगा । वाक् अर्थशक्तिघना है, इसका विकासस्थान क्षरपुरुष है, अतएव इसे 'कर्म्मात्मा' कहा जायगा । ज्ञानमय अव्यय अविकुर्वाण है, क्रियामय अक्षर कुर्वाण है, वाङ्मय क्षर विकुर्वाण है ।

ज्ञान, एवं अर्थप्रधान अव्यय, तथा क्षर दोनों निष्क्रिय हैं । सक्रिय है एकमात्र मध्यस्थ अक्षर । अव्यय विष्णुधाम है, क्षर ब्रह्मधाम है, अक्षर इन्द्रधाम है । यही पूर्वकथनानुसार 'बलकृति' (बलकर्म्म) का प्रवर्त्तक

है। मध्यस्थ, इन्द्रात्मक, सक्रिय यह अक्षर अपने प्राणभाग से तपोमूर्त्ति (क्रियामूर्त्ति) बनता हुआ अव्ययज्ञान के सहयोग से सर्वज्ञ, एवं क्षर के अर्थ सहयोग से सर्ववित्, अतएव ज्ञान-क्रियार्थवान् बनता हुआ सृष्टिनिर्म्माण में समर्थ बन रहा है। क्षर सृष्टि का उपादानकारण है, समवायि-कारण है। अक्षर निमित्तकारण है, असमवायि-कारण है, एवं कार्य्य-कारणातीत अव्ययपुरुष आलम्बनमात्र है। क्षर 'अवर' है, अवरक्षरापेक्षया 'पर', पराव्ययापेक्षया 'अवर' बनता हुआ मध्यस्थ अक्षर 'परावर' है, अव्यय 'पर' है। एवं विश्वातीत, अनवच्छिन्न परात्पर इस 'पर' नामक अव्यय से भी पर (अतीत) होने से **'परादपि'** (**ईशाव्ययादपि**) **परः'** निर्वचन से 'परात्पर' है। व्यापक परात्पर की सत्ता का समावेश अव्ययाक्षरात्मक्षर में भी निर्बाध है। अतएव विश्वात्म-स्वरूप की मीमांसा करते हुए इन तीनों मायी-रूपों के साथ उस अमायीरूप का भी कलात्मकत्वेन संग्रह किया जायगा।

इसप्रकार निष्कल-एककलस्थानीय विश्वातीत-विश्वसीमाभुक्त अखण्ड-परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, भेद से 'ईशप्रजापति' नामक विश्वात्मा 'षोडशकल' बनता हुआ **'षोडशी-प्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। यह षोडशी प्रजापति अव्ययप्रधान ज्ञानज्योति, अक्षरप्रधान इन्द्रज्योति, क्षरप्रधान वाग्ज्योति-लक्षण स्वात्मस्वरूप से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो रहा है। इसी आत्मज्योतिस्त्रयी से विकार-क्षरात्मक विश्व प्रकाशित हो रहा है, जैसा कि-**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (मुण्डक० २।२।१०) श्रुति से स्पष्ट है। सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि, ये चार आधिदैविक भूतज्योतिर्विवर्त्त, वागिन्द्रियलक्षण एक आध्यात्मिक ज्योतिर्विवर्त्त, इन पाँचों विश्वज्योतियों (भूतज्योतियों) की प्रतिष्ठा वही आत्मज्योतिस्त्रयी है, अतएव इसे **'ज्योतिषां ज्योतिः'** भी कहा जाता है। और प्रतिज्ञात मन्त्र के **'त्रीणि-ज्योतींषि सचते स षोडशी'** इस भाग का यही वैज्ञानिक विश्लेषण है।

परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर-दृष्टि से **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** इस अनुगम का समन्वय हो रहा है। इन चारों की अवान्तरकला-दृष्टि से **'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** इस अनुगम का समन्वय हो रहा है। एवं अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर-दृष्टि से **'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'** इस अनुगम का समन्वय हो रहा है। रोदसी, क्रन्दसी, संयती, नाम से प्रसिद्ध सप्तलोकात्मिका त्रैलोक्य-त्रिलोकी (तीन त्रिलोकी) में आत्मरूप से व्याप्त इसी षोडशीप्रजापति का स्पष्टीकरण करते हुए षोडशकलावतार, अतएव पूर्णावतार नाम से प्रसिद्ध भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

१—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

२—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

३—यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

—गीता १५।१६,१७,१८,।

जिस आत्मतत्त्व से आगे का वैकारिक विश्व उत्पन्न होने वाला है, उत्पन्न विश्व में विश्वात्मकरूप से जो आत्मतत्त्व प्रविष्ट होने वाला है, विश्वाधारभूत नाम से प्रसिद्ध वही आत्मतत्त्व पूर्वप्रतिपादित 'षोडशीप्रजापति' है। यह ठीक है कि विकारक्षरात्मक वैकारिक विश्व की अपेक्षा वह षोडशी पृथक् है। परन्तु अपने विपरिणामी, विकुर्वाण आत्मक्षर के सम्बन्ध से उसे विश्वरूप से भी पृथक नहीं किया जा सकता। आत्मक्षरसत्ता से अभिन्न विकारक्षरात्मक वैकारिक विश्व आत्मक्षर से अभिन्न है। इसीलिए गीता ने '**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' कहते हुए आत्मक्षराभिप्रायेण प्रयुक्त 'क्षरः' से विश्वाभिप्रायेण प्रयुक्त 'भूतानि' का संग्रह कर लिया है। इसी अभिन्नसत्तात्मक कार्य्य-कारणभाव की दृष्टि से श्रुति ने–'**यस्मादन्यो न परो अस्ति जातः**' यह कह दिया है। साथ ही वस्तुगत्या वह अपने अव्ययाक्षरात्मक्षरात्मकत्रयीरूप से विश्व में प्रविष्ट होकर विश्वात्मा बन रहा है। विश्व उसका वैकारिक-शरीर स्थानीय-स्थूलरूप है, इस दृष्टि से '**य आविवेश भुवनानि विश्वा-प्रजापतिः प्रजया संरराणः**' यह कथन चरितार्थ हो रहा है। और इसीलिए गीताने भी '**यो लोकत्रयमाविश्य**' कहना न्यायसङ्गत समझा है। वस्तुतस्तु गीता का विश्वात्मा के सम्बन्ध में–'**बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**' यह स्पष्टीकरण अपना **एक** महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-समष्टिरूप षोडशी प्रजापति को ही विश्वात्मा माना गया है। तथापि प्रधानरूप से केवल अव्यय ही विश्वात्मा माना जायगा, एवं इसे ही **'ईश्वर'** कहा जायगा। कारण यही है कि ईश्वर, जीव, जगत्, इन तीन विवर्त्तों की प्रतिष्ठा क्रमशः अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर बने हुए हैं। ईश्वरसंस्थामें अव्यय की प्रधानता है। '**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्**' के अनुसार जीवसंस्था में अक्षर नामक पराप्रकृति की प्रधानता है। एवं '**क्षरः सर्वाणि भूतानि**'-'**भूमिरापोऽनलो वायुः खं**' के अनुसार जगत्संस्था में आत्मक्षर नामक अपराप्रकृति की प्रधानता है। इसप्रकार षोडशीपुरुष का क्षरभाग विश्वरूप में, अक्षरभाग जीवरूप में परिणित हो रहा है। अब विश्वेश्वर दृष्टि से केवल अव्यय ही बच रहता है। अतः इसे ही विश्वात्मा, ईश्वर, आदि नामों से व्यवहृत करना न्यायप्राप्त है। और इसी दृष्टि से गीता का–'**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**' यह कथन अतिशय रूप से तात्त्विक बन रहा है। प्रश्न यह होसकता है कि, यदि ईश्वरप्रजापति का केवल अव्यय से ही सम्बन्ध है, तो उसे श्रुति ने 'षोडशी' (षोडशकल) किस आधार पर कहा ?, क्योंकि षोडशकलत्त्व तो सर्वसंग्रह पर ही अवलम्बित है ? । इस प्रश्न के सम्बन्ध में प्रकृत में यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, ईश्वर–जीव–जगत्–संस्थाओं में क्रमशः अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर की ही प्रधानता है। परन्तुः तत्त्वतः तीनों आत्मपर्व तीनों से अविनाभूत हैं। केवल प्रधानता, अप्रधानता का तारतम्य है। अक्षर–आत्मक्षरगर्भित **अव्यय** ईश्वर है, अव्यय–आत्मक्षरगर्भित **अक्षर** जीवात्मा है, एवं अव्ययाक्षरगर्भित **आत्मक्षर** विश्व है। और इस दृष्टि से तीनों हीं संस्था षोडशकल बनतीं हुई पूर्ण हैं, जिस षोडशकलानुगता पूर्णता की सर्वव्याप्ति का '**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते**' इत्यादि श्रुति से समर्थन हुआ हैं। अतएव च 'षोडकलं वा इदं सर्वम्' अनुगम का '**इदं सर्वम्**' कहना अन्वर्थ बन रहा है।

आत्मक्षरापेक्षया वही ईश्वरात्मा '**विश्वमूर्त्ति**'(विश्वरूप–विश्वात्मक)हैं, अक्षरापेक्षया वही '**विश्वकर्त्ता**' (विश्वनिमित्त) है, अव्ययापेक्षया वही गगनसदृश '**विश्वाधार**' है, एवं परात्परापेक्षया वही '**विश्वातीत**' है। वह विश्व से परे भी है (परात्पर दृष्टि से), वह विश्व का आधार भी है–(अव्ययदृष्टि से)। वह विश्व का कर्त्ता भी है (अक्षरदृष्टिसे), एवं वही विश्व भी है (आत्मक्षरदृष्टि से)। वह कार्य्य भी, कारण भी है। न वह कार्य्य है, न कारण है, किन्तु आलम्बनमात्र है। न वह कार्य्य है, न कारण है, न आलम्बन है। इसप्रकार

परात्पराव्ययादि दृष्टि भेद से परस्परात्यन्त विरुद्ध सम्पूर्ण धर्म्मों का उस में समावेश हो रहा है। जिन विरुद्ध धर्म्मप्रतिपादक श्रुतिवचनों से तत्त्वानभिज्ञ मनुष्य सन्देह में पड़े रहते हैं, उनका यह सन्देह इस तत्त्वदृष्टि से आत्मपर्वपार्थक्यद्वारा एकान्ततः निवृत्त है। **'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च'** (वेदान्तसूत्र) सूत्र का भी यही मूल-रहस्य है। यही सर्वधर्म्मोपपन्न षोडशीपुरुष, (जिसे विश्वप्रजोत्पत्ति से पहिले 'प्रजापति' न कह कर केवल 'पुरुष' ही कहना ठीक समझते हैं) उपनिषत्–परिभाषानुसार **'अकृतात्मा'** नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही यत्र तत्र **'एष सर्वेषु भूतेषु 'गूढोत्मा' न प्रकाशते'** इत्यादि रूप से **'गूढोत्मा'** नाम से भी व्यवहृत किया गया है। एवं प्रजाध्यक्ष षोडशीप्रजापति का यही संक्षिप्त स्वरूप–विश्लेषण है।

१७–प्रजा–शब्द का तात्त्विक विश्लेषण—

अब हमें संक्षेप से उस प्रजा के तात्त्विक स्वरूप का भी विश्लेषण कर देना चाहिए, जिसके समन्वय से षोडशीपुरुष इस प्रजा के साथ 'संरराणः' सम्बन्ध स्थापित करता हुआ अपनी 'प्रजापति' अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं। तत्त्ववाद को मूलतत्त्व, तूलतत्त्व, भेद से दो भागों में विभक्त माना जा सकता है। तूलतत्त्व मूलतत्त्व से पृथक् कोई तत्त्वान्तर नहीं है। उदाहरण के लिए पिता मूलतत्त्वस्थानीय है, पुत्र तूलतत्त्व स्थानीय है। और **'पिता वै जायते पुत्रः'** के अनुसार तूलतत्त्वस्थानीय पुत्र मूलतत्त्वस्थानीय पिता से अभिन्न है। मूलतत्त्व का जो एक स्वाभाविक तनन (विस्तार–फैलाव–व्याप्ति) है, वही तूलतत्त्व माना गया है। वास्तव में तूलतत्त्व (मूलतत्त्व का तनन रूप होने से पुत्रस्थानीय बनता हुआ) मूलतत्त्व का 'तनय' है। तनय ही सन्तनन है, सन्तनन ही सन्तान है। दूसरे शब्दों में आत्मा का जो संतनन है, वही आत्मतनय है, तनय ही संतनन है, अतएव यह संतनन ही आत्मसन्तान है। **'प्रजा स्यात् सन्ततौ, जने'** (अमरः) के अनुसार आत्मसन्तननलक्षण सन्तान हीं आत्मप्रजा है।

पूर्वपरिच्छेद में बतलाया गया है कि, षोडशीपुरुष का अपराप्रकृति-नामक आत्मक्षर भाग विपरिणामी, अतएव विकुर्वाण है। यही आत्मक्षर अपने परिणामस्वभाव से प्रजननरूप में परिणत होता हुआ स्वविकारसंघ से 'प्रजा' रूप में परिणत होता है। क्षरतत्त्व ही प्रजा का उपादानकारण है। अतएव अक्षरसमुद्भूत इस आत्मक्षर को 'ब्रह्म' कहा गया है। विज्ञानपरिभाषानुसार क्षरशब्द का अवच्छेदक 'उपादानत्व' माना गया है। कारण से उत्पन्न कार्य्य की प्रतिष्ठा कारण ही बनता है। एवं **'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** (शत० ६।१।१।८।) के अनुसार प्रतिष्ठालक्षण कारणतत्त्व ही 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। ऐसी स्थिति में प्रजा के उपादानकारणभूत इस क्षरतत्त्व को प्रजाप्रतिष्ठा की दृष्टि से **'बिभर्त्ति सर्वम्'** इस निर्वचन से अवश्य ही 'ब्रह्म' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं, जैसाकि पूर्वपरिच्छेद में क्षरस्वरूपनिरूपण करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है।

इस ब्रह्म–भूत क्षर की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, नाम की पाँच मर्त्यकलाओं का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इन पाँचों ब्रह्मकलाओं (क्षरकलाओं) से अव्ययानुगत अक्षर की सृष्टि कामना से (मनोव्यापार से) स्वात्मानुगत (अक्षरानुगत) तप से (प्राणव्यापारलक्षण 'यत्न' नामक आभ्यन्तर-व्यापार से), एवं अक्षरानुगत अक्षर के श्रम से (वाग्व्यापारलक्षण बाह्य व्यापार से), इसप्रकार काम-तपः–

श्रम, नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से–**'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'** के अनुसार क्रमशः **प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नम्'** ये पाँच विकार उत्पन्न होते हैं । मर्त्य ब्रह्मा का विकार 'प्राणः' है, मर्त्य विष्णु का विकार 'आपः' है, मर्त्य इन्द्र का विकार 'वाक्' है, मर्त्य अग्नि का विकार 'अन्नादः' है, एवं मर्त्य सोमकला का विकार 'अन्न' है । स्थिति क्रमानुसार जहाँ अन्नादविकार सर्वान्त में है, वहाँ सृष्टिक्रमानुसार प्राणविकार उपक्रम है, अन्नविकार सर्वान्त में प्रतिष्ठित है । पञ्चकलात्मक विपरिणामी क्षरब्रह्म की पाँच मर्त्यकलाओं से उत्पन्न प्राणादि पाँचों विकार स्वतन्त्र न रह कर परस्पर एक दूसरे को आहुति कुण्ड बना कर परस्पर एक दूसरे में आहुत हो जाते हैं । यही 'सर्वहुत' नामक पहिला मौलिकयज्ञ है । इसी से विश्वमूलभूत ऋग्–यजुः–सामादि तत्त्वों का आविर्भाव हुआ है ।

१८–विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–पुर–विवर्त्तचतुष्टयी—

क्षर से उत्पन्न स्वतन्त्र विकारक्षर विश्व के मूलोपादन होने से 'विश्वसृट्' नाम से प्रसिद्ध हैं । एवं सर्वहुतयज्ञ से पञ्चात्मक बने हुए ये ही पाँचों विकारक्षर **'पञ्चजन'** नाम से व्यवहृत हुए हैं । यद्यपि पञ्चात्मक इन पञ्चजन प्राणादि में त्रिवृत्करणप्रक्रिया की भाँति प्रत्येक में प्राणादि पाँचों विकारक्षरों का समन्वय है । तथापि अर्द्धभाग में प्राणादि, अर्द्धभाग में शेष चारों, इस पञ्चीकरणप्रक्रिया के सम्बन्ध से 'तद्वादन्याय' के आधार पर ये पञ्चजन–क्षर प्राणादि नाम से ही व्यवहृत हुए हैं । पञ्चात्मक प्राण नाम के पञ्चजन से वेदतत्त्व का, आपः से लोकतत्त्व का, वाक् से देवतत्त्व का, अन्नाद से भूततत्त्व का, एवं अन्न से पशुतत्त्व का प्रादुर्भाव होता है । इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिए कि, आगे जो कुछ उत्पन्न होता है, **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** सिद्धान्त के अनुसार उस उत्तरोत्तरसर्ग में पूर्व पूर्व के यथयावत् सर्ग अनुस्यूत रहते हैं ।

पञ्चात्मक, अतएव पञ्चजन नामक विकारक्षरों से उत्पन्न वेदादि पाँचों तत्त्व ही आगे जाकर उसी सर्वहुत यज्ञप्रक्रिया का आश्रय लेते हुए पुरभाव के उत्पादक बनते हैं, अतएव इन्हें **'पुरञ्जन'** कहा जाता है । इन पाँचों पुरञ्जनों में परस्पर–दहरोत्तरभाव माना गया है । प्राणमय वेदपुरञ्जन सब से महान् है, इसकी महिमा के गर्भ में लोकादि चारों पुरञ्जन प्रविष्ट हैं । इसी वेदपुरञ्जन को मन्त्रसंहिता ने **'विश्वकर्म्मा'** कहा है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । आपोमय लोकपुरञ्जन वेदपुरञ्जन से छोटा है, इसकी महिमा में देवादि तीनों पुरञ्जन अन्तर्भुक्त हैं । वाङ्मय देवपुरञ्जन लोकपुरञ्जन से छोटा है, इसकी महिमा में अन्नादमय भूतपुरञ्जन प्रतिष्ठित है । अन्नादमय भूतपुरञ्जन देवपुरञ्जन से छोटा है, इसकी महिमा में अन्नमय पशुपुरञ्जन प्रतिष्ठित है, एवं यहीं सृष्टिमर्य्यादा का अवसान है ।

दहरोत्तरसम्बन्ध से प्रतिष्ठित वेद, लोक, देव, भूत, पशु, नामक इन पाँच पुरञ्जनों से (योगमाया के द्वारा) ब्रह्मपुर, विष्णुपुर, इन्द्रपुर, अग्निपुर, सोमपुर, ये पाँच पुर उत्पन्न होते हैं । ये ही पाँचों पुर विज्ञानशास्त्र में क्रमशः स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्रमा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं । दहरोत्तर सम्बन्ध से प्रतिष्ठित वेदादि पाँच पुरञ्जनों से उत्पन्न स्वयम्भू आदि इन पाँचों पुरों में भी वह दहरोत्तर सम्बन्ध सुरक्षित है । स्वयम्भूपुर–महिमा में, परमेष्ठ्यादि चारों प्रतिष्ठित हैं । परमेष्ठी पुरमहिमा में सूर्य्यादि तीनों प्रतिष्ठित हैं । सूर्य्यपुरमहिमा में पृथिवीव्यादि दोनों प्रतिष्ठित हैं । एवं पृथिवीपुरमहिमा में चन्द्रपुर प्रतिष्ठित है । इन पाँचों पुरों की समष्टि ही 'विश्व' है । पञ्चपर्वात्मक विश्व में 'विश्वाभाव' लक्षणा अव्यक्तदशा को, विश्वाभावलक्षण

अनुपाख्य तम को दूर करने वाला, सर्वप्रथम व्यक्त होने वाला, स्वस्वरूप से अव्यक्तावस्था में परिणत रहने वाला, विश्वकर्म्मा नामक, वेदपुरञ्जनात्मक स्वयम्भू ही है। जैसाकि भगवान् मनु ने कहा है—

१—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
२—ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
३—योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥ (मनुः १।५,६,७,)।

भूतपुरञ्जनानुगृहीता पृथिवी 'पृथिवी' है, पशुपुर० चन्द्रमा 'जल*' है, देवपुर० सूर्य्य 'तेज' है, लोकपुर० परमेष्ठी 'वायु' है, एवं वेदपुरञ्जनानुगृहीत स्वयम्भू 'आकाश' है। इन पाँचों महाभूतों का आदिभूत आकाशात्मक अव्यक्त स्वयम्भू ही है, अतएव मनु ने इसे 'महाभूतादिः' नाम से व्यवहृत किया है। परमेष्ठ्यादि चारों पुर गतिमत् होने से क्रियात्मक रजोगुणमूर्त्ति बनते हुए जहाँ 'रजांसि' हैं, वहाँ अपने स्थितिभाव से सत्त्वात्मक बनता हुआ सत्यधर्म्मा स्वयम्भू रजोमर्य्यादा से बहिर्भूत होता हुआ 'परोरजा' नाम से प्रसिद्ध है। 'इदं' रूपेण भासित आज जो विश्वप्रकाश हो रहा है, इस व्यक्त विश्व का आदिप्रवर्त्तक यही स्वयम्भू है। इसकी अभिव्यक्ति से पहिले यह सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च अनुपाख्यलक्षण निबिडतम से ही आक्रान्त था। विश्वाभावलक्षण इस तम का निराकरण इसी से हुआ है, अतएव इसे 'तमोनुदः' कहा गया है। इसकी जागृति में विश्वसत्ता है, इसकी सुषुप्ति में विश्वप्रलय है। अपने सत्य-स्थिरधर्म्म से यही स्वयम्भू 'शान्तात्मा' कहलाया है। अध्यात्मसंस्था में प्रवर्ग्यरूप से प्रतिष्ठित स्वायम्भुव अंश भी 'शान्तात्मा' ही कहलाया है, जिसे कि हम आध्यात्मिक-स्वयम्भू कहा करते हैं। आधिदैविक स्वयम्भूरूप इस शान्तात्मा का अव्यक्त-व्यक्तभाव ही प्रलय-सृष्टि की प्रतिष्ठा है, जैसाकि निम्नलिखित मनुवचन से प्रमाणित है—

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति 'शान्तात्मा' तदा सर्वं निमीलति॥ (मनुः १।५२।)

शान्तात्मलक्षण इस स्वयंम्भू प्रजापति के गर्भ में पूर्वोक्त-दहरोत्तरभाव-सम्बन्ध से परमेष्ठ्यादि चार पुर प्रतिष्ठित हैं। वह इन चारों पर अपनी पुनःपदलक्षण महिमा से आसमन्तात्-आवपनलक्षण-(सर्वाधारलक्षण) आयतनरूप से व्याप्त है, अतएव 'आसमन्ताद्भवति' निर्वचन से यह स्वयम्भू

---

* "चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि" (यजुःसंहिता)
"तरणिकिरणसङ्गादेषपानीयपिण्डो, दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते"
(सिद्धान्ततत्त्वविवेक)

'आभूप्रजापति'–'परमप्रजापति' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है । परमप्रजापति नामक इस स्वयम्भू में 'आत्मा, पदं, पुनःप्रदम्' इन तीन भावों की प्रतिष्ठा है । हृदयावच्छिन्नतत्त्व आत्मा है, स्वयम्भू मर्त्य पिण्ड 'पदं' है, पिण्ड की अमृतमहिमा 'पुनःपदम्' है । धर्म्मत्रयोपपन्न परमप्रजापति की महिमा के गर्भ में अपना स्वरूप लाभ करने वाले परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन चारों में आत्मादि तीनों भाव प्रतिष्ठित हैं । दूसरे शब्दों में जैसा स्वरूप-अवयवसंस्थान स्वयम्भू का है, वैसा ही स्वरूप–अवयवसंस्थान तदुत्पन्न परमेष्ठ्यादि पुरों का है । इसी आधार पर इन चारों को 'प्रतिमाप्रजापति' कहा आता है । परमेष्ठी वरुणमय है, सूर्य्य इन्द्रमय है, चन्द्रमा सोममय है, पृथिवी अग्निमयी है, चारों प्रतिमाप्रजापति हैं । 'दर्शपूर्णमास' नामकी सुप्रसिद्ध यज्ञप्रक्रिया से उत्पन्न इन्हीं चारों का दर्शपूर्णमासविज्ञानब्राह्मण में स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स ऐक्षत प्रजापतिः (स्वयम्भूः)–इमं वाऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि । XXXXX । आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत । XXXX । ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त–अग्निः (पृथिवी), इन्द्रः (सूर्य्यः) सोमः (चन्द्रमाः) परमेष्ठी प्राजापत्यः' इति ।

—शत० ११।१।६।

उक्त सृष्टिधाराक्रम का निष्कर्ष यह निकला कि, परात्परात्व्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति षोडशी पुरुष के पराप्रकृति नामक अक्षर के काम–तपः–श्रम व्यापार से आत्मक्षर की ब्रह्मादि पाँच मर्त्य कलाओं से सर्वप्रथम प्राणादि पाँच विकार क्षर उत्पन्न हुए, इन्हें हीं विश्वसृट् कहा गया । इन पाँच विश्वसृजों के पञ्चीकरण से पञ्चात्मक प्राणादि का विकास हुआ, इन्हें ही 'पञ्चजन' कहा गया । पञ्चात्मक, अतएव पञ्चजन नाम से व्यवहृत प्राणादि पाँचों से वेदादि पाँच भाव उत्पन्न हुए, जो कि पुरोगादानत्त्वेन 'पुरञ्जन' नाम से व्यवहृत हुए । इन वेदादि पाँच पुरञ्जनों से स्वयम्भू आदि पाँच पुरों का क्रमशः विकास हुआ । इस पञ्चपुरोत्पत्ति के अनन्तर वह षोडशीपुरुष इसके गर्भ में प्रविष्ट होकर विश्वात्मा नाम से प्रसिद्ध हो गया, एवं यहीं आकर उसकी 'प्रजापति' अभिधा चरितार्थ हुई । विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन, पुर, चारों की समष्टि 'विश्व' है, यही उस परात्पर–अव्यय–अक्षर–क्षरात्मक–चतुष्टयमूर्त्ति विश्वात्मा का शरीर है । पर्व–चतुष्टयात्मक षोडशकल आत्मा, अनेककल विश्व, दोनों का समन्वित रूप ही–'आत्मन्वी' है, यही 'प्रजापति है ।

प्रजापतिस्वरूपपरिलेखः—

*१-परात्परः—सर्वबलविशिष्टरसात्मको निष्कलः						
१-२-अव्ययः—	आनन्दः-	विज्ञानं-	मनः-	प्राणः-	वाग्-	आत्मविवर्तः
२-३-अक्षरः —	ब्रह्मा-	विष्णुः-	इन्द्रः-	अग्निः-	सोमः	
३-४-आत्मक्षरः-	ब्रह्मा-	विष्णुः-	इन्द्रः-	अग्निः-	सोमः	
१-५-विश्वसृट् (जः)	प्राणः—	आपः —	वाक्—	अन्नादः—	अन्नम्	विश्वविवर्तः
२-६-पञ्चजनः (नाः)	प्राणः—	आपः—	वाक्—	अन्नादः—	अन्नम्	
३-७-पुरञ्जनः (नाः)	वेदाः—	लोकाः—	देवाः—	भूतानि—	पशवः	
४-८-पुरम् (णि)	स्वयम्भूः --	परमेष्ठी—	सूर्यः—	पृथिवी—	चन्द्रमाः	
आत्मन्वी-प्रजापतिः	आनन्दविभूतिः १	विज्ञानविभूतिः २	मनोविभूतिः ३	प्राणविभूतिः ४	वाग्विभूतिः ५	

इसी सम्बन्ध में अनन्त–परात्पर–परमेश्वर की अनन्त–अतएव अविज्ञेय विभूति का दो शब्दों में और यशोगान कर लीजिए। सर्वबलविशिष्टरस को परात्पर कहा गया है। एवं इसमें माया–जायादि सोलह बल–कोश बतलाए गए हैं। प्रत्येक बलकोश के गर्भ में तद्रूप अनन्त बलकोश प्रतिष्ठित मानें गए हैं। फलतः विश्वस्वरूपसम्पादक मायाबलों का भी आनन्त्य सिद्ध हो जाता है। एक एक मायाबल–सीमा से एक एक मायी विश्व का स्वरूप सम्पन्न होता है। उपाधिशून्या एकत्व संख्या से युक्त अनन्त परात्पर के अनन्त धरातल पर बिन्दु–स्वरूपावच्छिन्न अनन्त (असंख्य) मायाबल हैं। एक एक मायाबल एक एक ईशप्रजापति का स्वरूप–समर्पक है। फलतः एक परात्पर–परमेश्वर के गर्भ में अनन्त–मायी–महेश्वरों की भाति सिद्ध हो जाती है। अस्मदादि प्रजावर्ग का हमारे मायी–प्रजापति से सम्बन्ध है। शेष मायी विवर्त्त अन्य–अन्य विश्व सम्पत्तियों से युक्त हैं, जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।

अब केवल मायी प्रजापति के अनन्त विस्तार का विचार कीजिए। मायी-षोडशी प्रजापति अश्वत्थवृक्ष है। इसमें एक सहस्र योगमाया मुख्य हैं। एक एक योगमाया के गर्भ में पाँच पाँच अवान्तर योगमायाएँ प्रतिष्ठित हैं। इसप्रकार पञ्च-पञ्च पर्वात्मिका एक सहस्र योगमायाओं को अपने गर्भ में रखने वाला मायी अश्वत्थ पूर्ण-पुरुष प्रतिष्ठित है। इन सहस्र योगमाया-विवर्त्तों को अश्वत्थ वृक्ष की सहस्र वल्शा (शाखा) माना गया है। एक एक वल्शा में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी, ये पाँच पाँच पुण्डीर (पर्व) हैं। अतएव पञ्च-अवान्तर योगमायात्मिका, एकवल्शात्मिका योगमाया **'पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा'** नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक वल्शा के साथ सहस्र वल्शात्मक अश्वत्थ वृक्ष के केन्द्र में प्रतिष्ठित षोडशीप्रजापति का सम्बन्ध है। अतएव प्रत्येक वल्शा का विचार प्रस्तुत होने पर तन्मूलभूत षोडशी को अग्रणी माना जायगा। षोडशीपुरुषानुगृहीत, पञ्च-पुण्डीरा एक वल्शा ही हमारा अपना विश्व है। हमारी अपेक्षा से ९९९ वल्शा परोक्ष हैं, असम्बद्ध हैं। हमारी दृष्टि में विश्व की इयत्ता एकवल्शा पर ही समाप्त है। अतः हमनें षोडशीस्वरूप का विश्लेषण करते हुए पञ्चपर्वात्मिका एकवल्शा के स्वरूप-विश्लेषण से ही विश्वविश्लेषण गतार्थ मान लिया है।

आत्मा-शरीरसमष्टिलक्षण आत्मन्वी के स्वरूप की भिन्न दृष्टि से मीमांसा कीजिए। **'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'** अनुगम के अनुसार इस आत्मन्वी को विश्वातीत, विश्वचर, विश्व, इन तीन पर्वों में विभक्त माना जा सकता है। षोडशी पुरुष का परात्पर भाग अपने प्रातिस्विकरूप से मायातीत बनता हुआ विश्वातीत है। विश्वातीत परात्पर से अभिन्न, अतएव १६ कला में संगृहीत परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरसमष्टिलक्षण षोडशी पुरुष विश्व में प्रविष्ट होकर विश्वात्मा बनता हुआ विश्वचर है। एवं विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-गर्भित स्वयम्भू-आदि पञ्चपुर आत्मा के प्रवेश से 'विशत्यस्मिन्नात्मा' निर्वचन से 'विश्व' नामक तीसरा विवर्त्त है। ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः प्रविविक्त, प्रविक्त, सृष्ट, इन नामों से भी व्यवहृत हुए हैं। इसप्रकार केवल मायाबल के तारतम्य से रसबलात्मक एक ही परात्पर के तीन रूप हो जाते हैं। मायानवच्छेदेन वही विश्वातीत परात्पर है, महामायावच्छेदेन वही विश्वचरपुरुष है, योगमायावच्छेदेन वही विश्वपुर है।

१६-प्रजापति की ५ संस्थाएँ—

ईशप्रजापति की सामान्य दृष्टि से यद्यपि परात्परादि चार ही विवर्त्तों का पूर्व में विश्लेषण हुआ है। तथापि यदि परात्पर के शुद्धरसलक्षण निर्विशेष, बलविशिष्टरसलक्षण परात्पर, इन दो विवर्त्तों की अपेक्षा की जाती है, तो पाँच विवर्त्त हो जाते हैं। जो ये पाँच विवर्त्त ईश्वरात्मविवर्त्त में हैं, वे ही पाँच विवर्त्त तदंशभूत जीवात्म-विवर्त्त हैं। जीवात्मा के पाँचों आत्मविवर्त्तों की प्रतिष्ठा ईश्वरात्मा के पाँच विवर्त्त हैं। वे पाँचों विवर्त्त शुद्धरस, बलविशिष्टरस, महामायावच्छिन्न रसबल, हृदयावच्छिन्न रसबल, परिधि-अवच्छिन्न रसबल, भेद से क्रमशः निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, नाम से पूर्व में व्यवहृत हुए हैं। शुद्धरसात्मक निर्विशेष शुद्ध आनन्दघन बनता हुआ **'ऐकान्तिकसुख'** लक्षण है। बलविशिष्टरसात्मक परात्पर मायातीत बनता हुआ, अतएव नित्य प्रतिष्ठ रहता हुआ **'शाश्वतधर्म्म'** लक्षण है। महामायावच्छिन्न रसबलात्मक अव्यय विविधभावशून्य रहताहुआ **'अव्यय'** लक्षण है। हृदयावच्छिन्न-रसबलात्मक अक्षर निमित्तकारणत्वेन अपने अविपरिणामी धर्म्म से **'अमृत'** लक्षण है। एवं परिधि-

अवच्छिन्न रसबलात्मक आत्मक्षर उपादान-कारणत्वेन अपने परिणामीरूप से विश्वोत्पादन बनता हुआ 'ब्रह्म' लक्षण है। गीताशास्त्र नें श्रौत निर्विशेषादि पाँचों आत्मविवर्त्तों का ऐकान्तिक सुखादि लक्षणों के रूप से ही स्पष्टीकरण किया है, जैसा कि निम्नलिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (गीता १४।२७)

१ { *-शुद्धरसः
*-सबबलविशिष्टो रसः } ——————विश्वातीतः-प्रविविक्तः

२—सर्वपरात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरात्मकः षोडशी]——विश्वचरः-प्रविष्टः

३—विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जनगर्भितानि पुराणि]—— विश्वम्-सृष्टम्

} "एतद्वा इदं सर्वम्"

——×——

१-शुद्धरसात्मकः-ऐकान्तिकसुखलक्षणः————निर्विशेषः (सुखस्यैकान्तिकस्य च)

२-सर्वबलविशिष्टरसात्मकः-शाश्वतधर्म्मलक्षणः—परात्परः (शाश्वतस्य च धर्म्मस्य)

३-मायावच्छिन्नरसबलात्मकः-अव्ययलक्षणः——अव्ययः (अव्ययस्य च)

४-हृदयावच्छिन्नरसबलात्मकः-अमृतलक्षणः——अक्षरः (अमृतस्य)

५-परिध्यवच्छिन्नरसबलात्मकः-ब्रह्मलक्षणः———आत्मक्षरः (ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्)

——————————— *

विश्वातीत परात्पर अविज्ञेय है, विश्वचर षोडशीपुरुष, तथा तच्छरीरस्थानीय विश्व, दूसरे शब्दों में आत्मन्वी ईशप्रजापति विज्ञेय है। परात्पर मायापथ से अतीत बनता हुआ अखण्ड, अतएव अविज्ञेय है। पुरुष मायावच्छिन्न, अतएव सखण्ड बनता हुआ विज्ञेय है। परात्पर पराचीनपदस्थानीय बनता हुआ 'अतीतः पन्थानम्' है, पुरुष अर्वाचीनपदस्थानीय बनता हुआ **'पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः'** है। और इसी आत्मस्वरूप-विवेक के आधार पर हम कह सकते हैं कि, उपनिषच्छास्त्रों का प्रतिपाद्य आत्मा विश्वातीत, अखण्ड आत्मा नहीं हैं, अपितु सखण्ड आत्मविवर्त्त है, जैसाकि आत्मस्वरूपोपसंहारपरिच्छेद में स्पष्ट किया जाने वाला है। उपनिषत् 'आत्मा' की उपासना बतलाता है। यह 'आत्मा' शब्द शरीरसापेक्ष है। अशरीरी परात्पर को हमनें 'अखण्ड-आत्मा' रूप से 'आत्मा शब्द से व्यवहृत कर दिया है। वस्तुतः परात्पर आत्मा नहीं है, अपितु आत्मा का अखण्ड आधार है। वस्तुतस्तु इसे आत्माधार भी नहीं कहा जा सकता। किसी भी शब्द की वहाँ गति नहीं है। क्योंकि प्रत्येक शब्द अवच्छेदक मर्य्यादा से युक्त है। सर्वव्यापक का कोई अवच्छेदक (भेदक) नहीं, अतएव वहाँ शब्द की गति नहीं। अपिच प्रत्येक पदार्थ विशेषक

बल के सम्बन्ध से अन्य पदार्थों का व्यावर्त्तक माना गया है। घट को इसलिए 'घट' शब्द से व्यवहृत किया करते हैं कि, उसमें रहने वाला घटत्व पटत्व-मठत्व-पुरुषत्वादि यच्चयावत् इतर विशेषकों का व्यावर्त्तक है। तदतिरिक्त यच्चयावत् पदार्थों का अभाव ही तत्पदार्थ का स्वरूपसम्पादक माना गया है, अतएव तद्वाचक शब्द तदतिरिक्त यच्चयावत् पदार्थों का व्यावर्त्तक (निवर्त्तक) बना रहता है। अतएव तच्छब्द से तत्पदार्थ का ग्रहण सम्भव है। परन्तु परात्पर सर्वव्यापक है। यह घट भी है, मठ भी है, सब कुछ है, अतएव सबकुछ नहीं की कोटि में प्रविष्ट है। अतएव उसका व्यावर्त्तक नहीं, अतएव उसके लिए किसी शब्द का प्रयोग सम्भव नहीं। जब वह शब्दशास्त्र का विषय ही नहीं, तो उसे शब्दशास्त्रात्मक उपनिषच्छास्त्र का प्रतिपादक क्यों कर माना जासकता है। अवश्य ही शब्दात्मक वाक्प्रपञ्च की मर्य्यादा से अतीत बनता हुआ वह अनिर्वचनीय है। बात यथार्थ है। वाक्–लक्षण शब्द का आविर्भाव स्वायम्भुवी सत्यावाक् से सम्बन्ध रखता है, जोकि सत्यावाक् अनादिनिधना मानी जाती हुई भी विश्वसीमा में अन्तर्भुक्त है। फिर इससे विश्वसीमातीत परात्परका निर्वचन कैसे सम्भव है। हम मान लेते हैं कि, स्वायम्भुवी नित्या सत्यवाक् की वहाँ गति है। परन्तु निर्वचन तो प्रयोगलक्षण,वागिन्द्रियानुबन्धी अनित्य शब्दोंसे ही सम्बन्ध रखता है। निर्वचनसाधक प्रयोगात्मक, इन अनित्य शब्दों का तो वहाँ लेश भी सम्बन्ध नहीं है। इस शब्दस्वरूपदृष्टि से भी उस इन्द्रियातीत परात्पर का वागिन्द्रियानुबन्धी शब्दापेक्षया अनिर्वचनीयत्व ही सिद्ध हो रहा है। साथ ही मन की भी वहाँ गति नहीं है। क्योंकि मन सेन्द्रिय बनता हुआ परिच्छिन्न है। हृदयबलावच्छिन्न तत्त्व ही मन है। बिना विषय के इसका व्यापार असम्भव है। सहृदय-सशरीर विषय ही मनोगति का आलम्बन बनता है। अहृदय अशरीर परात्पर विषयमर्य्यादातिक्रान्त रहता हुआ मन से भी अतीत है। अतएव अनिर्वचनीयवत् यह सर्वथा अविज्ञेय भी है, जैसा कि-**'न तत्र वाग् गच्छति, नो मनः'** इत्यादि श्रुतियों से भी प्रमाणित है। परात्पर की वाङ्–मनसपथातीता इसी अनिर्वचनीयता, तथा अविज्ञेयता का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

> **संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।**
> **यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥**

२०–'संविदन्ति' का रहस्यार्थ—

"उक्त श्रुति एक विशेष रहस्यार्थ का विश्लेषण कर रही है। श्रुति ने कहा है कि, न उसे वेद जान सकते, न विष्णु जान सकते, न ब्रह्मा जान सकते। साथ ही वाणी मन के साथ वहाँ जाने में असमर्थ हो वापस लौट आती हैं"। श्रुति ने जहाँ प्रत्यक्षभाषा में इसकी अविज्ञेयता-अनिर्वचनीयता बतलाई है, वहाँ संकेत-भाषा से इसकी प्राप्ति का उपाय अवश्य बतला दिया है। उसका बखान नहीं हो सकता, उसकी उपासना चिन्तन, ध्यान, नहीं हो सकता। परन्तु एक विशेषप्रक्रिया के अनुगमन से कालान्तर में परात्पर–सम्पत्ति प्राप्त अवश्य हो जाती है। और उस विशेष प्रक्रिया का मूलाधार है इन्द्रानुगत निष्कामकर्म्मलक्षण 'बुद्धियोग', जिसका **'उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?'** प्रकरण में विस्तार से निरूपण होने वाला है।

अक्षरपुरुष का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि, 'ब्रह्मा-विष्णु--इन्द्र' तीनों हृद्य-अक्षर हैं। इन तीनों हृद्याक्षरों का क्रमशः आत्मक्षर, अव्यय, अक्षर से सम्बन्ध है। मनःप्रधान अव्यय का विष्णु–

अक्षर से, प्राणःप्रधान अक्षर का इन्द्राक्षर से, एवं वाकप्रधान क्षर का ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध है। अतएव पूर्व में अव्यय को विष्णुधाम, अक्षर को इन्द्रधाम, एवं क्षर को ब्रह्मधाम बतलाया गया है। पर अव्यय, ब्रह्म क्षर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित अक्षर ही सर्वकर्म्मा माना गया है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, अव्यय की आनन्दादि पाँचों चितियों का स्वरूप चेतनात्मक अक्षर से ही सम्बद्ध है। हृद्याक्षर के व्यापार से ही अव्यय मन पर अन्तश्चितिलक्षण आनन्द–विज्ञानचिति होती है, एवं बहिश्चितिलक्षण प्राण–वाक्चिति होती है। अन्तश्चितिलक्षण अव्यय मुक्तिसाक्षी है, बहिश्चितिलक्षण अव्यय सृष्टिसाक्षी है। एवमेव क्षर की पाँच कलाओं का श्रेय भी अक्षरव्यापार को ही है। यदि मध्यस्थ अक्षर न होता, तो न तो अव्यय चिदात्मा बनता, न इसके सृष्टिसाक्षीरूप को आधार बनाने वाला क्षर सृष्टिकर्म्म में समर्थ बनता। इसी आधार पर वैज्ञानिकों नें यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि, पञ्चकलात्मक अव्यय का अव्ययत्त्व, पञ्चकलात्मक क्षर का क्षरत्त्व मध्यस्थ अक्षर पर ही अवलम्बित है। मध्यस्थ अक्षर इस ओर के क्षर का भी संग्राहक है, उस ओर के अव्यय का भी संग्राहक है। अक्षर–त्रिमूर्ति है। यही पर 'अव्यय, अव्ययस्वरूपसम्पादक, एवं संग्राहक) है, यही ब्रह्म (आत्मक्षर, आत्मक्षरस्वरूपसम्पादक, एवं संग्राहक) है। अक्षर की इसी सर्वात्मकता का स्पष्टीकरण करती हुई उपनिषत् कहती है—

> एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
> एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

'यो यदिच्छति तस्य तत्' का समाधान वास्तव में अक्षर से ही हुआ है। लोकवैभवप्राप्तिकामना, ईश्वरानुग्रहप्राप्तिकामना, एवं सर्वबन्धनविमोकलक्षणा मुक्तिप्राप्तिकामना, यच्चयावत् कामनाओं का इन्हीं तीन कामनाओं में अन्तर्भाव है। इन्हीं तीनों कामनाओं के सम्बन्ध से **कर्म्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग**, नामक तीन योग आविर्भूत हुए हैं। तीनों का क्रमशः अव्यय–अक्षर–क्षर से सम्बन्ध है। कर्म्मयोग क्षरसम्पत्तिलक्षणा लोककामना का, भक्तियोग अक्षरसम्पत्तिलक्षणा ईश्वरप्राप्तिकामना का, एवं ज्ञानयोग अव्ययसम्पत्तिलक्षणा मुक्तिकामना का समर्थक है। इन तीनों का मूलाधिष्ठान मध्यस्थ अक्षर ही है। कारण यही है कि, तीनों में हीं साधनदशा में तत्तत्कामनानुगत तत्तत्कर्म्मविशेषों का अनुगमन अपेक्षित है। कर्म्म का एकमात्र प्राणमय अक्षर से सम्बन्ध है। मनोमय अव्यय ज्ञानत्त्वेन निष्क्रिय है, वाङ्मय क्षर अर्थत्त्वेन निष्क्रिय है, सक्रिय है क्रियात्त्वेन प्राणमय अक्षर। साथ ही अव्ययज्ञान से ज्ञानमय, क्षरार्थ से क्रियामय बनता हुआ तन्मय भी है। यही सर्वमूर्त्ति मध्यस्थ अक्षर क्षरात्मकला से लोककामना का, स्वात्मकला से ईश्वरप्राप्तिकामना का, एवं अव्ययात्मकला से मुक्तिकामना का पूरक बनता हुआ 'यो यदिच्छति तस्य तत्' को अन्वर्थ बना रहा है। अतएव कर्म्मयोगलक्षणा यज्ञकाण्ड में भी अक्षर को ही छिद्रसन्धाता माना गया है, भक्तियोगलक्षणा उपासना काण्ड में भी अक्षर को ही उपास्य बतलाया है, एवं ज्ञानयोगलक्षणा मुक्तिमार्ग में भी अक्षर को ही हृद्ग्रन्थि–विमोचक माना गया है।

जब तक हृद्ग्रन्थि है, तब तक बन्धन है, माया सीमा है, परात्परसम्पत्ति का विच्छेद है। परात्परभाव में परिणत होने के लिए माया–सीमा का विमोक अपेक्षित है। इसके लिए हृद्ग्रन्थिविमोक आवश्यक है, एवं इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हृदयावच्छिन्न–'परावर' नामक अक्षर का समाश्रय अपेक्षित है। अक्षर इन्द्र-

पद है। विश्व में इस इन्द्राक्षर का विकास पञ्चपर्वात्मक विश्व की मध्यपर्वस्थानीया सूर्य्यसंस्था में हुआ है। यही सौर इन्द्र आध्यात्मिक संस्था में 'बुद्धि' रूप से प्रतिष्ठित है। क्षरजगत् के सम्बन्ध से इसमें मर्त्यलक्षणा अविद्याचतुष्टयी प्रतिष्ठित रहती है, अव्ययात्मानुग्रह से इसमें अमृतलक्षणा विद्याचतुष्टयी प्रतिष्ठित रहती है। फलतः विद्या-अविद्या भेद से बुद्धि के आठ विवर्त्त हो जाते हैं। इनमें से अविद्याबुद्धिचतुष्टयी क्षरसम्बन्धेन सृष्टिबन्धन की प्रवर्त्तिका बनती है, विद्याद्याबुद्धि अव्ययानुग्रहेण मुक्तिप्रवर्त्तिका बनती है। यही वास्तविक बुद्धियोग है, जो उपनिषदों की शिक्षा का तात्त्विक निष्कर्ष है।

बुद्धि इन्द्राक्षरात्मिका है। यही हृद्ग्रन्थि-विमोक में समर्थ है। अव्ययज्ञानानुगत विष्णुदृष्टि से वह अविज्ञेय है, वाङ्मय क्षरानुगत ब्रह्मा की दृष्टि से वह अनिर्वचनीय है। परन्तु प्राणमय अक्षरानुगत इन्द्रापेक्षया वह अवश्य ही हृद्ग्रन्थिविमोकद्वारा प्राप्त होने योग्य है। **'स हि नेदिष्ठं पस्पर्श'-'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्'** इत्यादिरूप से श्रुति इन्द्रात्मक आदित्य पुरुष को ही परात्परानुगता अद्वैतसम्पत्ति की प्रतिष्ठा बतला रही है। मन, प्राण, वाक् तीन आत्मविवर्त्त हैं, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, तीन हृद्य विवर्त्त हैं, तीनों क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षरानुगृहीत हैं।

१—मनः—(ज्ञानम्)—अव्ययः—विष्णुः २—प्राणः—(क्रिया)—अक्षरः—इन्द्रः ३—वाक्—(अर्थः)—क्षर—ब्रह्मा	—सर्वमूर्त्तिः—इन्द्राक्षरः

श्रुति ने उक्त रहस्य को लक्ष्य में रख कर कहा है कि, विष्णु-ब्रह्मा उसे नहीं जान सकते। साथ ही वाक् से वह अनिर्वचनीय है, मन से अविज्ञेय है। श्रुति ने न तो इन्द्र का उल्लेख किया, न तत्प्रतिष्ठारूप प्राण का उल्लेख किया। इसी संकेत से स्पष्ट हो रहा है कि, प्राणात्मक अक्षरेन्द्र बुद्धियोग के द्वारा हृद्ग्रन्थिविमोक करता हुआ अवश्यमेव उसे प्राप्त कर सकता है। प्रश्न हो सकता है कि, यदि इन्द्राक्षर से वह प्राप्तव्य था, तो श्रुति ने उसका उल्लेख क्यों नहीं कर दिया, क्यों इस रहस्य को परोक्ष रक्खा ?। उत्तर स्पष्ट है। उल्लेख वाणी का विषय है। और वहाँ न वाणी है, न मन है। केवल कर्म्मानुगमन है। इस तत्त्वशिक्षा के लिए श्रुति ने संकेतभाषा का ही आश्रय लेना उचित समझा है। इन्द्रसहयोगी अक्षर हृदग्रन्थि का निवर्त्तक, मुक्ति का प्रवर्त्तक है, यह सिद्धान्त निम्नलिखित श्रुति से प्रमाणित है—

> **भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
> **क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे (अक्षरे) ॥**
>
> —मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

२१—आत्म—ब्रह्म—यज्ञ—योनि—

षोडशीप्रजापति का स्वरूपोपसंहृत करते हुए यह कहा गया है कि, षोडशीपुरुष 'अमृतात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा, ये पाँच 'खण्डात्मा' हैं, प्राकृतात्मा हैं। विश्वापेक्षया

विश्वव्यापक अमृतात्मा (षोडशीपुरुष) अखण्डात्मा है। यही उक्त पाँचों खण्डात्म-विवर्तों की योनि है। स्वयम्भू-आदि प्राकृतात्माओं का आत्मभाव इस अमृतात्मा पर अवलम्बित है। इसी अमृतात्मा के गर्भ-प्रवेश से स्वयम्भू आदि आत्मन्वी बनते हुए परम-प्रतिमा-प्रजापति नामों से व्यवहृत हुए हैं। अतएव इस अमृत तत्त्व को हम **'आत्मयोनि'** कह सकते हैं।

आत्मयोनिर्लक्षण अमृतात्मा (षोडशी) के आत्मक्षर से उत्पन्न होने वाले प्राणादि पाँच विकारक्षर विश्व के मूलोपादान बनते हुए 'विश्वसृट्' कहलाए हैं। इसी उपादानकारणता के सम्बन्ध से हम इस विश्वसृट् को 'ब्रह्म' कह सकते हैं। षोडशकल अमृतात्मा व्यापक परात्पर का जहाँ प्रथम विवर्त्त है, वहाँ प्राणरूप यह विश्वसृड्ब्रह्म द्वितीय विवर्त्त है। उस षोडशी में यह पञ्चप्राणमूर्त्ति ब्रह्मविवर्त्त सन्निविष्ट है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥
(मुण्डक ३।१।६।)।

अणुलक्षण आत्मा विशुद्ध अव्ययपुरुष है। अक्षर, और आत्मक्षर इस अव्ययपुरुष की अन्तरङ्ग-प्रकृति है, स्व-भाव है, अतएव इनका पुरुषस्वरूप में हीं अन्तर्भाव मान लिया जाता है। इसीलिए क्षराक्षर के परा-अपरा-प्रकृति स्थानीय होने पर भी गीताने **'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** इत्यादि रूप से 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत कर दिया है। इस अन्तरङ्गप्रकृतिविशिष्ट पुरुष में नित्य सन्निविष्ट प्राणादि लक्षण-पञ्चात्मक विश्वसृट् विकृतिप्रधान विश्व का मूलकारण होने से 'कृतेः प्रागवस्था' निर्वचन से बहिरङ्ग-प्रकृति नाम से व्यवहृत हुआ है। षोडशीपुरुष (अन्तरङ्गप्रकृतिरूप क्षराक्षरविशिष्ट अव्ययपुरुष) के सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाग् भाग के, तथा बहिरङ्गप्रकृतिलक्षण पञ्चप्राणात्मक विश्वसृट् के समन्वय से ही पञ्चजन-पुरञ्जनादि के द्वारा विश्वस्वरूप का प्रादुर्भाव हुआ है। बहिरङ्गप्रकृतिलक्षण विश्वसृट् का पहिला विवर्त्त आत्मक्षर के ब्रह्मभाग का विकारभूत 'प्राण' तत्त्व है। इस विश्वसृट्-प्राण से पञ्चजन (पञ्चीकृतप्राण) द्वारा सर्वप्रथम 'ब्रह्मनिःश्वसित' नामक अपौरुषेय वेदलक्षण वेदपुरञ्जन प्रादुर्भूत हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित वाजिश्रुति से स्पष्ट है—

"सोऽयं पुरुषः (प्राणात्मकः) प्रजापतिरकामयत-'भूयान्त्स्यां, प्रजायेय' इति। सोऽश्राम्यत्, स तपो ऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येषा, यद् ब्रह्म (त्रयीविद्या)"
(शत० ६।१।१।८।)।

ऋग्-यजुः-सामात्मक इस वेदपुरञ्जन के मध्य में प्रतिष्ठित यजुर्ब्रह्म के यत्-जू नामक दो विवर्त्त हैं। यत्भाग गतिप्रकृतिक प्राण है, जू भाग स्थितिप्रकृतिक वाक् है। यत्-प्राण के व्यापार से जू-वाक् से सर्वप्रथम भृग्वङ्गिरोलक्षण आपोवेद प्रादुर्भूत हुआ है। वाक् ही अविकृतपरिणामवाद से अन्नरूप में परिणत

होती है। वेदपुरञ्जन के अनन्तर वेदवाक् से सर्वप्रथम इसी की उत्पत्ति हुई है, इसी आधार पर श्रुति कहती है—

"तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोत्, यदिदं किञ्च । यदाप्नोत्, तस्मादापः । यदवृणोत्, तस्मात्–वाः (वारिः)" (शत० ६।१।१।६।)।

भृग्वङ्गिरोमय इस अप्तत्त्व का भृगुभाग स्नेहलक्षण है, अङ्गिराभाग तेजोलक्षण है। दोनों की समष्टि 'आपोवेद' लक्षण 'सुवेद', किंवा 'सुब्रह्म' है। ब्रह्मवेद नामक त्रयीवेद का यह स्वेद (पसीना) स्थानीय बनता हुआ ही परोक्षभाषा में 'सुवेद' कहलाया है—(देखिए गो० ब्रा० १।१।४।)। इस आपोमय भृग्वङ्गिरोमय सुवेद के गर्भ में 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से तदुत्पादक त्रयीवेद प्रतिष्ठित है, जैसाकि निम्नलिखित अथर्वश्रुति से प्रमाणित है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥ (गोपथब्राह्मण–१।१।२६।)।

त्रयीवेद 'सार्वयाजुष' नामक प्राणाग्निलक्षण बनता हुआ अग्निवेद है, आपोलक्षण सुवेद अप्-सम्बन्ध से सोमवेद है। वह ब्रह्म था, यह सुब्रह्म है । वह वेद था, यह सुवेद है। वह स्थिति–गत्यात्मक था, यह स्नेह–तेजोमय है। इस सुब्रह्मलक्षण वेदरूप अप्तत्त्व की उस ब्रह्माग्निरूप वेदतत्त्व में मातरिश्वा वायु की प्रेरणा से आहुति होती है । इस आहुतिकर्म्म से वेद–सुवेद के चितिलक्षण अन्तर्य्याम समन्वय से जो अपूर्व तत्त्व उत्पन्न होता है, वही अग्निषोमात्मक तत्त्वविशेष आगे होने वाली मैथुनी सृष्टियों का बीजस्थान बनता हुआ 'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध है।

सृष्टिविवर्त्त 'अनस्था, अस्थन्वान्' भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। आत्मसृष्टि अनस्था है, विश्वसृष्टि (शरीरसृष्टि) अस्थन्वती है । पुरुष (षोडशीपुरुष), और प्रकृति (प्राणः–आपः–वाक्–अन्नादः–अन्नं–भेद से पञ्चकलात्मिका बहिरङ्ग–प्रकृति) के समन्वय से तो अनस्था आत्मसृष्टि होती है, एवं ब्रह्म (त्रयीवेद), सुब्रह्म (अथर्ववेद) के समन्वय से उत्पन्न अग्नीषोमात्मक शुक्र से अस्थन्वती सृष्टि होती है। **'अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति'** (शत०ब्रा०···) के अनुसार अनस्था आत्मसृष्टि (भावसृष्टि–मानसीसृष्टि) ही अस्थन्वती सृष्टि (मैथुनीसृष्टि, गुणविकाससृष्टि) की प्रतिष्ठा मानी गई है। एक हड्डी वाले (धामच्छद) महाभारयुक्त स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर को एक बिना हड्डी वाले (अधामच्छद) सुसूक्ष्म–भारशून्य तत्त्व ने अपने ऊपर प्रतिष्ठित कर रक्खा है, क्या यह कम आश्चर्य्य है । अस्थन्वती सृष्टि के मूलारम्भक (मूलोपादान) उसी शुक्र तत्त्व से स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, ये पाँच अस्थन्वान् पिण्ड उत्पन्न हुए हैं। पञ्चपिण्डात्मक यह अस्थन्वत् विश्व ही उस अनस्था आत्मा का मर्त्य शरीर है।

इस परिच्छेद के प्रकृत वक्तव्य से निष्कर्ष यही निकला कि, केवल बलग्रन्थितारतम्य से उस एक ही तत्त्व (परात्पर) के **'अमृतम्'–ब्रह्म–'शुक्रम्'** ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। अमृत 'पुरुष' (षोडशीपुरुष) है,

ब्रह्म (प्राणादि पञ्चात्मक विश्वसृट्-बहिरङ्गप्रकृति) **'प्रकृति'** है, शुक्र (ब्रह्मसुब्रह्मसमन्वयात्मक स्थिति-गति-स्नेह-तेजोमय तत्त्व) **'विकृति'** है । अमृतलक्षण पुरुष **'आत्मयोनि'** है, ब्रह्मलक्षणा प्रकृति **'प्रकृतियोनि'** है, एवं शुक्रलक्षणा विकृति विकारसंघात्मिका **'यज्ञयोनि'** है । स्व० प० सू० चं० पृ०, ये पाँच अधियज्ञ हैं, इन पाँचों की योनि शुक्र है । पाँचों अधियज्ञों में (प्रत्येक में पञ्चीकरण की अपेक्षा से) प्राणः-आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नं, ये पाँच-पाँच प्राकृत प्राण प्रतिष्ठित हैं, एवं इन पञ्चात्मक-पञ्चधा-विभक्त पञ्चप्राणों की योनि 'ब्रह्म' (विश्वसृट्) है । पाँचों संस्थाओं के पृथक् पृथक् पांच हीं षोडशी--आत्मा है । इन पाँचों आत्म--विवर्त्तों की योनि अमृतात्मलक्षण षोडशी है । इसप्रकार अमृत-ब्रह्म-शुक्र रूप में परिणित होकर वही तत्त्व सब कुछ बन रहा है । विश्वमूल की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> **"तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ।**
> **तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्"** (कठोपनिषत् ६।१।)

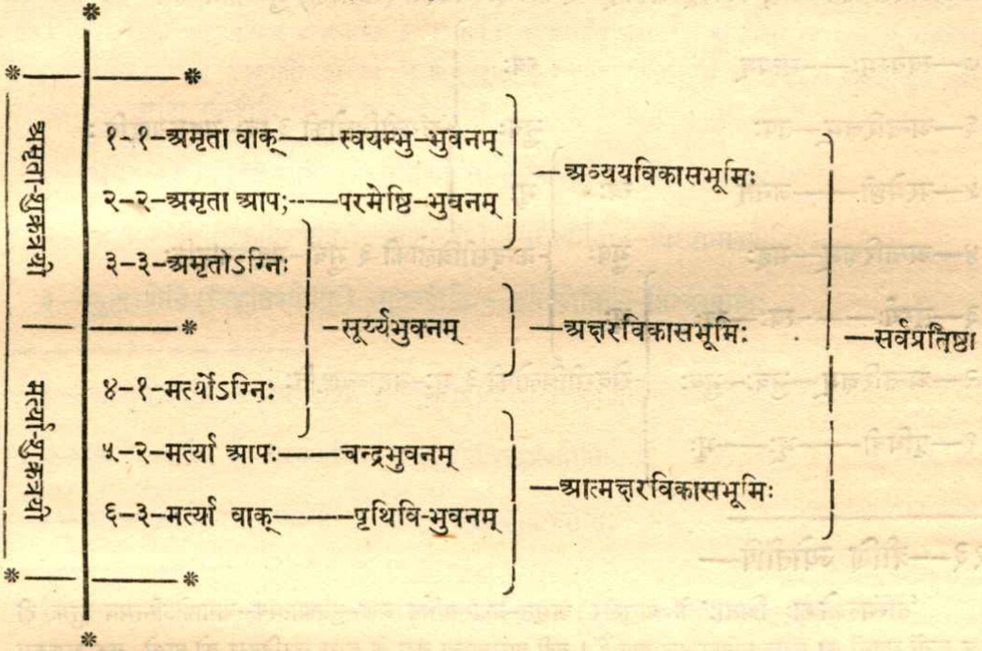
२२-सप्तभुवनसृष्टि—

'प्रजा' शब्द का निर्वचन करते हुए पूर्व में कहा गया है कि, आत्मसन्तान ही प्रजा है । इस आत्म-सन्तान का मुख्यरूप शुक्र ही माना गया है । लोकसाधारण में 'वीर्य्य' नाम से प्रसिद्ध सौम्य शुक्र की आहुति ही प्रजा का उपादान बनती है, अतः हम वीर्य्यात्मक शुक्र को प्रजा कह सकते हैं । सृष्टिक्रम में भी ब्रह्म-सु-ब्रह्मात्मक शुक्र ही स्वयम्भू आदि लोक, एवं लोकस्थ जीववर्ग का उपादान बनता है । अतः शुक्रतत्त्व अवश्य ही प्रजा कहा जा सकता है । स्वयं षोड़शीपुरुष आत्मा है, शुक्र आत्मप्रजा है, बहिरङ्गप्रकृतिलक्षण मध्यस्थ पञ्चप्राणात्मक ब्रह्म दोनों का सम्बन्धसूत्र है, जैसाकि **'प्राणैश्चितं सर्वमोतं प्रजानाम्'** इत्यादि पूर्वोक्त मुण्डक श्रुति से स्पष्ट है । ब्रह्मात्मक पञ्चप्राण से ही वह प्रजापति (षोडशी) 'प्रजया संरराणः' । इसप्रकार प्रजापति शब्द की व्याप्ति 'अमृतं-ब्रह्म-शुक्रम्' इन पर्वों तक समझनी पड़ेगी । अत्र उक्त श्रुति का **'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे'** यह वाक्य, एवं पूर्वप्रतिज्ञात श्रुति का **'य आविवेश भुवनानि विश्वा'** यह वाक्य और शेष रह जाता है । इनका समन्वय और कर लीजिए ।

जिस ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक शुक्र का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, भुवनसृष्टि का एकमात्र उसी से सम्बन्ध है । रस-बलात्मक, अतएव अमृत-मृत्यूभयमूर्त्ति षोडशीपुरुष की स्वाभाविक अमृत-मृत्युविभूति के अनुग्रह से शुक्र-पदार्थ भी वञ्चित नहीं है । इसके भी अमृतशुक्र, मर्त्यशुक्र, भेद से दो ही विवर्त्त मानें गए हैं । वाक्, आपः अग्निः, ये तीन अमृतशुक्र हैं, अग्निः, आपः, वाक्, ये तीन हीं मर्त्यशुक्र हैं । सम्भूय दो के ६ शुक्रविवर्त्त होजाते हैं । इन ६ओं में मध्यस्थ अमृताग्निशुक्र, मर्त्याग्निशुक्र, दोनों के समन्वय से तो भुवन-मध्यस्थ सूर्य्य का जन्म हुआ है । क्योंकि इसमें अमृत-मर्त्य दोनों आग्नेय शुक्रों का समन्वय है, अतएव **'निवेशयन्नमृतं मर्त्यंच'** के अनुसार इसमें दोनों धर्म्म हैं ।

मर्त्य आपः शुक्र से चन्द्रमा का, मर्त्यवाक्शुक्र से पृथिवी का उदय हुआ है, एवं ये दोनों मर्त्यभुवन मध्यस्थ सूर्य्य से अर्वाक् रहते हुए सूर्य्य के मर्त्य आग्नेयशुक्र से सम्बद्ध हैं, जैसाकि-**'तस्माद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्'** (शत० १०।५।१।४।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है । अमृत आपः

शुक्र से परमेष्ठी भुवन का, एवं अमृतवाक्-शुक्र से स्वयम्भू भुवन का विका हुआ है। ये दोनों अमृतभुवन मध्यस्थ सूर्य्य से पराक् रहते हुए सूर्य्य के अमृतआग्नेय शुक्र से सम्बद्ध हैं। अमृतभुवनद्वयी अव्ययात्मा की विकासभूमि है, मर्त्यभुवनत्रयी क्षरात्मा की विकासभूमि है, उभयात्मक अग्निद्वयावच्छिन्न मध्यस्थ इन्द्रात्मक सूर्य्य अक्षरात्मा की विकासभूमि है, जैसाकि पूर्व में अक्षरात्मा की सर्वरूपता का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कर दिया गया है। इसप्रकार शुक्रषट्क् से पञ्चभुवनसृष्टि का विकास हो जाता है।



उक्त पाँच भुवनों का अन्ततोगत्वा चार ही भुवनों में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। मर्त्य आपः-शुक्र सौम्य शुक्र है, एवं इससे चन्द्रभुवन का विकास बतलाया गया है। मर्त्य-वाक् शुक्र मर्त्याग्निलक्षणा आग्नेयी वाक् है, एवं इससे पृथिवी-भुवन का विकास बतलाया गया है। चन्द्रमा पृथिवी का ही उपग्रह माना गया है इस दृष्टि से, सौम्य होने से अन्नरूप चन्द्रमा का अन्नादात्मिका पृथिवी के साथ अन्न-अन्नाद सम्बन्ध है, एवं **'अत्तैवाख्यायते, नाद्यम्'** के अनुसार अन्न-अन्नाद के समन्वितरूप में अन्न का स्वतन्त्र व्यवहार न होकर अन्नाद से ही उसका ग्रहण हो जाता है, इस दृष्टि से चन्द्रभुवन की स्वतन्त्र सत्ता का उच्छेद मान लिया जाता है। फलतः पिण्डात्मक भुवन की दृष्टि से स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, भूपिण्ड, ये चार ही भुवन शेष रह जाते हैं।

पिण्डात्मक चार भुवनों में ३ सन्धिलक्षण भुवन हैं। इसप्रकार ४ पिण्डभुवन, ३ सान्ध्य भुवन भेद से ७ भुवन हो जाते हैं, जिनके आधार पर त्रैलोक्यत्रिलोकी-लक्षण ६ भुवनों का स्वरूप प्रतिष्ठित है। भूपिण्ड **भूर्लोक** है, सूर्य्यपिण्ड **स्वर्लोक** है, दोनों के मध्य का सान्ध्य अन्तरिक्ष प्रदेश **भुवर्लोक** है, यही पहिली **'रोदसीत्रिलोकी'** है। भूः-भुवर्लोकावच्छिन्न स्वर्लोकात्मक सूर्य्य भूः है, परमेष्ठी स्वः है, मध्यान्तरिक्ष

भुवः है, यही दूसरी **क्रन्दसीत्रिलोकी** है। क्रन्दसीत्रिलोकीरूप परमेष्ठी भूः है, स्वयम्भू स्वः है, मध्यान्तरिक्ष भुवः, है, यही तीसरी **'संयतीत्रिलोकी'** है। रोदसी का स्वर्लोक ही क्रन्दसी का भूलोक भी है, एवं क्रन्दसी का स्वर्लोक संयती का भूलोक भी है। इसप्रकार दो लोक दो स्थानों में आवृत होकर ६ भुवनों की संख्या पूरी कर रहे हैं, जिनके वस्तुगत्या ७ ही विवर्त्त हैं। पृथिवी **'भूः[1]'** है, पृथिवी-सूर्य्य का मध्य प्रदेश **'भुवः[2]'** है, सूर्य्य **'स्वः[3]'** है। सूर्य्य-परमेष्ठी के मध्य का प्रदेश **'महः[4]'** है, परमेष्ठी **'जनत्[5]'** है। परमेष्ठी-स्वयम्भू का मध्यप्रदेश **'तपः[6]'** है, स्वयम्भू **'सत्यम्[7]'** है। ये ही **' विश्वा (सर्वाणि) भुवनानि'** है।

७—स्वयम्भूः——सत्यम्   स्वः
६—अन्तरिक्षम्—तपः   भुवः } संयतीत्रिलोकी ३ स्वः-महाव्याहृति :
५—परमेष्ठी——जनत्   स्वः   भूः
४—अन्तरिक्षम्—महः   भुवः } क्रन्दसीत्रिलोकी ३ भुवः-महाव्याहृतिः
३—सूर्य्यः———स्वः—स्वः   भूः
२—अन्तरिक्षम्—भुवः—भुवः } रोदसीत्रिलोकी ३ भूः-महाव्याहृतिः
१—पृथिवी——भूः——भूः

२३——त्रीणि ज्योतींषि—

'तस्मिँल्लोकाः श्रिताः' के अनुसार अमृत-ब्रह्म-गर्भित ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक-वागापोऽग्निमय शुक्र ही उक्त सातों भुवनों का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है। वही अमृततत्त्व ब्रह्म के द्वारा क्षरविकार को आगे कर शुक्ररूप में परिणत होता हुआ सम्पूर्ण भुवनों में प्रविष्ट हो रहा है। 'अमृत-ब्रह्म-शुक्र' इन तीन ज्योतियों से वह षोडशी सर्वत्र भासमान है। भूतज्योति शुक्रज्योति है, यही वाग्ज्योति है। प्राणज्योति ब्रह्मज्योति है, एवं आत्मज्योति अमृतज्योति है। अमृतज्योति स्वज्योतिर्लक्षण ज्ञानज्योति है, ब्रह्मज्योति परज्योतिर्लक्षण क्रिया-ज्योति है, एवं शुक्रज्योति रूपज्योतिर्लक्षण अर्थज्योति है। वस्तु का भान ही उसका ज्ञान है, ज्ञान ही प्रकाश है, प्रकाश ही ज्योति है। शुक्र से ही तद्रूप विश्व का भान होता है, इस दृष्टि से शुक्र अवश्य ही ज्योति-र्भाव माना जा सकता है। यह शुक्रज्योति प्रकृतियोनिभूत पञ्चप्राणात्मक ब्रह्मज्योति से प्रकाशित है। एवं ब्रह्मज्योति का ज्योतिष्ट्व अमृतज्योति पर अवलम्बित है।

दूसरी दृष्टि से तीनों ज्योतियों का समन्वय कीजिए। स्वयं षोडशीपुरुष नामक अमृतात्मा अव्यय-लक्षण स्वज्योति, अक्षरलक्षण परज्योति, एवं आत्मक्षरलक्षण रूपज्योति से त्रिज्योतिर्घन बन रहा है। इसकी ये तीनों ज्योतियाँ क्रमशः—मनोमयी—प्राणमयी—वाङ्मयी बनतीं हुईं ज्ञान-क्रिया-अर्थ-ज्योतियाँ हैं। अर्थात्मिका वाङ्मयी आत्मक्षरज्योति से अर्थोत्पादिका-वाङ्मयी शुक्रज्योति अनुगृहीत है। क्रियात्मिका

प्राणमयी अक्षरज्योति से क्रियात्मिका प्राणमयी ब्रह्मज्योति अनुगृहीत है। एवं ज्ञानात्मिका मनोमयी अव्यय-ज्योति का स्वयं अपनी संस्था में विकास है। एवं इससे क्षराक्षरज्योतियाँ अनुगृहीत हैं।

प्रसङ्गात्—आधिभौतिक-आध्यात्मिक ज्योतिर्भावों का भी समन्वय कर लीजिए। सूर्य्य--चन्द्रमा-पृथिवी, तीनों भूतज्योतियाँ क्रमशः स्व-पर-रूपज्योतियाँ हैं। स्वज्योतिर्घन सूर्य्यांशभूता बुद्धि आध्यात्मिक स्वज्योति है, परज्योतिर्घन चन्द्रांशभूत प्रज्ञान मन आध्यात्मिक परज्योति है। रूपज्योतिर्घन पृथिव्यंशभूत पाञ्चभौतिक शरीर आध्यात्मिक रूपज्योति है। सर्वत्र रूपज्योति परम्परया आत्मक्षरयुक्त शुक्र से, परज्योति अक्षरयुक्त ब्रह्म से, एवं स्वज्योति अव्यय से अनुगृहीत है। इसी ज्योतिर्विवर्त्त को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—**'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'**।

१—अमृतज्योतिः(पुरुषज्योतिः)—ज्ञानज्योतिः—स्वज्योतिः—विश्वेश्वरज्योतिः

(१) २—ब्रह्मज्योतिः(प्रकृतिज्योतिः)—प्राणज्योतिः—परज्योतिः—विश्वात्मज्योतिः

३—शुक्रज्योतिः(विकृतिज्योतिः)—भूतज्योतिः—रूपज्योतिः—विश्वज्योतिः

१—अव्ययज्योतिः—-स्वज्योतिः—तदनुगृहीते क्षराक्षरज्योतिषी

(२) २—अक्षरज्योतिः—-परज्योतिः—तनुगृहीतं ब्रह्मज्योतिः

३—आत्मक्षरज्योतिः—रूपज्योतिः—तदनुगृहीतं शुक्रज्योतिः

१—सूर्य्यज्योतिः————————तदनुगृहीतं विज्ञान (बुद्धि) ज्योतिः—स्वज्योतिः

(३) २—चन्द्रज्योतिः————————तदनुगृहीतं प्रज्ञान (मनो) ज्योतिः—परज्योतिः

३—पृथिवीज्योतिः(अग्निज्योतिः)—तदनुगृहीतं शरीरज्योतिः————रूपज्योतिः

२३—भूतयोनि, भूतभावन, भूतेश्वर—

छान्दोग्य उपनिषत् ने उक्त प्राजापत्य विवर्त्त का **'गायत्री वा इदं सर्वम्'** (छां०उ०३।१।२।१।) इत्यादि रूप से गायत्रब्रह्मरूपेण विश्लेषण किया है। प्राजापत्य विवर्त्त की आठ संस्थाएँ हीं इस गायत्र-सम्पत्ति का मूल है। परात्पर[१], अव्यय[२], क्षर[३], आत्मक्षर[४], विश्वसृट्[५], पञ्चजन[६], पुरञ्जन[७], पुर[८], इन आठ विभागों के द्वारा प्राजापत्य संस्था में अष्टाक्षर गायत्रछन्दःसम्पत्ति का भलीभाँति समन्वय हो रहा है। इन आठ विवर्त्तों में चौथा आत्मक्षर विवर्त्त विपरिणामी बतलाया गया है। इसी से 'ब्रह्म' नामक पञ्चप्राणात्मक विश्वसृट् का आविर्भाव हुआ है। अतएव आत्मक्षर का (अभिन्न-सत्ताक कार्य्यकारणभाव दृष्टि से) विश्वसृट् में (भी) अन्तर्भाव मान लिया जाता है। वह क्षरपुरुष ही स्व परिणामधर्म्म से विकुर्वाण

बनता हुआ क्रमशः विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन रूपता में परिणाम होता हुआ स्वयम्भू (आकाश), परमेष्ठी (वायु), सूर्य्य (तेज), चन्द्रमा (जल), पृथिवी, इन पुरात्मक पञ्च महाभूतों में परिणत हो रहा है। पञ्चमहाभूतों का आत्मा क्षर ही है, अतएव '**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' कहना अन्वर्थ बन जाता है। साथ ही क्षर का परिणाम अविकृत परिणाम है, अतः अपने प्रातिस्विक नित्य रूप से यह षोडशी आत्मकोटि में भी अन्तर्भुक्त मान लिया जाता है। इसके सम्बन्ध के बिना षोडशी का षोडशकलत्त्व अनुपपन्न है। इसप्रकार विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-गर्भित पुरात्मक वैकारिक विश्व, तथा अव्ययाक्षररूप विश्वात्मा, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित आत्मक्षर अपने नित्यरूप से विश्वात्मकोटि में आता हुआ जहाँ 'षोडशीआत्मा' का संग्राहक बन रहा है, वहाँ यही अपने परिणामी रूप से विश्वकोटि में अन्तर्भुक्त बनता हुआ विश्वमूर्त्ति भी बन रहा है।

पूर्व परिच्छेदों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, मनः-प्राण-वाङ्मय सृष्टि-साक्षी अव्यय के वाक् भाग का विकासस्थान परिणामी विकुर्वाण अक्षर है, प्राणभाग का विकासस्थान अविपरिणामी कुर्वाण अक्षर है, एवं मनोभाग की विकासभूमि अविकुर्वाण स्वयं अव्यय है। परमाकाशानुगृहीत, प्राणशरीर, ज्योतिष्मान्, मनोमय इसी अव्यय का-'**मनोमयः प्राणशरीरो भारूप आकाशात्मा**'इन शब्दों में विश्लेषण हुआ है। मनःप्रधान अव्यय ज्ञानप्रधान है, प्राणप्रधान अक्षर क्रियाप्रधान है, वाक्प्रधान आत्मक्षर अर्थ-प्रधान है। मनोमय अव्यय, प्राणमय अक्षर नित्य अविनाशी है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है। किन्तु वाङ्मय आत्मक्षर विकारोपहित दशा में नित्य, किन्तु विकारसंसर्गदशा में अनित्य बनता हुआ नित्यानित्य है। यही क्षर अपने अनित्य परिणामी भाग से विश्वसृट्प्राण-पञ्चजनप्राण-पुरञ्जन-वेदरूप में परिणत होता हुआ वाङ्मय मर्त्याकाश (भूताकाश) रूप से व्यक्त होता है। यही आकाशात्मक क्षर आगे जाकर बलग्रन्थियों के तारतम्य से क्रमशः वायु-तेज-जल-पृथिवी स्वरूप धारण कर लेता है। पाँचों भूत मर्त्य है। इनका मूलप्रभव यही आत्मक्षर है। अतएव उपनिषदों में इस भूतोत्पादक क्षर को-'**भूतियोनि**' नाम से व्यवहृत किया है। यत्र तत्र व्यवहृत 'भूतयोनि' शब्द सर्वत्र निश्चयेन एकमात्र आत्मक्षर का ही वाचक समझना चाहिए। सामान्य मनुष्यों की दृष्टि जहाँ भूत पर जाके विश्रान्त हो जाती है, वहाँ विद्वान्लोग भूतयोनि (आत्मक्षर) का भी प्रत्यक्ष कर लेते हैं-'**तद्भूतयोनिं-परिपश्यन्ति धीराः**'।

भूतयोनिर्नामक आत्मक्षर भूतसृष्टि का उपादान अवश्य बनता है, परन्तु अक्षर के व्यापार से। क्रियामय अक्षर ही निमित्त करण माना गया है। इसी के व्यापार से क्षर भूतोत्पादन में समर्थ हुआ है। भूतोत्पादक जहाँ क्षर है, वहाँ अक्षर भूतनिर्म्माता-भूतप्रवर्त्तक है। अतएव उपनिषदों नें अक्षर को यत्र-तत्र-'**भूतभावन**' नाम से व्यवहृत किया है। यह शब्द सर्वत्र एकमात्र अक्षर का ही संग्राहक है। अक्षर को इन्द्रात्मक माना गया है, एवं इन्द्र ही अग्नि-सोमात्मक यज्ञ के सम्बन्ध से 'शिव' कहा गया है। इसी आधार पर पुराण ने शिव को 'भूतभावन' नाम से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं समझी है। अब शेष रहता है तीसरा अव्यय पुरुष। यह भूतभावन अक्षर, भूतयोनि क्षर, भूतात्मक विश्व, सबका आलम्बन है, अधीश्वर है। अतएव उपनिषदों नें इसे '**भूतेश्वर**' नाम से व्यवहृत किया है।

२४-सच्चिदानन्दघन ईश्वर—

भूतभावन अक्षर, भूतेश्वर अव्यय, दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। अव्ययाक्षर-आत्मा है, पञ्च-भूतमय भूतयोनिक्षर इस आत्मा का शरीर है। क्षरब्रह्म विश्व है, अव्ययाक्षर विश्वचर है, परात्पर विश्वातीत

है। इसप्रकार दृष्टिभेद से केवल षोडशी में ही पूर्वपरिच्छेद–प्रतिपादित विश्वातीतादि तीनों विवर्त्तों का समन्वय हो जाता है। क्षरात्मिका भूतसृष्टि अव्ययाक्षरात्मक आत्मा के सहयोग से हुई है। दूसरे शब्दो में आत्मा ही क्षरसृष्टि का कारण है। इसी सृष्टिरहस्य का विश्लेषण करते हुए महर्षि त्तित्तिरि कहते हैं—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः,
वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"

—तै० उप० ब्र० वल्ली० १ अनुवाक

दृष्टिपथ में एकमात्र क्षरप्रपञ्च ही आ रहा है। क्षर क्योंकि वाङ्मय है। अतएव दृष्ट विश्वप्रपञ्च के लिए कहा जा सकता है कि, यह सब वाक् ही वाक् है। क्षर–वाङ्मूलक, अतएव वाङ्मय विश्व की इसी वाङ्मयता का स्पष्टी करण करती हुई श्रुति कहती है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी॥

—तै० ब्रा० २।८।४।४

उपलब्ध. भूतमात्र वाङ्मय है। वाङ्मय क्षरभूत के गर्भ में प्राणमय अक्षर है, अक्षर के गर्भ में मनोमय अव्यय है, मन के गर्भ में विज्ञानमय कोश है, सर्वान्तरतम आनन्दमय कोश है। **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** (व्याससूत्र,) इस वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार यही आत्मा की मूल प्रतिष्ठा है। आनन्द **'आनन्द'** है, विज्ञान **'चित्'** है, अव्यय मन, अक्षरप्राण, क्षरवाक्, तीनों का समन्वित रूप ही **'सत्'** है। अमृतप्रधान मन का मर्त्यविवर्त्त **'रूप'** है, अमृतप्रधान प्राण का मर्त्यविवर्त्त **'कर्म्म'** है, एवं वाक् का मर्त्यविवर्त्त **'नाम'** है। नाम–रूप–कर्म्मात्मक मनः–प्राण–वाक् समष्टि सत्तातत्त्व है, यही चित है, यही आनन्द है। इसप्रकार नामरूप कर्म्मात्मक विश्व भी 'सच्चिदानन्दं' है, आनन्दादि पञ्चकोशात्मक विश्वात्मा भी 'सच्चिदानन्दः' है। दोनों के सच्चिदानन्दत्व में भेद यही है कि, आत्मा स्वस्वरूप से सच्चिदानन्दघन बनता हुआ सच्चिदानन्दः है, एवं विश्व सच्चिदानन्द आत्मा के सत्ता–चेतना–आनन्द के आश्रित बनता हुआ 'सच्चिदानन्दम्' है। यही उपनिषदों का विशेषणोपाधिरहित ब्रह्म पदार्थ है, जिसका कि निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण किया गया है—

१–"ब्रह्मै वेदं सर्वम्" (संचरपक्षः)
२–"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (प्रतिसञ्चरपक्षः)
३–"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (समष्टिः)
४–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (समष्टिः)

२५–विश्वकर्म्मा के सखा, और तीन धान—

स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य-चन्द्रमा–पृथिवी, इन पाँच पुरों की समष्टि विश्व–प्रपञ्च है, यही उक्त नवीन दृष्टि से 'क्षरतत्त्व' है। इसमें अव्ययाविनाभूत अक्षरतत्त्व प्रविष्ट रहता है। अव्ययाविनाभूत अक्षरात्मा का

क्षरानुगत सबसे प्रथम अवतार 'स्वयम्भू' है, जिसे हम ब्रह्माक्षर के सम्बन्ध से 'ब्रह्मा' भी कह सकते हैं। दूसरा अवतार परमेष्ठी है, जिसे अथर्वमूर्त्ति बतलाया गया है। तीसरा अवतार सूर्य्य है, जो 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। चौथा अवतार पृथिवी है, जिसे 'पद्मभूः' कहा जाता है। पाँचवाँ, और अन्तिम अवतार चन्द्रमा है, जिसे 'निधन' कहा गया है। 'श्री' नाम से प्रसिद्ध आत्मरस संचरदृष्टि से चन्द्रमा पर समाप्त है, अतएव चन्द्रमा श्री की इति (समाप्ति) बनता हुआ सृष्टि की 'इति श्री' बन रहा है। अतएव च इसे अवसानभाव-सूचक 'निधन' कहना अन्वर्थ बनता है। पाँचों में स्वयम्भू ब्रह्मा को परमप्रजापति, आभूप्रजापति, नामक बतलाया गया है। इसीसे त्रयीविद्यालक्षण ब्रह्मवेद का प्रादुर्भाव हुआ है। दूसरा परमेष्ठी अथर्वा इसका ज्येष्ठ पुत्र है, जिसमें-**'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः'**के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा त्रयीवेद प्रतिष्ठित है, जिस स्थिति का निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

(मुण्डकोपनिषत् १।१।१।)

पाँचों में परस्पर दहरोत्तरसम्बन्ध है, जिसका पूर्वपरिच्छेदों में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। स्वयम्भू-परमेष्ठी में अमृतात्मा के रसभाग की प्रधानता है, अतएव ये दोनों अवतार अमृतप्रधान हैं। सूर्य्य से नीचे अवस्थित चन्द्रमा-पृथिवी में अमृतात्मा के बलभाग की प्रधानता है, अतएव ये दोनों अवतार मृत्युप्रधान है। एवं मध्यस्थ सूर्य्य में दोनों का समन्वय है, अतएव यह उभयात्मक है। अमृतावतारद्वयी में क्षरक्षरगर्भित अव्यय की प्रधानता है, मर्त्यावतारद्वयी में अव्ययाक्षरगर्भित क्षर की प्रधानता है, एवं मध्यस्थ सूर्य्य में अव्यय-क्षरगर्भित अक्षर की प्रधानता है। अक्षरमूर्त्ति मध्यस्थ सूर्य्य ही **'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** (यजुः संहिता···) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार जीवसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। ईश्वरात्मा जहाँ अव्ययप्रधान है, जगत् जहाँ क्षरप्रधान है, वहाँ-जीवात्मा अक्षरप्रधान है, जैसाकि **'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां (अक्षरभूतां) जीवभूताम्'** इत्यादि स्मार्त्ती उपनिषत् (गीता···७।५।··) से प्रमाणित है। अक्षरमूर्त्ति सूर्य्य ही 'हृन्मूलसृष्टिविज्ञान' के अनुसार सम्पूर्ण विश्व का सञ्चालक है, जैसाकि **'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य'** में विस्तार से प्रतिपादित है। प्रकृत में उक्त अवतार-क्रम से यही बतलाना है कि, स्वयम्भू-आदि भेद से सर्वकर्म्मा, अतएव **'विश्वकर्म्मा'** नाम से प्रसिद्ध स्वयम्भू नामक परोरजा प्रजापति के ये ही सुप्रसिद्ध तीन धाम हैं। अमृतप्रधान-स्वयम्भू-परमेष्ठी उसका **'परमधाम'** है, जिसे पुराणभाषा में हम 'ब्रह्मधाम' कहेंगे। **'स वेदैतत् परमं-ब्रह्मधाम'** इत्यादि मुण्डकवचन नें इसी का विश्लेषण किया है। मध्यस्थ सूर्य्य उसका **'मध्यमधाम'** है, जो पुराणपरिभाषा में 'विष्णुधाम' (यज्ञधाम) नाम से व्यवहृत हुआ है। मृत्युप्रधान पृथिवी-चन्द्रमा का युग्म उसका **'अवमधाम'** है, जिसे पुराण ने 'शिवधाम' माना है। परमधाम के स्वयम्भू-नामक प्रथम पर्व के केन्द्र में उक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता हुए विश्वकर्म्मा प्रजापति अर्कलक्षण महिमारूप से इन तीनों धामों में व्याप्त रहते हुए अपनी 'विश्वकर्म्मा' अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं।

स्वयम्भू–विश्वकर्म्मा मूलरूप है, परमेष्ठ्यादि चारों इन्हीं के तूलरूप हैं, अतएव इन्हें 'प्रतिमा-प्रजापति' कहा गया है। जैसा स्वरूपावयवसंस्थान परमप्रजापतिलक्षण स्वयम्भू-विश्वकर्म्मा का है, वैसा ही स्वरूपावयवसंस्थान प्रतिमाप्रजापतिलक्षण परमेष्ठ्यादि चारों का है। तभी तो इन्हें उसकी 'प्रतिमा' माना गया है। वे अपने इन चारों सखाओं को मानों ऐसी शिक्षा दे रहे हैं कि, तुम भी मेरे सदृश ही आत्मा, पदं–पुनःपदं–रूप से त्रिपर्वा बने रहो। विश्वकर्म्मा के इन्हीं तीनों धामों का विश्लेषण करते हुए ऋषि कहते हैं—

या ते धामानि परमाणि, यावमा, या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥
(यजुःसं० १७।२१।)

२६–यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि—

गुप्ततम–सृष्टिरहस्यप्रतिपादक उक्त मन्त्रविज्ञान का विस्तारभय से केवल मन्त्रोद्धरण पर ही विश्राम मानते हुए पाठकों का ध्यान उस अनुगममन्त्र की ओर आकर्षित किया जाता है, जो **'यानि पञ्चधा त्रीणि–त्रीणि, तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति'** इत्यादि रूपसे प्रकरणोपक्रम में उद्धृत हुआ है। इस अनुगम मन्त्र के सम्बन्ध में वहीं यह भी स्पष्ट हुआ है कि, अनुगम भाव के सम्बन्ध से अनेक अन्वितार्थों का विश्लेषण करने वाले इस मन्त्र का प्रकृत में ईशप्रजापति से सम्बद्ध अर्थ ही प्रधानतया अपेक्षित है। ईश से सम्बद्ध तदर्थ से पहिले ईशस्वरूप विजिज्ञास्य कोटि में आया, अतः मन्त्रार्थ विश्लेषण से पहिले ईश–स्वरूप प्रतिपादन अपेक्षित माना गया। एवं इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए **'यस्मान्न जातः'** इत्यादि यजुर्मन्त्र को मूल धरातल मानते हुए ईश का संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना पड़ा। अब क्रमप्राप्त 'यानि पञ्चधा' का निरूपण पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। ईशप्रजापति से सम्बद्ध अर्थ भी अनुगमदृष्टि से कई विवर्त्तभावों से सम्बन्ध रखता है। उन में से प्रकृत में केवल तीन ही अर्थों का समन्वय किया जायगा।

(१)—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन पञ्चधा विभक्त पाँचों प्राजापत्य संस्थानों में प्रत्येक में **'हृतपृष्ठ, अन्तःपृष्ठ, बहिपृष्ठ'** भेद से तीन तीन पृष्ठ हैं। हृदय हृतपृष्ठ है, इसमें अन्तर्य्यामी सत्यात्मा प्रतिष्ठित है, अतएव इसे 'आत्मपृष्ठ' भी कहा जाता है। हृदययुक्त स्वयम्भू आदि पिण्ड हृदयस्थ आत्मा का पहिला प्रपत्तिस्थान है। इस आत्मप्रपत्ति के सम्बन्ध से ही इस पिण्ड को 'पदम्' कहा गया है। वही 'अन्तःपृष्ठ' नामक दूसरा पृष्ठ है। 'अन्तर्बहिर्जगद्विज्ञान' के अनुसार प्रत्येक वस्तु का पद–लक्षण पिण्ड स्पृश्य माना गया है। पिण्ड को हम छू भर सकते हैं, देख नहीं सकते, जैसाकि भूमिकाद्वितीयखण्ड में वेदमहिमाव्यूहनादि प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाचुका है। दृश्य जगत् से बहिर्भूत होने के कारण ही पिण्डात्मक पदपृष्ठ 'अन्तःपृष्ठ' कहलाया है। जिस प्रकार आत्मानुगृहीत हृतपृष्ठ में ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्रात्मक अन्तर्य्यामी प्रतिष्ठित है, एवमेव इस अन्तःपृष्ठलक्षण पिण्ड में अग्नीषोमात्मक सूत्रात्मा प्रतिष्ठित है। हृदयस्थ ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित इन्द्र–विष्णु की अपूतत्त्व के आधार पर प्रतिस्पर्द्धा होती है। इस प्रतिस्पर्द्धा से ब्रह्माके आधार पर वेदसाहस्री का, विष्णु के आधार पर लोकसाहस्री का, इन्द्र के आधार पर वाक्साहस्री का वितान होता है, जैसाकि निम्नलिखित श्रौत प्रमाणों से प्रमाणित है—

"उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः ।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम् ॥"
—ऋक्संहिता ६।६९।८।

"किं तत् सहस्रमिति, इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागितिब्रूयात्" (ऐ०आरण्यक)।

वेद–लोक–वाक्–साहस्री के सम्बन्ध से वस्तुपिण्ड के आधार पर बड़ी दूरतक एक स्वतन्त्र मण्डल का आविर्भाव होता है। यही मण्डल 'महिमामण्डल' नामसे प्रसिद्ध है। यही दृश्यभाव की प्रतिष्ठा बनता हैं, अतएव इसे 'बहिःपृष्ठ' कहा जाता है। हृदयस्थ आत्मा पहिले पिण्ड में प्रपन्न होकर पुनः विभूति सम्बन्ध से इस बहिःपृष्ठ में प्रपन्न होता है। इस पुनःप्रपत्ति के सम्बन्ध से ही इस बहिःपृष्ठ को 'पुनःपदम्' कहा जाता है। पुनःपदात्मक बहिःपृष्ठ में वेदसाहस्री के सम्बन्ध से ऋक्–यजुः–साम–अथर्व, इन चारों वेदों का उपभोग होरहा है। लोकसाहस्री के सम्बन्ध से पृथिवी, अन्तरिक्षं, द्यौः,–आपः, इन चारों लोकों का सम्बन्ध हो रहा है। एवं वाक्साहस्री के सम्बन्ध से त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश,त्रयस्त्रिंश, इन चार वाक्स्तोमों का सम्बन्ध हो रहा है। अयुग्मस्तोम के सम्बन्ध से त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मिका, युग्मस्तोमसम्बन्ध से अष्टाचत्वारिंशदहर्गणात्मिका यह वाक्साहस्री ही अपने त्रिवृत्–पञ्चदश–सप्तदश–एकविंश–त्रिणव–त्रयस्त्रिंश, इन अयुग्मस्तोमों के सम्बन्ध से ६ भागों में परिणत होती हुई 'वाक्–षट्कार' सम्पत्ति 'वषट्कार' नाम से प्रसिद्ध हो रही है। पाँचों पिण्डों में, न केवल पांचों में हीं, अपितु पिण्डमात्र में हृदय–पद–पुनःपद–भेदसे तीन तीन पृष्ठ हैं।

हृदयावच्छिन्न आत्मपृष्ठ 'उक्थ' है, पिण्डावच्छिन्न पदपृष्ठ 'अर्क' है, मण्डलावच्छिन्न पुनःपदपृष्ठ 'अशीति' है। इसप्रकार पाँचों पिण्ड त्रिपृष्ठ बनते हुए 'यानि पञ्चधा त्रीणि, त्रीणि' को चरितार्थ कर रहे हैं। पञ्चधा विभक्त इस त्रिक के परिज्ञान से सब कुछ विज्ञात है–'यस्तद्वेद स वेद सर्वम्'।

(२)–स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा,–पृथिवी–पांचों सर्वहुतयज्ञ–सम्पत्ति से युक्त हैं। क्योंकि 'पञ्चीकरण' प्रक्रियात्मक सर्वहुत–यज्ञ से ही इनकी स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। अन्य की अन्य में आहुति होना ही यज्ञ है। यज्ञसामान्य परिभाषा के अनुसार जिसमें आहुति होती है, वह 'अन्नाद' कहलाया है, जिसकी आहुति होती है, वह अन्न कहलाया है। गुरूपदेश अन्न है, शिष्यमेधा अन्नाद है। रूप अन्न है, चक्षुरिन्द्रिय अन्नाद है। अन्नाद 'अग्नि' शब्द से, अन्न 'सोम' शब्द से व्यवहृत हुआ है। यह अग्नि–सोमव्यवहार केवल अन्नादान्न–व्यवहार पर विश्रान्त है। सुप्रसिद्ध अग्नि–सोमतत्त्व यहाँ अभिप्रेत नहीं है। आदानकर्त्ता अन्नाद–धर्म्मा बनता हुआ 'अग्नि' है, फिर वह तत्त्व दृष्टि से अग्नि हो, सोम हो, अथवा और कोई तत्त्व हो। जिसका आदान होता है, वह अन्न है, वही 'सोम' कहलाया है, फिर वह कोई भी तत्त्व हो।

अन्नाद–अन्न से अतिरिक्त यज्ञस्वरूपनिष्पत्ति के लिए एक तीसरे **आवपन**' तत्त्व की सत्ता और स्वीकार करनी पड़ती है। आवपनलक्षणा सर्वाधारात्मिका आधारभूमि पर प्रतिष्ठित होकर ही अन्नाद अन्नादान में समर्थ होता है। इसप्रकार आवपन (आलम्बन), अन्नाद, अन्न, भेद से यज्ञ त्रिसंस्थ बन जाता है। सर्वहुतयज्ञात्मक स्वयम्भू–आदि पाँचों यज्ञ इन तीनों यज्ञसंस्थाओं से नित्युक्त हैं। आवपन 'अमृतं' है, अन्नाद 'ब्रह्म' है, अन्न 'शुक्र' है। आवपनलक्षण आकाशात्मा षोडशीपुरुष 'खं ब्रह्म' है,

इसके आधार पर प्रतिष्ठित पञ्चप्राणात्मक विश्वसृट्-नामक अन्नादब्रह्म अन्न के साथ रमण करता हुआ 'रंब्रह्म' है, एवं वागापोऽग्निमय शुक्रात्मक अन्नब्रह्म सुखसाधक बनता हुआ 'कं ब्रह्म' है । तीनों की समष्टि ही 'यज्ञ' है । जबतक यज्ञ है, तभीतक वस्तुस्वरूप का शिवभाव है, शंभाव है । अतएव समष्टि 'शंब्रह्म' है । इन चारों विवर्त्तों का 'प्रश्नोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में विस्तार से निरूपण हुआ है । प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, आवपन-अन्नाद-अन्न-दृष्टि के सम्बन्ध से भी पञ्चधा विभक्त स्वयम्भू-आदि सर्वहुत यज्ञपर्व 'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि' को गतार्थ बना रहे हैं ।

(३)—प्रत्येक वस्तुपिण्ड की प्रतिष्ठा हृत्पृष्ठ माना गया है । इस हृत्प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित उक्थ तत्त्व ही 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः' के अनुसार 'मन' कहलाया है । आत्ममय उक्थमन तभी तक प्रतिष्ठित रहता है, जब तक कि हृत्प्रतिष्ठा सुरक्षित रहती है । मनोमयी इस हृत्प्रतिष्ठा की रक्षा जिस तत्त्वविशेष से होती है, वही तत्त्वविशेष विज्ञानशास्त्र में 'मनोता' कहलाया है । जबतक वस्तुपिण्ड के साथ हृत्प्रतिष्ठारक्षक मनोताभाव का सम्बन्ध रहता है, तभी तक हृत्प्रतिष्ठा, किंवा मानसप्रतिष्ठा सुरक्षित है, एवं तभीतक वस्तुस्वरूपसत्ता सुरक्षित है । स्वयम्भू-आदि पाँचों पर्व भी इस 'मनोता'-सम्पत्ति से नित्य युक्त हैं । इन्हीं से इन पिण्डों की स्वरूपरक्षा है । प्रत्येक पिण्ड में तीन तीन मनोता हैं, जिनके नाममात्र प्रकृत में उद्धृत कर दिए जाते हैं ।

स्वयम्भू के 'वेदाः सत्यं, सूत्रं सत्यं, नियतिः सत्यम्' सत्यात्मक वेद-सूत्र-नियति-नामक तीन मनोता हैं । इसी त्रिसत्य के आधार पर भृग्वङ्गिरोमय सौम्य-आग्नेय देवता प्रतिष्ठित हैं । अतएव देवताओं के सम्बन्ध में-'त्रिः सत्या वै देवाः' यह निगम-प्रचलित है । परमेष्ठी के मनोता 'भृगु, अङ्गिरा, अत्रि' इन नामों से प्रसिद्ध हैं । घनाद्यावस्था के भेद से भृगु भृगुत्रयी है, अङ्गिरा अङ्गिरात्रयी है, परन्तु वाङ्मय, अतएव धामच्छद तीसरा तत्त्व त्रिभाव से बहिर्भूत है, अतएव 'न त्रिः' निर्वचन से उसे 'अत्रि' कहा गया है । दृष्टिभेद से 'इडा, ऊर्क्, भोगाः' ये भी परमेष्ठी के मनोता मानें गए हैं । ज्योतिष्टोमयज्ञप्रवर्त्तक 'ज्योति', गोष्टोमप्रवर्त्तक 'गौः,' आयुष्टोमप्रवर्त्तक 'आयु' ये तीन मनोता सूर्य्य के हैं । ज्योतिर्म्मनोता देवप्रतिष्ठा है, गौर्म्मनोता भूतप्रतिष्ठा है, आयुर्म्मनोता आत्मप्रतिष्ठा है । 'रेतः, श्रद्धा, यशः' ये तीन मनोता चन्द्रमा में प्रतिष्ठित हैं । रेतोमनोता शुक्र की प्रतिष्ठा है, श्रद्धामनोता शुक्रस्थ महानात्मानुगत पितृप्राण की प्रतिष्ठा है, यशोमनोता शरीरकान्तिलक्षण श्रीभाव की प्रतिष्ठा है । 'वाक्, गौः, द्यौः' ये तीन मनोता पृथिवी से सम्बद्ध हैं । वाङ्मनोता असंज्ञ जीवों की प्रतिष्ठा है, गौर्म्मनोता अन्तःसंज्ञ जीवों की प्रतिष्ठा है, एवं द्यौर्म्मनोता ससंज्ञ जीवों की प्रतिष्ठा है । इसप्रकार पञ्चधा विभक्त तीन तीन मनोता 'यानि पञ्चधा त्रीणि' त्रीणि को चरितार्थ कर रहे हैं ।

१	(१)	१-वेदाः—ब्रह्मप्रतिष्ठा	–स्वयम्भूः १-३
	(२)	२-सूत्रम्—विष्णुप्रतिष्ठा	
	(३)	३-नियतिः-इन्द्रप्रतिष्ठा	
२	(४)	१-भृगुः—सौम्यदेवप्रतिष्ठा	–परमेष्ठी १-३
	(५)	२-अङ्गिराः-आग्नेयदेवप्रतिष्ठा	
	(६)	३-अत्रिः—आवरणप्रतिष्ठा	
३	(७)	१-ज्योतिः—देवप्रतिष्ठा	–सूर्य्यः १-३
	(८)	२-गौः—भूतप्रतिष्ठा	
	(९)	३-आयुः—आत्मप्रतिष्ठा	
४	(१०)	१-रेतः—शुक्रप्रतिष्ठा	–चन्द्रमाः १-३
	(११)	२-श्रद्धाः—पितृप्रतिष्ठा	
	(१२)	३-यशः—श्री-प्रतिष्ठा	
५	(१३)	१-वाक्—असंज्ञप्रतिष्ठा	–पृथिवी १-३
	(१४)	२-गौः—अन्तःसंज्ञप्रतिष्ठा	
	(१५)	३-द्यौः—ससंज्ञप्रतिष्ठा	

"यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं—सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥"

५-१५

२७–ईश्वरस्वरूप-सिंहावलोकन—

जीवात्मा को बन्धन से मुक्त करने वाले औषनिषद-ज्ञान के सम्बन्ध में अपेक्षणीय ईश्वरस्वरूपपरिज्ञान भी विजिज्ञास्य है। अतएव 'यस्मान्न जातः०' इत्यादि यजुर्म्मन्त्र को आधार बनाते हुए ईशप्रजापति का संक्षिप्त स्वरूप बतलाना पड़ा। और प्रतिपादित ईशस्वरूप से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, 'परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर–की समष्टि तो 'आत्मा' है, यही 'अमृतम्' है। स्वयम्भू–परमेष्ठ्यादि पञ्चपर्वात्मक विश्व इस विश्वात्मा का शरीर है, यही 'शुक्रम्' है। एवं मध्यस्थ पञ्चप्राणात्मक विश्वसृट् आत्मा–शरीर का समन्वय–कर्त्ता है, यही 'ब्रह्म' है। अमृतं–आत्मा,शुक्रं–शरीर, ब्रह्म–समन्वयकर्त्ता, तीनों के समन्वित रूप का ही नाम 'आत्मन्वी' (शरीरविशिष्ट आत्मा) प्रजापति है, यही ईशप्रजापति है। संक्षेप से यह भी कहा जा सकता है कि, "स्वयम्भू–परमेष्ठ्यादि पञ्चावयव विश्वगर्भ में प्रविष्ट, विश्वविशिष्ट षोडशीपुरुष ही ईशप्रजापति" है।

पाठकों को यह जान कर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि, प्रकरणारम्भ से अबतक प्रतिपादित जिस 'आत्मन्वी' (प्रजापति) को हम 'ईशप्रजापति' कहते आए हैं, वस्तुतः ईशप्रजापति प्रतिपादित आत्मन्वी से सर्वथा भिन्न तत्त्व है। विज्ञानदृष्टि से तत्त्वतः आत्मसंस्थाओं का विश्लेषण करने पर हमें इसी तथ्य पर पहुंचना पड़ता है, जिस तथ्य का कि उपनिषदों के सुप्रसिद्ध 'ब्रह्मसत्य–देवसत्य' विज्ञान से सम्बन्ध है। प्रतिसंचरमूला दार्शनिक दृष्टि से जहाँ परमेश्वर, महेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर, आदि शब्द अभिन्नार्थक हैं, वहाँ विज्ञानदृष्टि से इन सब शब्दों के अवच्छेदक भिन्न भिन्न हैं।

'सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम्' इस पुराणवचन के अनुसार सत्यप्रजापति तीन संस्थाओं में विभक्त है। पहिला सत्य **आत्मसत्य** है, यही 'सत्यस्य सत्यं, ज्योतिषां ज्योति' लक्षण अमृतसत्य है। दूसरा सत्य प्रकृति–सत्य है, यही ब्रह्मसत्य है। एवं तीसरा सत्य विकृति–रूप यज्ञसत्य है, यही देवसत्य है, जिसे हम शुक्रसत्य भी कह सकते हैं। इन तीनों सत्यों में संस्थाभेद से महेश्वर, उपेश्वर, प्रतिमेश्वर, ईश्वर, इन चार प्राजापत्यसंस्थाओं की प्रतिष्ठा है।

२८–देवसत्यस्वरूप–परिचय—

महामायावच्छिन्न, सहस्रवल्शात्मक, वृक्ष इव स्तब्ध षोडशीपुरुष मायी **'महेश्वर'** है। यह अपने मायामय विश्व का एकाकी अधिष्ठाता है। इस महेश्वर में पञ्चपुण्डीरा–स्वयम्भू–आदि लक्षणा एक सहस्र प्राजापत्यवल्शा हैं। एक एक वल्शा (शाखा) एक एक स्वतन्त्र आत्मसंस्था है। एक एक वल्शासंस्था का एक एक आभूप्रजापति (परोरजा नामक स्वयम्भू, विश्वकर्म्मा) अधिष्ठाता है।

परमेष्ठ्यादि चारों प्रतिमा संस्थाओं को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला यह आभू–स्वयम्भू ही **'उपेश्वर'** है। महेश्वर के गर्भ में एकसहस्रशाखा भेद से ऐसे एक सहस्र ही उपेश्वर मानें जायँगे। एवं इन्हें वल्शाध्यक्षता के सम्बन्ध से 'वल्शेश्वर' भी कहा जा सकेगा। प्रत्येक वल्शेश्वर के गर्भ में परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये चार चार प्रतिमाप्रजापतिलक्षण आत्मविवर्त्त हैं। इन्हें (प्रत्येक को) **'प्रतिमेश्वर'** कहा जायगा। इसप्रकार पूर्वप्रतिपादित विश्वविशिष्ट 'ईशप्रजापति' में मायीमहेश्वर, स्वयम्भू वल्शेश्वर (उपेश्वर), परमेष्ठ्यादि प्रतिमेश्वर, भेद से तीन संस्थाविभाग मानें जायँगे। चौथा 'ईश्वर' विवर्त्त अभी तक अनिरूपित

ही माना जायगा। देवसत्य से सम्बन्ध रखने वाले ईश्वरविवर्त्त के स्पष्टीकरण के लिए निम्नलिखित मुण्डकवचन की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ मु०३।१।१।)।

"कोई एक ऐसा वृक्ष है, जिस एक ही वृक्ष की एक ही शाखा पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें एक पक्षी उस वृक्ष के स्वादु फल चख रहा है, दूसरा फल न खाता हुआ उस फल खाते हुए पक्षी की चौकसी कर रहा है" इत्यर्थक मन्त्र के दोनों पक्षी कौन हैं?, जिस वृक्ष की शाखा पर दोनों बैठे हैं, उस वृक्ष, तथा शाखा का क्या स्वरूप है?, यह विचारणीय है। वृक्ष वही सुप्रसिद्ध सहस्रवल्शायुक्त अश्वत्थवृक्ष है, जिसके अमृत-ब्रह्म-शुक्र नामक तीन विवर्तों का पूर्व में स्पष्टीकरण हुआ है। एवं निम्न लिखित श्रुतियाँ जिस अश्वत्थवृक्ष का यों स्पष्टीकरण कर रही हैं—

१—यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

२—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्" । (कठ०६।१।)।

अमृतलक्षण षोडशीपुरुष, पञ्चप्राणात्मक ब्रह्मलक्षण विश्व, पञ्चपुरात्मक शुक्रलक्षण विश्व, तीनों की समष्टि तो 'अश्वत्थवृक्ष' ही है। पञ्चप्राणानुगृहीत पञ्चपुरसमष्टि अश्वत्थ वृक्ष की शाखा है। इसप्रकार प्रतिज्ञात विश्वविशिष्ट आत्मन्वी का अश्वत्थ वृक्ष, तथा शाखा पर ही जब पर्य्यवसान हो जाता है, तो मानना पड़ेगा कि, शाखा पर प्रतिष्ठित दोनों पक्षियों का स्वरूप अश्वत्थवृक्ष, एवं शाखा, दोनों से भिन्न हैं। दार्शनिक-दृष्टि जहाँ इस भेद-विज्ञान के विश्लेषण में असमर्थ है, वहाँ वैज्ञानिक-दृष्टि भलीभाँति इस रहस्य का विश्लेषण कर रही है।

षोडशीपुरुष अमृतसत्य, किंवा आत्मसत्य है, यह बतलाया जाचुका है। वागादि शुक्रमूर्त्ति स्वयम्भू-परमेष्ठी-आदि क्रमशः ब्रह्मलक्षण प्राण, आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद, से अनुगृहीत होते हुए क्रमशः **प्राणब्रह्म** (स्वयम्भू), **आपोब्रह्म** (परमेष्ठी), **वाग्ब्रह्म** (सूर्य्य), **अन्नब्रह्म** (चन्द्रमा), **अन्नादब्रह्म** (पृथिवी) नाम से व्यवहृत हुए हैं। शुक्रावच्छिन्न इन पाँचों अन्नादब्रह्मों की समष्टि क्षुद्रविश्वात्मिका अश्वत्थशाखा है। यही अश्वत्थशाखा पञ्चब्रह्मात्मिका बनती हुई 'ब्रह्मसत्य' अभिधा की जननी बन रही है, और यहीं पर प्रतिज्ञात आत्मविवर्त्त के महेश्वर, उपेश्वर, प्रतिमेश्वर, तीनों रूप गतार्थ हैं। अब चौथे ईश्वरविवर्त्त की मीमांसा अपेक्षित है। एवं इसके लिए ब्रह्मसत्यात्मिका अश्वत्थशाखा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित पृथिवीलक्षण अन्नाद ब्रह्म की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

अन्नाद तत्त्व अग्निलक्षण है, दूसरे शब्दों में अग्नि ही अन्नाद है, एवं-**'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** श्रुत्यनुसार पृथिवी आग्नेय विवर्त्त है। यह प्रजापति (प्रतिमाप्रजापति) नामक पार्थिव अन्नादाग्नि **'अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** इस अनुगम के अनुसार अमृत-मर्त्य भेद से दो भावों में परिणत रहता है। याज्ञिक परिभाषा मे अमृताग्नि 'चितेनिधेय' कहलाया है, मर्त्याग्नि 'चित्य' कहलाया है। विज्ञानपरिभाषा में चितेनिधेय अग्नि 'पुष्करपर्ण' कहलाया है, चित्याग्नि 'कृष्णमृग' कहलाया है। इनमें से चित्य मृग्यमाण होने से कृष्णमृग नाम से प्रसिद्ध मर्त्य अग्नि से भूपिण्ड का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, एवं चितेनिधेय अमृताग्नि से महिमामयी महापृथिवी का निर्म्माण हुआ है, जिसे 'उख्यापृथिवी' भी कहा गया है।

'आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य' इन आठ स्तरों की समष्टि चित्याग्निलक्षण भूपिण्ड है। इस चित्यपिण्ड का जो आग्नेय तेजोरस (प्राण) है, वह भूपिण्डकेन्द्र को आधार बना कर बड़ी दूर तक (२१वें अहर्गण पर स्थित सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक) अपना एक मण्डल बनाता है, जोकि मण्डल सामपरिभाषा में **'रथन्तरसाम'** नाम से व्यवहृत हुआ है। सूर्य्य ही **'आदित्यो वै देवरथः'** के अनुसार 'रथ' है। पार्थिव साम इस रथात्मक सूर्य्य का तरण कर जाने से ही 'रथन्तर' कहलाया है। इसी सामसम्बन्ध से यह अमृतलक्षण प्राणाग्नि, किंवा रसाग्नि 'राथन्तर अग्नि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

भूकेन्द्र से २२ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त इस राथन्तर प्राणाग्नि की घन-तरल-विरल-भेद से तीन अवस्था हैं। घनावस्थापन्न अग्नि 'अग्नि' है, तरलावस्थापन्न अग्नि 'वायु' है, विरलावस्थापन्न अग्नि आदित्य है। महापृथिवी के त्रिवृत्स्तोमपर्य्यन्त (६ पर्य्यन्त) घनाग्निलक्षण अग्नि प्रतिष्ठित है, पञ्चदश (१५) स्तोमपर्य्यन्त तरलाग्निलक्षण वायु प्रतिष्ठित है, एकविंश (२१) स्तोमपर्य्यन्त विरलाग्निलक्षण आदित्य प्रतिष्ठित है। उदूद, रोदसी, क्रन्दसी, संयती, कूर्म्म, आत्मगति, स्तौम्य, भौम, भेद से त्रैलोक्य-विवर्त्त आठ भागों में विभक्त माना गया है। इनमें से स्तोम भागों से सम्बन्ध रखने वाली त्रिलोकी ही स्तौम्यत्रिलोकी कहलाई है।

चितेनिधेयाग्नि पार्थिव है। अतएव २२ स्तोमावच्छिन्न आग्नेय धरातल 'पृथिवी' कहलाया है। इस महापृथिवी को 'पृथिवी' कहा जाता है, चित्यपृथिवी को 'भूः' कहा जाता है। भू के आधार पर पृथिवी प्रतिष्ठित है। चितेनिधेय-प्राणात्मिका-वषट्कारलक्षणा इस महापृथिवी का त्रिवृत्प्रदेश महापृथिवी का पृथिवीलोक है, पञ्चदशप्रदेश अन्तरिक्षलोक है, एकविंशप्रदेश द्युलोक है। तीनों लोकों में पूर्वकथनानुसार क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, नापक देवदेवता प्रतिष्ठित हैं।

अग्निमूर्त्ति-अग्नि-वाय्वादित्य, तीनों देवताओं का परस्पर यजन होता है। तीनों की क्रमशः तीनों में आहुति होती है। अग्नि को आधार (योनि) बना कर वाय्वादित्य की आहुति से वाय्वादित्यगर्भित अग्निप्रधान जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही 'वैश्वानर' कहलाया है। ६ पृथिवी, १५ अन्तरिक्ष, २१ आदित्य, ये तीनों क्रमशः पृ० अं० द्यौ० नामक पार्थिव विश्वों के नर (नायक) हैं। तीनों नरों के समन्वय से उत्पन्न होने के कारण ही यह 'विश्वेभ्यो नरेभ्यः-अग्निवाय्वादित्येभ्यः-जातः' निर्वचन से

'वैश्वानर' कहलाया है (शत० ६।३।१।३।)। यद्यपि इस में तीनों का समन्वय है, परन्तु अग्नियोनित्त्वेन प्रधानतया त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव अग्नि की ही मानी जायगी। अग्नि क्योंकि अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है, अतएव इस वैश्वानर को हम 'अर्थशक्तिप्रधान' ही कहेंगे। अपने उक्थरूप से त्रिवृत्-पार्थिवलोक में रहता हुआ यह वैश्वानर अर्करूप से त्रैलोक्य में व्याप्त है, जैसाकि-**'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्'-'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण'** इत्यादि निगमों से प्रमाणित है।

आन्तरिक्ष्य वायु को आधार (योनि) बना कर अग्न्यादित्य की आहुति से अग्न्यादित्यगर्भित वायुप्रधान जो अपूर्व तत्त्व उत्पन्न होता है, वही **'हिरण्यगर्भ'** नाम से प्रसिद्ध है। वायु की यहाँ प्रधानता है, वायु क्रियाशक्तिप्रधान है, अतएव तत्प्रधान आन्तरीक्ष्य हिरण्यगर्भ को हम क्रियाशक्तिप्रधान मानने के लिए तय्यार हैं। आदित्य को आधार बना कर वाय्वग्नि की आहुति से वाय्वग्निगर्भित आदित्यप्रधान जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही **'सर्वज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध है। आदित्य (इन्द्र) की यहाँ प्रधानता है, **'स हि नेदिष्ठं पस्पर्श'** न्याय से यह ज्ञानशक्तिप्रधान है। अतएव तत्प्रधान दिव्य सर्वज्ञ को अवश्य ही ज्ञानप्रधान माना जा सकता है।

अर्थप्रधान पार्थिव वैश्वानर एककल है, क्रियाप्रधान आन्तरीक्ष्य हिरण्यगर्भ आन्तरीक्ष्य-अष्टविध-सर्पाकृतियुक्त धिष्ण्याग्नि (नाक्षत्रिकाग्नि) सम्बन्ध से अष्टकल है, ज्ञानप्रधान दिव्यसर्वज्ञ एककल है। सकलन से तीनों की समष्टि 'दशकल' है। यही दशाक्षर विराट्सम्पत्ति-उदय का मूलहेतु है। इसीलिए इस समष्टि को 'विराट्' कहा गया है। ज्ञानप्रधान सर्वज्ञभाग इस विराट्पुरुष का साहस्री-भावयुक्त 'शिरः' प्रदेश है। क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भभाग इसका साहस्रीभावयुक्त 'चक्षुः' (हृदय) प्रदेश है। एवं अर्थप्रधान वैश्वानरभाग साहस्रीभावयुक्त 'पाद' भाग है। स्तोम्यत्रिलोकी में अपने इन उक्त रूपों से व्याप्त दशकल यह विराट्पुरुष त्रिवृदवच्छिन्न वैश्वानररूप पादभाग से चित्याग्निलक्षण भूपिण्ड पर खड़ा है। अग्नि सत्यतत्त्व है। एक ही सत्याग्नि की तीन अवस्थाओं से विराट् की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। **'अग्निः सर्वा देवताः'** के अनुसार अग्नि ही सार्वदैवत्य है। अतएव अग्नित्रयमूर्त्ति-शक्तित्रयावच्छिन्न-स्तौम्यत्रैलोक्य-व्याप्त-इस विराट्पुरुष को हम अवश्य ही **'देवसत्य'** कह सकते हैं। देवसत्यात्मक इसी विराट्पुरुष का विश्लेषण करती हुई यजुःश्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (यजुःसं० ३१।१।)

पार्थिव प्राणाग्निलक्षण अमृतरस (तेजोरस) ही उक्त देवसत्य का स्वरूपाधायक है। दूसरे शब्दों में पार्थिव प्राणाग्नि ही अग्नि-वायु-आदित्य-स्वरूप में परिणत होता हुआ देवसत्य का स्वरूपसमर्पक बन रहा है। अग्नि-वायु-आदित्य, तीनों पार्थिवाग्नि रस ही हैं, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित वाजिश्रुति ही प्रमाण है—

"आपो वा अर्कः। तद्यदपां शर आसीत्, तत् समहन्यत, सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्, तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्ततााग्निः। स त्रेधात्मानं

व्याकुरुत–आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम् । स एष प्राणः (प्राणाग्निः–अमृताग्निः) त्रेधा विहितः" (शत० १०।६।५।२।) ।

भूपिण्ड ब्रह्मसत्यपर्व है । भूमहिमालक्षण स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी इससे भिन्न है । तद्युक्त विराट् नामक 'देवसत्य' विवर्त्त भी उस पूर्वात्मविवर्त्त से भिन्न है । स्वयम्भू से आरम्भ कर भूपिण्डपर्य्यन्त अश्वत्थ वृक्ष की शाखा है । भूपिण्ड इस शाखा का उपान्त्य प्रदेश है । इसके आधार पर वितत महापृथिवी ही देवसत्य की प्रतिष्ठा है । षोडशीलक्षण आत्मसत्य (अमृतसत्य) पहिले स्वयम्भू आदि पञ्चात्मक ब्रह्मसत्य में अवतीर्ण होता है । अनन्तर भूपिण्ड के द्वारा देवसत्य में आता है । **'यदस्य त्वं, यदस्य च देवेषु'** (केनोपनिषत् २।६।) के अनुसार 'त्वं' से उपलक्षित ब्रह्मसत्य, एवं 'देवेषु' से उपलक्षित देवसत्य, दोनों में वही अमृतसत्य अवतीर्ण है । इसप्रकार 'देवसत्य' नामक विराट्–पुरुष का पार्थक्य भलीभाँति सिद्ध हो जाता है । यही वह सुपर्ण (पक्षी) है, जो अश्वत्थशाखा के छोर भाग (पार्थिवभाग) में प्रतिष्ठित रहता हुआ अपने सखा सुपर्ण का साक्षी बना हुआ है । यही साक्षीसुपर्ण वस्तुगत्या 'ईश', किंवा 'ईश्वर' शब्द का मुख्य अवच्छेदक है । क्योंकि उसी मुण्डकश्रुति ने आगे जाकर इस अनश्नन्–सुपर्ण को 'ईश' शब्द से व्यवहृत किया है । देखिए !

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्य–'मीश'–मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

(मु॰ ३।२।) ।

आत्मसत्यम्	१–परात्परः (१) २–अव्ययः (५) ३–अक्षरः (५) ४–आत्मक्षरः(५)	षोडशीपुरुषः–'महेश्वरः'–आत्मसत्यम्
ब्र–ह्म–स–	१–प्राणब्रह्म—स्वयम्भूः (वाक्–शुक्रम्) २–आपोब्रह्म–परमेष्ठी (आपः शुक्रम्) ३–वाग्ब्रह्म—सूर्य्यः (अमृतमर्त्याग्निशुक्रे) ४–अन्नब्रह्म—चन्द्रमाः (आपः शुक्रम्)	प्रतिमेश्वरगर्भितः– 'उपेश्वरः'–ब्रह्मसत्यम्

साक्षीसुपर्णः — देवसत्यः

१-सर्वज्ञः (१) आदित्यप्रधानः (२१)
२-हिरण्यगर्भः (८) वायुप्रधानः (१५) } --महिमापृथिवी } --'ईश्वरः'-देवसत्यः
३-वैश्वानरः (१) अग्निप्रधानः (६)

५-अन्नादब्रह्म—भूपिण्डः (चित्यः) (वाक्शुक्रम्) }

२९-जीवात्मस्वरूपविश्लेषण—

जैसा स्वरूप, जो अवयवसंस्थान 'ईशप्रजापति' का है, ठीक वही स्वरूप, वही अवयवसंस्थान जीवात्मा (संसृष्टविध श्यात्मक मानुषात्मा) का है। केवल मात्रा में तारतम्य है। अतएव वह जहाँ 'पूर्णेन्द्र' कहलाया है, वहाँ जीवात्मा 'अर्द्धेन्द्र' नाम से व्यवहृत हुआ है । अध्यात्म, अधिभूत, भेद से जीवसर्ग दो भागों में विभक्त है। ईश्वर अधिदैवत है । इसी से अंश-प्रत्यंशरूपेण इन दोनों जीवसर्गों का विकास हुआ है । अधिभूत जीवसर्ग 'शिपिविष्ट' नाम से प्रसिद्ध है । वज्र (हीरा), पुष्पराग, नील, मुक्ता, आदि धातुमात्र, पुस्तक-लेखिनी-मसीपात्र-वस्त्रादि भूत-भौतिक पदार्थ, इन सबका शिपिविष्ट सर्ग में अन्तर्भाव है।

अध्यात्मजीव 'तमः, रजः, सत्त्वं' भेद से तीन भागों में विभक्त है । ओषधि-वनस्पत्यादि प्रपञ्च तमोविशाल हैं, कृमि-कीट-पशु-पक्षी-मनुष्य, यह पञ्चसर्ग रजोविशालजीव हैं, एवं अष्टविध देवयोनिसर्ग सत्त्वविशाल जीव हैं, जैसाकि प्रकरणारम्भ में विस्तार से बतलाया जा चुका है। तत्र प्रतिपादित धातुजीव, मूलजीव, जीवजीव, तीनों में धातुजीव अधिभूतप्रपञ्च है, मूलजीव, जीव-जीव अध्यात्मप्रपञ्च हैं । दोनों संस्थाओं में सर्वत्र समानता है, केवल--देवसत्यस्वरूप में तारतम्य है। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, आत्मसत्य--ब्रह्मसत्य-दृष्टि से अधिदैवत-अध्यात्म--अधिभूत-तीनों संस्थाएँ समतुलित हैं। केवल नाम मात्र में अनन्तर है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

षोडशीपुरुषः	षोडशीपुरुषः	षोडशीपुरुषः
१—स्वयम्भूः	१—अव्यक्तात्मा	१—गुहा
२—परमेष्ठी	२—महानात्मा	२—आपः
३—सूर्य्यः	३—विज्ञानात्मा	३—ज्योतिः
४—चन्द्रमाः	४—प्रज्ञानात्मा	४—अमृतम्
५—पृथिवी	५—शरीरम्	५—रसः
अधिदैवतम्	अध्यात्मम्	अधिभूतम्

३०–उपनिषच्छास्त्र का मुख्य लक्ष्य—

प्रकरणारम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य जीवात्मा है, गौण प्रतिपाद्य ईश्वरात्मा है। दोनों विवर्त्तों का उपनिषदों में संचर–प्रतिसंचर, दोनों दृष्टियों से निरूपण हुआ है। ज्ञानपक्ष प्रतिसंचर है, विज्ञानपक्ष संचर है। ज्ञानसहकृत विज्ञान विश्वप्रपञ्च है, विज्ञानसहकृत ज्ञान विश्वात्म (जीवात्म, ईश्वरात्म) प्रपञ्च है। विज्ञानगर्भित ज्ञान विश्वातीत है। इसका उपनिषदों से क्या, किसी भी शब्दशास्त्र से सम्बन्ध नहीं है। नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त विश्वातीत का ज्ञान किसी भी साधनविशेष से कराया नहीं जाता। अपितु–**'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'**(गी०४।३८।) के अनुसार ग्रन्थिबन्धविमोक से स्वतःसिद्ध वह सहजज्ञान 'जीवात्मापीति' का कारण बन जाता है। उसके लिए स्वाध्याय–जप–तप–अनुष्ठान–मनन–कुछ भी अपेक्षित नहीं है। वह अनुपास्य है, अविजिज्ञास्य है। उपनिषत् इसके सम्बन्ध में सर्वथा तटस्थ रूप से **'नेति–नेतीति होवाच'** यह कह सकती है। 'उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय क्या है' ?, एतदभिप्रायात्मक 'उपनिषदों में क्या है ?,' इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर "ज्ञानसहकृत विज्ञानात्मक विश्वप्रपञ्च, एवं विज्ञानसहकृत ज्ञानात्मक आत्मप्रपञ्च, आत्मप्रपञ्च में ईश्वरात्मप्रपञ्च का गौणरूप से, जीवात्मप्रपञ्च का प्रधान रूप से निरूपण हुआ है" यही हो सकता है।

एक रहस्यपूर्ण विश्लेषण–जीवात्मा के अभ्युदय–निःश्रेयस् के लिए उपनिषच्छास्त्र प्रवृत्त हुआ है। जीवात्मा 'चिदाभास' लक्षण है। इस चिदाभासलक्षण जीवात्मा की योनि 'महानात्मा' नामक प्राकृत आत्मा है,

जैसा कि—'**मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्**' इत्यादि गीतासिद्धान्त से प्रमाणित है। महानात्मा अक्षरानुगृहीत माना गया है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, सूर्य्य से ऊपर अमृताव्यय की प्रधानता है, स्वयं सूर्य्य में अक्षर की, तथा सूर्य्य से नीचे क्षर की प्रधानता है। स्वयम्भू प्राणात्मकत्त्वेन 'ब्रह्म' है, यही अव्यक्त है। परमेष्ठी अन्नात्मकत्त्वेन 'सुब्रह्म' है, यही महान् है, दोनों की समष्टि '**महद्ब्रह्म**' है। अव्यक्त–महत्, दोनों सम्मिलित रूप से 'महान्' हैं। उस चिदात्मा का अक्षरधिया इसी पर आभास (प्रतिबिम्ब) होता है। महद्ब्रह्मपर्य्यन्त अव्ययानुगृहीत अक्षर का साम्राज्य है, जैसा कि निम्न–लिखित महल्लक्षण से स्पष्ट है—

भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि, महद्ब्रह्मैकमक्षरम्।
बहु ब्रह्मैकक्षरम्" ॥

महदक्षर का प्रथम विज्ञान से, विज्ञानद्वारा प्रज्ञान से, प्रज्ञानद्वारा वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति भोक्तात्मा से सम्बन्ध होता है। भोक्तात्मा (कर्म्मात्मा) ज्ञानजनित भावना, कर्म्मजनित वासनासंस्कार से लिप्त रहता है। इस मलिनावरण से परम्परया आगत शुद्ध आत्मसत्त्व भी मलिन हो जाता है। यही जीवात्मा का अनीशत्त्व है, यही '**अनीशया शोचति मुह्यमानः**' मुण्डकानुसार मोहमूलक दुःखप्रवृत्ति का कारण है।

यह ध्यान रखने की बात है कि, '**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्**' के अनुसार जीवात्मा की मूलप्रतिष्ठा अव्यय–क्षरगर्भित 'अक्षर' (महदक्षर) ही है। जीवात्ममुक्ति का एकमात्र अक्षर–दृष्टि पर ही पर्य्यवसान है। अक्षर ही जीवात्महृदग्रन्थि की प्रतिष्ठा है। इसके विमोक से ही मुक्तिलाभ निश्चित है, जैसाकि '**क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे**' इत्यादि रूप से पूर्व प्रकरणों में स्पष्ट किया जा चुका है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि, अव्ययानुगत अक्षर ही उपनिषच्छास्त्र का मुख्य लक्ष्य (मुख्य-आत्मा) है, जैसाकि निम्न–लिखित वचन से प्रमाणित है—

१—"आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत् पदमत्रैतत् समर्पितम्।
एतत् प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्वरिष्ठं प्रजानाम्"॥

२—"यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेत–'दक्षरंब्रह्म' स प्राणस्तदु वाङ्मनः।
तदेतत् सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं, सोम्य विद्धि" ॥

३—"धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा 'लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि" ॥

(मुण्डक २।२।१,२,३,)।

उक्त मन्त्रों का विशद वैज्ञानिक विवेचन **'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य'** से गतार्थ है। यहाँ इन उद्धरणों से यही बतलाना है कि, उपनिषदों का मुक्त्यधिष्ठाता आत्मा एकमात्र अव्ययानुगृहीत 'अक्षर' (महदक्षर) ही है। जीवात्मावरण-निवृत्तिपूर्वक प्रज्ञानादि द्वारा अक्षर तक पहुँचा देना ही उपनिषदों का परम पुरुषार्थ है।

अनृत, माया, जिह्मता, आदि पाप्मा अक्षरप्राप्ति में प्रतिबन्धक हैं। एवं ब्रह्मचर्य्य, तपः, सत्य, वेदानुपालन, श्रद्धा, उपनिषत्, ये ६ धर्म्म तत्प्राप्त्युपाय हैं। इनके द्वारा आत्मबल (भोक्तात्मबल) बढ़ाता हुआ भोक्तात्मा महान्-प्रज्ञान-विज्ञानादि साधनभूत ज्ञानों में से किसी एक को द्वार बना कर, अथवा परम्परया क्रमशः सब मध्यस्थों को द्वार बनाता हुआ अन्ततः लक्ष्यवेध में समर्थ हो जाता है। शरीर रथ है, इन्द्रियाँ अश्व हैं, बुद्धि सारथि है, मन प्रग्रह (लगाम) है, कर्म्मप्रपञ्च मार्ग है, महदक्षर गन्तव्यस्थान है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भोक्तात्मा यात्री है। लक्ष्यीभूत महदक्षर पर इसे पहुँचना है। वह प्राप्तव्य एक है, परन्तु बलात्मक-कर्म्मतारतम्य से तद्रूप प्रज्ञानादि मार्ग अनेक हैं, भिन्न भिन्न हैं *। प्राप्तिसाधनभूत-द्वारभेद से जहाँ उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय भिन्न भिन्न है, वहाँ प्राप्तव्य की दृष्टि से सब उपनिषदें अभिन्नार्थ-प्रतिपादिका बन रहीं हैं।

विश्वचरसंस्था को मुख्य धरातल मानते हुए ज्ञान-विज्ञान-दृष्ट्या षोडशी का निरूपण, तत्र-प्रतिष्ठ-अव्यक्तादि खण्डात्माओं का निरूपण, आवरणस्वरूपविश्लेषण, तन्निवृत्त्युपायप्रदर्शन, आदि ही उपनिषच्छास्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं। किसी उपनिषत् में समष्टिरूप से अखण्ड-सखण्ड सभी का विश्लेषण हुआ है। कोई प्रज्ञानात्मा का विश्लेषण कर रहा है। इसी प्रकार किसी में प्रज्ञान का, किसी में विज्ञान का, किसी में भोक्तात्मा का, किसी में प्राणात्मा का स्पष्टीकरण हुआ है। और अवश्य ही द्वारभेददृष्ट्या सब उपनिषत् भिन्न-भिन्न तत्त्वों की ही प्रतिपादिका हैं। जिस जीवात्मा के बन्धनविमोक के लिए उपनिषच्छास्त्र प्रवृत्त हुआ है, उस जीवात्म-विवर्त्त का स्वरूप उद्धृत कर परिच्छेद उपरत हो रहा है।

---

* रुचीनां वैचित्र्याद्-ऋजु-कुटिल-नानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ (पुष्पदन्तः)

अमृतसत्यम्

१–परात्परः (१)
२–अव्ययः (५)
३–अक्षरः (५)
४–आत्मक्षरः (५)
}—अक्षरप्रधानः षोडशी—–(पुरुषः)

ब्र — ह्म — स —

१–अव्यक्तंब्रह्म–स्वायम्भुवम्–अव्यक्तात्मा–(अव्यक्तम्)
२–महद्ब्रह्म—–पारमेष्ठ्यम्—महानात्मा—(महान्)
३–विज्ञानंब्रह्म—सौरम्——विज्ञानात्मा–(बुद्धिः)
४–प्रज्ञानंब्रह्म—–चान्द्रम्—–प्रज्ञानात्मा— (मनः)

देवसत्यम् सोक्षा–सुपर्णौ

१–प्राज्ञः——सर्वज्ञांशः
२–तैजसः—हिरण्यगर्भांशः
३–वैश्वानरः—वैश्वानरांशः
} पार्थिवाः }—प्राणात्मा–(आत्मा)

—त्यम्

५–शरीरंब्रह्म—भौमम्——————भूतात्मा–(शरीरम्)

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥ (कठ)

(१)–'ईशोपनिषत्'—('गूढोत्मावर्णन परेयमुपनिषत्')

३१–ईशोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय—

उपनिषच्छास्त्रों में प्रतिपादित विषयों का पूर्वपरिच्छेदों में स्वतन्त्ररूप से दिग्दर्शन कराया गया। अब उदाहरण के लिए कुछ एक उपनिषदों की विषय–तालिका और उद्धृत कर दी जाती है। यह विषय–तालिका उपनिषत्–स्वाध्याय–प्रेमियों के लिए विशेषरूप से अनुरञ्जन की सामग्री होगी, ऐसा आत्मविश्वास है। उपलब्ध उपनिषद् ग्रन्थों में 'ईश' नाम की 'वाजसनेयोपनिषत्' का प्रथम स्थान है। ईश ही सम्पूर्ण विवर्त्तों की प्रथम भूमिका है। अतः तत्प्रतिपादनपरा इस उपनिषत् का प्रथम–सन्निवेश न्यायसङ्गत

ही माना जायगा । ईशोपनिषत् में जिस विषय का निरूपण हुआ है, वह इसके नाम से ही गतार्थ है । 'गूढोत्मा' नाम से प्रसिद्ध ईशप्रजापति का 'सञ्चर' क्रम से आमूल-चूड विश्लेषण ही ईशोपनिषत् का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है । आगे की सम्पूर्ण उपनिषत् खण्ड-खण्डात्मक-विषयनिरूपिका बनतीं हुई जहाँ तूलस्थानीया हैं, वहाँ सर्वखण्डात्मक-निरूपणपूर्वक अखण्डात्मा का (षोडशी का) निरूपण करती हुई यह सचमुच 'मूलोपनिषत्' बन रही है । दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, यच्चयावत् उपनिषदों के यच्चयावत् प्रतिपाद्य विषयों का संक्षेप से संग्रह करती हुई यह उपनिषत् 'सर्वोपनिषत्' बन रही है । अथवा यह कह लीजिए कि पूर्णेश्वर की सर्वविध पूर्णविभूतियों का विश्लेषण करती हुई यह 'पूर्णोपनिषत्' बन रही है ।

अमृतात्मा, स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक ईश्वरीय देवसत्य, पृथिवी, इन पर्वों की समष्टि पूर्णेन्द्रविवर्त्त (ईश्वरविवर्त्त) है, एवं अमृतात्मा, अव्यक्तात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण भोक्तात्मा, शरीर, इन पर्वों की समष्टि अर्द्धेन्द्रविवर्त्त (जीवविवर्त्त) है । ईशने दोनों का स्वरूप बतलाते हुए, सम्बन्ध व्यक्त करते हुए, दोनों का अभेद सिद्ध करते हुए पूर्णेन्द्रलक्षण 'अक्षर' को ही लक्ष्य बनाया है, जैसाकि सहस्रपृष्ठात्मक-खण्डद्वयात्मक ईशविज्ञानभाष्य में प्रतिपादित है । ईश के मन्त्रों का निम्नलिखित रूप से प्रकरण विभाजन हुआ है—

१-ईशोपनिषत्—

अमृतात्मनि द्विविध-सत्यात्मनिरुक्तिः-'ईशोपनिषत्'

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदम्

१—पुरुषात्माधिकरणम् (विद्याकर्म्ममयः पुरुषो गूढोत्मा षोडशी-('अमृतात्मा')

(१) १—ईशावास्यमिदं सर्वम् ० ।

(२) २—कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि ० ।

(३) ३—असुर्य्या नाम ते लोकाः ० ।

——❀——

२—अव्यक्तात्माधिकरणम् (ब्रह्मसत्याक्षरः 'स्वयम्भूः' 'अव्यक्त', वा 'सत्यात्मा')

(४)—१ अनेजदेकं मनसो जवीयः० ।

——❀——

३—अमृतात्मना सह ब्रह्मसत्यस्य सम्बन्धनिरूपणाधिकरणम्

(५) १—तदेजति तन्नैजति ० ।

(६) २—यस्तु सर्वाणि भूतानि ० ।

(७) ३—यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि ० ।

——❀——

४--महदात्माधिकरणम् (ब्रह्मसत्याक्षरः 'परमेष्ठी' 'महान्' वा सत्यात्मा)

(८)-१-स पर्य्यगाच्छ्रुक्रमकायमव्रणम् ० ।

---❀---

५--विज्ञानात्माधिकरणम् (ब्रह्मसत्याक्षरः 'सूर्य्यः' 'बुद्धि'-र्वा सत्यात्मा)

(९) १—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्याम् ० ।

(१०) २—अन्यदेवाहुर्विद्यया ० ।

(११) ३—विद्यां चाविद्यां च ० ।

---❀---

६--प्रज्ञानात्माधिकरणम् (ब्रह्मसत्याक्षरः 'चन्द्रमाः' 'मनो' वा सत्यात्मा)

(१२) १—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिम् ० ।

(१३) २—अन्यदेवाहुः सम्भवात् ० ।

(१४) ३—सम्भूतिं च विनाशं च ० ।

---❀---

६-प्राणात्माधिकरणम् (देवसत्याक्षरः-'वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञो-वा वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञो वा-त्रिकलः सत्यात्मा) ।

(१५) --हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य० ।

(१६) २--पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य ० ।

(१७) ३--वायुरनिलममृतम् ········· ।

---❀---

७—शरीरत्रयात्माधिकरणम् (ब्रह्मसत्याक्षरः पृथिवी, शरीर-हंस-कर्म्मात्मा वा 'सत्यात्मा') ।

(१७) १—···अथेदं भस्मान्तं शरीरम्० ।

---❀---

८--उभयोः सत्यात्मनोरग्निना सह-ऐकात्म्यम्

(१८) १--अग्ने नय सुपथा राये ० ।

---❀---

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदम्

समाप्ता चेयमीशोपनिषत्

१

३२–केनोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय—

(३)–केनोपनिषत् (प्रज्ञानात्मवर्णनपरेयमुपनिषत्) ।

'तलवकारोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध 'केनोपनिषत्' में अग्नि–वायु–इन्द्र समष्टिलक्षण वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–मूर्त्ति भोक्तात्मा का विश्लेषण करते हुए, प्रज्ञा–सोममय, सर्वेन्द्रिय–अनिन्द्रिय नामक प्रज्ञानात्मा को लक्ष्य बनाते हुए प्रज्ञानद्वारा ही लक्षीभूत अक्षरब्रह्मोपासना का विधान हुआ है। सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान–क्रिया–अर्थत्रयी का ही साम्राज्य हैं। समष्टि, अथवा व्यष्टिरूप से सर्वत्र सबको इन्हीं तीनों शक्तियों से आक्रान्त देखा जायगा। पाञ्चभौतिक विश्व में **'अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्'** के अनुसार त्रिशक्तिमूर्त्ति तीन देवताओं का प्रभुत्त्व है। तीनों शक्तियों के उक्थ अग्नि–वायु–इन्द्र–देवता मानें गए हैं। अग्नि अर्थ का, वायु क्रिया का, इन्द्र ज्ञान का अधिष्ठाता है।

इस सम्बन्ध में हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, जब हम अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, इन तीनों प्रपञ्चों में ज्ञान–क्रिया–अर्थ से अतिरिक्त किसी चौथे तत्त्व को उपलब्ध नहीं करते, तो फिर त्रिशक्तिमूर्त्ति उक्त अग्न्यादि तीन देवताओं के (क्षर के) अतिरिक्त चतुर्थ नित्य 'ब्रह्म' नामक अपूर्व तत्त्व की सत्ता क्यों, किस आधार पर स्वीकार की जाय ?। भूत–देव से अतिरिक्त आत्मतत्त्व की कल्पना करना क्या व्यर्थ नहीं है ?, क्यों इनसे अतिरिक्त अतीन्द्रिय आत्मब्रह्म की कल्पना की जाय ?, इस भावना के प्रतिवाद के लिए ही केनोपनिषत् प्रवृत्त हुई है।

बतलाया गया है कि, विश्वविवर्त्त से जिस अग्न्यादिदेवतालक्षण भोक्तात्मा (जीवात्मा) को यह अभिमान हो रहा है कि, मैं ही सब कुछ हूँ, मुझसे अतिरिक्त नित्य ब्रह्म नामक कोई तत्त्व नहीं है, वह अभिमान एकमात्र प्रज्ञानब्रह्म पर ही अवलम्बित है। विज्ञानद्वारा प्रज्ञानगत चिदात्मलक्षण अक्षरब्रह्म ही प्राज्ञइन्द्र से संसक्त होकर सब को स्व शक्ति से स्व–स्व कार्य्य में प्रतिष्ठित किए हुए है। **'ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्'** के अनुसार उसीके विजय में ये क्षरदेवता स्व–स्वकर्म्म में समर्थ बने हुए हैं। उससे पृथक् हो जाने पर ये एक तृण के कुब्जीकरण में भी असमर्थ हैं। इसी ज्ञानीय–तृण को उदाहरण बनाते हुए **'केन'** ने प्रज्ञानधिया अक्षरब्रह्मप्राप्ति का उपाय बतलाया है। पूर्वपरिच्छेद–कथनानुसार अक्षरदृष्ट्या सम्पूर्ण उपनिषदों के निरूपणीय विषयों का जहाँ सामानाधिकरण्य है, वहाँ द्वारभेददृष्ट्या सब का वैय्यधिकरण्य है। इसी द्वारभेद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि–सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तक, अतएव सर्वेन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध **'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्'** इस इन्द्रियलक्षण से अतीत होने से अनिन्द्रिय नाम से भी व्यवहृत 'प्रज्ञानमन', किंवा 'प्रज्ञानात्मा' का ही केनोपनिषत् में विश्लेषण हुआ है। केनोपनिषत् में प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त सार निम्न लिखित शिक्षादेशों में विभाजित किया जा सकता है—

१–इन्द्रियाँ–उक्थ नहीं हैं, अपितु 'प्रज्ञानात्मा' ही उक्थ है।
२–देवत्रयी का विश्वविजय चिदनुग्रह पर ही अवलम्बित है।
३–महान् सोम पर प्रतिबिम्बित चिदात्मा ही महदक्षर है।
४–विश्वप्रविष्ट चिद्भाग ही तृण है।
५–प्राज्ञेन्द्रगर्भित चिच्छक्तिमय सौर तेजोमय प्रज्ञासोम ही हैमवती उमा है।

६-उपासना देवता की ही होती है।

७-प्रज्ञानसम्परिष्वक्त प्राज्ञ इन्द्र ही मन है।

८-देवोपासना शक्त्युपासनापूर्विका बन कर ही फलप्रदा होती है।

विषय विभाग के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना आवश्यक होगा। केनोपनिषत् के ३४ मन्त्र '८-५-१२-९' इस क्रम से चार खण्डों में विभक्त मानें गए हैं, जिन विभागों को हम 'दार्शनिक विभाग' कहेंगे। विषयसङ्गति की दृष्टि से यह विभागचतुष्टयी असमन्विता है, जैसा कि एतद्विज्ञानभाष्य में स्पष्ट कर दिया गया है। विज्ञानदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला विभाग ही अर्थसमन्वय की दृष्टि से उपयुक्त है। इन दोनों विभागों का यहाँ उल्लेख कर दिया जाता है।

दार्शनिक विषयविभाग—

१-प्रथमःखण्डः	४-प्रतिबोध०	११-अथेन्द्रमब्रुवन्०।
१-केनेषितम्०	५-इह चेदवेदीत्०	१२-स तस्मिन्नाकाशे
२-श्रोत्रस्य श्रो०	इति द्वितीयः खण्डः	इति तृतीयः खण्डः
३-न तत्र चक्षु०	३-तृतीयःखण्डः	४-चतुर्थः खण्डः
४-यद्वाचानभ्यु०	१-ब्रह्म ह देवेभ्यो०	१-सा ब्रह्मेति०।
५-यन्मनसा न०	२-तद्धैषां विजिज्ञौ०	२-तस्माद्वा एते०।
६-यच्चक्षुषा न०	३-तेऽग्निमब्रुवन्०	३-तस्माद्वा इन्द्रो०
७-यच्छ्रोत्रेण न०	४-तदभ्यद्रवत्०	४-तस्यैष आदेशः०
८-यत् प्राणेन प्रा०	५-तस्मिंश्चार्य०	५-अथाध्यात्मम्०
इति प्रथमः खण्डः	६-तस्मै तृणम्०	६-तद्ध तद्वनम्०
२-द्वितीयः खण्डः	७-अथ वायुम्०	७-उपनिषदं भो०
१-यदि मन्यसे	८-तदभ्यद्रवत्०	८-तस्मै तपो दमः०
२-नाहं मन्ये०	९-तस्मिंस्त्वयि०	९-यो वा एताम्०
३-यस्यामतं०	१०-तस्मै तृणम्०	इति चतुर्थः खण्डः

कर्म्मात्मस्वरूपविश्लेषणपूर्वक इसका चिदात्मा से सम्बन्धप्रतिपादन, कर्म्मात्मप्रतिष्ठाभूत प्रज्ञानात्म-निरूपण, प्रज्ञानस्थित शुद्ध चिदंशनिरूपण, तत्प्राप्त्युपाय-प्रदर्शनपूर्वक फलश्रुतिदिग्दर्शन, इन चार मुख्य प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध से खण्ड तो चार ही मानें जायँगे, परन्तु इन क्रमिक विषयों के क्रम-निरूपण की दृष्टि से मन्त्रसंख्या, तथा दर्शनाभिमत खण्डमर्य्यादा में विपर्य्यय करना पड़ेगा। और निश्चयेन इस वैज्ञानिक विभाग को एक उपयोगी विभाग माना जायगा।

वैज्ञानिक विभाग—

१-कर्म्मात्माधिकरणम्	(कर्म्मात्मखण्डः प्रथमः)—	—१८ मन्त्र
२-प्रज्ञानात्माधिकरणम्	(प्रज्ञानात्मखण्डो द्वितीयः)—	८
३-चिदात्माधिकरणम्	(चिदात्मखण्डस्तृतीयः)—	५
४-चित्प्राप्त्युपायप्रदर्शनाधिकरणम्	(चित्प्राप्तिखण्डश्चतुर्थः)—	२
		३४ संकलन

१-प्रथमाधिकरणे—	१४-तस्माद्वा एते०	८-यत् प्राणेन प्राणिति०
१-ब्रह्म ह देवेभ्यः०	१५-तस्माद्वा इन्द्रो०	इति-द्वितीयः खण्डः
२-तद्धैषां विजज्ञौ०	१६-तस्यैष आदेशः०	३-तृतीयाधिकरणे—
३-तेऽग्निमब्रुवन्०	१७-अथाध्यात्मम्०	१-यदि मन्यसे सुवे०
४-तदभ्यद्रवत्०	१८-तद्ध तद्वनम्०	२-नाहं मन्ये सुवे०
५-तस्मिंस्त्वयि०	इति-प्रथमः खण्डः	३-यस्यामतं तस्य०
६-तस्मै तृणम्०	२-द्वितीयाधिकरणे—	४-प्रतिबोधवि०
७-अथ वायुमब्रुवन्०	१-केनेषितं पतति०	५-इह चेदवेदीत्०
८-तदभ्यद्रवत्०	२-श्रोत्रस्य श्रोत्रम्०	इति-तृतीयः खण्डः
९-तस्मिंस्त्वयि०	३-न तत्र चक्षु०	४-चतुर्थाधिकरणे—
१०-तस्मै तृणम्०	४-यद्वाचानभ्यु०	१-उपनिषदं भो ब्रू०
११-अथेन्द्रमब्रुवन्	५-यन्मनसा न०	२-तस्यै तपो दमः०
१२-स तस्मिन्नाकाशे०	६-यच्चक्षुषा न०	३-यो वा एताम्
१३-सा ब्रह्मेति०	७-यच्छ्रोत्रेण न०	इति चतुर्थः खण्डः

३३-कठोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय

(३)-कठोपनिषत् (भोक्तात्मवर्णनपरेयमुपनिषत्)-

कठोपनिषत् में यद्यपि प्रधानतया 'भोक्तात्मा' का ही निरूपण है, तथापि गौणदृष्टि से इसमें प्रायः सभी विषयों का समावेश हुआ है। स्वर्ग, नरक, यम, धर्म्म, अग्नि, खण्डात्मविवर्त्त, अश्वत्थ, योग, विद्या, विभूति, आदि तत्त्वों का संक्षेप से विश्लेषण करने वाली यह उपनिषत् अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। 'नचिकेता' नामक ब्राह्मण बालक पिता के 'सर्ववेदसयज्ञ' में दक्षिणारूप से प्रदत्त भीति से शरीर छोड़ कर आतिवाहिक शरीर से परलोक में पहुंचता है। तीन रात्रियों के अनन्तर उसका यमराज से साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार साध्वी सावित्री की पतिभक्ति पर प्रसन्न यम ने उसे तीन वर प्रदान किए थे, वैसे ही नचिकेता की पितृभक्ति पर, तथा तीन रात्रियों तक निराहार रहने के प्रतिशोधरूप तीन वर माँगने का नचिकेता को आदेश मिलता है। नचिकेता प्रश्न करता है कि, कितनें ही विद्वान् आत्मा को 'रथवत्' मानते हैं। धुरा, पहिया, कस्तम्भी, प्रउग, आदि की समष्टि ही रथ है। रथावयवों से 'रथ' नामक अवयवी पृथक् नहीं हैं। एवमेव हस्त-पाद-मस्तकादि अवयवसमष्टि ही आत्मा है। शरीरातिरिक्त आत्मा कोई नित्य तत्त्व नहीं है। एवं कितने ही ब्रह्मवादियों का कहना है कि, आत्मा 'सरवत्' है। सरोवर के सूख जाने का तात्पर्य्य यही है कि, पानी सूक्ष्मरूप (बाष्परूप) में परिणत होकर लोकान्तर (अन्तरिक्ष) में चला जाता है। एवमेव स्थूलशरीर के निधनानन्तर आत्मा अङ्गुष्ठमात्र आतिवाहिक शरीर धारण कर स्वकर्म्मानुसार तत्तल्लोकविशेषों में गमन करता रहता है। इसप्रकार 'प्रेतात्मा' के सम्बन्ध में चिरकाल से विद्वानों में मतभेद चला आ रहा है। मैं जानना चाहता हूँ कि, वस्तुस्थिति क्या है ?।

नचिकेता के आत्मविषयक उक्त प्रश्न को सुन कर पात्रता-परीक्षा के लिए यमराज उसे प्रलोभनों में डालना चाहते हैं। परन्तु संस्कारी बालक अपने प्रश्न पर दृढ़ रहता है और कहने लगता है—

अन्यत्र धर्म्मात्, अन्यत्राधर्म्मात्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताद्, भव्याच्च, यत्तत् पश्यसि तद्वद ॥

उत्तर में अव्यय-क्षरविशिष्ट उसी अक्षरब्रह्म को लक्ष्य बनाते हुए यमराज कहते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति ।
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ॥
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति ।
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ "ओम्' इत्येतत्" ।

'ओम्' के एकाक्षरत्त्व का क्या स्वरूप है ?, स्वर्ग्याग्नि का क्या स्वरूप है ?, उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ?, इत्यादि प्रश्नसमाधिपूर्वक इस उपनिषत् में अश्वत्थविद्या, ब्रह्मसत्यविद्या, देवसत्यविद्या, कर्म्मयोग, ज्ञानयोग, आदि विद्या, तथा योगों का अपूर्व विश्लेषण हुआ है। संक्षेपतः भोक्तात्मद्वारा अक्षर-

लक्ष्यावाप्ति बतलाते हुए इस उपनिषत् ने आत्मन्वी की विद्यात्मिका विभूति, एवं कर्म्मात्मक योग, इन दो पर्वों का अनेक दृष्टिकोणों से विश्लेषण किया है, जैसा कि उपनिषत् के निम्नलिखित उपसंहारवचन से प्रमाणित है—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा 'विद्या' मेतां 'योग' विधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विद्ध्यात्ममेव ॥

(कठ० ६।१८।) ।

१–प्रथमा वल्ली—

१—उपोद्घातप्रकरणम्———	१ वल्ली,	१ अध्याय,	१ मन्त्र से	६ मन्त्र पर्य्यन्त
२—प्रथमवरवरणं, तद्दानं च——	,,	,,	१० ,,	११ ,,
३—स्वर्ग्याग्निजिज्ञासारूप-द्वितीयवरवरणं तद्दानं च —	,,	,,	१२ ,,	१६ ,,
४—तृतीयवराभ्यर्थना———	,,	,,	२० ,,	२२ ,,
५—सृङ्काप्रदानप्रस्तावः———	,,	,,	२३ ,,	२५ ,,
६—नचिकेतोविमर्शः———	,,	,,	२६ ,,	२६ ,,

इति—प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली

१

———×———

२–द्वितीया वल्ली—

७—नचिकेतोधैर्य्यप्रशंसा———	२ वल्ली,	१ अध्याय,	१ मन्त्र से	१३ पर्य्यन्त
८—परात्परस्थपुरुषत्रयविज्ञानम्——	,,	,,	१४ ,,	१६ ,,
६—पारावारो महानात्मा शारीरात्मको धाता-,,		,,	२० ,,	२४ ,,

इति—प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली

२

———×———

३–तृतीया वल्ली—

१०—महतः सेतोः परपारसंस्थानम्——	३ वल्ली,	१ अध्याय,	१	×	२
११—महतः पारे यात्रिको भोक्तात्मा——	,,	,,	३	×	४
१२—ब्रह्मविष्णिवन्द्राभिकृतेषु–अभया–व्ययाक्षरपदेषु विष्णुपदावच्छेदेन यात्रानिमित्तम् —	,,	,,	५	×	६
१३—भोक्तात्मनः पारायणीयः पन्थाः————	,,	,,	१०	×	१२
१४—भोक्तुः पारायणीयो योगक्रमः————	,,	,,	१३	×	१५
१५—पारायणविद्योपसंहारः————————	,,	,,	१६	×	१७

इति—प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली (प्रथमोऽध्यायश्च समाप्तः)

३

——**——

४—चतुर्थी वल्ली—

[illegible]—इन्द्रियानुगतायाः–विज्ञानात्मनो–द्रष्टुर्दृष्टेः–प्रत्यगात्मानमनु–परावर्त्तनादेशः —	४ वल्ली,	२ अध्याय,	१	×	२
१७—महतो विभूति–योगौ————	,,	,,	३	×	६
१८—मृत्युस्वरूपनिरूपणम्————	,,	,,	१०	×	११

१६--आतिवाहिकशरीरावच्छि-न्नस्य भोक्तात्मनः सर्वग्रन्थि-विमोके परमात्मनि लयः	——४ वल्ली	२ अध्याय	१२	× १५

इति—द्वितीयाध्याये चतुर्थी वल्ली

४

५—पञ्चमी वल्ली—

२०—पुरस्वरूपनिरूपणपूर्वकं षोडशकला-वच्छिन्नस्य भोक्तात्मनः स्वरूपप्रदर्शनम्	— ५ वल्ली,	२ अध्याय,	१ ×	३
२१—व्यानस्वरूपविमर्शः	,,	,,	३ ×	५
२२—योनिस्वरूपनिरूपणम्	,,	,,	६ ×	७
२३—ब्रह्मसत्यनिरूपणम्	,,	,,	८ ×	११
२४—देवसत्यनिरूपणम्	,,	,,	१२ ×	१५

इति—द्वितीयाध्याये पञ्चमी वल्ली

५

६—षष्ठी वल्ली—

२५—अश्वत्थनिरूपणम्	६ वल्ली,	२ अध्याय,	१ ×	३
२६—विद्योपदेशः	,,	,,	४ ×	५
२७—आत्मसंस्थाक्रमप्रदर्शनम्	,,	,,	६ ×	९
२८—इन्द्रियधारणलक्षणयोगोपदेशः	,,	,,	१० ×	११
२९—सत्तारूपेणात्मनः साक्षात्कारः	,,	,,	१२ ×	१३

३०—व्यानग्रन्थिविमोके परामुक्तिः	६ वल्ली	२ अध्याय	१४	×	१५
३१—नाडीस्वरूपविज्ञानम्	,,	,,	१६	×	१७
३३—फलश्रुतिप्रकरणम्	,,	,,	१८	×	×

इति—द्वितीयाध्याये षष्ठी वल्ली (द्वितीयोऽध्यायश्च समाप्तः)

६

समाप्ता चेयं कठोपनिषत्

—३—

——**——

३४—प्रश्नोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय

४—प्रश्नोपनिषत् (खण्डात्मानुगतप्राणप्रपञ्चनिरूपणपरेयमुपनिषत्)

'पिप्पलादोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध षट्-प्रश्नात्मिका इस उपनिषत् में प्राणविद्या-प्रतिपादन के द्वारा 'अक्षरलक्ष्य' की ओर सङ्केत हुआ है। आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, भेद से प्राण के मुख्य तीन विवर्त्त हैं। प्रत्येक के असंख्य विवर्त्त हैं, जैसाकि-'को हि तद्वेद, यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः' (शत० ७।२।२।२०।) निगम से स्पष्ट है। अनेकधा विभक्त इन आध्यात्मिक प्राणों के कोशभूत पाँच आध्यात्मिक प्राणों का ही इस प्राणोपनिषत् में विश्लेषण हुआ है। **'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'** (श्वेताश्वतर०) के अनुसार आध्यात्मिक, अमृतात्मलक्षण षोडशीपुरुष में **अव्यक्तप्राण, महतप्राण, विज्ञानप्राण, प्रज्ञानप्राण, पशुप्राण,** भेद से पाँच प्राकृत प्राण प्रतिष्ठित हैं। इसी पञ्चप्राणसमष्टि का पूर्व के पारिभाषिक परिच्छेदों में 'विश्वसृट्' नाम से विश्लेषण हुआ है, एवं इन्हीं को 'प्राणः-आपः-वाक्-अन्नं-अन्नादः' कहते हुए इनकी समष्टि को 'ब्रह्मसत्य' कहा गया है। इन पाँच मुख्य प्राणों के साथ एक एक भूतभाग प्रतिष्ठित रहता है। भूत ही प्राण की प्रतिष्ठा (आलम्बन) है। भूत-प्राण-भेद से दो कलाओं में विभक्त पञ्चप्राण-निरूपण-पूर्वक पञ्चप्राणाधारभूत षोडशी पर विश्रान्ति ही उपनिषन्निकर्ष है।

सत्यकाम शैव्य, सौर्य्यायण गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, छओं ब्रह्मसत्य (प्राणपञ्चक) जिज्ञासु समित्पाणि होकर प्राणविद्याचार्य्य महर्षि पिप्पलाद के आश्रम में पहुँचते हैं। और क्रमशः प्राणस्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। प्रश्न सम्बन्ध से यह उपनिषत् **'प्रश्नोपनिषत्'**, पिप्पलाद सम्बन्ध से **'पिप्पलादोपनिषत्'**, एवं प्राणप्रतिपादनसम्बन्ध से **'प्राणोपनिषत्'** कहलाई है।

प्रथम प्रश्न में रयि-प्राणात्मक **'महत्प्राण'** का, दूसरे प्रश्न में धिषणाप्राणात्मक **'विज्ञानप्राण'** का, तीसरे प्रश्न में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के अधिष्ठाता प्रज्ञा-प्राणात्मक **'प्रज्ञानप्राण'** का, चौथे प्रश्न में भूत-प्राणात्मक **'भूतप्राण'** का, पाँचवें प्रश्न में अव्यक्त-प्राणात्मक **'अव्यक्तप्राण'** का निरूपण हुआ है। ये पाँचों प्राण **'अरा इव रथनाभौ'** के अनुसार नाभिस्थानीय षोडशकल पुरुष में ओत हैं। छठे प्रश्न में उसी पुरुषतत्त्व का विश्लेषण हुआ है।

प्रथम प्रश्न में रयि–प्राणात्मक महत् प्राण के निरूपण के साथ साथ अहोरात्र, पक्ष, मास, अयनाधिष्ठाता, उत्तरायण–दक्षिणायनप्रवर्त्तक, पञ्चपाद, द्वादशाकृति, सप्तचक्रात्मक सम्वत्सरप्रजापति का तात्त्विक विश्लेषण हुआ है। द्वितीय प्रश्न में धिषणा-प्राणात्मक विज्ञानप्राणनिरूपण के साथ साथ प्राणों के स्वाभाविक विधृति, प्रतिष्ठा, ज्योतिः, इन तीन धर्म्मों का विश्लेषण हुआ है। अनन्तर प्राण के अन्नादभाव का उपबृंहण करते हुए इसका सर्वाधिष्ठातृत्त्व सिद्ध किया गया है। तीसरे प्रश्न में प्रधानरूप से प्रज्ञा–प्राणात्मक प्रज्ञानप्राण का निरूपण करते हुए सुप्रसिद्ध 'प्राण–उदान–व्यान–समान–अपान' इन पाँच वायव्य प्राणों की वैज्ञानिक मीमांसा हुई है। इसी में द्वासप्ततिसहस्र (७२०००) नाड़ियों का स्वरूपपरिचय हुआ है। उद्गार, निमेष, उन्मेष, क्षुधा, पिपासा, जृम्भा, श्वयथु, कम्पन, गमन, रुदन, हसन, आदि चेष्टाविशेषों की प्रतिष्ठारूप कृकल, धनञ्जय, देवदत्त, नाग, आदि प्राण भी इसी प्रश्न के तात्त्विक विषय हैं। चतुर्थ प्रश्न में प्रधान रूप से भूत–प्राणात्मक मर्त्यप्राण (भूतप्राण) का विश्लेषण करते हुए प्राणाग्निविवर्त्तों की मीमांसा करते हुए कौन जागता है, कौन सोता है, कौन उभयधर्म्मावच्छिन्न है?, इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक समाधान किया है। पाँचवें प्रश्न में अव्यक्त-प्राणात्मक **'अव्यक्तप्राण'** का प्रधान रूप से निरूपण करते हुए 'ओङ्कार' की तात्त्विक व्याख्या हुई है। छठे प्रश्न में प्रधानतया षोडशकल पुरुष के निरूपण के साथ साथ पुरुष के क्षर भाग से उत्पन्न भूतसृष्टि का भी तात्त्विक विवेचन हुआ है। यही इसके प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त प्रदर्शन है।

प्रश्न–१—रयि—–प्राणात्माधिकरणम्—रयिप्राणात्मको महानात्मा पारमेष्ठ्यः

प्रश्न–२—धिषणा-प्राणात्माधिकरणम्— धिषणाप्राणात्मको विज्ञानात्मा सौरः

प्रश्न–३—प्रज्ञा—–प्राणात्माधिकरणम्—प्रज्ञाप्राणात्मकः प्रज्ञानात्मा चान्द्रः

प्रश्न–४—भूत—–प्राणात्माधिकरणम्—भूतप्राणात्मकः प्राणात्मा पार्थिवः

प्रश्न–५—अव्यक्त-प्राणात्माधिकरणम्—अव्यक्त–प्राणात्मकोऽव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः

प्रश्न–६—पुरुषात्माधिकरणम्———षोडशकलावच्छिन्नः पुरुषात्मा

समाप्ता चेयं प्रश्नोपनिषत्

४

——❀——

३५—मुण्डकोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय—

५–मुण्डकोपनिषत्–(हिरण्यगर्भात्मक–अव्ययविशिष्ट–अक्षरात्मवर्णनपरेयमुपनिषत्)
(किंवा–विज्ञानात्मवर्णनपरेयमुपनिषत्)

विज्ञानात्मप्रतिपादन द्वारा हिरण्यगर्भमूलक अक्षर को प्रधान लक्ष्य बनाने वाली यह उपनिषत् ३मुण्डकों, तथा ६खण्डों में विभक्त होती हुई 'अक्षरविद्या' नामक॰ पराविद्या, एवं 'क्षरविधा' नामक अपराविद्या का भी तात्त्विक विश्लेषण कर रही है। भौमस्वर्गव्यवस्था के, एवं भारतीय मानवधर्म्ममूलक वर्णाश्रम के आदि–व्यवस्थापक, अतएव 'आदिमनु' नाम से प्रसिद्ध भगवान् 'स्वयम्भू' ब्रह्मा ने नित्यसिद्धा तत्त्वात्मिका अपौरुषेया

त्रयीविद्या के आधार पर जिस शब्दात्मिका त्रयीविद्या को जन्म दिया, वही 'ब्रह्मविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस विद्या के अक्षरानुगता पराविद्या, क्षरानुगता अपराविद्या, ये दो विवर्त्त हुए। वेदविद्या अपराविद्या कहलाई, अक्षरविद्या पराविद्या कहलाई। उभयात्मिका यह ब्रह्मविद्या स्वयम्भू के औरसपुत्र अथर्वा में सर्वप्रथम प्रतिष्ठित हुई। अथर्वा ने देवस्वर्गनिवासी महर्षि अङ्गिरा को अपना प्रधान शिष्य बनाया। अङ्गिरा ने सत्यवाह–भरद्वाज में यह विद्या प्रतिष्ठित की। भरद्वाज नें भारतवर्षीय अङ्गिरा ऋषि में यह परावरा ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित की। आगे जाकर **'महाशाल'** उपाधिलक्षण यशोनाम से विभूषित शौनक ने समित्पाणि होकर अङ्गिरा का शिष्यत्त्व स्वीकार किया। अङ्गिरा ने भी इस सत्पात्र के प्रश्नों का यथावत् समाधान करते हुए परावरा विद्या के उपदेश से शौनक को धन्य बनाया। वही परावरा विद्या मुण्डकोपनिषत् का प्रतिपाद्य विषय है।

पराविद्या वह विद्या है, जिससे शब्दातीत अक्षरतत्त्व का बोध होता है। अपराविद्या वह विद्या है, जिससे शब्दब्रह्म का तात्त्विकरूप अवगत होता है। अपराविद्यात्मिका वेदविद्या पूर्वसोपान है, पराविद्यात्मिका अक्षरविद्या अपर सोपान है। दोनों की प्रतिष्ठा आधिदैविक जगत् में सूर्य्यात्मक हिरण्यगर्भप्रजापति, एवं आध्यात्मिक जगत् में तदंशरूप विज्ञानात्मा बन रहा है।

परिभाषाप्रकरण में स्पष्ट किया गया है कि, स्वयम्भू से लोकसर्ग का आरम्भ है, एवं (अस्मदादि की अपेक्षा) पृथिवी पर लोकसर्ग की समाप्ति है। सूर्य्य इन दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है, जैसाकि **'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'–'मध्ये एकल एव स्थाता'–'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'–'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्'** इत्यादि निगमों से प्रमाणित है। **'सृष्टि, स्थिति, दृष्टि'** भेद से इस विश्वसृष्टि का तीन प्रकार से समन्वय किया जा सकता है। हम पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। पहिले पृथिवी पर हमारी दृष्टि पड़ती है। पृथिवी से चन्द्रमा, चन्द्रमा से सूर्य्य, सूर्य्य से परमेष्ठी, सर्वान्त में स्वयम्भू, यही हमारा स्थूलारुन्धती–न्यायमूलक दृष्टिक्रम है। यही पृथिवीमूला 'दृष्टिविद्या' है, जिसे **'प्रणवविद्या'** भी कहा गया है। उत्पत्तिक्रम ही सृष्टिक्रम है। इसमें पहिले स्वयम्भू, अनन्तर परमेष्ठ्यादि क्रम का विकास है। यही स्वयम्भूमूला 'सृष्टिविद्या' है, जिसे 'ओङ्कारविद्या' भी कहा गया है। उत्पन्न होने के अनन्तर जिस पर्व से सम्पूर्ण विश्व की स्वाभाविक स्थिति सुरक्षित रहती है, वही 'स्थिति' मूल बनता हुआ स्थितिविद्या का आधार बन रहा है, और वह एकमात्र यही सूर्य्यात्मक हिरण्य–गर्भप्रजापति है।

स्वयम्भू–परमेष्ठीयुग्म 'अमृतासृष्टि' है, चन्द्रमा–पृथिवीयुग्म 'मर्त्यासृष्टि' है, मध्यस्थ सूर्य्य उभय–धर्म्मात्मिका सृष्टि है। मध्यस्थ सूर्य्य से दोनों अनुगृहीत हैं, अतएव इसे हम स्थितिमूल मान सकते हैं। यही सूर्य्यमूलासृष्टि 'स्थितिविद्या' है, जिसे 'उद्गीथविद्या' भी कहा गया है। पञ्चपर्वात्मक वह ईश सर्वत्र व्याप्त है। स्वयम्भू इसका शिरोभाग है, उत्पत्तिलक्षण सृष्टिक्रम में यही प्रधान है। सूर्य्य इसका हृदय है, स्थिति–क्रम में यही प्रधान है। पृथिवी पाद–स्थानीया है, दृष्टिक्रम में यही प्रधान है। इसप्रकार सृष्टि, स्थिति, दृष्टि, भेद से सृष्टिपर्वों का स्वयम्भू, सूर्य्य, पृथिवी, तीनों से उपक्रम माना जा सकता है।

१—स्वयम्भूमूलासृष्टिः——शिरोमूला—'सृष्टि'मूला—सृष्टिविद्या——ओङ्कारविद्या
२——सूर्य्यमूलासृष्टिः——हृन्मूला——'स्थिति'मूला–सृष्टिविद्या——उद्गीथविद्या
३—पृथिवीमूलासृष्टिः——पादमूला——'दृष्टि'मूला—सृष्टिविद्या—प्रणवविद्या

'हिरण्मयेन सविता०'—'हिरण्मयेन पात्रेण०' इत्यादि वचनों के अनुसार रुक्माभ सूर्य्य हिरण्यगर्भ है। अतएव तन्मूला विद्या 'हिरण्यगर्भविद्या' कहलाई है। स्वयम्भू–परमेष्ठी में अव्यय का प्राधान्य है, चन्द्रमा–पृथिवी में क्षर की प्रधानता है, मध्यस्थ सूर्य में मध्यस्थ इन्द्रानुगत मध्यस्थ अक्षर का विकास है। इसी अक्षरदृष्टि से प्रकृत उपनिषत् में हिरण्यगर्भमूला अक्षरविद्या का विश्लेषण हुआ है।

(१–१)–प्रथममुण्डक के प्रथम खण्ड में अक्षर से होने वाली सृष्टिविद्या का विश्लेषण हुआ है। विश्वानुबन्धी कार्य्यकारणभाव औद्भाविक, सान्तानिक, सांस्कृतिक, नैमित्तिक, औपपादिक, प्राकृतिक, पारिणामिक, रसानुवृत्तिक, सांयौतिक, औपादानिक, सांक्रामिक, आक्रमिक, प्रातिभासिक, वैकल्पिक, ऐच्छिक, नोदनालक्षण, आदि भेद से अनेक भागों में विभक्त माना गया है। इन सब कार्य्यकारणाभावों का चार कार्य्य–कारणाभावों में अन्तर्भाव मानते हुए सृष्टि का निरूपण हुआ है। पृथिवी से ओषधियों का उत्पन्न होना, पुरुष से केशलोम का उत्पन्न होना, ऊर्णनाभि (मकड़ी) से तन्तु (जाल) का उत्पन्न होना, अग्नि से विस्फुलिंग (अग्निकण–चिनगारी) उत्पन्न होना, चारों ही उपादानात्मक कार्य्यकारणभाव हैं, परन्तु चारों के स्वरूप में विभेद है।

तपोलक्षण कर्म्म से ब्रह्म का चयन होता है, चित ब्रह्म से अन्नोत्पत्ति होती है, अन्न से ऊर्क् द्वारा प्राण का विकास होता है, प्राणबल से मन उद्बुद्ध होता है, मानस विकास से सत्यात्मक विज्ञान (बुद्धि) विकसित होता है, सत्य से महदनुबन्धी लोक का विकास होता है, लोक से कर्म्म का उदय होता है। कर्म्ममय भौतिक विश्व में इन सम्पूर्ण सर्गों का एकमात्र प्रवर्त्तक अक्षरब्रह्म ही है। और यही प्रथममुण्डक के प्रथम–खण्ड का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है।

(१–२)--प्रथममुण्डक के द्वितीय खण्ड में अक्षर के आधार पर होने वाले क्षरात्मक, अष्टादशपर्वा--वच्छिन्न प्राकृतिक यज्ञतत्त्व का ही विश्लेषण हुआ है। यज्ञाधारभूत यज्ञाग्नि की सप्तजिह्वा का विश्लेषण भी इसी खण्ड का विषय है। आरम्भ में त्रेताग्नि से सम्बद्ध वितानयज्ञ का तात्त्विक विश्लेषण करते हुए अन्त में इसकी क्षररूपता का स्पष्टीकरण हुआ है। इसी अवर–क्षरधर्म्म के आधार पर सर्वान्त में **'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'** कहते हुए कामनाप्रधान इस यज्ञकर्म्म को अमृताक्षरप्राप्ति में प्रतिबन्धक मानते हुए आत्मोपासना (अक्षरोपासना–निष्कामयज्ञानुगता) का आदेश हुआ है। एवं यही इस खण्ड का संक्षिप्त प्रतिपाद्य विषय है।

(२–१)–द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में अक्षर के सर्वव्यापक विराट् स्वरूप का प्रदर्शन हुआ है अक्षरविभूति–प्रदर्शन के साथ साथ अक्षर की स्वात्मानुगता निमित्तकारणता का, एवं अप्राण–अमन–शुभ्र--अज–नामक अव्ययात्मानुगता सर्वालम्बनता का विश्लेषण करते हुए ऋषि ने प्रसङ्गोपात्त अक्षरानुगत चेतन–सर्ग, प्राणसर्ग, ओषधि–वनस्पतिसर्ग, धर्म्मसृष्टि, गुहाशयों में प्रतिष्ठित चतुर्द्धा विभक्त सप्तप्राण, सप्तार्चि, सप्तसमिध, सप्तहोम, सप्तलोक, अन्तःसंज्ञ-असंज्ञसर्ग, आदि विराडक्षर की विराट् विभूतियों का प्रतिपादन किया है। और यही इस खण्ड के संक्षिप्त प्रतिपाद्य विषय हैं।

(२--२)--द्वितीय मुण्डक के द्वितीय खण्ड में महद्ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित, अतएव **'महद्ब्रह्मै–कमक्षरम्'** के अनुसार 'महदक्षर' नाम से प्रसिद्ध अक्षरब्रह्म की उपासना का (महदुपाधिदृष्टि से) प्रकार

बतलाया गया है । उपासना-प्रकार प्रतिपादन के साथ साथ अक्षरानुगत ओङ्कार के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए ऋषि ने इस 'परावर' अक्षर की सर्वव्याप्ति का भी दिग्दर्शन कराया है । अव्यय-क्षरयुक्त अक्षर सर्वज्ञ--सर्ववित्--सर्वकर्म्ममूर्त्ति बनता हुआ विश्व का वरिष्ठ तत्त्व बन रहा है, और यही प्रस्तुत खण्ड का संक्षिप्त प्रतिपाद्य विषय है ।

(३।१) -तृतीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में ईश्वरीय देवसत्य, तथा जीवात्मानुगत देवसत्य, इन दोनों से अनुगृहीत देवसत्याक्षरों के तात्त्विक स्वरूप का ही विश्लेषण हुआ है । परिभाषाप्रकरण में प्रतिपादित अश्वत्थ वृक्ष की पार्थिव शाखा पर दो सुपर्ण प्रतिष्ठित हैं । एक साक्षी है, दूसरा भोक्ता है । साक्षी सुपर्ण ईश्वर है, भोक्ता सुपर्ण जीव है । अनृत, जिह्मता, माया, अविद्यादि पाप्माओं के सम्बन्ध से जीवाक्षर स्वात्म-विभूति (ईश्वराक्षर) के सात्त्विक सहयोग से वञ्चित होता हुआ दुःख पाया करता है—**'अनीशया शोचति मुह्यमानः'** । जिस दिन जीवात्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान, ब्रह्मचर्य्य, वेदानुपालन, आदि व्रतों के अनुगमन से निर्धूतकल्मष बन जाता है, उसी दिन क्षीणदोष बनता हुआ, आत्मसंयम से-'यति' संज्ञा में परिणत होता हुआ यह जीवात्मा अन्तःशरीरस्थ (हृदयाकाशस्थ दहराकाशस्थ) उस ज्योतिर्म्मय - शुभ्र-अक्षर-ब्रह्म के विभूति सम्बन्ध का सत्पात्र बन जाता है । और इस दशा में आकर यह विशुद्धसत्त्व जीव यथाकाम, यथा-चार, सत्यसंकल्प बन जाता है । भूतिकाम प्रत्येक गृहस्थी को ऐसे अक्षरवित् विद्वान् का सत्कार करना चाहिए ।

(३।२।)--तृतीय मुण्डक के द्वितीय खण्ड में प्रधानरूप से अक्षरप्रतिष्ठारूप परमधाम का विवेचन हुआ है । अक्षरप्राप्ति का क्या उपाय है ?, अक्षर कहाँ प्रतिष्ठित है ?, कौन अक्षर प्राप्त कर सकता है ?, अक्षर प्राप्त्यनन्तर जीवसंस्था का कैसा स्वरूप हो जाता है ?, अचीर्णव्रत का क्या स्वरूप है ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान करता हुआ प्रस्तुत खण्ड अक्षर पर ही लक्ष्य समाप्त कर रहा है । यही हिरण्यगर्भ है, यही अध्यात्म में विज्ञानात्मा है । अतएव मुण्डकोपनिषत् का प्रधान प्रतिपाद्य यही माना गया है ।

१—अक्षरानुगतसृष्टिप्रपञ्चाधिकरणम्	१	मुण्डके	१	खण्डः
२—अक्षरकृतयज्ञसृष्टिनिरूपणाधिकरणम्		,,	२	खण्डः
३—अक्षरात्मनो विराट्स्वरूपनिरूपणाधिकरणम्	२	मुण्डके	१	खण्डः
४—अक्षरोपासनाप्रकारप्रदर्शनाधिकरणम्		,,	२	खण्डः
५—देवसत्यात्मकाक्षरस्वरूपनिरूपणाधिकरणम्	३	मुण्डके	१	खण्डः
६—अक्षरप्रतिष्ठानिरूपणाधिकरणम्		,,	२	खण्डः

समाप्ता चेयं मुण्डकोपनिषत्

५

३६–माण्डूक्योपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय—

(६)–माण्डूक्योपनिषत् (चतुष्पाद–प्रज्ञानब्रह्मनिरूपणपरेयमुपनिषत्)।

लघुकायात्मिका इस उपनिषत् में प्रज्ञानब्रह्म के चार पदों के विश्लेषण के साथ साथ तत्समतुलित शब्दब्रह्म-लक्षण ओङ्कार के चार पदों का निरूपण हुआ है। 'अर्द्धमात्रा, अकार, उकार, मकार' इन चार पदों की समष्टि ओङ्कार है। **'अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्य्या विशेषतः'** (सप्तशती) के अनुसार सर्वालम्बनभूता, सर्वव्यापिका, परात्परसमतुलिता, अनुच्चार्य्या, नित्या अमात्रलक्षणा मात्रा 'अर्द्धमात्रा' है। उच्चार्य्या–अनित्या–प्रयोगलक्षण–शब्दात्मिका अर्द्धमात्रा से इस नित्या अर्द्धमात्रा का कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि सर्वसाधारण ने मान रक्खा है। भौतिकमात्रा ही मात्रा है। वह मर्त्य–भौतिक प्रपञ्च से अतीत होती हुई अमात्रा है। जितना प्रदेश अकारादि तीन मृत्युमात्राओं नें घेर रक्खा है, उतना ही प्रदेश (इन तीनों उपाधियों की दृष्टि से) इस अमात्रतत्त्व ने घेर रक्खा है। एकमात्र इसी अभिप्राय से इस अमात्रतत्त्व को अर्द्धमात्रा कह दिया जाता है। अमात्रतत्त्व अमृत है, मात्रालक्षण अकारादि मर्त्य हैं, दोनों की समष्टि ही ओङ्कार है।

उभयात्मक यह ओङ्कार **'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्'** के अनुसार आत्मोपासना की आधारभूमि है। इस अनुगम वचन का शतशः स्थलों में समन्वय हो रहा है, जैसाकि **'कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य'** में प्रतिपादित उदाहरणों से स्पष्ट है। उदाहरण के लिए तीन चार उद्धरण यहाँ भी उद्धृत कर दिए जाते हैं। इन तीनों में भी प्रत्येक पर्व स्व–स्व अमृत–मृत्युमात्राओं से ओङ्कार-सम्पत्ति से युक्त हो रहे हैं—

* परात्परः—अर्द्धमात्रा	
१ अव्ययः—अकारः	
२ अक्षरः– –उकारः	--'ओम्'–इत्येवमात्मानमुपासीत' (तस्य वाचकः प्रणवः)
३ आत्मक्षरः–मकारः	
षोडशी—ओङ्कारः	

*-षोडशीपुरुषः------अर्द्धमात्रा	
१–स्वयम्भूः–परमेष्ठी—अकारः	
२–सूर्य्यः-----------उकारः	
३–पृथिवी–चन्द्रमा—- मकारः	––'ओम्'इत्येवमात्मानमुपासीत
परब्रह्म-------शब्दब्रह्म	

*-हृदयस्थः-षोडशीपुरुषः-अर्द्ध मात्रा

१-अव्यक्तः-महान्----अकारः

२-विज्ञानम्--------उकारः

३-प्रज्ञानम्--------मकारः

परब्रह्म--------शब्दब्रह्म

---'ओम्' इत्येवमात्मानमुपासीत

❀—अव्यक्तः-महान्——अर्द्ध मात्रा

१—विज्ञानम्————अकारः

२—प्रज्ञानम्————उकारः

३—शरीरम्————मकारः

परब्रह्म शब्दब्रह्म

---'ओम्' इत्येवमात्मानमुपासीत

❀—विज्ञानम्———अर्द्ध मात्रा

१—प्रज्ञानं, प्राज्ञः——अकारः

२—तैजसः————उकारः

३—वैश्वानरः———मकारः

परब्रह्म शब्दब्रह्म

——'ओम्' इत्येवमात्मानमुपासीत

प्रकृत उपनिषत् में केवल 'प्रज्ञानब्रह्म' की चार विभूतियों का ही प्रतिपादन हुआ है । चान्द्ररस से निष्पन्न होने वाला विज्ञानगत अक्षरचेतनायुक्त सर्वेन्द्रियमन ही प्रज्ञानात्मा है । स्तौम्यत्रिलोकी के त्रिवृत्-स्थानीय पार्थिव अग्निप्रधान रस से निष्पन्न होने वाला, **'चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा'** के अनुसार सप्त अग्निचिति के सम्बन्ध से **सप्ताङ्ग**, ५--ज्ञानेन्द्रिय, ५--कर्मेन्द्रिय, ५--प्राण, १--मन, १--बुद्धि, १--चित्त, १--अहङ्कार, इन १६ भोगसाधनों से **एकोनविंशतिमुख**, अर्थप्रधान अग्निप्राधान्य से **स्थूलभुक्**, अर्थ-विकास से बहिःप्रज्ञ तत्त्व ही **'वैश्वानर'** है ।

स्तौम्य त्रिलोकी के पञ्चदश--स्थानीय आन्तरीक्ष्य वायुप्रधान रस से निष्पन्न होने वाला, उक्त भोग-साधनों से एकोनविंशतिमुख, प्रविविक्तभुक् तत्त्व ही **'तैजस'** है । एवं एकविंश--स्थानीय दिव्य इन्द्रप्रधान रस से निष्पन्न होने वाला, आनन्दभुक् तत्त्व प्राज्ञ है । सर्वाधार आनन्दघन तत्त्व 'प्रज्ञान' है । महदनुगृहीत विज्ञान से नित्य-संपरिष्वक्त प्रज्ञानगत चिदंश का पहिले 'प्राज्ञ' में, प्राज्ञ द्वारा तैजस में, तद्द्वारा वैश्वानर में आगमन होता है । वैश्वानर--तैजस-प्राज्ञ,तीनों की जाग्रदवस्था **'जाग्रदवस्था'** है । वैश्वानर की सुषुप्ति, तथा तैजस-प्राज्ञ की जागृति **'स्वप्नावस्था'** है । एवं तीनों की सुषुप्ति **'सुषुप्त्यवस्था'** है । वैश्वानर जाग्रदवस्था का, तैजस स्वप्नावस्था का, प्राज्ञ सुषुप्त्यवस्था का आधार है । वैश्वानर मकार है, तैजस उकार है, प्राज्ञ अकार है । ये तीनों मृत्यु-मात्रा उस तुरीय अमात्र-प्रज्ञानब्रह्म पर प्रतिष्ठित हैं । मात्रामय त्रिमूर्त्ति भोक्ताद्वारा प्रज्ञानगत लक्षीभूत अक्षरप्राप्ति ही प्रकृदुपनिषन्निष्कर्ष है ।

❀--**महद्विज्ञानगर्भितं प्रज्ञानं ब्रह्म-तुरीयम्**	अर्द्धमात्रा......
१--प्राज्ञः--चेतोमुखः, आनन्दभुक्--तृतीयः पादः	अकारः (मकारः)
२--तैजसः--एकोनविंशतिमुखः, सप्ताङ्गः, प्रविविक्तभुक्--द्वितीयः पादः	उकारः (उकारः)
३--वैश्वानरः-- ,, ,, स्थूलभुक्--प्रथमः पादः	मकारः (अकारः)

समाप्ता चेयं माण्डूक्योपनिषत्

६

---❀---

३७--तैत्तिरीयोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय--

७--तैत्तिरीयोपनिषत्--(परावरब्रह्मविज्ञानवर्णनपरेयमुपनिषत्)

तैत्तिरीयोपनिषत् में-- शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्द बल्ली, भृगुवल्ली, नामक तीन प्रधान प्रकरण हैं । प्रत्येक में क्रमशः १२, ६, १०, अनुवाक हैं । त्रि--वल्लीयुक्ता ३१ अनुवाकसमष्टिलक्षणा इस उपनिषत् में 'परावरब्रह्म' का विश्लेषण करते हुए ऋषि नें आनन्दमय अव्यय की प्राप्ति का ही अक्षरद्वारा प्रतिपादन किया है । परब्रह्म ही अक्षरब्रह्म है, अवरब्रह्म ही शब्दब्रह्म है । प्रथमा वल्ली में इस शब्दब्रह्म का ही विवेचन हुआ है । अक्षरब्रह्म अव्यय-क्षर से अविनाभूत है । इस त्रिमूर्त्ति, अतएव सर्वमूर्त्ति अक्षरब्रह्म के 'आत्मा-विश्व' नामक दो मुख्य विवर्त्त हैं । स्वयं षोडशीपुरुष आत्मविवर्त्त है, ब्रह्म-सुब्रह्म की समष्टि विश्वविवर्त्त है ।

द्वितीया ब्रह्मानन्द-वल्ली में आत्मविवर्त्त का विश्लेषण हुआ है, तृतीया भृगुवल्ली में विश्वविवर्त्त का स्पष्टीकरण हुआ है। इन दोनों के गर्भ में सम्पूर्ण खण्डात्मक विवर्त्त प्रतिष्ठित है। अतएव उपनिषत् को गौणरूप से इन खण्डात्माओं का भी सन्क्षेप से निरूपण करना पड़ा है। इसप्रकार यह उपनिषत् एक प्रकार से ईशोपनिषत् से समतुलित होती हुई सर्वोपनिषत् बन रही है। प्रतिपाद्य विषयों का दो शब्दों में दिगदर्शन करा दिया जाता है——

१-शीक्षावल्ली (शब्दब्रह्मप्रतिपादनपरा)—

(१)-प्रथमोऽनुवाकः—

इस अनुवाक में शान्तिपाठ का विधान हुआ है। शब्दब्रह्माभिन्न परब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली इस उपनिषत् ने सर्वप्रथम शब्दब्रह्म का ही माङ्गलिक स्मरण आवश्यक माना है। शब्दब्रह्म की प्रतिष्ठा इन्द्रतत्त्व है। शब्द में 'स्वर-वर्ण' इन दो भावों का प्राधान्य है। स्वर का इन्द्र से सम्बन्ध है, वर्ण का अग्नि से सम्बन्ध है। इन्द्र सौर है, यही स्वरात्मिका बृहतीवाक् की प्रतिष्ठा है। अग्नि पार्थिव है, यही वर्णात्मिका अनुष्टुप् वाक् की प्रतिष्ठा है। अनुष्टुप्-लक्षणा वर्णवाक् बृहतीवागूलक्षणा स्वरवाक् से नित्य अनुगृहीत रहती है। सूर्य्यस्थ मर्त्यभाग ही प्रवर्ग्याग्नि के द्वारा पृथिवीरूप में परिणत होता हुआ वर्णसृष्टि की प्रतिष्ठा है, सूर्य्यस्थ अमृतभाग ही स्वात्मरूप (इन्द्ररूप) से स्वरसृष्टि का आलम्बन है।

अमृत-मृत्युसंस्थान-लक्षण, शब्दब्रह्माधिष्ठाता सूर्य्य के समष्टि-व्यष्टिरूप से दो विवर्त्त माने गए हैं। समष्टिविवर्त्त 'ब्रह्म' है, व्यष्टिविवर्त्त बृहस्पति, इन्द्र, विष्णु, मित्र, अर्य्यमा, वरुण, इन भावों में विभक्त है। आरम्भ की त्रयी का सौर-अमृतभाग से, अन्त की त्रयी का सौर मर्त्यभाग से प्रधान सम्बन्ध है। सूर्य्य-ब्रह्म का मृत्युभाग ही अवस्थाभेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो रहा है। सम्पूर्ण खगोल के 'मध्याह्न-मध्यरात्रि' भेद से दो विभाग माने गए हैं। याम्योत्तररेखा (ध्रुवप्रोतवृत्त नाम की दक्षिणोत्तर वह रेखा, जो मध्याह्न-मध्यरात्रि का विभाजन करती है) ही इन दो विभागों का मूल है। इस रेखा से विभक्त मध्यरात्रि से मध्याह्न तक का भचक्रखण्ड पूर्वकपाल है, शेष अर्द्धखण्ड पश्चिम कपाल है। पूर्वकपालस्थ वही सौर तत्त्व मित्र है, पश्चिमकपालस्थ वही सौर तत्त्व वरुण है, एवं मध्यस्थ वही तत्त्व अर्य्यमा है। इन तीनों मर्त्यरूपों का क्रमशः त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, स्तोमों से सम्बन्ध है। एवं इन्हीं से आध्यात्मिक मर्त्य विभाग सुरक्षित रहता है।

'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' (ऐतरेयब्राह्मण) के अनुसार २१ शस्तोमस्थ वही आदित्यप्राण विष्णु है। पञ्चविंशस्थ वही प्राण **'इन्द्र'** (सौम्यविद्युत्) है, यही 'महाव्रत' है, यही 'अविवाक्यमहः' है। **'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः'** के अनुसार इन्द्रसंस्था से ऊपर २६ वें अहर्गण पर इसी का अन्यतम-वाङ्मयरूप बृहस्पति प्रतिष्ठित है। ये तीनों अमृतभाव-प्रधान बनते हुए आत्मोपकारक हैं। 'आत्मा-शरीर' दोनों का अमृतमर्त्यत्रयी से सम्बन्ध है। दोनों की मङ्गलकामना अभीष्ट है। अतः व्यष्टि-समष्टिरूप से उन्हीं देवताओं की स्तुति की गई है। तै० उ० यजुर्वेदीया है। यजुः की मूलप्रतिष्ठा वायु है, वही इस यजुरुपनिषत् की प्रत्यक्ष देवता है। अतः अन्त में उसकी स्तुति हुई है। इसप्रकार प्रथम अनुवाक में वायुतत्त्वाधिष्ठित तैत्तिरीयने आत्म-शरीर-

विशिष्ट की मङ्गल कामना करते हुए समष्टि-व्यष्टिरूप से शब्द--परब्रह्म-विवर्त्तों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इसप्रकार सम्पूर्ण उपनिषत् में अवान्तर विषयगर्भित तीन प्रधान विषयों का विश्लेषण हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

१—प्रथमा—शीक्षावल्ली——शब्दब्रह्मनिरूपणाधिकरणम्

२—द्वितीया--ब्रह्मानन्दवल्ली—--आत्मविवर्त्तनिरूपणाधिकरणम्

३—तृतीया-भृगुवल्ली———विश्वविवर्त्तनिरूपणाधिकरणम्

१-प्रथमा—शीक्षावल्ली-तत्र द्वादशाधिकरणानि—

१—मङ्गलरहस्याधिकरणम्	प्रथमोऽनुवाकः	(१।१)।
२—वर्णमातृकारहस्याधिकरणम्	द्वितीयोऽनुवाकः	(१।२।)।
३—पदसंहितारहस्याधिकरणम	तृतीयोऽनुवाकः	(१।३।)।
४—शब्देन्द्ररहस्याधिकरणम्	चतुर्थोऽनुवाकः	(१।४।)।
५—शब्दार्थव्याकृतिरहस्याधिकरणम	पञ्चमोऽनुवाकः	(१।५।)।
६—इन्द्रयोनिरहस्याधिकरणम्	षष्ठोऽनुवाकः	(१।६।)।
७—पाङ्क्तयज्ञरहस्याधिकरणम	सप्तमोऽनुवाकः	(१।७।)।
८—ओङ्काररहस्याधिकरणम्	अष्टमोऽनुवाकः	(१।८।)।
९-ऋतसत्यरहस्याधिकरणम्	नवमोऽनुवाकः	(१।९।)।
१०-ब्रह्मतेजोरहस्याधिकरणम	दशमोऽनुवाकः	(१।१०।)।
११-स्वस्त्ययनकर्म्मरहस्याधिकरणम्	एकादशोऽनुवाकः	(१।११।)।
१२-मङ्गलरहस्योपसंहाराधिकरणम्	द्वादशोऽनुवाकः	(१।१२।)।

इति-द्वादशाधिकरणात्मकं-शब्दब्रह्मनिरूपणाधिकरणम्।

समाप्ता चेयं प्रथमा शीक्षावल्ली

१

२–द्वितीया ब्रह्मानन्दवल्ली–तत्र ९ अधिकरणानि–

१–वागूब्रह्मरहस्याधिकरणम्	प्रथमोऽनुवाकः (२।१।)।	—अव्ययरहस्यम्
२–प्राणमयब्रह्मरहस्याधिकरणम्	द्वितीयोऽनुवाकः (२।२।)।	
३–मनोमयब्रह्मरहस्याधिकरणम्	तृतीयोऽनुवाकः (२।३।)।	
४–विज्ञानमयब्रह्मरहस्याधिकरणम्	चतुर्थोऽनुवाकः (२।४।)।	
५–आनन्दमयब्रह्मरहस्याधिकरणम्	पञ्चमोऽनुवाकः (२।५।)।	
६–रसब्रह्मरहस्याधिकरणम्	षष्ठोऽनुवाकः (२।६।)।	
७–अक्षरब्रह्मरहस्याधिकरणम्	सप्तमोऽनुवाकः (२।७।)।	—अक्षररहस्यम्
८–अभयब्रह्मरहस्याधिकरणम्	अष्टमोऽनुवाकः (२।८।)	—परात्पररहस्यम्
९–क्षरब्रह्मरहस्याधिकरणम्	नवमोऽनुवाकः (२।९।)।	—आत्मक्षररहस्यम्

इति–नवाधिकरणात्मकम्–आत्मविवर्त्तनिरूपणाधिकरणम् ।
समाप्ता चेयं द्वितीया ब्रह्मानन्दवल्ली

——२——

३–तृतीया भृगुवल्ली–तत्र दशाधिकरणानि–

समष्टिः–१–भूतात्मरहस्याधिकरणम्	प्रथमोऽनुवाकः	(३।१।)।	(समष्टिब्रह्म)।
अन्नादः–२–पार्थिवब्रह्मरहस्याधिकरणम	द्वितीयोऽनुवाकः	(३।२।)।	(अन्नमयं ब्रह्म-पृथिवी)।
अन्नम्–३–चान्द्रब्रह्मरहस्याधिकरणम्	तृतीयोऽनुवाकः	(३।३।)।	(प्राणमयं ब्रह्म-चन्द्रमाः)।
वाक्—४–सौरब्रह्मरहस्याधिकरणम्	चतुर्थोऽनुवाकः	(३।४।)।	(मनोमयं ब्रह्म-सूर्य्यः)।
आपः–५–पारमेष्ठ्यब्रह्मरहस्याधिकरणम्	पञ्चमोऽनुवाकः	(३।५।)।	(विज्ञानमयं ब्रह्म-परमेष्ठी)।
प्राणः–६–स्वायम्भुवब्रह्मरहस्याधिकरणम्	षष्ठोऽनुवाकः	(३।६।)।	(आनन्दमयं ब्रह्म-स्वयम्भूः)।
७–ब्रह्मव्रतरहस्याधिकरणम्	सप्तमोऽनुवाकः	(३।७।)।	
८–प्रतिष्ठाब्रह्मरहस्याधिकरणम्	अष्टमोऽनुवाकः	(३।८।)।	

६-आवपनब्रह्मरहस्याधिकरणम्   नवमोऽनुवाकः   (३।६।)।
१०-अध्यात्मब्रह्मरहस्याधिकरणम्   दशमोऽनुवाकः   (३।१०।)।

इति-दशाधिकरणात्मकं-विश्वविवर्त्तनिरूपणाधिकरणम् ।

समाप्ता चेयं तृतीया भृगुवल्ली

समाप्ता चेयं तैत्तिरीयोपनिषत्

७

३८-ऐतरेयोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय—

८-ऐतरेयोपनिषत्-(प्राजापत्यप्राणवर्णनपरेयमुपनिषत्)-प्रज्ञात्मकः प्राणः प्राजापत्यः

इस उपनिषत् के सम्बन्ध में हमें कुछ विशेष वक्तव्य है। 'ऐतरेय उपनिषत्' का जो स्वरूप वर्त्तमान में 'उपनिषत्' रूप से उपलब्ध हो रहा है, केवल उसी पर 'उपनिषत्' मर्य्यादा का अवसान नहीं माना जा सकता। 'उपनिषत्' शब्द का जो अवच्छेदक माना गया है, जिसका कि भूमिका-प्रथम खण्ड में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है, उसके अनुसार ऐतरेयोपनिषत् का वही रूप उपनिषत् शब्द से ग्राह्य माना जायगा, जिसके सम्बन्ध में अवच्छेदक मर्य्यादा घटित होगी। 'ब्राह्मणलक्षण विधि, आरण्यक, उपनिषत्' कर्त्तव्यात्मक वेदभाग के ये तीनों पर्व समष्टिरूप से **'ब्राह्मण'** नाम से व्यवहृत हुए हैं। इसी व्यवहार के प्रमाणस्वरूप **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं। यहाँ ब्राह्मण शब्द से विधि, आरण्यक, उपनिषत्, तीनों गृहीत हैं। **'बह्वृचब्राह्मणोपनिषद्भाष्यं समाप्तम्'** इत्यादि व्यवहार भी एतन्मूलक ही हैं। **'जैमिनीयब्राह्मणोपनिषत्'** अभिधा भी ब्राह्मण शब्द की इसी सर्वव्याप्ति का समर्थन कर रही है। **'बृहदारण्यकोपनिषत्'** नाम से जो एक स्वतन्त्र उपनिषत् मानी जाती है, वह वस्तुतः सुप्रसिद्ध शतपथ-ब्राह्मण का ही अन्तिम भाग है। ब्राह्मणग्रन्थ के १४ वें काण्ड का ही नाम बृहदारण्यक है।

इस सम्बन्ध में भी यह विशेषरूप से ध्यान रखना पड़ेगा कि, विधि-भागात्मक ब्राह्मणभाग की अपेक्षा आरण्यक का उपनिषत् से विशेष सम्बन्ध माना गया है। आरण्यक, और उपनिषदों के अवच्छेदक समतुलित हैं। हमारी प्रस्तुत ऐतरेयोपनिषत् कोई स्वतन्त्र उपनिषत् नहीं है। अपितु ऐतरेय आरण्यक के भागविशेष का ही नाम ऐतरेयोपनिषत् है। ऐतरेयब्राह्मण का अवसान **'अथाथो ब्रह्मणः परिमरः'** (ऐ० ब्रा०) इस परिमरविद्या पर हुआ है। इसके अनन्तर हमारे सामने आरण्यक--उपनिषदात्मक (उभयात्मक) ऐतरेयारण्यक आता है। **'ओं अथ महाव्रतम्'** (ऐ०१आ०।१आ०।१खं०) यहाँ से आरण्यक का आरम्भ है, एवं **"ब्रह्म भवति, ब्रह्म भवति"** (ऐ०५आ०।१अ०।३खं०) यहाँ पर आरण्यक की समाप्ति है। इस आरण्यक में ५ आरण्यक हैं, एवं प्रत्येक में क्रमशः ५,७,२,१,३, इतनें अध्याय हैं। इस आरण्यकग्रन्थ का एक प्रकरण-विशेष ही आज दिन विद्वत्-समाज में **'ऐतरेयोपनिषत्'** नाम से प्रसिद्ध है। एवं दार्शनिक-मतवाद से सम्बन्ध रखने वाले इस उपनिषत् का निम्न लिखित स्वरूपपरिचय है-

प्रचलित–ऐतरेयोपनिषत्—

खण्डोपक्रमवाक्य	"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"
खण्डोपसंहारवाक्य	"रेतस आपः" (इति १ खण्डः)।
खण्डोपक्र०	"ता एता देवताः सृष्टाः"
खण्डोपसं०	"अशनायापिपासे भवतः" (इति २ खण्डः)।
खण्डोपक्र०	"स ईक्षतेमे नु लोकाश्च"
खण्डोपसं०	"परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (इति ३ खण्डः)।

इत्यैतरेये द्वितीयारण्यके चतुर्थोऽध्यायः
उपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः

—❀—

खण्डोपक्र०	"पुरुषे ह्वा अयम्"
खण्डोपसं०	"समभवत् समभवत्" (इति चतुर्थ खण्डः)।

इत्यैतरेयारण्यके पञ्चमोऽध्यायः
उपनिषत्सु द्वितीयोऽध्यायः

—❀—

खण्डोपक्र०	"कोऽयमात्मेति०"
खण्डोपसं०	"समभवत् समभवत्" (इति पञ्चमखण्डः)।

इत्यैतरेयारण्यके षष्ठोऽध्यायः
उपनिषत्सु तृतीयोऽध्यायः
इत्यैतरेयोपनिषत्–सम्पूर्णा

—❀—

तात्पर्य्य कहने का यह निकला कि, ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक का त्रिखण्डात्मक चतुर्थ-अध्याय, १ खण्डात्मक पञ्चम अध्याय, १ खण्डात्मक षष्ठ अध्याय, इतने प्रकरण का नाम प्राचीनों नें 'ऐतरेयोपनिषत्' रक्खा है। प्राचीनों से हमारा लक्ष्य केवल अद्वैतसम्प्रदायवादी (श्रीशङ्कराचार्य्याः) हैं !

आपनें, एवं आपके अनुयायी श्रीआनन्दगिरि, आदि व्याख्याताओं नें ऐतरेयोपनिषत् का उक्त स्वरूप ही माना है ? परन्तु वेदभाष्यकार सर्वश्री सायणाचार्य्य ने इस उपनिषत् का बृहत्–स्वरूप हमारे सामने रक्खा है । और इस स्वरूप के सम्बन्ध में कहना पड़ेगा कि, उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक सायणाभिमत पाठ के साथ ही समन्वित हो रहा है । अतः हम भी इसी स्वरूप को लक्ष्य बना कर प्रतिपाद्य विषयतालिका उद्धृत करेंगे ।

द्वितीय आरण्यक से आरम्भ कर तृतीय आरण्यक समाप्तिपर्य्यन्त सायणाभिमत 'ऐतरेयोपनिषत्' है । द्वितीय आरण्यक का आरम्भ–**"एष पन्थाः, एतत्कर्म्म, एतद् ब्रह्म, एतत् सत्यम्'** (ऐ०आ० २ आ० । १ आ०। १ खं०।) यहाँ से हुआ है, यही ऐतरेयोपनिषत् का उपक्रम है । एवं तृतीयारण्यक की समाप्ति–**"इत्याचार्य्याः, इत्याचार्य्याः"** (ऐ० आ० ३ आ०। २ आ०। ६ खं०।) यहाँ हुई है, और यही ऐतरेयोपनिषत् का उपसंहार है । इसी को लक्ष्य में रखते हुए प्रतिपाद्य विषयों का दिग्दर्शन विज्ञानसम्मत माना जायगा । द्वितीयारण्यक का उपक्रम करते हुए सायणाचार्य्य ने–**'उपनिच्छब्दो ब्रह्मविद्यामाचष्टे'** यह कहा है । स्पष्ट है कि, वे यहीं से उपनिषत् का आरम्भ मानते हैं । एवं तृतीयारण्यक के अन्त का **'अथातः संहिताया उपनिषत्'** वचन स्पष्ट कर रहा है कि, सायणाचार्य्य तृतीयारण्यक–समाप्ति–पर्य्यन्त उपनिषत् का स्वरूप स्वीकार कर रहे हैं ।

ऐतरेयोपनिषत् ने प्रज्ञा–प्राणमय इन्द्राक्षर को अपना लक्ष्य बनाते हुए 'प्रज्ञानात्मा' नामक प्रज्ञान ब्रह्म का ही विश्लेषण किया है । सम्भूति–विनाशात्मक प्रज्ञानब्रह्म ही उपनिषत् का प्रधान विषय है । प्रजा (भूत), आदि सृष्टियों का मूल यही प्रज्ञानब्रह्म है, जिसे पार्थिव इरा–रसमय होने से 'इरामय' कहा गया है । एवं जो कि इरामय प्रज्ञानब्रह्म परोक्षभाषा में 'हिरण्मय' कहलाया है । सौर विज्ञानात्मा जहाँ सौर–हिरण्य तेज के सम्बन्ध से हिरण्यमय है, वहाँ चान्द्रतत्त्वगर्भित पार्थिव प्रज्ञानात्मा पार्थिव इरामय के सम्बन्ध से हिरण्मय है । यह हिरण्मय (प्रज्ञान) तभी तक अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रहता हुआ जीवनसत्ता का कारण बना रहता है, जब तक कि इसका हिरण्मय (विज्ञानात्मा) के साथ ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध सुरक्षित बना रहता है, अतः उस हिरण्मय को ही आयुःस्वरूपरक्षक माना गया है । वही हिरण्मय प्राण (विज्ञानप्राण–सौरप्राण) 'बृहतीप्राण'–'विश्वामित्रप्राण' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है । नवाक्षर बृहतीछन्द ही सौर बृहतीप्राण की प्रतिष्ठा है । बृहती छन्द के चार पादों के ३६ अक्षर हैं । प्रत्येक अक्षर साहस्री के सम्बन्ध से सहस्र–सहस्र महिमा रूप में परिणत रहता है, जैसाकि–**'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है । इसप्रकार ३६ बृहतीप्राण के ३६००० विवर्त्त हो जाते हैं । इन्हीं के लिए उपनिषत् में **"बृहती' (३६)–सहस्र'** शब्द प्रयुक्त हुआ है । प्रत्येक प्राण वाक्–मन से अनुगृहीत है । मनःप्राणवाङ्मय यही बृहतीप्राण (सौरविज्ञानप्राण) हमारा (प्रज्ञान का) आत्मा (प्रतिष्ठा) है । प्रतिदिन सूर्य्य से हमें ज्ञानमय मन, क्रियामय प्राण, वाङ्मय अर्थरूप एक एक बृहतीप्राण प्राप्त होता रहता है । ३६ हजार प्राणों का यह आदानक्रम ३६ हजार दिन में समाप्त हो जाता है । यही पुरुष का शतायुर्भोगकाल है । बृहतीसहस्रानुगत इसी आयुर्भोगकाल के आधार पर **'शतायुर्वै पुरुषः'–'शतं जीवेम शरदः'** इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं ।

प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञानप्राणलक्षण बृहतीप्राण के निरूपण के अतिरिक्त इस उपनिषत् में चतुर्विध-लोकसृष्टि, देवसृष्टि, भूतसृष्टि, शब्दसृष्टि, पुरुषसृष्टि, स्तोमविज्ञान, रेतःसृष्टि, ब्रह्मगिरि, कर्म्मगिरि, अन्नान्नाद-

विवर्त्त, प्रजापति-संहिता, आदि अनेक तात्त्विक विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है, जैसा कि उद्धृत विषयतालिका से अनुमान लगाया जा सकता है—

द्वितीयारण्यके—प्रथमोऽध्यायः (उपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः)

(१) १-प्रजासृष्टिविज्ञानाधिकरणम्—द्वितीयारण्य के १ अध्याये १ खण्डः ।
(२) २-उक्थविज्ञानाधिकरणम्——— ,, ,, २ खण्डः ।
(३) ३-रेतःसृष्टिविज्ञानाधिकरणम्— ,, ,, ३ खण्डः ।
(४) ४-प्रपद्ब्रह्मविज्ञानाधिकरणम्— ,, ,, ४ खण्डः ।
(५) ५-प्रहितांसंयोगविज्ञानाधिकरणम्- ,, ,, ५ खण्डः ।
(६) ६-छन्दःस्वरूपविज्ञानाधिकरणम्- ,, ,, ६ खण्डः ।
(७) ७-पुरुषविभूतिविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ७ खण्डः ।
(८) ८-ब्रह्म-कर्म्मगिरिविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ८ खण्डः ।

इति—द्वितीयारण्यके—अष्टखण्डात्मकः प्रथमोऽध्यायः

——*——

द्वितीयारण्यके-द्वितीयोऽध्यायः—

(९) १-प्राणविभूतिविज्ञानाधिकरणम्—द्वितीयारण्यके २ अध्याये १ खण्डः
(१०) २-प्राणाक्षरविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, २ खण्डः
(११) ३-प्राणव्याप्तिविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ३ खण्डः
(१२) ४-बृहतीप्राणविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ४ खण्डः

इति-द्वितीयारण्यके ४ खण्डात्मको द्वितीयोऽध्यायः

——*——

द्वितीयारण्यके-तृतीयोऽध्यायः—

(१३) १-अन्नान्नादविज्ञानाधिकरणम् द्वितीयारण्यके ३ अध्याये १ खण्डः
(१४) २-प्राणभृत-विज्ञानाधिकरणम् ,, ,, २ खण्डः
(१५) ३-पञ्चविधपुरुषविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ३ खण्डः
(१६) ४-यज्ञरहस्यविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ४ खण्डः
(१७) ५-अनुष्टुप्-बृहतीछन्दोविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ५ खण्डः

(१८) ६–महदुक्थविज्ञानाधिकरणम् द्वितीयारण्यके ३ अध्याये ६ खण्डः
(१६) ७–आत्मसम्प्रदानविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ७ खण्डः
(२०) ८–पञ्चाक्षरविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ८ खण्डः

इति-द्वितीयारण्यके ८ खण्डात्मकस्तृतीयोऽध्यायः

---*---

द्वितीयारण्यके चतुर्थोऽध्यायः—

(२१) १–लोकप्रजात्रिवर्त्त विज्ञानाधिकरणम् द्वितीयारण्यके ४ अध्याये १ खण्डः
(२२) २–इन्द्रियोत्पत्तिविज्ञानाधिकरणम् ,, ,, २ खण्डः
(२३) ३–इन्द्रपुरुष (विज्ञानात्म) विज्ञानाधिकरणम् ,, ,, ३ खण्डः

इति-द्वितीयारण्यके ३ खण्डात्मकश्चतुर्थोऽध्यायः

इत्यैतरेयोपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः

---१---

द्वितीयारण्यके–पञ्चमोऽध्यायः—(उपनिषत्सु द्वितीयोऽध्यायः)

(१) १–गर्भविवर्त्त विज्ञानाधिकरणम् द्वितीयारण्यके ५ अध्याये १ खण्डः

इति-द्वितीयारण्यके १ खण्डात्मकः पञ्चमोऽध्यायः

---*---

द्वितीयारण्यके–षष्ठोऽध्यायः—

(२) १–प्रज्ञानब्रह्मविज्ञानाधिकरणम् द्वितीयारण्यके ६ अध्याये १ खण्डः

इति--द्वितीयारण्यके १ खण्डात्मकः षष्ठोऽध्यायः

इत्यैतरेयोपनिषत्सु द्वितोयोऽध्यायः

---२---

द्वितीयारण्यकं समाप्तम्

---×---

तृतीयारण्यके–प्रथमोऽयायः (उपनिषत्सु तृतीयोऽयायः)

(१) १–माण्डूकेयसंहितोपनिषद्विज्ञानाधिकरणम् ३ आरण्यके १ अध्याये १ खण्डः
(२) २–शाकल्यसंहितोपनिषद्विज्ञानाधिकरणम् ,, ,, २ खण्डः

(३) ३-निर्भुजप्रवादविज्ञानाधिकरणम्	३ आरण्यके	१ अध्याये	३ खण्डः
(४) ४-प्राणवंशविज्ञानाधिकरणम्	,,	,,	४ खण्डः
(५) ५-निर्भुजवक्त्रविज्ञानाधिकरणम्	,,	,,	५ खण्डः
(६) ६-विविधसंहितोपनिषद्विज्ञानाधिकरणम्	,,	,,	६ खण्डः

इति तृतीयारण्यके ६ खण्डात्मकः प्रथमोऽध्यायः

—×—

तृतीयारण्यके द्वितीयोऽध्यायः—

(७) १-अन्नमयपुरुषविज्ञानाधिकरणम्—३ आ०	२ अ०		१ खण्डः
(८) २-सम्वत्सरपुरुषविज्ञानाधिकरणम्— ”	”		२ खण्डः
(९) ३-पुरुषचतुष्टयविज्ञानाधिकरणम्— ,,	,,		३ खण्डः
(१०) ४-मृत्युपरिज्ञानविज्ञानाधिकरणम्— ”	”		४ खण्डः
(११) ५-दैवीवीणाविज्ञानाधिकरणम्—— ”	”		५ खण्डः
(१२) ६-वाग्ब्रह्मविज्ञानाधिकरणम्—— ”	”		६ खण्डः

इति—तृतीयारण्यके—६ खण्डात्मको द्वीतीयोऽध्यायः

इत्यैतरेयोपनिषत्सु तृतीयोऽध्यायः

३

——×——

तृतीयारण्यकं समाप्तम्

समाप्ता चेयमैतरेयोपनिषत्

——८——

३९-छान्दोग्योपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय—

९-छान्दोग्योपनिषत्—(विज्ञानात्मवर्णनपरेयमुपनिषत्-सूर्य्यविद्यात्मिका)

उपनिषत्-साहित्य के स्वाध्याय से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि, छान्दोग्य-उपनिषत् परिभाषादृष्टि से कठिनतम है। जिस रहस्यपूर्ण संक्षिप्त भाषा में जिन रहस्यपूर्ण तत्त्वों का इस उपनिषत् में विश्लेषण हुआ है, उनका लौकिक (हिन्दी) भाषा में स्पष्टीकरण कर देना सर्वथा असम्भव है। हम नहीं समझते कि, 'छान्दोग्योपनिषत्-हिन्दी-विज्ञान-भाष्य' लिख कर हम कहाँ तक अपने प्रयत्न में सफल हुए हैं। वस्तुतः स्थिति

तो यह है कि, तात्विक वेदत्रयी के सामतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाला शब्दात्मक मन्त्र-ब्राह्मणलक्षण सामवेद ऋक्-यजुः-अथर्व की अपेक्षा कहीं विशेष रहस्यपूर्ण है। इसका एकमात्र कारण है तात्विक सामवेद के एक सहस्रविवर्त्त। यही कारण है कि, समस्त ब्राह्मणग्रन्थों में **'ताण्ड्यमहाब्राह्मण'** सामपर्वों का विश्लेषण करता हुआ भाषादृष्टि से, तथा गभीरार्थदृष्टि से, उभयथा एक जटिल समस्या बन रहा है।

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सिद्धान्त के अनुसार सामवेद भी इतर वेदों की भाँति 'मन्त्र-ब्राह्मण' भेद से दो भागों में विभक्त है। इन दोनों में सामवेदीय 'ब्राह्मण' भाग निम्नलिखित भेदों से आठ भागों में विभक्त माना गया है—

१—प्रौढब्राह्मण (महाब्राह्मण)

२—षड्विंशब्राह्मण

३—सामविधानब्राह्मण

४—आर्षेयब्राह्मण

५—दैवतब्राह्मण (देवताध्याय)

६—उपनिषद्ब्राह्मण (मन्त्रब्राह्मण)

७—संहितोपनिषत्

८—वंशब्राह्मण

कितनें हीं विद्वानों के मतानुसार [1]सामविधान ब्राह्मण (३), [2]आर्षेयब्राह्मण (४), [3]दैवतब्राह्मण (५), [4]संहितोपनिषत् (६), [5]वंशब्राह्मण (८), इन पाँच ब्राह्मणग्रन्थों की समष्टि एक 'अनुब्राह्मण' है, एवं यह गौण है। वस्तुतः सामवेद का मुख्य ब्राह्मण एक ही मानना उचित है। इस मुख्य ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं, जिनका २४, १, ५, १, ८, २, इस प्रकार विभाग हुआ है। २४ अध्यायों की समष्टि स्वतन्त्ररूप से **'ताण्ड्यमहाब्राह्मण'** नाम से प्रसिद्ध है। १ अध्यायात्मक २५वाँ अध्याय **'पञ्चविंशब्राह्मण'** नाम से प्रसिद्ध है। २६ से ३०वें अध्याय पर्य्यन्त ५ अध्यायसमष्टि **'षड्विंशब्राह्मण'** नाम से प्रसिद्ध है। ३१ से ३८ वें अध्यायपर्य्यन्त ८ अध्यायसमष्टि ही **'छान्दोग्योपनिषत्'** नाम से प्रसिद्ध है। एवं अगले २ अध्यायों की समष्टि **'उपनिषद्ब्राह्मण'** (मन्त्रब्राह्मण) नाम से प्रसिद्ध है।

१—ताण्ड्यमहाब्राह्मण— १ अध्याय से २४ अध्यायपर्यन्त (२४)	**—सामब्राह्मण**
२—पञ्चविंशब्राह्मण——२५ वाँ अध्याय (१)	
३—षड्विंशब्राह्मण——२६ अ० से ३० अ० पर्यन्त (५)	
४—छान्दोग्योपनिषत्–३१ अ० से ३८ अ० पर्यन्त (८)	
५—उपनिषद्ब्राह्मण—३९ अ० से ४० अ० पर्यन्त (२)	

८–अध्यायात्मिका छान्दोग्योपनिषत् के प्रतिपाद्य विषयों का दिग्दर्शन अपेक्षित है। यह उपनिषत् सामोपनिषत् है। जिस प्रकार मूर्त्ति (पिण्ड) का ऋक् से, गति का यजुः से सम्बन्ध है, एवमेव तेजोमण्डल-लक्षण महिमामण्डल का साम से सम्बन्ध माना गया है, जैसा कि–'**सर्वं तेजः सामरूपं हि शश्वत्**' वचन से प्रमाणित है। पाञ्चभौतिक, योगमायावच्छिन्न विश्व में मध्यस्थ सूर्य्य तेजोमय है। इसी तेजोभाव के आधार पर हम कह सकते हैं कि, सूर्य्य में सामतत्त्व प्रधानरूप से विकसित है। सहस्ररश्मियुक्त सूर्य्य सहस्र सामण्डलों से अभिन्न रहता हुआ '**सहस्रवत्मा सामवेदः**' को चरितार्थ कर रहा है। सामसम्बन्ध में सर्वत्र सूर्य्य ही लक्ष्य बन रहा है, जैसा कि निम्न लिखित कुछ एक निदर्शनों से स्पष्ट है—

१—"**सामवेद आदित्यात्**" (ऐत० ब्रा० २।७।)।
२—"**सूर्य्यात् सामवेदः**" (शत० ११'५।८।)।
३—"**आदित्यात् सामानि**" (कौ० ६।१०।)।
४—"**सामान्यादित्यात्**" (छां० उ० ४।१७।२।)।
५—"**सामवेद आदित्यात्**" (जै० उ० ब्रा० ३।१५।७।)।
६—"**सामवेदोऽमुष्मात्**" (षड्विंशब्रा० ४।१।)।
७—"**आदित्यात् सामवेदम्**" (गो० पू० १।६।)।
८—"**स्वर्गो लोकः सामवेदः**" (ष० ब्रा० १।५।)।
९—"**अर्चिः सामानि**" (शत० १०।५।१।५।)।

सामात्मक यही सौर–हिरण्य–तेज प्रवर्ग्यांश से आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित होकर '**विज्ञानात्मा**' (बुद्धि) नामसे व्यवहृत हुआ है। "साधारण दृष्टि से अव्ययानुगृहीत व्यापक अक्षरात्मा को लक्ष्य बनानें वाली उपनिषदें द्वारात्मिका विशेषदृष्टि की अपेक्षा से किसी एक खण्डात्मा को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाती हैं", इस पारिभाषिक सिद्धान्त के अनुसार यहाँ भी प्रश्न उपस्थित होता है कि, "छान्दोग्य में प्रधान रूप से द्वारदृष्टया किस खण्डात्मा का निरूपण हुआ है?"। उत्तर स्पष्ट है। साम का सम्बन्ध तेजोमण्डल से है। तेजोमण्डल की आवासभूमि सूर्य्य है। सूर्य्य ही प्रवर्ग्यात्मना विज्ञानात्मा है। फलतः सिद्ध हो जाता है कि, इतर अवान्तर विद्याओं के निरूपण के साथ साथ इस उपनिषत् में प्रधानरूप से 'विज्ञानात्मा' का ही विश्लेषण हुआ है। विज्ञान के द्वारा ही यह अमृतात्मा को लक्ष्य बना रही है। आधिदैविक परिभाषा की दृष्टि से जहाँ इसे 'सूर्य्यविद्या--प्रतिपादिका" माना जायगा, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से इसे विज्ञानात्मप्रतिपादिका कहा जायगा। इस प्रधान लक्ष्य-सिद्धि के साथ साथ जिन अवान्तर विषयों का प्रकृत उपनिषत् में प्रतिपादन हुआ है, उनका अध्यायक्रम से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

प्रस्तुत उपनिषत् में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में क्रमशः ^{१}१३, ^{२}२४, ^{३}१९, ^{४}१७, ^{५}२४, ^{६}१६, ^{७}२६, ^{८}१५, खण्ड हैं। जिन विद्याओं, विद्यान्तर्गत उपनिषदों का इस उपनिषत् में स्पष्टीकरण हुआ है, उन सबका आनुपूर्वी से उद्धरण करना अप्रासङ्गिक है। स्वयं तद्विज्ञानभाष्य में प्रस्तावना–प्रकरण में इन सब बहिरङ्गपरीक्षाओं का विश्लेषण किया जा चुका है। यहाँ तो उदाहरण के रूपमें केवल विद्याओं का दिग्दर्शन ही पर्य्याप्त माना जायगा। अष्टखण्डात्मिका इस उपनिषत् में सूर्य्यविद्यानुगता निम्न लिखित १३ विद्याओं का विश्लेषण हुआ है—

छान्दोग्यप्रतिपादिता मुख्य-विद्याएँ —

१-सामविद्या	८-पञ्चाग्निविद्या (मृतस्य)
२-मधुविद्या	९-वैश्वानरविद्या (जीवितस्य)
३-गायत्रविद्या	१०-सद्विद्या
४-शाण्डिल्यविद्या	११-भूमोपपत्तिविद्या (महिमालक्षणा)
५-ब्रह्मविद्या	१२-दहरविद्या (अणिमालक्षणा)
६-अग्निविद्या	१३-आत्मविद्या
७-प्राणविद्या	❀-विद्योपसंहार

——*——

प्रत्येक विद्या में अवान्तर अनेक खण्डविद्याओं का समावेश हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित उदाहरण से स्पष्ट है—

१-सामविद्या मुख्या-प्रथमा, तत्र ८ अवान्तरविद्याः—

१-उद्गीथविद्या	५-सामभैषज्यविद्या
२-सामोपासनविद्या	६-धर्म्मस्कन्दविद्या
३-सामपर्वविद्या (सामभेदाः)	७-सम्प्रस्रवविद्या
४-विनर्दिसामविद्या (दोषपरिहारविद्या)	८-भैषज्यसामाभिज्ञानविद्या

—*—

यह कहा जा चुका है कि, सम्पूर्ण उपनिषत् में १३ विद्याओं का स्पष्टीकरण हुआ है। तेरहों में सामप्रधाना-उपनिषत् में प्रथमा सामविद्या का प्राधान्य है। सामविद्या की मूलस्थिति उद्गीथविद्या पर अवलम्बित है। दूसरे शब्दों में उद्गीथ ही साम की प्रतिष्ठा है। अतएव १३ खण्डात्मक प्रथमाध्याय में सामविद्या की अवान्तरविद्या-उद्गीथविद्या का ही निरूपण हुआ है। एवं २४ खण्डात्मक द्वितीय अध्याय में शेष सात अवान्तर सामविद्याओं का निरूपण हुआ है।

१-उद्गीथविद्या	त्रयोदश खण्डात्मकः प्रथमोऽध्यायः।
२-सामोपासनविद्या	२ अध्यायारम्भ से १ खण्ड पर्य्यन्त
३-सामपर्वविद्या	२ खण्ड से २० खण्ड पर्य्यन्त
४-विनर्दिसामविद्या	२१ खण्ड
५-सामभैषज्यविद्या	२२ खण्ड
६-धर्म्मस्कन्दविद्या	२३ खण्ड

७–सम्प्रस्नवविद्या ८–भैषज्यसामाभिज्ञानविद्या	२४

———*———

सामविद्या की अवान्तर आठ विद्याओं में प्रत्येक में अनेक अवान्तर विषयों का निरूपण हुआ है। उदाहरण के लिए 'उद्गीथविद्या' नाम की प्रथमा अवान्तरविद्या के विषयों का निदर्शन ही पर्य्याप्त होगा।

सामविद्यायां प्रथमा उद्गीथविद्या–अवान्तरा। तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः—

१ खण्डः	१ १–उद्गीथस्योङ्कारत्वम् २ २–उद्गीथस्य रसेष्वष्टमरसत्वम् ३ ३–ऋक्सामयोर्वाक्प्राणयोर्मिथुनस्य हृदययोगावसायित्वमुद्गीथत्वम् ४ ४–प्रणवस्यानुज्ञाक्षरतया हृदयाभ्युपपादकत्वादुद्गीथत्वेनाभिन्नत्वम् ५ ५–उद्गीथस्य त्रयीविद्यारम्भणीयत्वात् प्रणवेनाभिन्नत्वम्
२ खण्डः	१ ६–अध्यात्ममुख्यप्राणस्योद्गीथत्वम् २ ७–मुख्यप्राणस्योद्गीथस्याङ्गिरस्त्वं बृहस्पतित्वमयास्यत्वं च
३ खण्डः	१ ८–उत्तमाधिकारिणां कृते–अधिदैवतमादित्यस्योद्गीथत्वम् २ ९–मध्यमाधिकारिणां कृते–मुख्प्राणस्य व्यानस्योद्गीथत्वम् ३ १०–प्रथमाधिकारिणां कृते–मात्राभावस्योद्गीथत्वम् ४ ११–सामान्याधिकारिणां कृते–आशीः, समृद्धिः, उपसरणानामुद्गीथत्वम्
४ खण्डः	१ १२–ओमित्यस्याक्षरस्यामृतत्वमभयत्वं, स्वररूपत्वं च
५ खण्डः	१ १३–आदित्योद्गीथस्य–उद्गीथत्वं, प्रणवत्वं च २ १४–प्राणादित्ययोरुद्गीथत्वं, प्रणवत्वं च

६ खण्डः	१ १५–अधिदैवतं चतुर्णां देवानां-ऋगध्यूढसाम्न उद्गीथत्वम् २ १६–अधिदैवतमादित्यस्य–ऋगध्यूढसाम्न उद्गीथत्वम् ३ १७–अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष उद्गीथः
७ खण्डः	१ १८–अध्यात्मं त्रयाणां प्राणानां–ऋगध्यूढसाम्नामुद्गीथत्वम् २ १९–अध्यात्मं चक्षुषः–ऋगध्यूढसाम्न उद्गीथत्वम् ३ २०–अन्तरक्षिणि चाक्षुषपुरुष उद्गीथः ४ २१–पर्य्याधाने स्वरे वर्णाः पर्य्याहिताः ५ २२–सामत्वादित्यपुरुष–चाक्षुषपुरुषयोरुद्गीथत्वयोर्योगादामुष्मिकैहिकसर्वविधकार्यसिद्धिः
८–९ खण्डौ	१ २३–सामस्वरप्राणान्नापोद्य पृथिव्याकाशैरष्टसंस्थः परोवरीयानुद्गीथः
१०–११ खण्डौ	१ २४–सामभक्तीनां–प्रस्तावोद्गीथप्रतीहाराणां यथाक्रमं प्राणादित्यान्नानि देवताः
१२ खण्डः	१ २५–शौव उद्गीथः
१३ खण्डः	१ २६–सामोपनिषत् (साम्नः–द्वादशस्तोभाः) २ २७–अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः–सञ्चरो हुङ्कारः
१३ खण्डाः	इत्युद्गीथप्रपाठकः सामविद्यायां प्रथमः त्रयोदशखण्डात्मकः प्रथमाध्यायः–प्रथमः प्रपाठकश्च समाप्तः

प्रतिपाद्यविषयाणां संक्षिप्तविषयतालिका—

१–प्रथमोध्यायः (१३ खण्डात्मक)–(उद्गीथप्रपाठकः)

(१) १–उद्गीथस्योङ्कारत्वम् (२) २–उद्गीथस्य रसेष्वष्टमरसत्वम् (३) ३–उद्गीथे वाक्प्राणयोः समावेशः	"ओम्'-इत्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत"(अक्षरम्)	१ खण्डः

——————— *

(४) १–अध्यात्मं मुख्यप्राणस्योद्गीथत्वम् (५) २–तस्याङ्गिरस्त्वं बृहस्पतित्वमयास्यत्वं च	"मुख्यं प्राणमुद्गीथमुपासीत"	२ खण्डः

——————— *

(६) १–अधिदैवतमादित्यस्योद्गीथत्वम्	'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत'	३ खण्डः
(७) २–आध्यात्मिकाधिदैविकयोः प्राणादित्ययोरभेदः	अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत	
(८) ३–मुख्यप्राणस्य प्राणापानव्यानभेदाः	अथ खलु उद्गीथाक्षराण्युपासीत	
(९) ४–उद्गीथे नामाक्षरानुगुण्यम्	अथ खलु आशीः समृद्धिरुपसरणानी-त्युपासीत	
(१०) १–ओमित्यस्याक्षरस्यामृतत्वमभयत्वं स्वररूपत्वं च	'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत(स्वरम्)	४ खण्डः

——————— *

(११) १–उद्गीथप्रणवयोरभेदः	सरश्मिमादित्यमुद्गीथमुपासीत	५ खण्डः
(१२) २–प्राणादित्ययोरुद्गीथत्वं प्रणवत्वं च	सप्राणं मुख्यप्राणमुद्गीथमुपासीत	

——————— *

(१३) १–अधिदैवतमृच्यधूढं साम	ऋचि अध्यूढं साम	६ खण्डः

——————— *

(१४) १–अध्यात्ममृच्यधूढं साम } ऋचि अध्यूढं साम } ७ खण्डः

———————— *

(१५) १–सामगतयः } ८–९ खण्डः

———————— *

(१६) १–प्राणस्य प्रस्तावदेवतात्वम्
(१७) २–आदित्यस्य उद्गीथदेवतात्वम्
(१८) ३–अन्नस्य प्रतिहारदेवतात्वम्
} सामभक्तीनां प्रस्तावोद्गीथप्रतिहाराणां देवताः } १०,११,ख०

———————— *

(१९) १–शौवउद्गीथमीमांसा } "अथातः शौव उद्गीथः" } १२ खण्डः

———————— *

(२०) १–साम्नस्त्रयोदशस्तोभाः } १३ खण्डः

इत्युद्गीथप्रपाठकः प्रथमः
इति–१३ खण्डात्मकः प्रथमोऽध्यायः

—— १ ——

२–द्वितीयोऽध्यायः (२४ खण्डात्मकः)–(सामप्रपाठकः)

(१)–१–साम्नः प्राशस्त्यम् (साम्नः साधुत्वेन प्रशंसा) ——————————————–१ खण्डः

———————— *

(२)–१–साम्नः पञ्चविधत्वम् (लोकेषु, वृष्टौ, अप्सु, ऋतुषु, पशुषु, प्राणेषु पञ्चविधं सामोपासीत) } —२,३,४,५,६,७, (६) खण्डाः

———————— *

(३)–१–साम्नः सप्तविधत्वम् (वाचि, आदित्ये, आत्मनि सप्तविधं सामोपासीत } ––८,९,१०, (३) खण्डाः

———————— *

(४)–१–पञ्चविधस्य साम्नः–एकादश (११) भेदाः } ––११,१२,१३,१४,१५,१६,१७,१८,१९,२०,२१, (११) खण्डाः

———————— *

(५)-१-साम्नो गाने स्वरविशेषाणां भिन्नदेवताप्रयोज्यत्वोद्देशः
(६)-२-साम्नो गाने फलोद्देशः
(७)-३-साम्नो गाने वर्णेषु देवतासम्बन्धः
(८)-४-साम्नो गाने वर्णोच्चारणरीतिः
} २२ खण्डः

---------- *

(९)-१-धर्म्मनिष्ठया पुण्या लोकाः
(१०)-२-ब्रह्मनिष्ठया अमृतत्वम्
(११)-३-ओङ्कारस्यामृतस्य स्वरूपाख्यानम्
} २३ खण्डः

---------- *

(१२)-१-प्रातर्मध्यन्दिनतृतीयसवनानि पुण्यलोकाः
(१३)-२-पुण्यलोकप्राप्तिप्रकारः
} २४ खण्डः

इति–सामप्रपाठको द्वितीयः

इति–२४ खण्डात्मको द्वितीयोऽध्यायः

——२——

३–तृतीयोऽध्यायः (१९ खण्डात्मकः)–(पुरुषप्रपाठकः)

(१)-१-मधुविद्या (आदित्ये, अधिदैवतम्)—१,२,३,४,५,६,७,८,९,१०,११, खण्डाः

---------- *

(२)-१-गायत्रीपुरुषविज्ञानम् (गा० पु० विद्या-शरीरे, अध्यात्मम्)—१२ खण्डः

---------- *

(३)-१-पञ्चब्रह्मपुरुषविज्ञानम् (प० ब्र० पु० विद्या-हृदये, अध्यात्मम्)—१३ खण्डः

---------- *

(४)-१-क्रतुमयपुरुषविज्ञानम् (सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सर्वत्र-अधिदैवतम्)
(५)-२-आत्मनोऽणीयस्त्वज्यायस्त्वे (हृदये, अध्यात्मम्)
} —१४ खण्डः

---------- *

(६)-१-कोशविज्ञानम् (वसुधानोऽरिष्टकोशः-प्राणलोकदेवतावेदाः)—१५ खण्डः

——————————— *

(७)-१-यज्ञपुरुषविज्ञानम् (पुरुषजीवनस्य यज्ञत्वं, शरीरे, अध्यात्मम्)—१६,१७ खण्डाः

——————————— *

(८)-१-चतुष्पाद्ब्रह्मविज्ञानम् (ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वम्-अध्यात्ममधिदैवतंच)—१८ खण्डः

——————————— *

(९)-१-आदित्यब्रह्मविज्ञानम् (आदित्यस्य ब्रह्मत्वम्-अधिदैवतम्) – १९ खण्डः

इति-पुरुषप्रपाठकस्तृतीयः
इति १९ खण्डात्मकस्तृतीयोऽध्यायः

———— ३ ————

४-चतुर्थोऽध्यायः (१७ खण्डात्मकः)-(प्राणप्रपाठकः)

(१)-१-अधिदैवतं वायोः संवर्गत्वम्
(२)-२-अध्यात्मं प्राणस्य संवर्गत्वम्
}—१,२,३, खण्डाः

——————————— *

(३)-१-ब्रह्मणश्चतुष्कला , पादाश्चत्वारः]—४,५,६,७,८,९ खण्डाः

——————————— *

(४)-१-आवपनब्रह्मविद्यारहस्यम्]——१० खण्डः

——————————— *

(५)-१-अग्निविद्यारहस्यम्]—११,१२,१३ खण्डाः

——————————— *

(६)-१-आत्मविद्यारहस्यम्]—१४ खण्डः

——————————— *

(७)-१-लोकानां त्रेताग्निमयत्वम्
(८)-२-आदित्य-चन्द्र-विद्यु त्-स्वरूपमीमांसा
}—१५ खण्डः

——————————— *

(९)-१-वायोर्यज्ञत्वप्रतिपादनम्
(१०)-२-मनो, वाचोश्च यज्ञवर्त्तनित्वम्
}--१६ खण्डः

———————— *

(११)-१-लोकगतिक्रममीमांसा
(१२)-१-लोक-देवता-वेद-व्याहृतीनामुत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वरसत्वप्रतिपादनम् } —१७ खण्डः

इति-प्राणप्रपाठकश्चतुर्थः

इति-१७ खण्डात्मकश्चतुर्थोऽध्यायः

----४----

५—पञ्चमोऽध्यायः (२४ खण्डात्मकः)—(जीवप्रपाठकः)—

(१)-१-पञ्चप्राणेषु मुख्यप्राणश्रैष्ठ्यमीमांसा
(पञ्चप्राणानामहंश्रेयोविवादे प्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यसिद्धान्तः) } १ खण्ड

———————— *

(२)-१-प्राणविद्यया शुष्कद्रुपुनरुज्जीवनं, मनुष्यमहत्वसाधनं च } २ खण्डः

———————— *

(३)-१-मृत्यूत्तरं लोकान्तरगतस्य पुनर्जन्ममीमांसा
(४)-२-पञ्चाग्निविद्यारहस्यम्
(५)-३-आरोहावरोहमार्गमीमांसा } ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, खण्डाः

———————— *

(६)–१–शरीरे वैश्वानरस्य क्रियात्मकत्वमीमांसा, तत्र (११) (७)–२–क–द्यौः सुतेजा वैश्वानरः (१२) (८)–३–ख–आदित्यो विश्वरूपो वैश्वानरः (१३) (९)–४–ग–वायुः पृथग्वर्त्मा वैश्वानरः (१४) (१०)–५–घ–आकाशो बहुलो वैश्वानरः (१५) (११)–६–ङ–आपो रयिर्वैश्वानरः (१६) (१२)–७–च–पृथिवी प्रतिष्ठा वैश्वानरः (१७) (१३)–८–छ–एतेभ्योऽन्यः, एतैः कृतावयवः, (१८) वैश्वानरः– इति सिद्धान्तः	११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, खण्डाः

*

(१४)–१–वैश्वानराग्नावाहुतिदेवताः पञ्च प्राणाः (१५)–२–पञ्चप्राणाहुतिमीमांसा	१९, २०, २१, २२, २३, खण्डाः

*

(१६)–१–आध्यात्मिकाग्निहोत्ररहस्यम्	२४ खण्डः

इति—जीवप्रपाठकः पञ्चमः

इति—२४ खण्डात्मकः पञ्चमोऽध्यायः

—५—

६—षष्ठोऽध्यायः–(१६ खण्डात्मकः)–(तेजोऽबन्नप्रपाठकः)–

(१)–१–सतस्तेजोऽबन्नसृष्टिः	१, २, खण्डौ

*

(२–१–अण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति त्रीणि बीजभूतानि	३ खण्डः
(३–२–(तेजोऽबन्नानां जीवप्रवेशात् त्रीणि भूतबीजानि)	
(४)–३–(तेजोऽबन्नानां जीवात्मप्रवेशान्नामरूपव्याक्रिया)	
(५)–४–(तेजोऽबन्नानां त्रिवृत्करणम्)	

——————— *

(६)–१–अग्नेस्तेजोऽबन्नसम्बन्धात् रक्तशुक्लकृष्णरूपत्वम्	४ खण्डः
(७)–२–आदित्यस्य " "	
(८)–३–चन्द्रमसः " "	
(९)–४–विद्युतः " "	
(१०)–५–तेजोऽबन्नानामग्न्यादित्यचन्द्रमाविद्युत्सु विकाराः	
(११)–६–अधिदैवतं त्रैरूप्यम्	
(१२)–७–अधिभूतं त्रैरूप्यम्	

——————— *

(१३) १–अन्नमयं मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्	५, ६, खण्डौ
(१४) २–तेजोऽबन्नानां वाक्–प्राण–मनो–विकाराः	
(१५) ३–अध्यात्मं त्रैरूप्यम्	

——————— *

(१६) १–षोडशकलपुरुषविज्ञानम्	७ खण्डः

——————— *

(१७) १–प्राणबन्धनविज्ञानम्
(१८) २–तेजोऽबन्नानामुत्तरशुङ्गत्वं, पूर्वेषां मूलत्वं च
(१९) ३–अन्नस्य आपोमूलत्वम्
(२०) ४–अपां तेजोमूलत्वम्
(२१) ५–तेजसः सन्मूलत्वम्
(२२) ६–सत्तेजोऽबन्नानामणुरूपत्वम्
(२३) ७–ऐतदात्म्यविज्ञानम्
—८ खण्डः

*

(२४) १–सत्यात्मविज्ञानम् —९ खण्डः

*

(२५) १–जीवापेतमिदं म्रियते, न जीवो म्रियते
(२६) २–जीवापाये मृत्युर्न जीवस्य
(२७) ३–जन्म–मृत्यु–मीमांसा
—१०,११ खण्डौ

*

(२८) १–अणिमाब्रह्मविज्ञानम् —१२,१३,१४, खण्डाः

*

(२९) १–मृत्यौ वाङ्मनःप्राणतेजःसत्सु सम्पत्तिः
(३०) २–वाक्-मनसि, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परदेवतायाम्
—१५ खण्डः

*

(३१)–१–सत्याभिसन्धौ, अनृताभिसन्धौ च वैषम्यात् सत्यप्रतिपत्तिः —१६ खण्डः

इति–तेजोऽबन्नप्रपाठकः षष्ठः

इति–१६ खण्डात्मकः षष्ठोऽध्यायः

—६—

७—सप्तमोऽध्यायः (२६ खण्डात्मकः)—(भूमप्रपाठकः)—

*—नाम-वाक्-मनः-संकल्प-चित्त-ध्यान-विज्ञान-बला-न्ना-पू-
तेज-आकाश-स्मरा-शा-प्राण-सत्यानां-उत्तरोत्तरभूयस्त्वम्

(१)—१-नामप्रपञ्चनिरूपणम्—१ खण्डः
(२)—२-वाक् " —२ खण्डः
(३)—३-मनः " —३ खण्डः
(४)—४-संकल्प " —४ खण्डः
(५)—५-चित्त " —५ खण्डः
(६)—६-ध्यान " —६ खण्डः
(७)—७-विज्ञान " —७ खण्डः
(८)—८-बल " —८ खण्डः
(९)—९-अन्न " —९ खण्डः
(१०)-१०-आपः " —१० खण्डः
(११)-११-तेजः " —११ खण्डः
(१२)-१२-आकाश " —१२ खण्डः
(१३)-१३-स्मर " —१३ खण्डः
(१४)-१४-आशा " —१४ खण्डः
(१५)-१५-प्राण " —१५ खण्डः
(१६)-१६-सत्य " —१६ खण्डः

*

*— सत्यविज्ञानमीमांसा

(१७)-१-विज्ञानविवर्त्तम् —१७ खण्डः
(१८)-२-मनोविवर्त्तम् —१८ खण्डः
(१९)-३-श्रद्धाविवर्त्तम् —१९ खण्डः
(२०)-४-निष्ठाविवर्त्तम् —२० खण्डः
(२१)-५-कृतिविवर्त्तम् —२१ खण्डः

*

*—भूमा-विज्ञानमीमांसा

(२२)-१-आनन्दविवर्त्तम् —२२ खण्डः

(२३)-२-भूमा-विवर्त्तम् —२३ खण्डः

*

*—आत्मविज्ञानमीमांसा

(२४)-१-अमृतमर्त्यात्मविवर्त्तम्—२४ खण्डः

(२५)-२-आत्मनः सर्वव्यापकत्वम्—२५ खण्डः

(२६)-३-आत्मप्राप्त्युपायप्रदर्शनम्-२६ खण्डः

*

इति—भूमप्रपाठकः सप्तमः

इति-२६ खण्डात्मकः सप्तमोऽध्यायः

-७-

८-अष्टमोऽध्यायः-(१५ खण्डात्मकः)-(पुण्डरीकप्रपाठकः)—

(१)--१-दहरपुण्डरीकान्तस्थब्रह्मविज्ञानमीमांसा

(२)--२-बाह्याकाशासमे हृदयाकाशे द्यावापृथिवी

(३)--३- ,, -अग्निवायू

(४)--४- ,, -सूर्य्याचन्द्रमसौ

(५)--५- ,, -विद्यु न्नक्षत्राणि

(६)--६-शरीरस्य जरया वधेन वा,न तौ पुण्डरीकस्थस्य

(७)--७-यथाभिकामं क्षेत्रजनपदोपजीवनम्

}—१ खण्डः

(८)--८-अनात्मज्ञस्य-अकामचारः

(९)--९-आत्मज्ञस्य-कामचारः

(१०)-१०-संकल्पादेव ब्रह्मलोके सर्वार्थसिद्धिः

}——२, ३, खण्डौ

(११)-११-लोकानामसम्भेदाय विधृतिः सेतुरात्मा] —४ खण्डः
(१२)-१२-ब्रह्मचर्येण ब्रह्मलोकसिद्धिः] —५ खण्डः
(१३)-१३-हृदयसूर्य्ययोर्नाड्या सम्बन्धः] —६ खण्डः

*

(१४)-१-इन्द्रविरोचनयोरात्मोपदेशः—७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १५, १६ खण्डाः

*

इति—पुण्डरीकप्रपाठकोऽष्टमः
इति—१६ खण्डात्मकोऽष्टमोऽध्यायः

---८---

विद्यासंग्रहतालिका—(सर्वसंग्रहः)—

१–उद्गीथविद्या	उद्गीथप्रपाठकः	उद्गीथोपनिषत्	(१ अध्याय)
२–सामविद्या	सामप्रपाठकः	सामोपनिषत्	(२ ,,)
३–पुरुषविद्या	पुरुषप्रपाठकः	पुरुषोपनिषत्	(३ ,,)
४–बहिःप्राणविद्या	प्राणप्रपाठकः	प्राणोपनिषत्	(४ ,,)
५–आध्यात्मिकप्राणविद्या	जीवप्रपाठकः	शारीरप्राणविद्योपनिषत्	(५ ,,)
६–तेजोऽबन्नविद्या (भूतविद्या)	तेजोऽबन्नप्रपाठकः	मूलशुङ्गोपनिषत्	(६ ,,)
७–भूमाहङ्कारात्मादेशविद्या	भूमप्रपाठकः	भूमोपनिषत्	(७ ,,)
८–ब्रह्मपुरीयपुण्डरीकविद्या	पुण्डरीकप्रपाठकः	दहरपुण्डरीकोपनिषत्	(८ ,,)

समाप्ता चेयं छान्दोग्योपनिषत्

—९—

४०-बृहदारण्यकोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय—

१०—बृहदारण्यकोपनिषत्–(अक्षरात्मवर्णनपरेयमुपनिषत्—

ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'शतपथब्राह्मण' से ही **'बृहदारण्यकोपनिषत'** का संकलन हुआ है। **'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः०'** (बृ०आ०उ०१अ०।१ब्रा०), **'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत०'** (बृ०आ० उ०१अ०।२ब्रा०) इन दो प्रकरणों का संकलन तो शतपथब्राह्मण के १० काण्ड के ६ ठे अध्याय से हुआ है। एवं आगे के सम्पूर्ण प्रकरण का संकलन शतपथ के १४ काण्ड से हुआ है। उक्त दो ब्राह्मणों को पृथक् कर हम यह कह सकते हैं कि, शतपथ के १४ वें काण्ड के एक बृहदंश का ही नाम 'बृहदारण्यकोपनिषत्' है। इस उपनिषत् में खण्ड-खण्डात्मिका अन्यान्य विद्याओं के निरूपण के साथ साथ प्रधान रूप से **'अक्षरात्मा'** का ही विश्लेषण हुआ है। अतएव इसे हमनें अक्षरात्मप्रतिपादिका—उपनिषत् ही मानना न्यायसङ्गत समझा है। इस उपनिषत् में ६ अध्याय हैं, प्रत्येक में क्रमशः ६,६,९,६,१५,५, ब्राह्मण हैं, सम्भूय ६ अध्यायों के ४७ ब्राह्मण हैं। अक्षरात्मानुगता उपनिषदें (मौलिक सिद्धान्त—उपपत्तियाँ) अध्यायक्रम से ५,६,९,१५,५, इस क्रम से समाविष्ट हैं, जैसाकि विषयतालिका से स्पष्ट हो रहा है।

बृहदारण्यकोपनिषत् की विषयतालिका

१--प्रथमोऽध्यायः (५--उपनिषदात्मकः, ६--ब्राह्मणात्मकः)

१-अश्वमेधविज्ञानोपनिषत

विषय	स्थान
१–आधिदैविक–अश्वस्वरूपविज्ञानम्	–१ अध्याये १ ब्राह्मणम्
२–अश्वप्राणस्वरूपविज्ञानम्	
३–अश्वप्राणचतुष्टयी–विज्ञानम	
४–प्राणी-विध-अश्वपशुस्वरूपपरिचयः	

---*

विषय	स्थान
५–मृत्युस्वरूपविज्ञानम्	–१ अध्याये २ ब्राह्मणम्
६–अर्कस्वरूपविज्ञानम्	
७–आत्मनस्त्रीणि विवर्त्तानि	
८–सृष्टेः सामान्यानुबन्धाः	
९–आत्मनो मिथुनसम्पत्तिः	
१०–सम्वत्सरस्वरूपविज्ञानम्	
११–त्रयीवाग्विज्ञानम्	
१२–यज्ञ–प्रजा–पशुसृष्टयः	
१३–यशो–वीर्य्यविज्ञानम्	
१४–आत्मनो मेध्यभागस्यालम्भनम्	
१५–अश्वमेधश्वरूपविकासः	

इति–अश्वमेधविज्ञानोपनिषत्प्रथमा

इति प्रथमाध्याये १, २ ब्राह्मणे

–१-१,२,–

---*---

२-देवताविज्ञानोपनिषत्—

१–प्रजापतिविभूतिः
२–देवासुरस्वरूपपरिचयः
३–देवासुरयोः स्वाभाविकी प्रतिस्पर्द्धा
४–वागुद्गानसम्पत्तिविज्ञानम्
५–प्राणोद्गान ,,
६–चक्षुरुद्गान ,,
७–श्रोत्रमुद्गान ,,
८–मनउद्गान ,,
९–आसन्यप्राणो ,,
१०–अङ्गिराप्राणस्वरूपविज्ञानम्
११–मृत्युमतिक्रान्ता प्राणदेवता
१२–आध्यात्मिकप्राणस्वरूपविज्ञानम्
१३–आध्यात्मिकाधिदैविकप्राणयोरुपजीव्योपजीवनीयभा
१४–सर्वान्नविभूतिविज्ञानम्
१५–बृहस्पतिप्राणस्वरूपविज्ञानम्
१६–ब्रह्मणस्पतिप्राणस्वरूपविज्ञानम्
१७–सामतत्त्वस्वरूपविज्ञानम्
१८–उद्गीथप्राणस्वरूपविज्ञानम्
१९–स्वरस्वरूपविज्ञानम्
२०–आर्त्विज्यसम्पत्तिविज्ञानम्
२१–साम्नः सुवर्णभावविज्ञानम्
२२–पवमानाभ्यारोहणविज्ञानम्
२३–स्तोत्रस्वरूपविज्ञानम्

इति–देवताविज्ञानोपनिषद्द्वितीया

इति १ अध्याये, ३ ब्राह्मणम्

–१·३–

—*—

३--अक्षरात्मविज्ञानोपनिषत् (अक्षरकृतसृष्टिविज्ञानोपनिषत्)-

१-पुरुषविध-आत्मस्वरूपविज्ञानम्
२-'अहं' स्वरूपाविर्भावविज्ञानम्
३-आत्मनो भयावस्थाविज्ञानम्
४-सृष्टिकामनामयपुरुषविज्ञानम्
५-अर्द्धवृगलपुरुषविज्ञानम्
६-दाम्पत्यभावविज्ञानम्
७-आत्मतिरोभावविज्ञानम्
८-सृष्टिस्वरूपविकासविज्ञानम्
९-दाम्पत्यविकासविज्ञानम्
१०-देवसृष्टिविकासविज्ञानम्
११-ब्रह्मणोऽतिसृष्टिस्वरूपविज्ञानम्
१२-अमृत-मर्त्यसृष्टिविज्ञानम्
१३-अव्याकृतात्मस्वरूपविज्ञानम्
१४-व्याकृतात्मस्वरूपविज्ञानम्
१५-नामरूपविवर्त्त विज्ञानम्
१६-अकृत्स्नप्राणस्वरूपविज्ञानम्
१७-अन्यतरः प्रेय आत्मविज्ञानम्
१८-ब्रह्मविद्यायाः सर्वसाधकत्वम्
१९-'अहं ब्रह्मास्मी' त्युपनिषत्
२०-ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वविज्ञानम्
२१-देवतोपासनाखण्डनम्
२२-आत्मोपासानादेशः
२३-ब्रह्म एव ब्राह्मणविकासभूमिः
२४-ब्रह्मणः श्रेयोरूपं क्षत्रम्
२५-क्षत्रस्वरूपसमर्पका देवाः
२६-विट्स्वरूपाविर्भावः
२७-विट्स्वरूपसमर्पका देवाः

२८–शूद्रस्वरूपाविर्भावः
२९–शूद्रस्वरूपसमर्पको देवः
३०–ब्रह्मणः श्रेयोरूपं धर्म्मः
३१–नियतिचरस्वरूपविज्ञानम्
३२–सत्य–धर्म्ममीमांसा
३३–वर्णसृष्टिरालम्बनविज्ञानम्
३४–अग्नेः सर्वात्मकत्वप्रतिपादनम्
३५–आत्मलोकोपासनादेशः
३६–पञ्चमहायज्ञविज्ञानम्
३७–आत्मकामविवर्त्तभावविज्ञानम्
३८–आत्मनः कृत्स्नत्वविज्ञानम्
३९–यज्ञस्य पाङ्क्तत्वविज्ञानम्
४०–पाङ्क्तपशुस्वरूपविज्ञानम्
४१–पाङ्क्तपुरुषस्वरूपविज्ञानम्
४२–सर्वप्रपञ्चस्य पाङ्क्तता

इति—अक्षरसृष्टिविज्ञानोपनिषत् तृतीया
इति—१ अध्याये ४ ब्राह्मणम्

१—४

४–अक्षरात्मविभूतिविज्ञानोपनिषत्—
१–भोक्तुरात्मनः सप्तान्नविवर्त्तभावाः
२–'अक्षिति' स्वरूपविज्ञानम्
३–मानसविभूतिविज्ञानम्
४–त्रयीवेदविभूतिविज्ञानम्
५–देवत्रयीविभूतिविज्ञानम्
६–आत्मत्रयीविभूतिविज्ञानम्
७–प्रजापतिसंहिता-विज्ञानम्
८–वाग्विवर्त्तविज्ञानम्

९–मनोविवर्त्तविज्ञानम्

१०–प्राणविवर्त्तविज्ञानम्

११–महिमा-पृथिवीस्वरूपविज्ञानम्

१२–वाक् , अग्नि, भू–विवर्त्त विज्ञानम्

१३–असपत्नेन्द्रविभूतिविज्ञानम्

१४–प्रजापतेर्वाग्विभूतिः, ततः पृथिवी

१५–प्रजापतेर्मनोविभूतिः, ततो द्यौः

१६–प्रजापतेः प्राणविभूतिः, ततोऽन्तरिक्षम्

१७–सर्वानन्तविभूतिविज्ञानम्

१८–सम्वत्सरप्रजापतेः कलाविभूतिः

१९–पुरुषप्रजापतेः कलाविभूतिः

२०–उभयोस्तादात्म्यविज्ञानम्

२१–लोकत्रयस्वरूपविज्ञानम्

२२–लोकत्रयविभूतिप्राप्त्युपायाः

२३–आत्मनः 'सम्प्रत्ति' विभूतिः

२४–लोक यज्ञयोरेकत्वसम्प्रत्तिः

२५–पुत्रविभूतिविज्ञानम्

२६–दैवी-वाग्विभूतिविज्ञानम्

२७–आध्यात्मिकसंस्थायामाधिदैविकविभूतिभावस्योपभोगः

२८–व्रतविज्ञानमीमांसा

२९–आध्यात्मिकप्राणस्पर्द्धाविज्ञानम्

३०–आधिदैविकप्राणस्पर्द्धाविज्ञानम्

३१–एकव्रतादेशविज्ञानम्

इति–अक्षरात्मविभूतिविज्ञानोपनिषत्-चतुर्थी

इति–१ अध्याये ५ ब्राह्मणम्

१–५

----※----

५-उक्थ, ब्रह्म, साम-मयाक्षरात्मविज्ञानोपनिषत्

१-नाम्नां-उक्थं, ब्रह्म, साम-लक्षण-आत्मा (वाङ्मयः)।

२-कर्मणां-उक्थं, ब्रह्म-साम-लक्षण-आत्मा (प्राणमयः)।

३-रूपाणां-उक्थं, ब्रह्म, साम-लक्षण आत्मा (मनोमयः)

४-अक्षरात्मनः प्रतिसंचरावस्था

५-अक्षरात्मनः सञ्चरावस्था

६-अमृतमृत्युमयोऽक्षरात्मा

७-जगतः सत्यत्वसमर्थनम्

इति-उ०ब्र०सा० अक्षरात्मविज्ञानोपनिषत् पञ्चमी

इति-१ अध्याये ६ ब्राह्मणम्

इति-५ उपनिषदात्मकः, ६ ब्राह्मणात्मकः

(प्रथमोऽध्यायः समाप्तः)

१

----**----

२-द्वितीयोऽध्यायः (६ उपनिषदात्मकः, ६ ब्राह्मणात्मकः)

१-अक्षरात्मनः-आधिदैविकाध्यात्मिकयोरौपासनिकयोर्विवर्त्तविज्ञानोपनिषत्

१-आदित्यपुरुषोपासनविज्ञानम्

२-चन्द्रपुरुषोपासनविज्ञानम्

३-विद्युत्पुरुषोपासनविज्ञानम्

४-आकाशपुरुषोपासनविज्ञानम्

५-वायुपुरुषोपासनविज्ञानम्

६-अग्निपुरुषोपासनविज्ञानम्

७-अप्-पुरुषोपासनविज्ञानम्

८-आदर्शपुरुषोपासनविज्ञानम्

९-प्राणविधपुरुषोपासनविज्ञानम्

१०-दिग्विधपुरुषोपासनविज्ञानम्

११-छायामयपुरुषोपासनविज्ञानम्

१२–शारीरपुरुषोपासनविज्ञानम्

१३–अक्षरपुरुषे सर्वेषामुक्तक्षरपुरुषविवर्त्तानां विरामः

१४–अक्षरपुरुषो मप आत्मा, तमुपासीत, इत्यादेशः

इति–अक्षरात्मनः-उपनिषत् प्रथमा

इति–२अध्याये १ ब्राह्मणम्

२---१

——❀——

२–मुख्यप्राणविज्ञानोपनिषत्

१–आधान–प्रत्याधान-स्थूण-दाम-लक्षणो मध्यमः प्राणः

२–सप्ताक्षितिस्वरूपविज्ञानम्

३–चितिनिधेयप्राणस्वरूपविज्ञानम्

४–सप्तप्राणात्मकयशःप्राणस्वरूपविज्ञानम्

५–अर्वाग्बिलस्वरूपविज्ञानम्

६–आध्यात्मिकप्राणविवर्त्तभावाः

इति–मुख्यप्राणविज्ञानोपनिषत्–द्वितीया

इति–२ अध्याये २ ब्राह्मणम्

२--२

——❀——

३–अक्षरब्रह्मणः प्रातिस्विकरूपेणामूर्त्तत्व–क्षररूपेण च मूर्त्तत्वविज्ञानोपनिषत

१–मूर्त्तामूर्त्तविभूतिविज्ञानम्

२–मर्त्यामृतविभूतिविज्ञानम्

३–गति-स्थितिविभूतिविज्ञानम्

४–त्यं–सद्–विभूतिविज्ञानम्

५–सतःपुरुषविभूतिविज्ञानम्

६–आधिदैविकपुरुषविभूतिविज्ञानम्

७–आध्यात्मिकपुरुषविभूतिविज्ञानम्

८–सत्यस्य सत्यं ब्रह्मविभूतिविज्ञानम्

इति–अक्षरब्रह्मणः० उपनिषत् तृतीया

इति–२ अध्याये ३ ब्राह्मणम्

२--३

——❀——

४–अक्षरात्मनो भूमोदर्कविज्ञानोपनिषत्

१–अक्षरात्मस्वरूपजिज्ञासा स्वाभाविकी

२–आत्मकामव्याप्तिविज्ञानम्

३–अक्षरात्मज्ञानस्य सर्वज्ञताप्रवर्त्तकत्वम्

४–सर्वत्राक्षरात्मभावनादेशः

५–अक्षरब्रह्मनिःश्वसितवेदविज्ञानम्

६–वाग्विवर्त्तविज्ञानम्

७–आत्म–आत्मसृष्टेरोतप्रोतसम्बन्धविज्ञानम्

८–आत्मभूमस्वरूपविज्ञानम्

इति–अक्षरात्मनो भूमोदर्कविज्ञानोपनिषच्चतुर्थी

इति–२ अध्याये ४ ब्राह्मणम्

२–४

*

५–अक्षरात्मानुगत 'मधुप्राण' व्याप्तिविज्ञानोपनिषत् (मधुविद्योपनिषत्)

१–पृथिव्यनुगतमधुप्राणविज्ञानम्

२–अबनुगत ,,

३–अग्न्यनुगत ,,

४–वाय्वनुगत ,,

५–आदित्यानुगत ,,

६–दिगनुगत ,,

७–चन्द्रानुगत ,,

८–विद्युदनुगत ,,

९–स्तनयित्न्वनुगत ,,

१०–आकाशानुगत ,,

११–धर्म्मानुगत ,,

१२–सत्यानुगत ,,

१३–मानुषा (भूतात्मा)नुगत ,,

१४–अक्षरात्मानुगतमधुप्राणविज्ञानम्

१५–अक्षरात्मानुगतमधुप्राणस्य सर्वेषां मधुप्राणानामालम्बनत्वम्

१६–मधुविद्याविष्कारकाः,तच्छिष्यपरम्परा च

इति–अक्षरात्मानुगतमधु० उपनिषत् पञ्चमी

इति–२ अध्याये ५ ब्राह्मणम् ।

२-५

६–आचार्यपरम्पराक्रमलक्षणा वंशोपनिषत्

इति–२ अध्याये ६ ब्राह्मणम्

इति ६ उपनिषदात्मकः, ६ ब्राह्मणात्मकः, द्वितीयोऽध्यायः

२

३–तृतीयोऽध्यायः (६ ब्राह्मणात्मकः, ६ उपनिषदात्मकः)–

१–अतिमुक्ति-सम्पद्विज्ञानोपनिषत्

❀–अतिमुक्तिविज्ञानोपनिषत्

(१)–१–आख्यानसन्दर्भः

(२)–२–आश्वलजिज्ञासा

(३)–३–मृत्योराप्तेरतिमुक्तिविज्ञानम्

(४)–४–अहोरात्रयोराप्तेरतिमुक्तिविज्ञानम्

(५)–५–पक्षयोराप्तेरतिमुक्तिविज्ञानम्

(६)–६–चन्द्रमसोराप्तेरतिमुक्तिविज्ञानम्

सैषातिमुक्तिविज्ञानोपनिषत्

❀–सम्पद्विज्ञानोपनिषत्

(७) १–हौत्रकर्म्मसम्पद्विज्ञानम्

(८) २–आध्वर्यवकर्म्मसम्पद्विज्ञानम्

(९) ३–ब्राह्मकर्म्मसम्पद्विज्ञानम्

(१०) ४–अङ्गकर्म्मसम्पद्विज्ञानम्

सैषा सम्पद्विज्ञानोपनिषत्

-----❀❀-----

इति–अतिमुक्ति-सम्पद्विज्ञानोपनिषत् प्रथमा
इति ३ अध्याये १ ब्राह्मणम्
३—१

-----❀❀-----

२–ग्रहातिग्रह–आप्तिविज्ञानोपनिषत्

❀–ग्रहातिग्रहविज्ञानोषपनित्

(१) १–जारत्कारव–आर्त्तभागजिज्ञासा

(२) २–प्राणग्रहातिग्रहविज्ञानम्

(३) ३–वाग्ग्रहातिग्रहविज्ञानम्

(४) ४–जिह्वाग्रहातिग्रहविज्ञानम्

(५) ५–चक्षुर्ग्रहातिग्रहविज्ञानम्

(६) ६–श्रोत्रग्रहातिग्रहविज्ञानम्

(७) ७–मनोग्रहातिग्रहविज्ञानम्

(८) ८–हस्तग्रहातिग्रहविज्ञानम्

(९) ९–त्वग्ग्रहातिग्रहविज्ञानम्

❀–सैषा ग्रहातिग्रहविज्ञानोपनिषत्

-----❀❀-----

❀–आप्तिविज्ञानोपनिषत्

(१०) १–मृत्यु-रन्नविज्ञानम्

(११) २–प्राणोत्क्रान्तिविज्ञानम्

(१२) ३–आप्तिविवर्त्तविज्ञानम्

(१३) ४–फलाफलस्वरूपविज्ञानम्

❀–सैषा-आप्तिविज्ञानोपनिषत्

----❀❀----

इति–ग्रहातिग्रह–आप्तिविज्ञानोपनिषद्द्वितीया

इति–३ अध्याये २ ब्राह्मणम्

३—२

——❀——

३–व्यष्टिसमष्टिविज्ञानोपनिषत्

१–भुज्युलाह्यायनिजिज्ञासा

२–अश्वमेधफलमीमांसा

३–इन्द्र–सुपर्णमीमांसा

४–आत्मनः प्रतिसञ्चरणम्

५–मृत्युविजयः

इति–व्यष्टिसमष्टिविज्ञानोपनिषत् तृतीया

इति ३ अध्याये ३ ब्राह्मणम्

३ — ३

———❀——

४–सर्वभूतात्मविज्ञानोपनिषत्

१–उषस्तश्चाक्रायणजिज्ञासा

२–देवसत्यप्राणस्वरूपविज्ञानम्

३–ब्रह्मसत्यस्वरूपविज्ञानम्

४–इन्द्रियसत्यस्वरूपविज्ञानम्

इति–सर्वभूतान्तरात्मविज्ञानोपनिषच्चतुर्थी

इति ३ अध्याये ४ ब्राह्मणम्

३—४

———❀——

५–एषणाविज्ञानोपनिषत्

१–कहोड़कौषीतकेयजिज्ञासा

२–पुत्रैषणास्वरूपविज्ञानम्

३–वित्तैषणास्वरूपविज्ञानम्

४–लोकैषणास्वरूपविज्ञानम्

५–आर्त्तानार्त्तमीमांसा

इति—एषणाविज्ञानोपनिषत् पञ्चमी

इति—३ अध्याये ५ ब्राह्मणम्

३–५

——❀——

६–विधृतिपरम्पराविज्ञानोपनिषत्

१–वाचक्नवी–जिज्ञासा

२–आपः सर्वेषां विधृतिः

३–वायुरपां विधृतिः

४–अन्तरिक्षलोकः–वायोर्विधृतिः

५–गन्धर्वलोकः–अन्तरिक्षस्य विधृतिः

६–आदित्यलोकः–गन्धर्वलोकस्य विधृतिः

७–चन्द्रलोकः–आदित्यलोकस्य विधृतिः

८–नक्षत्रलोकः–चन्द्रलोकस्य विधृतिः

९–देवलोकः–नक्षत्रलोकस्य विधृतिः

१०–इन्द्रलोकः–देवलोकस्य विधृतिः

११–प्रजापतिलोकः–इन्द्रलोकस्य विधृतिः

१२–ब्रह्मलोकः–प्रजापतिलोकस्य विधृतिः

१३–अक्षरलोकः–सर्वलोकविधृतिः

१४–स एषोऽक्षरलोकोऽनतिप्रश्न्यः

इति–विधृतिपरम्पराविज्ञानोपनिषत्–षष्ठी

इति–३ अध्याये ६ ब्राह्मणम्

३–६

——❀——

७–अक्षरात्मकर्म्मविज्ञानोपनिषत् (अक्षरात्मैव सूत्रात्मा, अन्तर्य्यामी)

१–उद्दालकआरुणिजिज्ञासा

२–भूतावेशसमर्थनम्

३–सूत्रवायुस्वरूपविज्ञानम्

४–सन्धाता अक्षरपुरुषः

५–सूत्रात्मा अक्षरपुरुषः

६–अन्तर्य्यामी अक्षरपुरुषः

७–आधिदैविकोऽक्षरपुरुषः

८–आध्यात्मिकोऽक्षरपुरुषः

इति–अक्षरात्मकर्म्मविज्ञानोपनिषत्–सप्तमी

इति–३ अध्याये ७ ब्राह्मणम्

३–७

——*——

८–अक्षरनियतिविज्ञानोपनिषत्

१–वाचक्नवी–जिज्ञासा

२–अक्षरपुरुषः–आकाशात्मा

३–अक्षरपुरुषः–विधर्त्ता सर्वेषाम्

४–अक्षरपुरुषः–शास्ता सर्वेषाम्

५–अक्षरज्ञानशून्यः कृपणः

६–ब्रह्मोद्यविजेता याज्ञवल्क्यः

इति–अक्षरनियतिविज्ञानोपनिषत्–अष्टमी

इति–३ अध्याये ८ ब्राह्मणम्

३–८

——*——

९–अक्षरप्राणानुगतदेवविज्ञानोपनिषत्

१–विदग्धशाकल्यजिज्ञासा

२–वैश्वदेवीनिवित्-परिचयः

३–देवतानिवित्-परिचयः

४–३३३३ देवमहिमानः

५–३३-देवमहिमानः

६–६-देवमहिमानः

७–३-देवमहिमानः

८–१॥ देवमहिमानौ

९–१ देवमहिमा

१०–प्राणाक्षरस्य देवतात्वम्

११–अक्षरपुरुषः परायणं सर्वेषाम्

१२–दिग्देवताविज्ञानम्

१३–आधिदैविकदेवताविज्ञानम्

१४–आध्यात्मिकदेवताविज्ञानम्

१५–औपनिषदपुरुषविज्ञानम्

१६–असमाधेयप्रश्नावली

इति–अक्षरप्राणानुगतदेवताविज्ञानोपनिषत्–नवमी

इति ३ अध्याये ९ ब्राह्मणम्

इति ९ उपनिषदात्मकः, ९ ब्राह्मणात्मकः

तृतीयोऽध्यायः

३—९

४–चतुर्थोऽध्यायः (६ उपनिषदात्मकः, ६ ब्राह्मणात्मकः)—

१-खण्डब्रह्मोपासनविज्ञानोपनिषत्(क्षरब्रह्मोपासनोपनिषत्)

१–वाग्ब्रह्मोपासनविज्ञानम्

२–प्राणब्रह्मोपासनविज्ञानम्

३–चक्षुर्ब्रह्मोपासनविज्ञानम्

४–श्रोत्रब्रह्मोपासनविज्ञानम्

५–मनोब्रह्मोपासनविज्ञानम्

६–हृदयब्रह्मोपासनविज्ञानम्

७–अन्नब्रह्म सर्वेषां प्रतिष्ठा

४–१

२–चाक्षुषपुरुषविज्ञानोपनिषत्–(विज्ञानात्मोपनिषत्)–

१-इन्द्रस्वरूपविज्ञानम्

२–इन्द्रपत्नी-स्वरूपविज्ञानम्

३–विराट्पुरुषस्वरूपविज्ञानम

४–नाड़ी-स्वरूपविज्ञानम्

५–दिगनुगतमार्गविज्ञानम्

६–इन्द्रप्राणात्मकविज्ञानात्मविज्ञानम्

४–२

३–ज्योतिर्विज्ञानोपनिषत्

१–आदित्यज्योतिर्विज्ञानम्

२–चन्द्रज्योतिर्विज्ञानम्

३–अग्निज्योतिर्विज्ञानम्

४–वाग्ज्योतिर्विज्ञानम्

५–आत्मज्योतिर्विज्ञानम्

६–पञ्चज्योतिरयं पुरुषः

७–पुरुषस्य स्थानद्वयी

८–स्वप्नाद्यवस्थाविज्ञानम्

९–सोपाधिकपुरुषविज्ञानम्

१०–निरुपाधिकपुरुषविज्ञानम्

११–आनन्दमीमांसा

१२–सर्वप्राणविलयनम्

४–३

४–आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्

१–आत्मनः परागगतिविज्ञानम्
२–आतिवाहिकस्वरूपविज्ञानम्
३–कामयमानस्यात्मनो गतिविज्ञानम्
४–अकामस्यात्मनो गतिविज्ञानम्
५–गतिमार्गस्वरूपविज्ञानम्
६–सद्गतिस्वरूपविज्ञानम्
७–दुर्गतिस्वरूपविज्ञानम्
८–अगतिस्वरूपविज्ञानम्
९–सम्वत्सरगतिस्वरूपविज्ञानम्
१०–क्षीणोदर्कगतिस्वरूपविज्ञानम्
११–भूमोदर्कगतिस्वरूपविज्ञानम्
१२–अभयब्रह्मस्वरूपविज्ञानम्

४–४

५–आत्मविज्ञानादेशोपनिषत्

१–अक्षरात्मप्राप्तिप्रतिबन्धकाः
२–आत्मकामस्य सर्वकाममूलत्वम्
३–आत्मोपासनादेशः
४–सर्वत्रात्मभावनादेशः
५–आत्मनः सर्वात्मकत्वप्रतिपादनम्
६–आध्यात्मिकात्मप्रपञ्चविज्ञानम्
७–अमृततत्त्वप्राप्त्युपायाः

४–५

६–आचार्य्यपरम्पराक्रमलक्षणा वंशोपनिषत्

४–६

इति ६ उपनिषदात्मकः, ६ ब्राह्मणात्मकः, चतुर्थोऽध्यायः

४

५–पंचमोऽध्यायः (१५ उपनिषदात्मकः, १५ ब्राह्मणात्मकः

१–पूर्णाक्षरब्रह्मविज्ञानोपनिषत् (५—१)
२–लोकशिक्षाविज्ञानोपनिषत् (५—२)
३–त्र्यक्षरात्मविज्ञानोपनिषत् (५—३)
४–सत्याक्षरविज्ञानोपनिषत् (५—४)
५–सत्याक्षरविभूतिविज्ञानोपनिषत् (५—५)
६–आध्यात्मिकपुरुषविज्ञानोपनिषत् (५—६)
७–इन्द्रपुरुषविज्ञानोपनिषत् (५—७)
८–वागूब्रह्मविज्ञानोपनिषत् (५—८)
९–भूतात्मविज्ञानोपनिषत् (५—९)
१०–भूतात्मप्रतिसञ्चरावस्थाविज्ञानोपनिषत् (५–१०)
११–तपःकर्म्मविज्ञानोपनिषत् (५–११)
१२–प्राणान्नविज्ञानोपनिषत् (५–१२)
१३–प्राणोक्थविज्ञानोपनिषत् (५–१३)
१४–गायत्रपुरुषविज्ञानोपनिषत् (५–१४)
१५–दक्षिणाक्षिपुरुषविज्ञानोपनिषत् (५–५)

इति १५ उपनिषदात्मकः, ब्राह्मणात्मकः,

पंचमोऽध्यायः

५

६–षष्ठोऽध्यायः–(५ उपनिषदात्मकः ५–ब्राह्मणात्मकः)

१–ज्येष्ठश्रेष्ठप्राणविज्ञानोपनिषत् (६–१–)
२–पञ्चाग्निविद्याविज्ञानोपनिषत् (६––२)।
३–श्रेयोगतिप्राप्त्युपायविज्ञानोपनिषत (६––३)।
४–अभिलषितफलावाप्तिसाधककर्म्मविज्ञानोपनिषत् (६––४)।
५–आचार्य्यपरम्पराक्रमलक्षणवंशोपनिषत् (६––५)।

इति—५ उपनिषदात्मकः, ५ ब्राह्मणात्मकः

षष्ठोध्यायः

६

समाप्ता चेयं बृहदारण्यकोपनिषत्

१०

४१–श्वेताश्वतरोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय—

११–श्वेताश्वतरोपनिषत् (परात्परविद्यावर्णनपरेयमुपनिषत्)

षोडशीप्रजापति, एवं स्व० प० सू० च० पृ० लक्षण पञ्चपर्वात्मक विश्व, दोनों की समष्टि ही 'सर्वम्' है। पञ्चकल विश्व में षोडशी प्रजापति प्रविष्ट है। विश्व की स्वयम्भू आदि पाँच कलाओं में से अव्यय-प्रधान स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य की समष्टि **'परब्रह्म'** है। क्षरप्रधान मर्त्यसूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी की समष्टि 'अपरब्रह्म', किंवा 'अवरब्रह्म', है।

"तस्मै स होवाच—एतद्वै सत्यकाम !
परं—चापरंच ब्रह्म, यदोङ्कारः" (प्रश्नोपनिषत)

इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार उक्त लक्षण पर-अपरब्रह्म की समष्टि ही 'ओङ्कार' है। प्रण-वात्मक यह परापरब्रह्म ही ईश, किंवा ईश्वरप्रजापति है। श्वेताश्वतरोपनिषत् में परापरविद्यालक्षण इसी प्रजापति का विश्लेषण हुआ है। इस उपनिषत् में ६ अध्याय हैं, जिनमें प्रतिपादित विषयों का निम्नलिखित रूप से समन्वय किया सकता है।

(१)—प्रथम अध्याय में-'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता०' इत्यादि रूप से ब्रह्मजिज्ञासा हुई है। एवं अनन्तर अव्ययपुरुष का उद्गीथरूप से निरूपण करते हुए व्यक्त-अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध क्षर-अक्षर का विश्लेषण हुआ है। इसप्रकार प्रथमाध्याय में सर्वव्यापक (विश्वव्यापक ईश्वरात्मा, तदभिन्न शरीरव्यापक जीवात्मा) आत्मतत्व का ही प्रतिपादन हुआ है।

(२) वह ईश प्रजापति 'श्वोवसीयस्' नामक हृदयस्थ अव्ययमन से ही कामना के द्वारा प्राणव्यापार (तप) से वाग्व्यापार (श्रम) को आगे कर विश्वनिर्म्माण में समर्थ हुआ है। इन स्वोत्पादित नीहार-धूम-अर्क-अनिल-अनल-खद्योत-विद्युत्-स्फटिक-शशि-पृथिवी-जल-तेज-आकाशादि में 'तत्-**सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' न्याय से प्रविष्ट हो रहा है। देवता, अग्नि, जल, ओषधि, वनस्पति, इत्यादि यच्चयावत् भुवनों में वह व्याप्त है। इस सर्वव्याप्ति का मूल कारण हृत्प्रतिष्ठ, कामनामय, कामसमुद्र नाम से प्रसिद्ध, सर्वसृष्टिप्रवर्त्तक, श्वोवसीयस् नामक 'अव्ययमन' ही माना गया है। द्वितीय अध्याय में अव्ययमन की उक्त विश्वविभूतियों का ही विश्लेषण हुआ है।

(३)—सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपात्, सर्वतःपाणिपाद, सर्वतोऽक्षिशिरोमुख, सर्वतःश्रुतिमत्, सर्व-शरण, अपाणिपाद, अचक्षु, अकर्ण, अश्रोत्र, अणोरणीयान्, महतोमहीयान्, अक्रतु, अजर, पुराणपुरुष, सर्वगत, वह ईश्वरप्रजापति ही अंशरूप से जीवात्मस्वरूप में परिणित होता हुआ, अङ्गुष्ठमात्रस्वरूप धारण करता हुआ अपनी त्रिज्योतिर्म्मय अव्ययज्योति (ज्ञानज्योति) से प्राणिमात्र के अन्तर्हृदय में प्रकाशित हो रहा है। तृतीय अध्याय में ईश्वरांशभूता इसी जीवसृष्टि का निरूपण हुआ है। साथ ही ईश्वरप्राप्ति-उपायों का विश्लेषण हुआ है।

(४)-ईश्वर साक्षी सुपर्ण है, जीव भोक्ता सुपर्ण है। दोनों ब्रह्माश्वत्थ पर प्रतिष्ठित हैं। चतुर्थ अध्याय में सुपर्णप्रतिष्ठालक्षणा 'अश्वत्थविद्या' का ही प्रतिपादन हुआ है।

(५)-पाँचवें अध्याय में विद्या-अविद्यात्मक अक्षरतत्त्व का निरूपण हुआ है।

(६)-अन्त में सिंहालोकनन्याय से पूर्वप्रतिपादित विषयों का संग्रह करते हुए, एकमात्र आत्मतत्त्व-परिज्ञान को ही अमृतप्राप्ति का कारण बतलाते हुए विषयोपसंहार हुआ है। एवं यही प्रकृत उपनिषत् के विषयों का संक्षिप्त परिचय है।

१-षोडशीपुरुषविज्ञानाध्यायः

२-विश्वविभूतिविज्ञानाध्यायः

३-जीवात्मस्वरूपविज्ञानाध्यायः

४-ब्रह्माश्वत्थस्वरूपविज्ञानाध्यायः

५-जीवप्रतिष्ठात्मकाक्षरविज्ञानाध्यायः

६-उपसंहाराध्यायः

समाप्ता चेयं श्वेताश्वतरोपनिषत्

११

--*--

४२-कौषितकिब्राह्मणोपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय—

१२-कौषितकी ब्राह्मणोपनिषत्-(इन्द्रविद्यावर्णनपरेयमुपनिषत्)

ब्रह्मविद्याप्रतिपादिका इस उपनिषत् में **पर्य्यङ्कविद्याध्याय, प्राणविद्याध्याय, इन्द्रियविद्याध्याय, ब्रह्मविद्याध्याय**, भेद से चार मुख्य प्रकरण हैं। प्रधान विषय के प्रतिपादन के अतिरिक्त स्थूलशरीर छोड़ने के अनन्तर आत्मा कहाँ गमन करता है ?, प्रेतात्मा के परलोक गमनमार्ग का क्या स्वरूप है ?, स्वयं प्रेतात्मा का क्या स्वरूप है ?, प्राज्ञइन्द्रमय कर्म्मभोक्ता भोक्तात्मा का क्या स्वरूप है ?, इत्यादि विषयों का जैसा स्पष्टीकरण इस उपनिषत् में हुआ है, वैसा अन्यत्र अनुपलब्ध है। विद्याओं में प्रतिपादित विषयों का निम्न लिखित तालिका से स्पष्टीकरण हो रहा है—

१-पर्य्यङ्कविद्याध्यायः-तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः—

१-दहरपुण्डरीकनाम्ना प्रसिद्धस्य ब्रह्मलोकस्य स्वरूपप्रतिपादनम्

२-ब्रह्मलोके गमनोपायभूतस्य 'शुक्लगति' नाम्ना प्रसिद्धस्य 'अर्चिमार्गस्य' स्वरूपनिरूपणम्

३-कर्म्मात्मनः-प्राण, वाक्-मनः-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-जिह्वा-हस्त-शरीर-उपस्थ-पाद-प्रज्ञा-भेदभिन्नानां नानावस्थानां निरूपणम्

इति-प्रथमोऽध्यायः

१

——*——

२–प्राणविद्याध्यायः–तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः–

१–'एकधनावरोधन' नाम्ना प्रसिद्धायाः, अयाचितग्रामोपलाभ–धनोपलाभोपायोपासनाया निरूपणम्
२–वशीकरणोपायोपासनविज्ञानम्
३–नित्याग्निहोत्रोपासनविज्ञानम्
४–उत्कर्षलाभोपायोपासनविज्ञानम्
५–दैनिकसन्ध्योपासनविज्ञानम्
६–मासिकसन्ध्योपासनविज्ञानम्
७–स्त्री–पुत्राशीर्वादोपासनविज्ञानम्
८–दैवपरिमरविद्या (शत्रुनिग्रहोपासनविज्ञानम्)
९–प्राणनिःश्रेयसादानविज्ञानम्
१०–पिता-पुत्रीयसम्प्रदानविज्ञानम्

इति—द्वितीयोऽध्यायः

२

३—इन्द्रियविद्याध्यायः–तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः—

१–इन्द्रपदार्थविज्ञानावश्यकता, तत्स्वरूपप्रतिपादनञ्च
२–प्रज्ञात्मकप्राणानामेकभूयस्त्वं, प्राणप्राधान्यत्वं च
३–प्रज्ञा-प्राणयोरैक्यसमर्थनं, प्राणे सर्वाप्तिश्च
४–प्रज्ञामात्रा-भूतमात्रयोरन्योऽन्याविनाभावनिरुक्तिः
५–भूतमात्राणां प्रज्ञामात्रासु, तासां च प्राणेऽनुस्यूतत्त्वम्

इति—तृतीयोऽध्यायः

३

४—ब्रह्मविद्याध्यायः–तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्याः–

१–अजातशत्रोः काशिराजस्य बालाकिमुनिना ब्रह्मतत्त्वे संवादः
२–अजातशत्रुणा याथार्थ्येन ब्रह्मस्वरूपनिरूपणम्

इति चतुर्थोऽध्यायः

४

समाप्ता चेयं कौषितकिब्राह्मणोपनिषत्

१२

४३–मैत्रायण्युपनिषत् के प्रतिपाद्यविषय—

१३–मैत्रायण्युपनिषत् (भूतात्मवर्णनपरेयमुपनिषत्)

इस उपनिषत् में प्रधानरूप से देवसत्यप्राणमूर्त्ति, त्रिपर्वा, भूतात्मा का ही प्रधानरूप से विश्लेषण हुआ है। इस उपनिषत् में ५ प्रपाठक हैं। पाँचों में क्रमशः आत्मस्वरूपजिज्ञासा, वैश्वानर-तैजस-प्राणात्मक भूतात्मा, आत्ममहिमा, आत्मकला, आत्मस्वरूपप्रतिष्ठा, इन विषयों का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ है।

१–आत्मस्वरूपजिज्ञासाधिकरणम् (१ प्रपाठकः)।

२–भूतात्मस्वरूपनिरूपणाधिकरणम् (२ प्रपाठकः)।

३–भूतात्ममहिमानिरूपणाधिकरणम् (३ प्रपाठकः)।

४–भूतात्मकलाविभागनिरूपणाधिकरणम् (४ प्रपाठकः)।

५–भूतात्मप्रतिष्ठातत्त्वनिरूपणाधिकरणम् (५ प्रपाठकः)।

समाप्ता चेयं मैत्रायण्युपनिषत्

१३

—❀—

❀ प्रकरणोपसंहार–

'उपनिषदों में क्या है ?' इस प्रश्न के समाधान की चेष्टा की गई। अपने इस प्रयत्न में हमें कहाँ तक सफलता हुई है ?, प्रश्नभार विज्ञ पाठकों पर छोड़ते हुए सर्वान्त में प्रक्रान्त प्रश्नसमाधि के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि, अक्षरदृष्ट्या सम्पूर्ण उपनिषत् जहाँ अभिन्नार्थ-प्रतिपादिका हैं, वहाँ द्वार-दृष्ट्या प्रत्येक उपनिषत् अपना अपना भिन्न भिन्न दृष्टिकोण रखती है। इस दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए ही प्रकरणारम्भ में ब्रह्मविज्ञानानुगता कुछ एक परिभाषाओं का दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझा गया है। यदि उक्त 'परिभाषासंग्रह' को लक्ष्य में रखते हुए उपनिषदर्थ का समन्वय किया जायगा, तो निश्चयेन अर्थ-समन्वय में सुविधा होगी। परिभाषा–ज्ञानाभाव में प्रयत्न–सहस्रों से भी उपनिषदर्थ का समन्वय नहीं किया जा सकता, ऐसा अपना प्रातिस्विक मन्तव्य है।

'उपनिषत्प्रतिपाद्यविषयदिग्दर्शन' नामक

द्वितीय स्तम्भ उपरत

२

—❀—

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'उपनिषत्प्रातिपाद्याविपयादिग्दर्शन' नामक

द्वितीयस्तम्भ-उपरत

२

—×—

श्री:

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-

'उपनिषच्छिक्षास्वरूपदिग्दर्शन' नामक

तृतीय–स्तम्भ

३

———*——–

श्रीः

उपनिषच्छिक्षास्वरूपदिग्दर्शन

तृतीय स्तम्भ

१–प्राचीनदृष्टि, और उपनिषदों की शिक्षा–

उपनिषच्छास्त्र से हमें क्या शिक्षा मिलती है ?, दूसरे शब्दों में उपनिषच्छास्त्र हमें कर्त्तव्यत्वेन क्या आदेश देता है ?, इस प्रश्न के सम्बन्ध में उपनिषच्छास्त्र के व्याख्याताओं नें क्या विचार प्रकट किए हैं ?, प्रथम संक्षेपतः यह जान लेना आवश्यक होगा। 'इदं' रूपेण प्रतीयमान प्रपञ्च को प्राचीन व्याख्याताओं नें **'अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप'** भेद से पाँच भागों में विभक्त मानते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि, अस्ति–भाति–प्रिय–की समष्टि 'सच्चिदानन्दघन' ब्रह्म है, एवं यह नित्य, सर्वव्यापक, सुसूक्ष्म, अद्वयलक्षण है। नाम-रूप की समष्टि विश्व है। नामरूप के अतिरिक्त तीसरा कर्म्म तत्व और है, जिसका नामरूप में हीं अन्तर्भाव है। नामरूपकर्म्ममय विश्व सर्वथा क्षणिक, प्रातिभासिक, अतएव सर्वथा असत्य है, मायिक है, मिथ्या है। मिथ्या–लक्षण विश्व का प्रधान स्वरूप कर्म्म है। अतएव विश्व को कर्म्मप्रधान कहा जा सकता है।

उक्त कर्म्मरूप विश्वावरण ने अपने मायारूप से अस्ति–भाति–प्रिय–रूप आत्म–ज्योति को उसी प्रकार आवृत कर रक्खा है, जैसे मेघावरण से सूर्य्यज्योति आवृत हो जाती है। विशुद्ध ज्ञानज्योतिर्घन सच्चिदानन्दघन आत्मा के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर जीवात्मा को मोहमार्ग का पथिक बना देने वाला एकमात्र कर्म्म-जाल ही माना जायगा। जबतक जीवात्मा की कर्म्ममार्ग में प्रवृत्ति है, तबतक आत्मबोध असम्भव है। एवं जबतक आत्मबोध नहीं हो जाता, तबतक मुक्तिलक्षण नित्यानन्द (शान्तानन्द) की प्राप्ति असम्भव है। जीवात्मा का परमपुरुषार्थ यही माना जायगा कि, वह यच्चयावत् कर्म्मों का आत्यन्तिकरूप से परित्याग कर विशुद्ध ज्ञानभाव में परिणत हो जाय। उपनिषच्छास्त्र का प्रधान लक्ष्य यही है कि, जीवात्मा कर्म्म के मायिक स्वरूप को समझता हुआ, इसे ज्ञानैकघन आत्मा की प्राप्ति में प्रतिबन्धक मानता हुआ कर्म्म का परित्याग कर सर्व-कर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण संन्यासपथ का अनुगामी बने। सहज भाषा में यों भी कहा जा सकता है कि, प्रवृत्तिलक्षण कर्म्मयोग की शिक्षा जहाँ हमें वेद के विधि भाग से मिलती है, परानुरक्तिलक्षण भक्तियोग की शिक्षा जहाँ वेद के आरण्यक भाग से मिलती है, वहाँ उपनिषच्छास्त्र सर्वकर्म्मनिवृत्तिलक्षण ज्ञानयोग की ही शिक्षा दे रहा है। और यही जीवात्मा का परमपुरुषार्थ है।

ज्ञानैकघन विशुद्ध आत्मा को स्वस्वरूप से आवृत करने वाले मायिक कर्म्म को कर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म, भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। यज्ञ, तप, दान, नाम से प्रसिद्ध विद्यासापेक्ष प्रवृत्तिसत्-कर्म्मत्रयी,–एवं इष्ट, आपूर्त्त, दत्त, नाम से प्रसिद्ध विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिसत्कर्म्मत्रयी, इन ६ कर्मों की समष्टि– **'कर्म्म'** (सत्कर्म्म) नामक कर्म्म है। इस कर्म्मषट्क के अनुगामन से आत्मा का अभ्युदय माना गया है।

सूर्य्यसंस्था यज्ञप्रधान है, एवं यह यज्ञ त्रयीविद्या के आधार पर ही वितत होता है, जैसा कि **'सैषा-त्रयीविद्या यद्यज्ञः'** (शतपथब्रा०) इत्यादि विधि-वचन से प्रमाणित है। इसी त्रयीविद्या के आधार पर वैध अग्नि में सोमाहुति देकर हम अपने आत्मा में यज्ञातिशयसंस्कार प्रतिष्ठित करने में समर्थ होते हैं। इसी सौर–दिव्य–यज्ञातिशयसंस्काराकर्षण के अनुग्रह से नियतायुर्भोगानन्तर शरीर छोड़ने के पश्चात् हमारा मानुषात्मा पार्थिवाकर्षण से विमुक्त होता हुआ 'सप्तदश' नाम से प्रसिद्ध नाचिकेतस्वर्ग में प्रतिष्ठित हो जाता है। इतर कर्म्मों की अपेक्षा त्रयीविद्या-मूलक, यज्ञात्मक यह सत्कर्म्म देवस्वर्गप्राप्ति का साधक बनता हुआ, साथ ही अभिलषित ऐहिक कामनाओं का भी अन्यतम पूरक बनता हुआ श्रेष्ठतम है, जैसाकि–**'श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे'** (यजुः २।२।)-**"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म"** (शतपथब्रा०) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

पञ्चज्योतिर्म्मय हमारा भूतात्मा सूर्य्यज्योति के आधार पर ही प्रतिष्ठित माना गया है। इन्द्रात्मिका सूर्य्यज्योति ही चिज्ज्योति (आत्मज्योति) की प्रतिष्ठा है। अतएव–**'सूर्य्य आत्मा जगतस्थस्थुषश्च'** इत्यादि श्रुत्ति सूर्य्य को ही आत्मप्रतिष्ठा मान रही है। जबकि हमारी आत्मा सूर्य्यमूलक है, तो सिद्ध है कि, सूर्य्य की ओर आत्मा का अनुगमन करना आत्मभूमालक्षण आत्मसुख का कारण है। ज्यों ज्यों आत्मा सूर्य्य की ओर बढ़ेगा, त्यों त्यों सौर–तत्व के अधिकाधिक समावेश से वह भूमा–भाव को प्राप्त होगा, स्व-स्वरूप से विकसित होगा। विकासलक्षण यह भूमाभाव ही–**'यो वै भूमा, तत्सुखम्'** के अनुसार आत्मानन्द है। यही आत्म-स्वरूप का विकासलक्षण 'उदय' है। एवं यही आत्मोदय 'आत्माभ्युदय' है। 'अभि–उत्–अय' की समष्टि ही अभ्युदय है। 'अभि' का अर्थ है—'सामने', उत् का अर्थ है—'ऊपर की ओर—सूर्य की ओर', 'अय' का अर्थ है—'गमन'। सूर्य्य की ओर आत्मा का जाना ही आत्मा का अभ्युदय है। एवं इस अभ्युदय का अन्यतमप्रवर्त्तक त्रयीविद्यामूलक श्रेष्ठतम यज्ञकर्म्म पहिला कर्म्म है।

दूसरा साधन 'तप' नामक कर्म्मविशेष है। योग का ही नाम तप है, जिसका कि—**'योगविधिं च कृत्स्नम्'** इत्यादि रूप से कठोपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है। तपोलक्षण इस योगकर्म्म के 'राज–हठ–मन्त्र–लय' भेद से चार श्रेणि–विभाग हैं। राजयोग सुप्रसिद्ध 'भक्तियोग' है, जिसका शाण्डिल्यदर्शन में **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** रूप से विश्लेषण हुआ है। हठयोग, मन्त्रयोग, अमनस्कयोगापरपर्य्यायक लययोग, इन तीनों का पातञ्जलयोगशास्त्र में स्पष्टीकरण हुआ है। इस योगचतुष्टयी से आत्मा में परज्योति का आधान होता है। आत्मा दिव्यज्योति के आधान से ऊर्ध्वगति का अनुगामी बनता है, ऐहिक–पारलौकिक सिद्धियों का फलभोक्ता बनता है। स्वर्गसुख जहाँ आत्मा का पहिला सुख था, वहाँ अपरामुक्ति आत्मा का दूसरा सुख है। जहाँ स्वर्गसुख यज्ञकर्म्म से सम्बन्ध रखता है, वहाँ अपरामुक्ति योगलक्षण तप से सम्बद्धा है।

तीसरा सत्कर्म्म 'दान' है। यज्ञकर्म्मसञ्चालक, यज्ञकर्म्मस्वरूपसम्पादक ऋत्विजों के आत्मा को यज्ञफल से पृथक् करते हुए यज्ञफल के अनन्यभोक्ता बनने के लिए यज्ञकर्त्ता यजमान की ओर से दी जाने वाली ऋत्विग्–दक्षिणा ही **'दान'** नामक तीसरा सत्कर्म्म है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक तत्त्वों को अपने आत्म-जगत् में आधान करने के लिए तत्तत् प्राकृतिक प्राणों से युक्त तत्तत्-गौ-सुवर्ण-भूमि-लौह-रजत-ताम्र-घृत-आदि द्रव्यों का योग्य–कर्म्मनिष्ठ–विद्वान् ब्राह्मणों को स्वसत्त्वनिवृत्ति–परसत्त्वस्थापनपूर्वक दान देना भी दानकर्म्म है। यज्ञिय दान 'दक्षिणा' कहलाया है, दूसरा दान 'दान' कहलाया है। दान-दक्षिणात्मक यह उभयविध दान

पात्रता पर निर्भर है। एवं यह पात्रता शास्त्र के द्वारा निर्णीत है। दरिद्र-हीनाङ्ग-अतिरिक्ताङ्ग-आदि इस दान-दक्षिणा के पात्र नहीं है। अपितु योग्य विद्वान् ही इस वैज्ञानिक दान के पात्र हैं। यदि किसी योग्य विद्वान् के पास सम्पत्ति है, तो वहाँ यह विचार नहीं किया जायगा कि, इसे दान क्यों दिया जाय। सम्पत्ति रहे, अथवा न रहे, यदि वह दानपात्र है, तो वही इस दान का अधिकारी माना जायगा। इस दान का अर्थ है–भेंट, निवेदन। दाता का आसन नीचे है, प्रतिग्रहीता का आसन उच्च है। यही शास्त्रीय दान है, जिसके प्रतिफल में दाता के आत्मा में अभ्युदयप्रवर्त्तक दिव्य संस्कारों का आधान होता है। कहना न होगा कि, शास्त्ररहस्य-मर्म्मानभिज्ञ आज का भारतवर्ष दान के इस वैज्ञानिक प्रकार को सर्वथा भुला चुका है। यही कारण है कि, आज शास्त्रीय दान का स्थान लौकिक 'दत्त' ने ग्रहण कर लिया है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

बतलाना इस सम्बन्ध में यही है कि, यज्ञ, तप, दान, तीनों सत्कर्म्म अभ्युदय के साधक बनते हुए **'देवस्वर्ग'** प्राप्ति के कारण बन रहे हैं। इन तीनों के अनुष्ठान के लिए शास्त्रीय ज्ञान (विद्या) अपेक्षित है, जो कि शास्त्रीय ज्ञान अधिकारतन्त्र से तन्त्रायित है। भारतीय द्विजातिवर्ग ही वेदशास्त्र का अधिकारी है, एवं वही तन्मूलक यज्ञ-तप-दान- का अनुगामी है। भारतीय द्विजातिवर्ग के अतिरिक्त मनुष्यमात्र इसमें अनधिकृत हैं। तत्रापि यज्ञ का प्रधान अधिकारी ब्राह्मण है, तप का प्रधान अधिकारी क्षत्रिय है, एवं दान का प्रधान अधिकारी वैश्य है। गौणविधि से तीनों परस्पर समतुलित हैं। शास्त्रीय ज्ञानसापेक्ष, द्विजातिमात्र-मर्य्यादित यही पहिला कर्म्मत्रयी–विभाग है।

दूसरा विभाग विद्यानिरपेक्ष-सत्कर्म है। इष्ट, आपूर्त, दत्त, भेद से इसके भी तीन ही विभाग मानें गए हैं। स्वार्थ-परार्थ-परमार्थ भेद से तीनों विभक्त हैं। अपने उपभोग में आने वाली वस्तुओं की प्राप्ति के लिए दूसरों को कोई हानि न पहुँचाते हुए जो कर्म्म किया जायगा, वह 'इष्ट' कहलाएगा। संसार के उन समस्त कर्म्मों का–जिनसे योग-क्षेम का निर्वाह होता है, जीवनयात्रा का सञ्चालन होता है–इसी इष्टकर्म्म में अन्तर्भाव है। देश-काल-पात्र-द्रव्य-भेद से इस इष्टकर्म्म का स्वरूप भिन्न भिन्न है। यदि इष्टकर्म्म से स्वार्थसिद्धि के साथ अन्यों का अनिष्ट है, तो वैसा इष्टकर्म्म अनिष्ट ही माना जायगा। वापी-कूप-तड़ाग-पाठशाला-उद्यान-आदि सार्वजनिक कर्म्म परार्थस्थानीय बनते हुए 'आपूर्त' हैं। असमर्थ, हीनाङ्ग, अतिरिक्ताङ्ग, अनाथों का भरण-पोषण करना परमार्थस्थानीय 'दत्त' कर्म्म है। पूर्वप्रतिपादित 'दान' से यह 'दत्त' ठीक उलटा है। यहाँ दाता का आसन ऊँचा है, ग्रहीता का आसन नीचा है। **'दरिद्रान् भर कौन्तेय!'** के अनुसार दरिद्र ही इसके अधिकारी हैं। किसी वर्ण का हो, किसी जाति का हो, यदि वह असमर्थ है, तो उसे शक्तिभर देना प्रत्येक मनुष्य का आनृशंसधर्म्म है। भारतीय ऋषियों नें इस सम्बन्ध में अपना यह निर्णय प्रकट किया है कि, विद्याध्ययन करने वाले असमर्थ विद्यार्थी, अपने सदुपदेश से लोकाभ्युदय-निःश्रेयस् में प्रवृत्त सर्वपरिग्रहशून्य व्रती (संन्यासी), इन्द्रियों के द्वारा अर्जनकर्म्म में असमर्थ लूले-लँगड़े-अन्धे-कोढ़ी असमर्थ मनुष्य, ये तीन वर्ग ही इस 'दत्त' के अधिकारी हैं। अपनी कुत्सित वासनाओं से समाज में पापाचार फैलाने वाले, देश की अतुल सम्पत्ति को अपनी विलास-लीला में स्वाहा करने वाले, अकर्म्मण्य साधु-फकीर-सन्त-महन्त-आचार्य्य-नामधारी, सर्वोपरि निरक्षरभट्टाचार्य्य देश के ऐसे घोर–घोरतम शत्रुओं को 'दत्त' का अधिकारी मानना भयङ्कर भूल है।

अव्रताश्चानधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः ।
तं देशं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः ॥ (स्मृतिः)

उक्त स्मृति-वचन के अनुसार जिस नरपति के राज्य में व्रती (सन्यासी), विद्यार्थी, चकारात् असमर्थ दरिद्री, इन तीनों को छोड़ कर अन्य-अकर्म्मण्यों का भरणपोषण होता है, एवं जहाँ का शासक दान देने वाले ऐसे हीनप्रज्ञों को, तथा लेने वाले धूर्त्त-वञ्चकों को दण्ड नहीं देता, वह अपने राज्य में लुटेरों की संख्या बढ़ाता है । वह चौर-पालक राज्य है ।

इष्ट-आपूर्त्त-दत्त, उक्त इन तीनों कर्म्मों का सबको समानाधिकार है । इस सत्कर्म्मत्रयी से पितृस्वर्ग प्राप्त होता है, जिसका श्राद्धविज्ञानान्तर्गत-'**आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्**' में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है । आत्माभ्युदय-प्रवर्त्तिका इस कर्म्मत्रयी को भी हम अभ्युदय-साधक ही कहेंगे । यज्ञ-तप-दान-तीनों विद्यासापेक्ष 'पुण्यकर्म्म' हैं, इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-तीनों विद्यासापेक्ष 'शुभकर्म्म' हैं । दोनों त्रयीकर्म्मों की समष्टि 'सत्कर्म्म' नामक पहिला कर्म्मविभाग है ।

स्तेय (चोरी), सुरापान, परःसत्त्वापहरण, अगम्यागमन, भ्रूणहत्या, बालहत्या, अनृतभाषण, अभक्ष्यभक्षण, आदि लोक-शास्त्रनिन्दित यच्चयावत् कर्म्म अपने मलिन-संस्कारावरण से आत्मज्योति को मलिन करते हुए इसे सूर्य्य-ज्योति की ओर जाने में असमर्थ बना डालते हैं । फलतः मलिनात्मा स्वप्रभव-सूर्य्य से ठीक विरुद्ध दिक् का अनुगामी बन जाता है । यही विरुद्ध आत्मगति 'प्रत्यवाय' नाम से प्रसिद्ध हुई है । 'प्रति' का अर्थ है सूर्य्यदिक् से विपरीत, 'अव' का अर्थ है—नीचे की ओर, 'अय' का अर्थ है 'गमन' । जिन शास्त्रनिषिद्ध कर्म्मों से आत्मा तमोभाव का अनुगामी बनता हुआ अधोगति का अनुगमन करता है, वे पापकर्म्म 'प्रत्यवायकर्म्म' हैं । यही '**विकर्म्म**' (विरुद्धकर्म्म) नामक दूसरा कर्म्म है ।

जलताड़न, वृथाहास्य, तृणच्छेद, पादभ्रमण, अङ्गुलिध्वनि, करताड़न, आदि कर्म्म निरर्थक कर्म्म हैं । इन कर्म्मों का न निषेध है, न आज्ञा है । अतएव इन्हें '**अविहिताप्रतिषिद्ध**' नाम से व्यवहृत किया गया है । इन निरर्थक कर्म्मों से आत्मा में आलस्य का उदय होता है । आलस्य कालान्तर में अविद्या का जनक बन जाता है । स्वस्त्ययनकर्म्मों के अन्यतम विघातक ये निरर्थक कर्म्म कालान्तर में विकर्म्म का ही स्थान ग्रहण कर लेते हैं । निरर्थक कर्म्मात्मक यही तीसरा '**अकर्म्म**' विभाग है ।

इसप्रकार कर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म, भेद से कर्म्मप्रपञ्च का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया जासकता है । इतर सम्पूर्ण कर्म्मकलापों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव है। इस कर्म्मत्रयी का एकमात्र कर्म्ममय विश्व के साथ ही सम्बन्ध है । अतएव इन कर्म्मों से उत्पन्न फल का भी एकमात्र विश्वसीमा में ही विश्राम है । अकर्म्माचरण से पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि हीनयोनियाँ प्राप्त होतीं हैं । विकर्म्माचरण से रौरवादि नरक-गतियों का अनुगमन करता हुआ प्राणी हीनयोनियों का सत्पात्र ? बनता है । विद्यानिरपेक्ष-इष्टादि कर्म्मत्रयी से पितृस्वर्गावाप्ति होती है । एवं विद्यासापेक्ष यज्ञादि कर्म्मत्रयी देवस्वर्गप्राप्ति का कारण बनती है ।

उक्त कर्म्मों, तथा कर्म्मोदर्कों के विश्लेषण से थोड़ी देर के लिए हमें इस निश्चय पर पहुँच जाना पड़ता है कि, विश्व के यच्चयावत् कर्म्मों में यज्ञकर्म्म सब से श्रेष्ठ कर्म्म है । यज्ञकर्म्म की यह श्रेष्ठता ही थोड़ी

देर के लिए अपने देवस्वर्गफल के मोह से हमें मुग्ध बना लेती है। और हम मान बैठते हैं कि, जिस यज्ञ-कर्म्मानुष्ठान से हमें इस लोक में अभीष्ट फल मिलते हैं, परलोक में सुख मिलता है, वह यज्ञकर्म्म ही हमारा परमपुरुषार्थ है। फलतः हमें यावज्जीवन इसी कर्म्म का अनुगमन करते रहना चाहिए।

वेद के विधि-भागात्मक ब्राह्मणभाग में प्रतिपादित, महर्षि जैमिनिद्वारा मीमांसित यज्ञलक्षण कर्म्म-काण्ड की पुरुषार्थ-रूपता का खण्डन करते हुए प्राचीन-व्याख्याता कहते हैं कि, जिस यज्ञकर्म्म को कर्म्माभि-भिनिविष्ट-कामकामी-जन सर्वाभीष्टफलप्रद बतलाते हुए उसे परमपुरुषार्थ कहते हैं, वह कर्म्ममार्ग वस्तुतः ज्ञानोदयावधिपर्य्यन्त आंशिकरूप से केवल क्रत्वर्थ बन रहा है। कर्म्मात्मक स्वयं यज्ञ भी अस्थिर है, यज्ञफल-रूप देवस्वर्ग भी अस्थिर है। जबतक यज्ञकर्त्ता यजमान के मानुषात्मा में यज्ञकर्म्मजनित यज्ञातिशय प्रतिष्ठित रहता है, तबतक इस की स्वर्ग में प्रतिष्ठा है। जिस क्षण यज्ञातिशय क्षीण हो जाता है, उसी क्षण-'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति' के अनुसार वह पुनः इसी मर्त्यलोक का अनुगामी बन जाता है। इसप्रकार कर्म्मप्रपञ्च-प्रधान विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित पुरुष भले ही उत्तम से उत्तम कर्म्म (यज्ञ) का अनुष्ठान क्यों न करले, परन्तु कर्म्म से उसे पराशान्तिलक्षण अक्षयसुख नहीं मिल सकता। वस्तुतस्तु जिसे वह स्वर्गसुख कहता है, वह भी दुःखयुक्त ही है। पतन का भय वहाँ भी बना ही रहता है। भय ही दुःखकी पूर्वावस्था है। इसके अतिरिक्त कामनाओं की परम्परा से इस कामकामी का चेतोधरातल नित्य अशान्त बना रहता है। ऐसा कामकामी कर्म्मठ स्थिरप्रज्ञानुगता चिच्छान्ति से सम्बन्ध रखने वाली पराशान्ति का अधिकारी नहीं बन सकता, जैसाकि निम्न लिखित स्मार्त्ती उपनिषत् से स्पष्ट है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥१॥
कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥२॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥३॥ (गी० २।४२,४३,४४,)

वस्तुस्थिति यह है कि, पराशान्तिलक्षण सच्चिदानन्दघन ब्रह्म विशुद्ध ज्ञानघन है, कृतभाव (कर्म्मभाव) से असंसृष्ट है, अतएव नित्य है, व्यापक है। इधर कर्म्म क्रियालक्षण है, कृत है, क्षणिक है, परिच्छिन्न है, अनित्य है, अध्रुव है। ऐसी दशा में अनित्य-अध्रुव-कर्म्म से उस नित्य-ध्रुव आत्मतत्त्व का कथमपि लाभ सम्भव नहीं है। साथ ही जबतक वह प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक अमृतलक्षण शाश्वत सुख की प्राप्ति भी असम्भव है। निम्न लिखित कुछ एक श्रौत-स्मार्त्तवचन यही सिद्ध कर रहे हैं कि, आत्मा अकृत (कर्म्मशून्य) है। वह कृत (कर्म्म) से कथमपि प्राप्त नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में कर्म्ममार्ग आत्मप्राप्ति का साधक नही, अपितु बाधक है। **कर्म्मत्यागलक्षण विशुद्ध ज्ञानमार्ग ही जीवात्मा का परम पुरुषार्थ है।**

१–"न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं तत्" (कठोपनिषत् १अ०।२व०।१०मं०)।

२–"नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्डकोप० १मु०।२।खं०।१२मं०)।

३–"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति"॥
(मुण्डको०२मु०२।सं०।७।)

४–"न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति"॥
(कैवल्योप०१खं०।३मं०)

५–"यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति"॥(श्वेता०६अ०२०मं०)।

६–"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" । श्वेता०३अ०।८मं०)।

७–"एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" (कठोप०२।१६।)।

८–"ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" (श्वे०१।८।)।

९–"ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति" (श्वे०३।७।)।

१०–"तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति" (श्वे०७।१५।)।

११–"ज्ञात्वाऽत्मस्थममृतं विश्वधाम" (श्वे०६।६।)।

१२–"तमेवैकं जानथ आत्मानम्" (२मुं०।२खं०५सं०)।

१–"श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप !
सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते" ॥ (गी०४।३३।)।

२–"भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति" ॥ (गी०५।२६।)।

३–"भक्त्या माममभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" ॥ (गी०१८।४४।)।

४–"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति" ॥ (गी०४।३६।)।

५–"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति" ॥ (गी०४।३८।)।

६–"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा" ॥ (गी०४।३७)।

७–"अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि" ॥ (गी०४।३६।)।

८–"तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" ॥ (गी०४।४२।)।

९–"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्" ॥ (गी०५।१६।)।

१०–"तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः" ॥ (गी०५।१७।)।

११–"उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्" ॥ (गी०७।१८।)।

१२–"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" ॥ (गी०७।१९।)।

१—"अध्रुव-अस्थिर कर्म्मों से ध्रुव-स्थिर आत्मतत्त्व कथमपि प्राप्त नहीं किया जा सकता"।

२—"कर्म्म से असंस्पृष्ट, अतएव 'अकृत' नाम से प्रसिद्ध ज्ञानैकघन आत्मा 'कृत' नामक कर्म्म से कथमपि प्राप्त नहीं किया जा सकता"।

३—"अवर-दूर से सम्बन्ध रखने वाला १८ संख्या में विभक्त कर्म्म जिन यज्ञों में विहित हुआ है, वे यज्ञरूप नौकाएँ इस मृत्युसंसार-सागर को पार करने में जीर्ण-सिद्ध हुई हैं। जो मूढ (कर्म्माभिनिविष्ट जन) इस सर्वथा प्रेय कामनामय यज्ञ की श्रेयोरूप से स्तुति करते हैं, वे जरा-मृत्यु का बार बार अनुगमन किया करते हैं। तात्पर्य्य-यज्ञकर्म्म से शाश्वत-आत्मानन्द नहीं मिल सकता"।

४—"यावज्जीवन कामनामय कर्म्म करने से, बहु प्रजा से, प्रभूत वित्तपरिग्रह से, इनमें से किसी से भी अमृतत्त्व-सम्पत्ति नहीं मिल सकती। विद्वानों नें कर्म्मादि परिग्रहों के आत्यन्तिक परित्याग को ही अमृतप्राप्ति का कारण माना है। सर्वकर्म्मत्यागलक्षण सन्यास का अनुगमन करने वाले यतिश्रेष्ठ (ही) इसी त्याग के बल से दुःखासम्भिन्न, गुहानिहित, नाकस्वर्ग में प्रवेश करते हैं, जहां से पुनरावर्त्तन नहीं होता"।

५--"जब मनुष्य आकाश को चमड़े की भाँति अपने शरीर से लपेट लेंगे, तभी आत्मदेव को बिना जाने दुःख का अन्त होगा। अर्थात् जैसे आकाश को चर्म की भाँति शरीर से लपेटना असम्भव है, तथैव बिना आत्मज्ञान के दुःखनिवृत्ति असम्भव है"।

६--"उसे ही जान कर मृत्यु का अतिक्रमण करता है। मुक्तिपथ-प्राप्ति के लिए आत्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है"।

७--"इस अक्षरब्रह्म को जान कर ही सर्वज्ञता, सर्वाप्ति, आदि व्यापक विभूतियाँ प्राप्त कर सकता है"।

८--"आत्मदेव को जान कर सम्पूर्ण बन्धनों से मनुष्य मुक्त हो जाता है"।

९--"उस ज्ञानघन ईश को जान कर मनुष्य अमृतभाव में परिणत हो जाते हैं"।

१०--"उसे इस भाँति जान कर मनुष्य अपने मृत्युपाशों को काट फेंकते हैं"।

११--"आत्मा में प्रतिष्ठित ज्ञानामृत को जान कर, जो कि ज्ञानामृत विश्व की प्रतिष्ठा है-(मुक्त हो जाते हैं)"।

१२--"केवल उस ज्ञानघन आत्मतत्त्व को ही पहिचानो"।

१—"द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। सम्पूर्ण कर्म्मकलाप ज्ञान में विश्रान्त है। अर्थात् ज्ञान-भूमिका में पहुँचने के अनन्तर कर्म्म विलीन हो जाते हैं"।

२—"सम्पूर्ण यज्ञों, तपों के अनन्य भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों के अधिपति, सम्पूर्ण भूतों के सुहृद, ऐसे आत्म-तत्व को जान कर मनुष्य शान्तिलाभ करता है"।

३—"मैं (आत्मतत्व) कितना, और कैसा हूँ, यह भक्तियोग से जान लेता है। (इस सामान्य ज्ञान के अनन्तर ज्ञानयोग से) आत्मा को तत्त्वतः जानकर उसमें लीन हो जाता है"।

४—"जितेन्द्रिय, श्रद्धालु पुरुष ज्ञानसम्पति प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस ज्ञानसम्पत्ति को प्राप्त कर वह शीघ्र ही पराशान्ति को प्राप्त हो जाता है।

५—"संसार में ज्ञान से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु पवित्र नहीं है। वह ज्ञान सिद्धदशा में अपने आप प्रकट हो जाता है"।

६—"जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि काष्ठभार को भस्मावशेष कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्म्मों को जला डालता है"।

७—"यदि तुम पापियों की गणना में घोर पापी हो, तो भी ज्ञाननौका के सहारे इस तूफान को पार कर सकोगे"।

८—"इसलिए अज्ञान से उत्पन्न हृदयस्थ अविद्याजालरूप संशय को आत्मज्ञानरूप कृपाण से काट कर इस ज्ञानयोग का आश्रय लो"।

९—"जिन ज्ञानियों का अज्ञान ज्ञान से नष्ट हो चुका है, उनका आदित्यवत् प्रकाशित ज्ञान परज्योति-प्राप्ति का कारण बन जाता है"।

१०—"ज्ञानबुद्धियुक्त, ज्ञानात्मसम्पत्तिपरायण, ज्ञाननिष्ठ, ज्ञानलीन पुरुष ज्ञान से सर्वात्मना शुद्ध पूत बनते हुए अपुनरावृत्तिरूप अमृतगति को प्राप्त कर लेते हैं"।

११—"सभी अच्छे हैं—मेरे (आत्मा के) भक्त हैं। परन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। ऐसा योगयुक्त युक्तात्मा सर्वश्रेष्ठ आत्मगति का अनुगामी बनता है"।

१२—"अनेक जन्मों के अनन्तर ज्ञानवान् पुरुष आत्मामृत प्राप्त करने में समर्थ होता है। कृष्णतत्त्व (अनुपाख्य कृष्ण नामक व्यापक आत्मतत्व) सर्वव्यापक है, यह जानने वाला दुर्लभ है"।

उक्त श्रौत-स्मार्त्त वचनों से यह भलीभाँति प्रमाणित हो रहा है कि, विशुद्ध आत्मा का साक्षात्कार ही पराशान्ति का मुख्य हेतु है। विशुद्ध आत्मा क्योंकि विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति है, अतएव इसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय आत्मज्ञानोदयोपयिक सर्वकर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण ज्ञानयोग ही है। इसप्रकार अत्र यह मान लेनें में कोई आपत्ति नहीं रह जाती कि, वेद के विधिभाग में प्रतिपादित यज्ञात्मक कर्म्मयोग पराशान्तिलाभ में सर्वथा अनुपयुक्त है।

वस्तुस्थिति यह है कि, नित्यं-विज्ञान-मानन्दं-घन ब्रह्म के **'विशुद्ध, मायिक'** भेद से दो विवर्त्त हैं। विशुद्ध आत्मा अस्ति-भाति-प्रिय-रूप है, मायिक प्रपञ्च नाम-रूपात्मक है। नाम-रूपात्मक मायिक प्रपञ्च के **'सगुण, साञ्जन'** भेद से दो विवर्त्त हैं। सगुण विवर्त्त विश्वेश्वर है, साञ्जन विवर्त्त विश्व है। इसप्रकार दो ब्रह्मविवर्त्तों के विशुद्ध विश्वातीत व्यापक आत्मा, विश्वेश्वर, विश्व, ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। ये ही तीन विवर्त्त क्रमशः आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक विवर्त्तों की प्रतिष्ठा माने गए हैं। ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः सर्वकर्म्मविमोकलक्षण ज्ञानयोग, ईश्वरानुग्रहप्राप्तिकामलक्षण भक्तियोग, ऐहिकामुष्मिक सुखप्राप्तिसाधक कर्म्मयोग, इन तीनों योगों की प्रतिष्ठा हैं। प्रथम श्रेणि के अधिकारी कर्म्मयोग के, मध्यम श्रेणि के अधिकारी भक्तियोग के, एवं उत्तम श्रेणि के अधिकारी ज्ञानयोग के अधिकारी मानें गए हैं। इन तीनों योगों के निम्न लिखित लक्षण मानें जा सकते हैं—

१–जिसमें साध्य, साधन, दोनों आधिदैविक हों, वही **'ज्ञानयोग'** है।

२–जिसमें साध्य आधिदैविक, साधन आधिभौतिक हों, वही **'भक्तियोग'** है।

३–जिसमें साध्य, साधन, दोनों आधिभौतिक हों, वही **'कर्म्मयोग'** है।

प्राचीन व्याख्याताओं का यह कहना है कि, गृहस्थाश्रम में कर्म्मयोग का अनुगमन होता है, वानप्रस्थाश्रम में भक्तियोग का अनुगमन होता है, एवं संन्यासाश्रम में ज्ञानयोग का अनुगमन होता है। इन तीनों का क्रमशः 'ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्' इन तीन वेदभागों के द्वारा विश्लेषण हुआ है। आधिभौतिक कर्म्मयोग ब्राह्मणग्रन्थों का अवच्छेदक है, आध्यात्मिक भक्तियोग आरण्यकग्रन्थों का अवच्छेदक है, एवं आधिदैविक ज्ञानयोग उपनिषदों का अवच्छेदक है। इन तीनों योगों का इसप्रकार वर्गीकरण करते हुए ही उपनिषदों की शिक्षा का समन्वय करना चाहिए।

१–व्यापक–आत्मा–विश्वातीतः–आधिदैविकः—ज्ञानयोगप्रतिष्ठा ।
२–सगुणेश्वरः—विश्वेश्वरः—आध्यात्मिकः—भक्तियोगप्रतिष्ठा
३–साञ्जनं विश्वं–विश्वम्—आधिभौतिकः–कर्म्मयोगप्रतिष्ठा

———— *

१–ज्ञानयोगः—आधिदैविकसाध्यसाधनविशिष्टः——उत्तमाधिकारिणाम्
२–भक्तियोगः–आधिदैविकसाध्याधिभौतिकसाधनविशिष्टः–मध्यमाधिकारिणाम्
३–कर्म्मयोगः–आधिभौतिकसाध्यसाधनविशिष्टः——प्रथमाधिकारिणाम्

———— *

१–उपनिषदः——विशुद्धज्ञानयोगप्रतिपादिकाः–(अखण्डात्मप्रतिपादिकाः–इति यावत्)
२–आरण्यकानि—उभयनिष्ठभक्तियोगप्रतिपादकानि
३–ब्राह्मणानि——विशुद्धकर्म्मयोगप्रतिपादकानि

———— *

बतलाया जा चुका है कि, ब्राह्मणभागोक्त, आधिभौतिक साध्य–साधन–विशिष्ट, विश्वानुगत कर्म्मयोग पराशान्ति–लक्षण आत्मानन्द की प्राप्ति में असमर्थ रहता हुआ परमपुरुषार्थकोटि से बहिष्कृत है । एवमेव आरण्यकभागोक्त, आधिदैविक साध्य, तथा आधिभौतिक साधनविशिष्ट, विश्वेश्वरानुगत भक्तियोग भी आत्मानन्दप्राप्ति में असमर्थ रहता हुआ परमपुरुषार्थकोटि से बहिर्भूत ही माना जायगा । यद्यपि भक्तियोग में–'**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' (शाण्डिल्यसूत्र) के अनुसार ध्यानलक्षण (समानप्रत्ययप्रवाहलक्षण) ज्ञान का समावेश है । तथापि साधनदृष्टि से इसमें कर्म्म की एकान्ततः निवृत्ति नहीं है । वस्तुगत्या विशुद्ध आत्मदृष्टि से उपास्य–उपासकभाव सर्वथा अनुपपन्न है । व्यापक आत्मविवर्त्त के सम्बन्ध में 'अहं–त्वं' (मैं–तू) का भेद सर्वथा अनुपपन्न है । निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति के अनुसार वह ज्ञानैकघन विशुद्ध आत्मा मृत्युलक्षण–भेदभाव से एकान्ततः शून्य है—

यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ (कठोपनिषत् ४ वल्ली ११)

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"–"योऽसावादित्ये पुरुषः, सोऽहम्"–"योऽहं, सोऽसौ–योऽसौ–सोऽहम्" इत्यादि वचनों के अनुसार उस अद्वय–अखण्ड–व्यापक तत्त्व में जब द्वैतभाव का समावेश नहीं, तो मानना पड़ेगा कि, भक्तियोग भी वहाँ सर्वथा अवरुद्ध है । किसी फकीर से जब यह पूछा गया कि, आप उसे याद करते हैं, अथवा नहीं !, तो उसने उत्तर दिया—

मैं अगर ग़ैर कोई हूँ, तो वह मुझे भूले ।
वह अगर ग़ैर कोई हो, तो मुझे याद रहे ॥

तात्पर्य्य–जब मैं (जीवात्मा) और वह (ईश्वरात्मा) दो नहीं, तो फिर उपासना कैसी ? । उपासना शास्त्रविहित है, परन्तु अन्तिम ध्येय नहीं है । **'उपायाः शिक्षमाणानाम्'** * के अनुसार प्रारम्भिक धरातल है, परमार्थदृष्ट्या असत्य पथ है । क्योंकि उपासना में मायाकृत, कल्पित, असत्यमूलक द्वैतभाव सुरक्षित बना रहता है । जीवेश्वर का भेद नहीं टूटने पाता । **'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** इस सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार उपास्य-उपासक-भेदेन द्वैतभावात्मिका उपासना में अभय का अभाव है । द्वैतभाव भय का मूल है, भय की उत्तरावस्था ही दुःख है । फलतः मान लेना पड़ता है कि, द्वैतभावानुगत, अतएव भयभावप्रवर्त्तक भक्तियोग भी जीवात्मा का परमपुरुषार्थ नहीं बन सकता ।

विश्वानुगत कर्म्मयोग,विश्वेश्वरानुगत भक्तियोग, दोनों ही योग जब अनुपपन्न हैं, तो हमारे लिए अब ऐसा कौनसा योग बचा रहता है, जिसके अनुगमन से हम पराशान्ति–लक्षण अमृतपद प्राप्त करने में समर्थ बन सकते हैं ?, इसी प्रश्नसमाधि के लिए वेद का उपनिषद्भाग प्रवृत्त हुआ है । उपनिषत् हमें सिखाती है कि, जो पुरुष बन्धनमूलक कर्म्ममार्ग में रत रहता है, अथवा अपने आत्मा से भिन्न देवता की उपासना करता है, न स वेद, न स वेद (अर्थात् उसने कुछ नहीं जाना, कुछ नहीं जाना) ।

"अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्"++"अहमेवेदं सर्वम्"++"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादि सिद्धान्तानुसार वह व्यापक आत्मब्रह्म सब ओर से सब में सर्वरूप से व्याप्त है । कर्म्म नानाभावापन्न है, देवमूला उपासना भी भेदभाव से नित्य आक्रान्ता है । इस द्वैतभाव के सम्बन्ध से दोनों ही मार्ग अद्वैतामृत के प्रतियोगी हैं । निश्चित है कि, यदि हम अपना वास्तव में निःश्रेयस् चाहते हैं, तो कर्म्म का एकान्ततः परित्याग करना पड़ेगा । सांसारिक कर्म्मजाल को नमस्कार कर एकान्त–जनरवविहीन-अरण्य का अनुगमन करना पड़ेगा, वहाँ त्यक्ताहारविहारादिलक्षण तपोयोग को अपनाना पड़ेगा, समानप्रत्ययप्रवाहलक्षणा, आत्मचिन्तनरूपा उपासना के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि का अधिकारी बनना पड़ेगा । जब कालान्तर में चित्त शुद्ध हो जायगा, कर्म्मवासना का आत्यन्तिक लय हो जायगा, तो विशुद्ध ज्ञानघन आत्मस्वरूप का उदय होजायगा । और यही हमारे जीवन का परमपुरुषार्थ होगा, जिसकी शिक्षा ही उपनिषच्छास्त्र का एकमात्र उद्देश्य है । **उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?**, इस प्रश्न का (प्राचीनदृष्टि से) निम्नलिखित तथ्य ? पूर्ण उत्तर ही पर्य्याप्त माना जायगा—

"संसार मिथ्या है, तदनुगत कर्म्ममार्ग भी सर्वथा मिथ्या है । भेदमूलक भक्तियोग भी परमार्थतः असत्य ही है। परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए कर्म्म-भक्ति का परित्याग करो, सर्वकर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण ज्ञानयोग का अनुगमन करो । यही सर्वश्रेष्ठ पथ है, यही उपदेश है, यही आदेश है, यही शिक्षा है ।"

२—प्रत्नदृष्टि, और उपनिषदों की शिक्षा—

व्याख्याताओं की दृष्टि इसलिए प्राचीनदृष्टि है कि, कुछ एक अतीत शताब्दियों से कल्पनाजगत् के आधार पर उस दृष्टि का नवीन जन्म हुआ है । और हमारी दृष्टि इसलिए 'प्रत्नदृष्टि' है कि, इसका किसी साम्प्र-

***—उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।**
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥ (वाक्यपदी)

दायिक व्याख्या से सम्बन्ध न हो कर परम्परासिद्ध-आर्षदृष्टि से सम्बन्ध है । व्याख्याताओं की जिस प्राचीनदृष्टि का पूर्वपरिच्छेद में दिग्दर्शन कराया गया है, उसके भयावह दुष्परिणामों से हम अपने पाठकों को अधिक भय-त्रस्त नहीं करना चाहते । इस सम्बन्ध में केवल यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, कर्म्मप्रधान भारतवर्ष के गौरव के सर्वनाश का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है, तो वह एकमात्र यही प्राचीनदृष्टि है । जिस दृष्टि ने हमें शास्त्रव्याज से यह सिखाया कि, **"ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, कर्म्म कभी शान्ति का कारण नहीं है, फलतः कर्म्म करना व्यर्थ है"** । इसी शिक्षानुगमन से भारतश्री का सर्वस्व अपहृत हुआ है । अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के आधार पर ऐसी शिक्षा ने जब से प्रधानता प्राप्त की, तभी से क्रियात्मक मानवधर्म्म का, आर्षधर्म्म का ह्रास आरम्भ हो गया । और आज तो कर्म्माभ्यास से भारतीय प्रजा इतनी विदूर हो चुकी है कि, उसे पदे पदे भाग्यवाद, तथा कल्पित भक्तिवाद का ही अनुगामी बनना पड़ रहा है । समय पर वृष्टि नहीं होती, भगवान् का कोप है । अकालमृत्यु अधिक होती है, ईश्वर का कोप । हम दुःखी हैं, परतन्त्र हैं, ईश्वर का कोप । जनसाधारण धर्म्म से विमुख होता जारहा है, ईश्वरकोप । इसप्रकार आज हम अपना सम्पूर्ण उत्तरदायित्व ईश्र के सिर पर थोप कर शान्ति का श्वास ले रहे हैं । अधिक से अधिक हुआ, तो एक स्थान पर एकट्ठे होकर झञ्झा-ताल-मृदङ्ग को उपास्य बना कर 'हरिनाम-सङ्कीर्त्तन' का अनुगमन कर लिया जाता है । वैकुण्ठधाम आज कौड़ियों में मिल रहा है । 'हरे-राम-हरे राम' का उच्चारणमात्र आज हमें क्षणमात्र में सीधा परमधाम पहुँचा रहा है । कैसा भीषण पतन है ! आर्षप्रजा की कैसी दुरवस्था है !! और कैसा है उस कुशिक्षा का यह भयानक फल, जिसके अनुगमन से आज भारतीय प्रजा व्यामोह में पड़ी हुई है !!!

सर्वज्ञ-सर्ववित्-सर्वशक्तिधन जगदीश्वर ने मनुष्य की अध्यात्मसंस्था में ज्ञान-अर्थ-क्रिया-मात्राएँ प्रतिष्ठित कीं । अपने भूतभाग से **पाञ्चभौतिक शरीर** प्रदान किया, वैश्वानरभाग से अग्निबल (कर्म्मबल) प्रदान किया, अग्नि-वायु-आदित्य-दिक्सोम-भास्वरसोम-के प्रवर्ग्य भागों से 'वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन' नामक इन्द्रियाँ प्रदान कीं, मघवेन्द्ररूप सौर तत्त्व के प्रवर्ग्य से बुद्धि प्रदान की, पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम के प्रवर्ग्य भाग से महद्ज्ञानविभूति प्रदान की । इसप्रकार अपनी सम्पूर्ण विभूतियों का प्रदान कर अपने स्वरूप से सर्वथा समतुलित बना कर, सर्वाङ्गीण बना कर-**'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** इस साङ्केतिक आदेश के साथ इसे संसारक्षेत्र में भेज कर जगदीश्वर ने इससे यह आशा की कि, मेरी दिव्य विभूतियों को ले कर भूतल पर अवतीर्ण होने वाला मानव इन शक्तियों का सदुपयोग करेगा, अपने ज्ञान-क्रिया-अर्थ-भावों के विकास से अपनी आध्यात्मिकसंस्था को विकसित करता हुआ इसके आधार यह पर अपने कुटुम्ब, जाति, ग्राम, नगर, राष्ट्र, का अभ्युत्थान करता हुआ विश्वशान्ति का सन्देशवाहक बनेगा ।

परन्तु खेद का विषय है कि, जबसे यह कुशिक्षा के कुचक्र का अनुगामी बना, तब से अपने उस महान् स्वरूप को भुला बैठा । और आज ?, आज तो यह अपनी रक्षा करने में भी असमर्थ है । ईश्वरप्रदत्त विभूतियोंके उपभोग से वञ्चित आज का मानवसमाज अपनी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित दिव्यविभूतियों से अपरिचित रहता हुआ आज नामसङ्कीर्त्तनद्वारा भगवान् से पुकार कर रहा है । क्या यह इसका व्यामोह नहीं है ?। क्या इसकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, शरीर, विचारशक्ति, इसकी अपनी कमाई है ?, क्या ये सब सम्पत्तियाँ ईश्वरानुग्रह नहीं है ?, क्या इनके अनुगमन से यह अपना अभ्युदय नहीं कर सकता ?, क्या इनकी उपेक्षा करता हुआ मानव बाह्यजगत् में ईश्वरनाम का चीत्कार करता हुआ नास्तिक पद का अनुगमन नहीं कर रहा ?, भारतीय

कर्म्मवाद, ऋषिपरम्परासिद्ध भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, आदि का क्या यही बीभत्सरूप है?, क्या इसी का नाम सनातनधर्म्म है ?, क्या यही हमारी आस्तिकता है ?, अभ्युदय-निःश्रेयस्पथों से वञ्चित करने वाला यह व्याजधर्म्माचरण ही क्या वास्तविक धर्म्म है ?, आर्षशास्त्रानुगमन का क्या यही फल है ?, आशा है-आर्षधर्म्मप्रेमी हमारी इस प्रश्न-परम्परा का यथानुरूप समाधान-अन्वेषण का प्रयास करेंगे ।

विचार हमें उस उपनिषत्-शिक्षा का करना है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा जगन्मिथ्यात्ववाद है । 'मिथ्या' शब्द का अर्थ यदि 'विनाशी' है, 'नश्वर' है, तब तो कोई आपत्ति नहीं है । यदि 'मिथ्या' का अर्थ 'अभाव' है, तो आपत्ति है । 'कुछ नहीं है' वाक्य सर्वथा अशास्त्रीय है । और कहा जा सकता है कि, मायामय विश्व सल्लक्षण ईश्वर की विभूति बनता हुआ सर्वथा 'सत्य' है । 'माया' स्वयं एक वस्तुतत्त्व है, जिसका पूर्वप्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है । असद्भावना-मिथ्याभावना-नास्तिकमत है, जिसकी दृष्टि में सम्पूर्ण प्रपञ्च, सम्पूर्ण जीवन दुःखपूर्ण है, शून्य है । इधर आर्षदृष्टि से सद्भावना-सत्यभावना ही मूलसिद्धान्त है, यही आस्तिक प्रजा की आस्तिकता है, जिसकी दृष्टि में सम्पूर्ण प्रपञ्च, सम्पूर्ण जीवन आनन्दमय है, पूर्ण है । **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'-'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'** (उपनिषत्) ऐसे विस्पष्ट शब्दों में विश्व, एवं विश्वप्रजा को पूर्णेश्वर की पूर्णविभूति, आनन्दविभूति बतलाने वाला उपनिषच्छास्त्र विश्व को मिथ्या कहेगा, उसे निःसार बतला कर कर्म्ममार्ग से हमें वञ्चित करने की शिक्षा देगा, क्या यह सम्भव है ? ।

आत्मतत्त्व का विश्लेषण करने वाली प्रस्थानत्रयी (उपनिषत्, व्याससूत्र, गीता) का अथ से इति पर्य्यन्त अन्वेषण कर डालिए, कहीं आपको ईश्वरीयविभूतिलक्षण विश्वके लिए 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग उपलब्ध न होगा । हाँ यत्रतत्र 'अनृत' शब्द का साक्षात्कार अवश्य होगा, जोकि अनृत शब्द वस्तुतः 'ऋत' भाव का बोधक माना गया है । 'सत्य, ऋत' नामक दो तत्त्व अग्नीषोमात्मिका सृष्टि के मूलोपादन मानें गए हैं । स्वायम्भुव वेदाग्नि 'सत्य' है, सत्याग्नि के यजुर्भाग से उत्पन्न पारमेष्ठ्य-भृग्वङ्गिरोमय अप्तत्त्व-**'ऋतमेव परमेष्ठी'** के अनुसार ऋत तत्त्व है । सत्य वृषा है, ऋत योषा है । प्रश्नोपनिषत्-परिभाषा के अनुसार सत्यात्मक वृषा प्राण है, ऋतात्मिका योषा रयि है । मनुपरिभाषानुसार रयि पत्नी है, प्राण पति है । दोनों के दाम्पत्यभाव से ही सम्वत्सरचक्रद्वारा विश्वस्वरूप का विकास हुआ है, जैसाकि प्रश्नोपनिषद्विज्ञानभाष्य में विस्तार से प्रतिपादित है ।

जबतक सत्यतत्त्व ऋततत्त्व से परिगृहीत रहता है, तभीतक वह सत्य है । अतएव सत्यको ऋतशब्द से भी व्यवहृत किया जाता है । **'सत्यं ऋतेधायि,ऋतं सत्येधायि'** के अनुसार दोनों का परस्पर ओतप्रोत सम्बन्ध है । मूल सत्य **'रस'** है, मूल ऋत **'बल'** है । रस बल के समन्वितरूप का ही नाम विश्व है, जैसा कि-**'तत्तु समन्वयात्'-'जन्माद्यस्य यतः'** इत्यादि व्याससूत्रों से भी प्रमाणित है । सत्य, अतएव सर्वथा सद्रूप रस का वेदप्राणात्मक ऋषिप्राणरूप से आविर्भाव होता है । **'सामान्ये सामान्याभावः'** के अनुसार सत्प्राण में सत्प्राण की सत्ता अनुपपन्न है, अतएव इस सद्रूप ऋषिप्राण को 'असत्' कहा जाता है*। "अप्रा-

---

*-"असद्वा इदमग्र आसीत् । तदादुः-किं तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत् । तदादुः के ते ऋषय इति ? प्राणा वा ऋषयः" (शत० ६।१।१।१)।

णो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः" के अप्राणः-अमनः का अर्थ भी प्राणघनः-मनोघनः-ही हुआ है। जिस प्रकार सत्प्राण अन्य सत्प्राण के समावेशाभाव से असत् कहलाया है, एवमेव बलात्मक ऋत तत्त्व भी अन्य ऋत तत्त्व के समावेशाभाव से 'अनृत' कहलाता है, जोकि अनृत तत्व (ऋत बलतत्व) वाङ्मय विश्व का मूल उपादान बनता है-'**अथैतन्मूलं वाचो-यदनृतम्**"। स्वयं प्रश्नोपनिषत् ने भी अनृत की यही वैज्ञानिक-मीमांसा की है। फलतः सिद्ध हो जाता है कि, वेदशास्त्र में प्रयुक्त 'अनृत' शब्द मिथ्याभाव का वाचक नहीं है, अपितु सृष्टिमूलभूत बलात्मक 'ऋततत्त्व' का वाचक है। अभ्युपगमवाद से थोडी देर के लिए 'अनृत' शब्द को मिथ्यापरक मान लेने पर भी 'जगत् मिथ्या है, असत्य है' ऐसा सिद्धान्त कथमपि प्रमाणित नहीं माना जासकता। अपितु ठीक इसके विपरीत-'**असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्**' (गीता १६।८।) के अनुसार जगन्मिथ्यावादियोंकी निन्दा ही उपलब्ध होती है।

गगनसदृश, भारूप, सत्यसंकल्प, विश्वाधार, सर्वाधार, अतएव स्वयं निराधार आत्मतत्त्व को विशुद्ध ज्ञानघन मान कर कर्म्ममार्ग से जीवात्मा की स्वाभाविक निष्ठा का उच्छेद करना सर्वथा अनर्थ है। जिस आत्मतत्त्व के विशुद्ध-ज्ञानघनभाव के आधार पर कर्म्ममार्ग का प्राचीनों की ओर से विरोध हुआ है, प्रत्नदृष्टि से वह आत्मतत्त्व उभयात्मक है, ज्ञान-कर्म्ममय है। पूर्वप्रकरणारम्भ में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि, विश्वमूलभूत आत्मतत्त्व अमृतरसरूप ज्ञान, मर्त्यबलरूप-कर्म्म, दोनों की समष्टि है। 'ज्ञायते' वत् 'क्रियते' भी आत्मा का प्रातिस्विकरूप है, जिसका—'**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासी-दर्द्धममृतम्**' इन स्पष्ट शब्दों में समर्थन हुआ है। फलतः कर्म्ममय विश्व को मिथ्या बतलाना जैसे असङ्गत है, एवमेव आत्मप्रजापति को अकृत (कर्म्मशून्य, शुद्धज्ञानमय) बतलाना भी सर्वथा अप्रामाणिक ही बन रहा है।

ज्ञान अमृत तत्त्व है, नित्य शान्त है, अतएव अकृत है। कर्म्म मृत्यु तत्त्व है, नित्य अशान्त है, कृत है, यह निःसंदिग्ध है। परन्तु आत्मा केवल अकृत है, यह कहना सर्वथा कृत (बनावटी) है। अकृत ज्ञान, कृत कर्म्म, दोनों की समष्टि आत्मा है। दूसरे शब्दों में आत्मप्रजापति में अमृतप्रधान अकृतज्ञान, मृत्युप्रधान कृतकर्म्म, दोनों का समावेश है। हमारे प्राचीन व्याख्याता आत्मा के लिए प्रयुक्त-'अहं' शब्द को सम्भवतः प्रामाणिक मानते होंगे, जैसाकि-'**अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टात्**' इत्यादि उपनिषच्छ्रुतियों से संसिद्ध है। आत्मवाचक अहं शब्द केवल अकृत-सल्लक्षण-अमृतरूप ज्ञान का ही वाचक है ?, अथवा ज्ञान के साथ साथ कृत-असल्लक्षण-मृत्युरूप कर्म्म का भी संग्राहक है ?, इसका निर्णय-'**अमृतं चैव-मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' ! (गीता ६।१६।) इस प्रामाणिक वचन से भलीभाँति हो जाता है।

ज्ञान-कर्म्म, दो तत्त्वों की मान्यता से सर्ववेदान्त-(उपनिषत्)-सिद्ध-'**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**' इस अद्वैतसिद्धान्त पर आक्रमण होगा, यह आशङ्का इस लिए नहीं करनी चाहिए कि, सत्ताभेद ही द्वैतव्यवहार की प्रतिष्ठा माना गया है। ज्ञान (रस), कर्म्म (बल) दोनों तत्त्वों की सत्ता अभिन्न है, भातिमात्र दो हैं। रस सत्तासिद्ध पदार्थ है, बल भातिसिद्ध पदार्थ है। भातियाँ अनेक हैं, किन्तु सत्तारसैक्य से अद्वैतवाद सुरक्षित है। भाति-भेदमूलक द्वैतवाद वस्तुगत्या द्वैतवाद का उपोद्बलक नहीं माना जा सकता। तभी तो प्राचीनों का भी अद्वैतवाद सुरक्षित रहता है। अन्यथा अस्ति (सत्ता)-भाति (चेतना)-प्रिय (आनन्द)-

लक्षण आत्मा के तीनों पर्व स्वगतभेद के प्रवर्त्तक बनते हुए अद्वैतवाद को कैसे सुरक्षित रख सकेंगे ? । इस सम्बन्ध में उनका जो समाधान होगा, वही समाधान रस-बल की द्वैतभाति के लिए पर्य्याप्त होगा ।

'आत्मा विशुद्ध ज्ञानमय है'-यह कथन, किंवा कल्पित सिद्धान्त विज्ञानप्रधान भारतवर्ष में पुष्पित पल्लवित कैसे हो गया ?, यह एक दैवदुर्विपाक है, जबकि समस्त-आर्षसाहित्य में ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है । युक्तिवाद भी इस ज्ञानैकपक्षना का आमूलचूड़ खण्डन कर रहा है । सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-गगन-अनिल-अनल-भूमि-चतुर्दशविध भूतसर्ग, इन सब विश्वसर्गों का कर्त्ता ईश्वर माना गया है । यदि उस ईश्वरात्मा में कर्तृत्व शक्ति न थी, तो विश्वसर्ग प्रवृत्त कैसे हुआ ? । क्योंकि प्राचीनाभिमत शुद्धज्ञानमय आत्मा सर्वथा निष्क्रिय है । विश्वसर्ग व्यापार-(कर्म्म-क्रिया)- साक्षेप है । माया का विस्तारमात्र है, यह कहने भर से समाधान नहीं हो जाता । माया है क्या ?, उसमें क्रियाशक्ति आई कहाँ से ?, इन प्रश्नों का समन्वय किए बिना एकहेलया माया का अर्थ मिथ्या-कल्पना मान बैठना वेदप्रामाण्य से विरोध करना है, जो सम्भवतः व्याख्याताओं को भी अभीष्ट न होगा । जब श्रौतवचन स्पष्ट शब्दों में विश्वसर्ग की आत्मप्रजापति से प्रवृत्ति बतला रहे हैं, तो मानना पड़ेगा कि, उसमें ज्ञानवत् क्रियाशक्ति की भी प्रतिष्ठा है । श्रुतिसिद्ध ईश्वरकर्तृक विश्व को मिथ्या कहना साहस की निःसीमता है । जिस आत्मा को प्राचीन 'अक्षर' कहते हैं, श्रुति उसी से विश्वोत्पत्ति मान रही है । देखिए !

१-यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥(मुण्डक १।१।७)।

"२-यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुल्लिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽऽक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ (मुण्डक २।१।१)

३-स ईक्षत-लोकान्नु सृजा इति । (ऐ० उप० १।१।) ।

४-तदैक्षत-बहु स्यां, प्रजायेयेति । (छां० उप० ६।२।३।) ।

५-प्रजापतिर्वा सर्वमभवत्, यदिदं किञ्च । (शतब्राह्मण) ।

६-प्रजापतिः प्रजाः ससृजानो रिरिचान-इवामन्यत । (शत० ३।६।१।१।) ।

७-प्रजापते ! नत्त्वदेतानन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ (यजुः २३।६५) ।

८-यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ (यजुः ८।३६।) ।

६-प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च । (शत०) ।

१०-पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । (यजुःसं० ३१।२।) ।

११-एकं वा इदं विबभूव सर्वम् । (ऋक्सं० ८।५८।२।) ।

१२-भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः । (गीता० १०।५।) ।

१३-प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् (गीता ६।१८।)।
१४-सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

उक्त श्रौत-स्मार्त्त प्रमाण यह प्रमाणित करने के लिए पर्य्याप्त हैं कि, ईश्वरप्रयत्न-साध्यरूप विश्व सर्वथा सत्य है। ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है, यह निःसंदिग्ध है। सृष्टि कर्म्मप्रधाना है। यदि उसमें कर्म्मबल का समावेश न होता, तो उस अकर्म्म से कर्म्ममय विश्व का विकास असम्भव था। प्राणव्यापार ही क्रिया है, यही तपोलक्षण आभ्यन्तर कर्म्म है। वाग्व्यापार ही श्रम है, यही बाह्य कर्म्म है। श्रम की प्रतिष्ठा तप है, तप की प्रवृत्ति काम से हुई है। कामना मन का, तप प्राण का, श्रम वाक् का व्यापार है। मनःप्राणवाक् की समष्टि ही आत्मा है। जो आत्मा उपनिषत्-व्याख्याताओं की कल्पना में विशुद्ध ज्ञानमय-निष्काम-कर्म्मशून्य बन रहा है, वही सत्तालक्षण आत्मा स्वयं उपनिषत् के शब्दों में **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** (बृ० उ० १।५।३।) के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ सर्वकाम-सर्वकर्म्ममय बन रहा है। **"सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्"** श्रुति इसी सृष्टिव्यापारत्रयी का समर्थन कर रही है। जो सर्वज्ञ आत्मा प्राचीनों की दृष्टि से नितान्त तटस्थ बन रहा है, स्वयं उपनिषत् की दृष्टि से वह अन्नलक्षण यज्ञ, ब्रह्मलक्षण प्रतिष्ठा, नामरूपलक्षण ज्योति का उपादान बन रहा है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप, मन्नं च जायते॥ (मुण्डक १।१।६।)।

इस प्रामाणिक, तथा युक्ति-तर्क-विचार-सङ्गत परिस्थिति के आधार पर हमें मान लेना पड़ता है कि, वह आत्मतत्त्व अवश्यमेव ज्ञान--कर्म्म-भेद से 'उभयात्मक' है। ज्ञान 'ब्रह्म' है, कर्म्म 'कर्म्म' है। विश्वातीत दिव्य ब्रह्म--कर्म्मरूप प्रजापति ही स्वज्ञानधरातल पर (कर्म्म के द्वारा) विश्वप्रपञ्च (उत्पन्न कर) प्रतिष्ठित रखता है। वह ब्रह्म-**'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** के अनुसार ज्ञान-विज्ञान (कर्म्म) मय है, सत्य है। एवं **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-'ब्रह्मैवेदं-सर्वम्'-'सर्वमु ह्येवेदं-प्रजापतिः'-'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वम्'** इत्यादि वचनों के अनुसार 'इदं' शब्द से अभिनीत विश्व ब्रह्मात्मक है, ब्रह्मरूप है। सत्यब्रह्मांशभूत कर्म्मप्रधान विश्व की सत्यता के लिए इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिए ?।

श्रोत्र, नासिका, चक्षु, मुख, आदि अवयव परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु अवयवी 'अहं' पदार्थ सब के लिए सब में अभिन्न है। इसी आधार पर-'अहं शृणोमि' 'अहं जिघ्रामि' 'अहं पश्यामि' 'अहं वदामि' व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। सभी 'अहं' हैं, यह यथार्थ है। परन्तु-**'गुणानां च परार्थत्वात्, असम्बन्धः समत्त्वात्'** न्याय से श्रोत्र-नासिका आदि का परस्पर भेद ही माना जायगा। श्रोत्र ही नासिका है, नासिका ही चक्षु है, चक्षु ही मुख है, यह समझ लेना भ्रान्ति है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, यम, मातरिश्वा, आदि अवयव वही ब्रह्म है, परन्तु अग्नि ही वरुण है, वरुण ही इन्द्र है, इत्यादि ज्ञान भ्रान्त ज्ञान है। **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** के अनुसार वह एक ही बलग्रन्थिसम्बन्धतारतम्य से नानारूपों से परिणत हो रहा है। उत्पन्न कार्य्यों की अपेक्षा वह जहाँ नाना है, कारणापेक्षया वहाँ वह एकाकी है। इसी आधार पर **'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'**

सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। एतावता ही नानाभाव को मिथ्या मान बैठना सर्वथा प्रौढिवादमात्र रह जाता है। समझ में नहीं आता, इन सब प्रत्यक्ष परिस्थितियों को देखते हुए भी व्याख्याताओं नें नामरूपात्मक विश्व को मिथ्या मानने की कल्पना किस आधार पर कर डाली ?। व्याख्याता कहते हैं, नामरूपात्मक विश्व मिथ्या है, स्मृति कहती है,—नामरूपात्मक विश्व को मिथ्या मानना **'असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्'** के अनुसार अनीश्वरवादी बनना है। व्याख्याताओं को सम्भवतः यह जान कर आश्चर्य होगा कि, जिस नामरूप को वे मिथ्या कहते हैं, जिस मिथ्यात्त्व के आधार पर उपनिषत् को वे शुद्ध-ज्ञान की प्रतिपादिका मानते हैं, स्वयं उस उपनिषत् में आवेश के साथ वह नामरूपविवर्त्त 'सत्य' शब्द से व्यवहृत हुआ है। देखिए !

"प्राणो वा अमृतम्। 'नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः' (बृ०आ०उ० १।६।३।)।

उक्त विवेचन से विचारशील पाठकों को यह भलीभाँति विदित हो गया होगा कि, जगन्मिथ्यात्ववाद, तथा आत्मज्ञानैकतावाद, दोनों विशुद्ध कल्पनाप्रसून हैं। फलतः उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?, इस प्रश्न के पूर्वोक्त उत्तर में कोई सार नहीं रह जाता। प्रत्नदृष्टि (विज्ञानदृष्टि) के अनुयायियों के सम्मुख जब उक्त प्रश्न उपस्थित होता है, तो वे इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उत्तर देते हैं—

"कर्म्मज्ञानयुक्त बुद्धियोग ही उपनिषदों की प्रधान शिक्षा है। एवं अक्षरात्मा को लक्ष्य बनाने वाला ज्ञान-कर्म्ममय खण्डात्मप्रपञ्च ही इस शिक्षा का मूलाधार है"।

उक्त शिक्षासिद्धान्त का समन्वय करने के लिए कुछ एक अवान्तर विषयों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। उपनिषच्छास्त्र एक रहस्यशास्त्र है। इतर वेदभाग की अपेक्षा उपनिषदों की भाषा सुसूक्ष्म, अतएव दुरधिगम्या है। हमें यह विश्वास है कि, शिक्षाप्रसङ्ग में उद्धृत अगले परिच्छेद में उपनिषदों के सम्बन्ध में एक सर्वथा नवीन, किन्तु सिद्धान्ततः प्रत्नदृष्टिकोण उपस्थित करेंगे।

३–उपनिषदों की सञ्चरविद्यात्मिका शिक्षा–

"आत्मा ज्ञानकर्म्ममय है", इस सिद्धान्त के समर्थन के लिए पूर्व परिच्छेद में कुछ एक श्रौत–स्मार्त्त वचन उद्धृत हुए हैं। इस सम्बन्ध में जिज्ञासा-उत्थान स्वाभाविक है कि, क्या उपनिषदों में भी संहिता-ब्राह्मण-भागादि की भाँति सृष्टिविद्या का निरूपण हुआ है ?। इसी प्रश्नसमाधि के लिए प्रकृत परिच्छेद उपस्थित हुआ है। सन्तमतानुगृहीत प्राचीनमताभिनिवेशानुग्रह से कुछ एक शताब्दियों से सर्वसाधारण का ऐसा विश्वास हो गया है कि, उपमिषत्-साहित्य उस अवस्था के लिए उपयोगी है, जब मनुष्य के लिए कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। विशुद्ध-ज्ञानचर्चा से सम्बद्ध उपनिषत् केवल परलोकप्राप्ति का साधक है। लोकसृष्टि–विज्ञान का उपनिषत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। कहना न होगा कि, यह भ्रान्ति उसी व्याख्याभ्रान्ति का अनुग्रह है। हमने तो इस सम्बन्ध में अपने ये विचार स्थिर किए हैं कि, सञ्चरविद्या से सम्बन्ध रखने वाले 'सृष्टि-विज्ञान' (ब्रह्मविज्ञान) का जैसा मार्म्मिक, शृङ्खलाबद्ध विश्लेषण उपनिषत् में हुआ है, वैसा स्वयं संहिता, ब्राह्मणादि भागों में भी अनुपलब्ध है।

एक आत्मतत्व से नानाभावापन्न विश्व का निर्म्माण कैसे हुआ ?, इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या ही **'सञ्चरविद्या'** कहलाई है। एवं उपनिषदों में स्थान स्थान पर इस सञ्चरविद्या का अनेक दृष्टियों

से निरूपण हुआ है। उदाहरण के लिए सबसे प्रथम स्थान रखने वाली ईशोपनिषत् को ही लीजिए। इसमें अथ से इति पर्य्यन्त धारावाहिकरूप से सृष्टिपर्वों की उत्पत्ति का प्रतिपादन हुआ है। षोडशीप्रजापति से सर्वप्रथम अव्यक्त स्वयम्भू का प्रादुर्भाव होता है। 'अनेजदेकं' मन्त्र ने उसी का प्रतिपादन किया है। स्वयम्भू से शुक्रात्मक महल्लक्षण परमेष्ठी का उदय हुआ है। 'स पर्य्यगात्' ने इसी का विश्लेषण किया है। परमेष्ठी के गर्भ में विज्ञानात्मघन सूर्य्य का, अनन्तर चन्द्रमा का, अनन्तर महिमापृथिवी के आधार पर साची सुपर्णाका, एवं भूपिण्ड का विकास हुआ है। अगले मन्त्रों में क्रमशः इन्हीं का निरूपण हुआ है। इसप्रकार ईशोपनिषत् प्रधानरूप से सञ्चरविद्या (सृष्टिविज्ञान) की निरूपिका बन रही है। इसके अतिरिक्त निम्न लिखित वचन उपनिषदों की इसी सञ्चरविद्या का स्पष्टीकरण करते हुए यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, उपनिषत् केवल परलोक का ही प्रमाणपत्र नहीं देती, अपितु वह उस सृष्टिविज्ञान का भी विश्लेषण कर रही है, जिसे बिना जाने प्रतिसञ्चरलक्षण ज्ञानमार्ग का अधिकार मिलना असम्भव है।

सञ्चरविद्यासमर्थक वचन—

१—"तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" (ई०उ०४मं०)।

२—"तस्यै तपो दमः कर्म्मेति प्रतिष्ठा।
वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्" ॥ (केनोप०४।३३।)।

३—"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" ॥ (कठोप०५।६।१०।)।

४—"प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते-रयिश्च, प्राणं च। इत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति" (प्रश्नोप०१प्र०।४मं०।)।

५—"तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
यः सर्व्वज्ञः सर्व्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूपमन्नं च जायते" ॥ (मुण्डकोप०१।१।६,७,६,)।

६—"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। सोऽयमात्मा चतुष्पात्। वैश्वानरः प्रथमः पादः, तैजसो द्वितीयः पादः, प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्य्यामी, एष योनिः सर्वस्य, प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्" ॥ (माण्डूक्य०)।

७–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म××× तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" ॥

(तै॰उ॰२व॰१अ॰)।

८–"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत-लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत-अम्भो, मरीचि, मर, मापः" ॥(ऐ॰उ॰१।२)।

९–"प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानां रसान् प्राबृहत्-अग्निं पृथिव्याः, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः" ॥ (छां॰उ॰४।१७।१)।

१०–"आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान्। ते देवाः सत्यमेवोपासते" ॥ (बृ॰उ॰५अ॰।५ब्रा॰१कं॰)।

"स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्, यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः, सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्योपनिषत्–सत्यस्य–सत्यम्–इति। प्राणा वै सत्यम्। तेषामेष सत्यम्" ॥

(बृ॰आ॰उ॰५।१।२०।)।

११–"येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म्म विवर्त्तते ह पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्" ॥

(श्वे॰उ॰६अ॰।२मं॰)।

१२–"आपो वा इदमसत् सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्त्तत–इदं सृजेयमिति" ॥ (बृ॰जा॰उ॰१।१)।

१३–"विचक्षणादृतवो रेत आभृतं पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यावतस्तन्मा पुंसि कर्त्तर्येरध्वं पुंसा कर्त्रा मातरि मासिषिक्तः स जायमान उपजायमानो द्वादश त्रयोदश उपमासो द्वादश त्रयोदशेन पित्रा संतद्विदेहं प्रतितद्विदेहं तन्म ऋतवो मर्त्यव आरभध्वं तेन सत्येन तपसा-ऋतुरस्मि, आर्त्तवोऽस्मि" ॥ (कौ॰ब्रा॰उ॰१।२)।

सञ्चरविद्या–समर्थक उद्धृत उदाहरणों से प्रकृत में हमें यह बतलाना है कि, उपनिषत् केवल ज्ञानानुगत प्रतिसञ्चरभाव से ही सम्बन्ध नहीं रखती, जैसा कि व्याख्याताओं नें उपनिषदों को केवल सर्वकर्म्म–त्यागलक्षण-ज्ञानयोगशिक्षापरक मानते हुए कहा है। उपनिषदों में प्रतिपादित सृष्टिविज्ञान ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, उपनिषदों का श्रवण–मनन–निदिध्यासन जरा–जर्ज्जरित, शिथिलेन्द्रिय,

सर्वकर्म्मोपरत, संन्यासी के आत्मकल्याण का प्रवर्त्तक नहीं है, अपितु सर्वकर्म्म (शास्त्रीयकर्म्म) परायण, सबलेन्द्रिय, युवा ब्रह्मचारी के अध्ययन की सामग्री है, गृहस्थी के अभ्युदय का अन्यतम आलम्बन है। एवं सञ्चरविद्यात्मक विज्ञानकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले सृष्टि के गुप्ततम रहस्य–विज्ञानों की शिक्षा भी उपनिषदों का एक अन्यतम दृष्टिकोण है।

४–उपनिषदों की प्रतिसञ्चरविद्यात्मिका शिक्षा—

अनेकत्व से एकत्व की ओर आना ही ज्ञान है। यही ज्ञान 'प्रतिसञ्चरविद्या' है, एवं ज्ञानपक्ष ही उपनिषदों का दूसरा शिक्षात्मक दृष्टिकोण है। अनित्य, भूतानुगत, ज्ञानवञ्चित, क्षणिक विज्ञान जहाँ दुःख का प्रवर्त्तक है, वहाँ नित्य, प्राणानुगत, ज्ञानसहकृत, विज्ञान अभ्युदय–निःश्रेयस् (ऐहलौकिक–पारलौकिक सुख) का प्रवर्त्तक माना गया है। विशुद्ध नानाभाव भी **'विविधं ज्ञानं'** निर्वचन से विज्ञान है, एवं एकत्व पर प्रतिष्ठित नानाभाव भी 'विविधं ज्ञानं' निर्वचन से विज्ञान है। विशुद्ध (एकत्व सम्पत्ति से वञ्चित) विज्ञान अपने स्वाभाविक मृत्युभाव के कारण–**'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'** के अनुसार जहाँ मृत्युपाश का प्रवर्त्तक है, वहाँ ज्ञानयुक्त विज्ञान अमृतरसात्मक ज्ञानालम्बन से अमृतभावात्मक बनता हुआ मृत्युपाशनिवर्त्तक बन रहा है। भारतीय नित्यविज्ञान, तथा लौकायतिकों के क्षणिक–विज्ञान में यही एक बहुत बड़ा दृष्टि–भेद है। सर्वत्र एकत्वमूलक समदर्शन को प्रधानता देते हुए अनेकत्वमूलक विषमवर्त्तन का अनुगमन करना भारतीय दृष्टिकोण है। एवं सर्वत्र अनेकत्व का दर्शन करते हुए कल्पित एकत्वभावनानुगत, अतएव कल्पित समवर्त्तन का व्याज से आचरण करना लौकायतिक दृष्टिकोण है।

उपनिषदों का एकत्वप्रतियोगिक, अनेकत्वानुयोगिक (सञ्चरविद्यात्मक) विज्ञानकाण्ड हमें विषमवर्त्तन की शिक्षा देता हुआ जहाँ हमारे लोकवृत्त को पुष्पित–पल्लवित कर रहा है, वहाँ वही उपनिषत्–शास्त्र अनेकत्वप्रतियोगिक, एकत्वानुयोगिक (प्रतिसञ्चरविद्यात्मक) अपने ऐसे ज्ञानकाण्ड से समदर्शन की शिक्षा देता हुआ हमारे आत्मवृत्त की भी रक्षा कर रहा है। विज्ञान वही उपयोगी है, जिसका आधार ज्ञान है। ज्ञान वही उपयोगी है, जिसके गर्भ में विज्ञान प्रतिष्ठित है। उस एक आत्मब्रह्म को उद्देश्य मान कर अनेकत्वमूलक विश्वप्रपञ्च का विधान करना विज्ञानपक्ष है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म से विश्व कैसे बना ?, इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या सञ्चरविद्या है, यही विज्ञानकाण्ड है। निष्कर्षतः एक को मूल मान कर अनेक की ओर आना सञ्चरविद्यात्मक विज्ञान है। इस नानाभावात्मक विश्वप्रपञ्च को उद्देश्य मान कर एकत्वमूलक ब्रह्म का विधान करना ज्ञानपक्ष है। दूसरे शब्दों में विश्व ब्रह्मरूप में कैसे परिणत हो जाता है ?, इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या प्रतिसञ्चरविद्या है, यही ज्ञानकाण्ड है। निष्कर्षतः अनेक को मूल मान कर एक की ओर आना प्रतिसञ्चरविद्यात्मक ज्ञान है।

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'–प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च'–'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म, प्रजापति, आत्मा, को उद्देश्य मान कर सर्वत्व का विधान कर रहीं हैं। अतएव इन्हें हम सञ्चरविद्यात्मिका मान सकते हैं। ब्रह्म ही विश्व बना है, प्रजापति ही सब कुछ है, आत्मा ही सब कुछ है, इन वाक्यों का यही तात्पर्य्य है कि, आरम्भ में एकरूप आत्मतत्त्व ही स्वात्मस्थ बलभाग के पारस्परिक सम्बन्ध-तारतम्य से नानाभावात्मक विश्वरूप में परिणत हो रहा है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'–'सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः'** इत्यादि

श्रुतियाँ 'सर्व'–'इदं' शब्दादि से अभिनीत नानाभावात्मक विश्व को उद्देश्य मान कर ब्रह्मत्त्व का विधान कर रहीं हैं। अतएव इन्हें प्रतिसञ्चरविद्यात्मिका कहा जा सकता है। सम्पूर्ण प्रपञ्च अन्ततोगत्त्वा उसी ब्रह्मभाव में परिणत है। सृष्टिदशा में नानाभावात्मक बना हुआ विश्व बलग्रन्थि-विमोक से अन्ततः तद्रूप में हीं परिणत हो जाता है। यही भारतीय ज्ञान–विज्ञानभावों की संक्षिप्त परिभाषा है।

सृष्टिदशा में ज्ञानगर्भित विज्ञानात्मा (कर्म्मात्मा) उपास्य है, मुक्तिदशा में विज्ञानगर्भित ज्ञानात्मा उपास्य है। दोनों अवस्थाओं में ज्ञान–विज्ञान (कर्म्म) दोनों इष्ट है। सृष्टिदशा में बलग्रन्थिप्रवर्त्तक प्रवृत्तिकर्म्म उपास्य है, तो मुक्तिदशा में बलग्रन्थिनिवर्त्तक निवृत्तिकर्म्म उपास्य है। "**प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम्**" (मनुः १२।८८।) के अनुसार दोनों वैदिक कर्म्म अवस्थाभेद से, परिस्थितिभेद से व्यवस्थित हैं। यही व्यवस्थिति प्रामाणिक है, जिसे कि निम्न लिखित स्मार्त्ता–उपनिषत् का समर्थन प्राप्त है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (गीता० ७।२)।

प्रवृत्ति–निवृत्ति, दोनों समानकाल में भुक्त हैं। सृष्टि का सम्भूतिलक्षण स्थिति से, मुक्ति का विनाश–(ग्रन्थिबन्धविमोक)–लक्षण गति से सम्बन्ध है। विज्ञानानुगता सृष्टिस्थिति, ज्ञानानुगता सृष्टिमुक्ति, दोनों सहचारिणीं हैं, जैसाकि–'**सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह**' से प्रमाणित है। यावज्जीवन कर्म्ममार्ग में आरूढ़ रहना विज्ञानशिक्षा का फल है, यावज्जीवन कामासक्ति का त्याग रखना ज्ञानशिक्षा का फल है। यही उपनिषत्–शिक्षा का निष्कर्ष है, जैसाकि सर्वान्त में स्पष्ट किया जाने वाला है। अत्र कुछ एक उन औपनिषद वचनों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो प्रतिसञ्चरविद्या के समर्थक हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना ही प्रतिसञ्चर है। एवं उद्धृत वचनों का समन्वय इसी दृष्टिकोण से हो रहा है।

प्रतिसञ्चरविद्यासमर्थक वचन—

१–"यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्त्वमनुपश्यतः ॥" (ई० उ० ७।)।

२–"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥" (केनोप० १।२।)।

३–"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था, अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धेरात्मा महान् परः।
महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥" (कठोप० ३।१।१०,११,।)।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः, तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् , तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥"
(कठोप० ३।१।१३।)।

४—"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते । स एषोऽकलोऽमृतो भवति" (प्रश्नोप० ६।५।)।

५—"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्व्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥
(मुण्डकोप० २।२।५')।

६—"सर्वं ह्येतद्ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म । नान्तःप्रज्ञं, न बहिःप्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञं, अदृष्टं, अव्यवहार्य्यं, अग्राह्यं, अलक्षणं, अचिन्त्यं, अव्यपदेश्यं, ऐकात्म्यप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं,शिवं, अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा, स विज्ञेयः" (माण्डूक्यो० ७।)।

७—"XXXX ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । स यश्चायं पुरुषे, यश्चासावादित्ये, स एकः । स य एवंवित्-अस्माल्लोकात् प्रेत्य-एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं प्राणमयमात्मानमुप०, एतं मनोमयमात्मानमुप०, एतं विज्ञानमयमात्मानमुप०, एतमानन्दमयमात्मान-मुपसंक्रामति ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥" (तै० उ० २।८,६ अनु०)।

८—"एष ब्रह्म, एष इन्द्रः, एष प्रजापतिः, इमे सर्वे देवाः, इमानि च पञ्च महाभूतानि-पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानि, इमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानी-तराणि, चेतराणि चाण्डजानि च, जारुजानि च, स्वेदजानि च, उद्भिज्जानि च, अश्वाः, गावः, पुरुषाः, हस्तिनः। यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमंच, पतत्रि च, यच्च स्थावरं, सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं, प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० २।३।)।

९—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानीति शान्त उपासीत । मनोमयः प्राणशरीरो भा-रूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्व-

मिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः। एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्-दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः। एतद् ब्रह्म। एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति, यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह-शाण्डिल्यः, शाण्डिल्यः" (छां० उप० ३ प्र० १४ खं०)।

१०–"तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति, सर्वमात्मानं पश्यति" (बृ० आ० उ० ४।४।२३)।

११–"सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्, इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषास्य परमा गतिः, एषास्य परमा सम्पत्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ० आ० उ० ४।३।३२)।

१२–"सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवामृतम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत्परम्"॥ (श्वे० उ० १।१६।)।
"यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥"
(श्वे० उ० ३।९।)।

१३–"यत्र न वायुर्वाति, न चन्द्रमा भाति, यत्र न नक्षत्राणि भान्ति,
यत्र नाग्निर्दहति, यत्र न मृत्युः प्रविशति, यत्र न दुःखानि
प्रविशन्ति, सदानन्दं, परमानन्दं, शान्तं, शाश्वतं सदाशिवं,
ब्रह्मादिवन्दितं, योगिध्येयं, परं पदं, यत्र गत्वा न निवर्त्तन्ते"।
(बृ० जा० उ० ८।६।)।

१४–"स होवाच–यो वै बालाक एतेषां कर्त्ता,
यस्य वैतत् कर्म्म, स वेदितव्यः" (कौ० ब्रा० उ० ४।१८।)।

ज्ञान-विज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला, इनका मौलिक रहस्य बतलाते हुए ज्ञानविज्ञान की शिक्षा देने वाला, दूसरे शब्दों में विज्ञानगर्भित ज्ञान की शिक्षा देने वाला शास्त्र ही उपनिषच्छास्त्र है, यही उपनिषत्-शब्द का अवच्छेदक है, जैसा कि भूमिका-प्रथमखण्ड में उपनिषच्छब्दार्थनिरूपण-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। विज्ञानशिक्षागर्भिता ज्ञानशिक्षा ही प्रतिसञ्चरविद्या है, यही उपनिषत्-

शिक्षा का दूसरा दृष्टिकोण है । विज्ञान-ज्ञान शिक्षा का, किंवा विज्ञानगर्भिता ज्ञानशिक्षा का अनेक दृष्टियों से समन्वय किया जा सकता है । पहिले हमें लोकसंग्रहदृष्टि से उस शिक्षात्रयी का समन्वय करना है, जो कि भारतीय आस्तिक समाज में 'योगत्रयी' (कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी) नाम से प्रसिद्ध है ।

५-उपनिषदों की कर्म्मयोगशिक्षा—

(उपनिषदों की योगत्रयी)

१-उपनिषदों का कर्म्मयोग-(धर्म्मबुद्धियोग)-

प्राचीनपरिभाषा के अनुसार आधिभौतिक-साधनसाध्यविशिष्ट सत्कर्म्मषट्क का ही नाम 'कर्म्मयोग' है, जैसा कि प्रथम परिच्छेद में स्पष्ट कर दिया गया है । व्याख्याताओं नें उक्त लक्षण कर्म्मयोग को इसलिए पुरुषार्थ का प्रतिबन्धक माना है कि, "कर्म्म क्षणिक क्रियामय होने से क्षोभात्मक है । क्षोभ ही अशान्ति है, अशान्ति ही स्थितिविच्युतिरूप भय है, भय ही दुःखका मूल बनता हुआ शाश्वत आनन्दलक्षण अभयपद का प्रतिद्वन्द्वी है । अभयपदप्राप्ति ही जीव का परम पुरुषार्थ है । जब तक भयात्मक कर्म्मका अनुगमन है, तबतक तत्प्राप्ति असम्भव है । अपि च कर्म्म मल है, किट्ट है । मल सभी दृष्टियों से आत्मज्योति का आवरक है । अतएव कर्म्मविमोक ही आत्मज्योतिर्विकास का अन्यतम हेतु है" ।

इस सम्बन्ध में थोड़ा संशोधन अपेक्षित है । हम देखते हैं कि, सतत कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी प्रजापति (ईश्वर) कर्म्मबन्धन से विमुक्त है । अपने कर्म्म से सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न कर, 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से विश्वगर्भ में प्रविष्ट होकर भी वह स्रष्टा विश्वबन्धनासक्ति से असंस्पृष्ट है । यदि कर्म्म बन्धन का कारण होता, तो कर्म्ममय-विश्व के अणु अणु में व्याप्त रहने वाला कर्म्माध्यक्ष, कर्म्मप्रवर्त्तक प्रजापति बन्धन में पड़ जाता, और फिर उसके लिए 'नित्यशुद्ध-मुक्त' इत्यादि शब्द प्रयुक्त न होते । मानना पड़ेगा कि, कर्म्म बन्धन का कारण नहीं है । जो कर्म्म आत्मा का स्वरूप है, वह बन्धन का कारण बन भी कैसे सकता है । आत्मानुबन्धी कर्म्म बन्धन का कारण नहीं, अतएव तद्रूप कर्म्मों का अनुगमन करता हुआ जीवात्मा कभी कर्म्मबन्धन में नहीं पड़ सकता । जिस प्रकार कर्म्म बन्धन का कारण नहीं, एवमेव कर्म्मप्रवृत्ति भी बन्धन का कारण नहीं है । प्रवृत्ति ही तो कर्म्म का प्रातिस्विक स्वरूप है, जैसाकि '**विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः**' (गीता ८।३) इत्यादि से प्रमाणित है । बन्धन का एकमात्र कारण है-'कामना,' किंवा कामनामयी प्रवृत्ति । वस्तुतस्तु कामना भी बन्धन का कारण नहीं है । क्योंकि न्यायसम्मतलक्षण * के अनुसार बिना कामना के कर्म्मप्रवृत्ति ही असम्भव है, जैसा कि भगवान् मनु ने भी कहा है--

---

***-ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।**
कृतिजन्यं भवेत्-कर्म्म, तदेतत् कृतमुच्यते ॥

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः ॥
व्रतानि-यम-धर्म्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥१॥
अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् ॥
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥२॥ (मनुः १।३,४,)

कर्म्म, कर्म्मप्रवृत्ति, कर्म्मकामना, तीनों हीं बन्धन के कारण इसलिए नहीं मानें जा सकते कि, आधिदैविकी ईश्वरसंस्था में स्वयं ईश्वरप्रजापति ज्ञानकर्म्ममूर्त्ति है, वह स्वयं सृष्टिकर्म्म में प्रवृत्त है, साथ ही **'एकोऽहं बहु स्याम्'** लक्षणा कामना भी वहाँ विद्यमान है। इन तीनों के रहते हुए भी वह नित्यमुक्त है। ऐसी स्थिति में तीनों का अबन्धनत्त्व स्वतः सिद्ध है। इन सब परिस्थितियों के रहते हुए **'कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि'** को सुरक्षित रखते हुए हमें वैदिक कर्म्मयोग का समर्थन करना है।

अवश्य ही कर्म्मेतिकर्त्तव्यता के सम्बन्ध में कोई ऐसा प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, जो अबन्धनकर्म्म, अबन्धनप्रवृत्ति, तथा अबन्धनकामना, तीनों को बन्धनप्रवृत्ति का कारण बना देता है। वही बन्धनहेतु शास्त्रों में 'संस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। यह संस्कार ज्ञानीयसंस्कार, कर्म्मसंस्कार, भेद से दो भागों में विभक्त है। ज्ञानजनित संस्कार भावना है, कर्म्मजनित संस्कार वासना है। यदि भावना–वासना संस्कार है, तो अवश्यमेव बन्धन है। यह विश्वास करने की बात है कि, शास्त्र ने जहाँ भी कहीं, जब भी कभी कर्म्म, कर्म्मप्रवृत्ति, कर्म्मकामना, को बन्धन का कारण बतलाया है, वहाँ सर्वत्र शास्त्र का एकमात्र लक्ष्य भावना–वासना–संस्कार ही है। यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाता है, तो भावना–वासना–संस्कार भी बन्धन के कारण नहीं हैं। कारण, व्यापार की सत्ता में कार्य्य उत्पन्न न हो, यह असम्भव है। जब ज्ञान-कर्म्म सुरक्षित हैं, तो तज्जनित भावना–वासनासंस्कार भी दुर्निवार हैं। प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य्य–चन्द्र–पृथिव्यादि ईश्वरीय कर्म्म के ही तो वासनासंस्कारात्मक स्थूल विवर्त्त हैं। संस्कार ही तो कर्म्मफल है। कर्म्मफल ही तो कर्म्मप्रवृत्ति का मुख्य कारण है। फलकामना ही कर्म्मप्रवृत्ति का मूलाधार है। 'बहु स्याम्' यही तो उस फलकामना का स्वरूप है। एवं संस्कारात्मक विश्व ही तो तन्मूलभूता फलकामना का स्वरूप है। परन्तु आश्चर्य्य है कि, विश्वकर्म्म, विश्वकर्म्मप्रवृति, विश्वकर्म्मकामना, विश्वकर्म्मसंस्काररूप फल, चारों के रहते भी वह कर्म्माध्यक्ष नित्यमुक्त है। मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही बन्धन का कारण इन चारों से पृथक् है, और गीतोपनिषत् परिभाषा के अनुसार वह कारण है एकमात्र–**'फलकामासक्ति'**।

फलकामना जहां स्वाभाविक है, वहाँ फलकामासक्ति अस्वाभाविक है, अप्राकृतिक है। और निश्चयेन यही बन्धन का कारण है। फलकामना बुद्धि का व्यापार है, कामासक्ति मन का व्यापार है। असङ्ग सूर्य्यतत्त्वात्मिका बुद्धि से सम्बद्ध फलकाम जहाँ असङ्ग है, वहाँ ससङ्ग चन्द्रतत्त्वात्मक मन से सम्बद्ध कामासक्ति बन्धन का कारण है। चान्द्र-स्नेह-लक्षण सोममय मन की प्रधानता ही आसक्तिप्रवृत्ति का कारण है। यदि कर्म्मप्रवृत्ति में बुद्धि का प्राधान्य है, तो अबन्धन है। यदि मनःप्राधान्य है, तो बन्धन है। इसप्रकार बुद्ध्यनुगत वही मन बुद्धि के असङ्गभाव से नियन्त्रित रहता हुआ जहाँ अबन्धन है, वहाँ वही मन बुद्धि के असङ्गभाव को नियन्त्रित रखता हुआ बन्धन का हेतु बन रहा है। इसप्रकार केवल मानसवृत्ति से सम्बन्ध रखने

वाली अनासक्ति. आसक्ति ही मुक्ति, बन्ध का कारण बन रही है, जैसाकि निम्न लिखित शास्त्रीय वचन से भी प्रमाणित है—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप !
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। कर्म्म का ही नाम 'तप' है। यह तपोलक्षण कर्म्म, किंवा कर्म्म-लक्षण तप 'अलिङ्ग, लिङ्ग' भेद से दो प्रकार का माना गया है। जिस कर्म्म का आधार ज्ञान है, वह अलिङ्गतप है। एवं जिस ज्ञान का आधार कर्म्म है, वह कर्म्म लिङ्गतप है। ज्ञानाश्रित कर्म्म ज्ञानप्राधान्य से असङ्ग है, कर्म्माश्रित ज्ञान कर्म्मप्राधान्य से ससङ्ग है। बुद्धिसहकृत मानस कर्म्म अलिङ्गतप है, यह अबन्धन है, एवं यही 'ज्ञानमयतप' है। मनसानुगृहीत बुद्धिकर्म्म लिङ्गतप है, यह सबन्धन है, यही कर्म्ममय ज्ञान है। ईश्वरीय कर्म्म अलिङ्गतप है, ज्ञानमय कर्म्म है। अतः कर्म्म, कर्म्मप्रवृत्ति, कर्म्मकामना, कर्म्मफल, चारों के रहते भी वह नित्यमुक्त है। इधर पार्थिव जीवात्मा पृथिव्युपग्रहभूत चान्द्र मन के प्राधान्य से लिङ्गतप का अनुगामी बनता हुआ कामासक्ति के अनुग्रह से बन्धन का प्रवर्त्तक बन रहा है। यदि जीव भी अलिङ्गतप का अनुगामी है, तो बन्धनविमुक्त है।

अन्य दृष्टि से समन्वय कीजिए। मानसेच्छा के ही 'कामना, इच्छा' नामक दो पृथक् विवर्त्त हैं। आत्मानुगता, बुद्धिप्रधाना इच्छा 'कामना' है। एवं विषयानुगता मनःप्रधाना इच्छा 'इच्छा' है। कामना भूमासुखमयी है, इच्छा भूताल्पतानुगामिनी है। आत्मसहकृता कामना अबन्धन है, इसे ही स्वेच्छा, ईश्वरेच्छा, उत्थिताकांक्षा कहा गया हैं। भूतानुगता इच्छा बन्धनमूला है। यही परेच्छा, जीवेच्छा, उत्थाप्याकांक्षा, इत्यादि नामों से व्यवहृत है। ईश्वरीय चक्र में प्रतिष्ठित जीवात्मा ईश्वरीय भावनामूलक विश्वाभ्युदयदृष्टि से ईश्वरवत् सांसारिक कर्म्मों में **'केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'** भावना से सतत प्रवृत्त रहता हुआ ईश्वरवत् नित्यमुक्त है। अपने आपको एक स्वतन्त्र संस्था मानता हुआ जीवात्मा स्वार्थवश ऐन्द्रियक सुखपूर्त्ति के लिए कर्म्म में प्रवृत्त होता हुआ नित्यबद्ध है।

उक्त सन्दर्भ का निष्कर्ष यह निकला कि, बुद्धियुक्त कर्म्म बन्धनप्रवृत्ति का कारण है। स्मरण रखिए, बुद्धि का सहयोग दोनों क्षेत्रों में समान है। क्योंकि बिना बुद्धिसहयोग के एकाकी मन कर्म्म करने में नितान्त असमर्थ है। ऐसी दशा में बुद्धियुक्त–अयुक्त के ये ही अर्थ होते हैं कि, बुद्धिप्रधान मानसकर्म्म मुक्ति के कारण हैं, एव मनःप्रधान कर्म्म बन्धन के कारण हैं। मनःप्रधान कर्म्म आसक्ति-बन्धन के कारण बनते हुए **'काम्यकर्म्म'** नाम से प्रसिद्ध हैं। बुद्धिप्रधान कर्म्म आसक्तिशून्य बनते हुए **'नित्य–नैमित्तिक'** नामों से प्रसिद्ध हैं। शास्त्रों नें यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि, आत्मकामना से सम्बन्ध रखने वाले नित्य–नैमित्तिक कर्म्म यावज्जीवन अनुष्ठेय हैं। एवं मानसकामना से सम्बन्ध रखने वाले काम्यकर्म्म सदा त्याज्य हैं।

आसक्तिमूलक काम्य कर्म्म हीं 'प्रवृत्तिकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। अनासक्तिमूलक नित्य–नैमित्तिक कर्म्म 'निवृत्तिकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। काम्यकर्म्म से उत्पन्न वासनासंस्कार का निराकरण करने से ही ये निवृत्तिकर्म्म कहलाए हैं। ये ही निष्कामकर्म्म हैं। यद्यपि कर्म्मविज्ञानानुसार इनमें भी प्रवृत्ति, कामना, फलोत्पादकता, सब कुछ सुरक्षित है। तभी तो इनके न करने में प्रत्यवाय मानना सुसङ्गत बनता है *। तथापि कामासक्ति के अभावमात्र से इन्हें निष्काम–निवृत्तिकर्म्म मान लिया गया है। लोकाभ्युदयदृष्टि से, विश्वयज्ञरक्षा के नाते किया हुआ यज्ञादिलक्षण वैदिक कर्म्मयोग निवृत्तिप्रधान बनता हुआ मोक्ष का हेतु है। स्वार्थसाधन से कृत यही कर्म्म काम्य बनता हुआ प्रवृत्तिभाव से बन्धन का हेतु है। वेदरति जहाँ आवश्यक है, वहाँ वेदवादरति घातक है। काम्यदृष्टि से वैदिक कर्म्मयोग जहाँ त्रिगुणसम्पति से युक्त रहता हुआ अवाञ्छनीय है, वहाँ निष्कामदृष्टि से वही वैदिक कर्म्मयोग त्रिगुणातीत आत्मा का अनुगामी बनता हुआ आवश्यक है। जिन व्याख्याताओं नें कर्म्मयोग का विरोध किया है, साथ ही अपने विरोध को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंनें जो प्रमाण उद्धृत किए हैं, उनकी निःसारता उस समय भलीभाँति सिद्ध हो जाती है, जबकि हम कर्म्म की उक्त उपनिषत् (सिद्धान्त) का भलीभाँति स्पष्टीकरण कर लेते हैं।

प्रथम परिच्छेद में व्याख्याताओं की ओर से कर्म्मयोगनिन्दापरक, तथा ज्ञानयोगप्राशस्त्यपरक जो वचन उद्धृत हुए हैं, उनका कर्म्मत्याग से अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। अपितु सबका एकमात्र लक्ष्य फलकामासक्ति–परित्याग ही बन रहा है। **'वेदवादरताः पार्थ'–'कामात्मनः स्वर्गपरा'–'भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानाम्'** इत्यादि वचन वेदोक्त यज्ञ का विरोध न कर मानसेच्छानुगता आसक्ति का ही विरोध कर रहे हैं। अनासक्त कर्म्म के समर्थक अन्य वचनों के समन्वय की दृष्टि से भी यही मानना न्यायसङ्गत है। निष्कामभाव–सहकृत वही वैदिक कर्म्मयोग अवश्यमेव अनुष्ठेय है, यह सिद्धान्त निम्न लिखित गीताशब्दों से ही प्रमाणित हो रहा है—

१—स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
२—यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
३—श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
४—सहजं कर्म्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

---

* विहितस्याननुष्ठानात्, निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥ (स्मृतिः०)।

५—असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ (गी०१८।४५–४६) ।

६—न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ (गी०१८।११) ।

७—एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ (गी०१८।६) ।

८—नियतस्य तु संन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ (गी०१८।७) ।

९—कार्य्यमित्येव यत् कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन !
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ (गी०१८।९)।

बहुत सम्भव है, अर्वाचीन व्याख्याताओं से पूर्व युगों में भी कर्म्म को लेकर ऐसे विवाद होते रहे हों। परन्तु रहस्यवेत्ताओं नें उस समय भी अपने उक्त निर्णय को ही सुरक्षित रक्खा है । कर्म्मत्यागमूला संन्यास-भावना को आगे कर यज्ञादि कर्म्मों को सदोष मानने वाले सम्भवतः गीताशास्त्र के निम्न लिखित निर्णय का विरोध न कर सकेंगे—

१—काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

२—त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्म्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

३—निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम !
यज्ञ–दान–तपः–कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ॥ (गी०१८।२–३–४–५) ।

(१) यही अवस्था 'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं तत्०' इत्यादि श्रौत वचनों की है । फलकामासक्ति से सम्बद्ध काम्य कर्म्म वास्तव में अध्रुव हैं। क्योंकि, इनका अध्रुव स्वर्गादि फलों से सम्बन्ध है । इनसे कभी ध्रुव–आत्मपद प्राप्त नहीं किया जा सकता । यदि काम्यभाव हटा दिया जाता है, तो ये ही कर्म्म ध्रुव आत्मा-नुगामी बनते हुए ध्रुव बन जाते हैं ।

(२) नित्यकर्म्म स्वाभाविक हैं । अतएव ये जीवप्रयत्न से बहिर्भूत रहते हुए अकृतक हैं । आत्म-कर्म्म भी अकृतक (अकृत्रिम) हैं । इन्हीं से अकृत आत्मा की प्राप्ति सम्भव है । काम्यकर्म्म विकृतिभाव से

सम्बन्ध रखते हुए कृत (कृत्रिम) हैं। इनसे सचमुच अकृतभाव प्राप्त नहीं हो सकता। 'नास्त्यकृतः कृतेन से यही स्पष्ट किया गया है।

(३) काम्य यज्ञकर्म्म वास्तव में अदृढ हैं। क्योंकि अनित्य स्वर्गफल से सम्बद्ध इन काम्य कर्म्मों में स्थिरता का अभाव है। इसप्रकार 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' इत्यादि श्रुति ने काम्यभाव को आगे करते हुए ही यज्ञकर्म्म को अदृढ माना है। यदि काम्यभाव का त्याग है, तो यही दृढ हैं।

(४) प्रजा, वित्तादि, के साथ पठित कर्म्म मानस कामनानुगत भूतकर्म्म का ही संग्राहक माना जायगा। यह कर्म्म परेच्छानुगामी बनता हुआ, आसक्तिबन्धन का प्रवर्त्तक बनता हुआ वास्तव में अमृतप्राप्ति का प्रतिबन्धक है। 'न कर्म्मणा न प्रजया धनेन' इत्यादि श्रुति इसी रहस्य का स्पष्टीकरण कर रही है।

५,६,७,८,६,१०,११,१२, इन आठ श्रौत वचनों के द्वारा, तथा आगे के १२ स्मार्त्त वचनों के द्वारा व्याख्याताओं नें जो यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि, ज्ञानयोग ही मुक्ति का कारण है, यह भी प्रौढ़िवादमात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बुद्धिसहकृत निष्कामकर्म्मानुयायी ही ज्ञानी है, ऐसा ज्ञानवान् ही आत्मस्वरूप पहिचान सकता है। मानसेच्छानुगत कर्म्म का अनुयायी भोगैश्वर्य्य-प्रसक्त बनता हुआ मूर्ख है, ऐसा अज्ञानी आत्मस्वरूपबोध में असमर्थ है। सम्पूर्ण वचन एकमात्र इसी स्थिति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि, आत्मा शुद्ध ज्ञानमय है। इस शुद्ध-ज्ञानमय आत्मा पर कर्म्मजनित वासना संस्कार का आवरण आया हुआ है। जबतक यह आवरण नहीं हट जाता, तबतक आत्मज्ञानोदय असम्भव है। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि, इस कर्म्मावरण को किस उपाय से हटाया जाय?। ज्ञान स्वयं निष्क्रिय है। यदि वह सक्रिय होता, तो ज्ञानमय आत्मा पर संस्कारावरण का आक्रमण ही न होता। अवश्य ही उन व्याख्याताओं को भी यह मानना पड़ेगा कि, कर्म्मावरणनिवृत्ति कर्म्मान्तर से ही सम्भव है। प्रवर्त्तक कर्म्म से आवरण हुआ था, निवर्त्तक कर्म्म से आवरण हटाया जासकता है। 'विषस्य विषमौषधम्'-'कण्टकं कण्टकेनैवोद्धरेत्' इत्यादि न्यायानुसार कर्म्म का निवर्त्तक कर्म्म ही बन सकता है। ज्योतिर्घन सूर्य्य बद्लों की तुलना में सहस्रगुणित शक्ति रखता हुआ भी प्रयत्नसहस्रों से भी स्वावरणभूत बद्लों को हटाने में असमर्थ है। अपितु सजातीय वायु ही इन्हें हटाता है। इसप्रकार ज्ञानोदय से पहिले पहिले निवृत्तिकर्म्म का अनुगमन व्याख्याताओं को भी मानना पड़ता है। जब कर्म्म की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, तो विशुद्ध ज्ञानात्मा इस लोक की वस्तु न रह कर परज्योति में विलीन हो जाता है। उस समय न कर्म्मयोग का प्रश्न रहता, न ज्ञानयोग का। 'तादृगेव भवति' स्थिति से अतिरिक्त स्वाभाविक दशामें जीवात्मा कर्म्मप्रपञ्च से क्षणमात्र भी जब वियुक्त नहीं होसकता, तो उस दशा में कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का कुछ भी महत्त्व शेष नहीं रह जाता।

जबतक देह है, तबतक देही है। जबतक देही है, तबतक कर्म्मत्याग असम्भव है *। जब कर्म्म करना ही है, तो लोकसंग्रह की दृष्टि से शास्त्रसिद्ध कर्म्मयोग का ही निष्कामभाव से अनुगमन क्यों न किया जाय। स्वयं भगवान् ने यही निर्णय किया है-

*न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः। (गीता १८।११।)

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् ।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। (गीता ३।५।)

कर्म्मयोग को हम प्रचलित, संशोधित, भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं । प्रचलित कर्म्म-योग का स्वरूप है 'काम्यकर्म्म' । संशोधित कर्म्मयोग का स्वरूप है 'धर्म्मबुद्धियोग' । सूर्य्योपादानभूता बुद्धि में विद्या, अविद्या, नामक २ धातु मानें गए हैं । दोनों विद्या-अविद्या-चतुष्टयी भेद से चार चार भागों मे विभक्त हैं । ये ही प्राधानिकशास्त्रसम्मत 'अष्टौ बुद्धयः' हैं । धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, चार विद्या-बुद्धि हैं, अभिनिवेशलक्षण अधर्म्म, अविद्यालक्षण अज्ञान (मोह), रागद्वेषलक्षणा आसक्ति, अस्मितालक्षण अनैश्वर्य्य, ये चार अविद्याबुद्धि हैं । चारों अविद्याबुद्धिभावों से आत्मज्योति आवृत रहती है, बुद्धि (विद्याबुद्धि) का आत्मा के साथ योग नहीं होने पाते । धर्म्मादि से बुद्धि का विद्याभाव विकसित रहता है । विद्यात्मिका ऐसी बुद्धि ही आत्मयोग में समर्थ है । निष्कामभावानुगत यज्ञाद्यनुष्ठान ही धर्म्म है, इसका अनुगमन ही बुद्धि में धर्म्मातिशय का प्रतिष्ठापक है । यही संशोधित, धर्म्मबुद्धियोगलक्षण 'कर्म्मयोग' है, जिसका गीताभाष्यभूमिकान्तर्गत 'कर्म्मयोगपरीक्षा' खण्ड में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है ।

"अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते" (मनुः२।१३) के अनुसार भूतासक्ति से असंस्पृष्ट लोकाभ्युदय-कामुक व्यक्तियों के द्वारा अनुष्ठेय वेदोक्त कर्म्मकाण्ड ही कर्म्मयोग है । यही उपनिषदों का एक दृष्टिकोण है । जिन उपनिषदों को व्याख्याता कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोगपरक मान रहे हैं, वे उपनिषत् स्वयं उक्तलक्षण कर्म्मयोग का निम्न लिखित शब्दों में समर्थन कर रहे हैं-

धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग के समर्थक वचन—

१—"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे" ।। (ई०उ०१।)
"ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर" (ई०उ०१७।)।

२-"उपनिषदं भो ब्रूहि, इति-उक्ता त उपनिषत्, ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति । तस्यै तपो दमः कर्म्मेति प्रतिष्ठा । वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् । यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति"(केनोप०४खं०।३२,३३,३४)।

३—"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।। (कठ०१।१।३)

४—"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानामायतनं, एतदमृतं, अभयं, एतत् परायणम् । एतस्मान्न पुनरावर्त्तते, इत्येष निरोधः" । (प्र०१।१०)।

तद्ये ह तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति, ते मिथुनमुत्पादयन्ते ।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्य्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति" (प्रश्नोप०१।१५,१६,)

५–"तदेतत् सत्यं–मन्त्रेषु कर्म्माणि कवयो यान्यपश्यं–
स्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ।
तान्यचरथ नियतं सत्यकामा–
एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके" (मुण्डक १।२।१।) ।

"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्म्मसु चामृतम् ॥ " (मुण्डक १।१।८।)

"क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वते एकर्षिं श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ " (मुण्डक ३।२।११।)

६–"जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा–आदिमत्त्वात् ।
आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् , आदिश्च भवति, य एवं वेद" (माण्डूक्य ६) ।

७–"सत्यं वद, धर्म्मं चर, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः, देवपितृ–कार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः–धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन् , तथा तत्र वर्त्तेथाः । एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषत् , एतदनुशासनम्" (तै० ।१।११।) ।

"ऋतं, सत्यं, तपः, दमः, शमः, अग्नयः (यज्ञाः,) अग्निहोत्रं, अतिथयः, मानुषं, प्रजनः, प्रजातिः–स्वाध्याय–प्रवचने च" (तै० १।६।) ।

८–"स एवं विद्वान्–अस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्" (ऐ० उ० ४।६।) ।

९–"नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" (छा० उ० १।१।१०।) ।

१०–"XXXXआत्मैवास्य । कर्म्मात्मना हि कर्म्म करोति । स एष पाङ्क्तो यज्ञः, पाङ्क्तः पशुः, पाङ्क्तः पुरुषः, पाङ्क्तमिदं सर्वं यदिदं किञ्च। तदिदं सर्वमाप्नोति, य एवं वेद" (बृ० उ० १।४।१७) ।

"अथो खल्वाहुः-काममय एवायं पुरुषः—इति। स यथाकामो भवति, तत्क्रतु-र्भवति, यत्कर्म्म कुरुते, तदभिसम्पद्यते" (बृ० उ० ४।४।५।)।

इत्युपनिषदां कर्म्मयोगशिक्षा (धर्म्मबुद्धियोगशिक्षा प्रथमा)

—१—

-----❀-----

६–उपनिषदों की भक्तियोग शिक्षा—

२–उपनिषदों का भक्तियोग—(ऐश्वर्य्यबुद्धियोग)—

उपासना, तथा भक्ति, दोनों के तात्त्विक स्वरूप में यद्यपि अन्तर है, तथापि प्रकृत में दोनों को अभिन्न मानते हुए ही हमें विचार करना है। साथ ही इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि, प्रकृत में 'भक्तियोग' से वस्तुतः 'उपासना' ही अभिप्रेत है, जिसमें तत्त्वोपासना का ही प्राधान्य है। उपासना का चरम लक्ष्य तो 'अक्षर' ही है, जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। परन्तु इस लक्ष्यवेध से पहिले भूतशुद्धि अपेक्षित है। एवं भूतशुद्धि के लिए तत्त्वोपासना अपेक्षित है। पञ्चभूतात्मक पार्थिव शरीर की शुद्धि ही भूतशुद्धि है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, पाँचों भूतों के अभिमानी देवता क्रमशः गणपति, दुर्गा, सूर्य्य, शिव, विष्णु, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पार्थिवतत्त्व ही गणपति है, मूलाधार चक्र ही इनकी प्रतिष्ठाभूमि है। अतएव सर्वप्रथम इसी तत्त्व की उपासना अपेक्षित है। इसी उपासना से मलशुद्धि होती है। मलशुद्धि जब तक नहीं हो जाती, तब तक शक्तिसञ्चार असम्भव है, शक्तिसञ्चार के अभाव में बुद्धि (तेज) का विकास असम्भव है, बुद्धिविकासाभाव में शान्तिलक्षणा स्थिरप्रतिष्ठा असम्भव है, शान्ति–प्रतिष्ठा के अभाव में सर्वभूतहितरतिप्रवर्त्तिका सर्वव्याप्तिभावना असम्भव है। इसी आधार पर पाँचों तत्त्वों की उपासना का क्रमशः आराधन माना गया है। यही सुप्रसिद्ध पञ्चदेवोपासना है, जिसका तात्त्विक स्वरूप सम्प्रदायाभिनिवेश से आज सर्वथा विलुप्त हो गया है। तन्त्रशास्त्र ने मुख्यरूप से इसी तत्त्वोपासना का विश्लेषण किया है, जिसका मूल उपनिषदों का ही उपासनाकाण्ड है।

ईश्वर–अनुग्रहप्राप्तिकामलक्षणा उपासना भक्तियोग है, एवं ऐसा भक्तियोग एक प्रकार से काम्यकर्म्म है। अतएव ऐसा काम्य भक्तियोग तत्त्वतः बन्धन का ही कारण है। प्रथम परिच्छेद में व्याख्याताओं नें जिस भक्तियोग को लक्ष्य बना कर ज्ञानयोग का समर्थन किया है, वह यही काम्य भक्तियोग है, जिसके मूल में गुणत्रयविशिष्ट सगुणभाव प्रतिष्ठित है। वास्तव में कामानुग्रहप्राप्तिलक्षणा ऐसी सगुणभक्ति पराशान्ति का कारण नहीं बन सकती। परन्तु जैसे फलकामासक्तिशून्य कर्म्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ पराशान्ति का कारण बन रहा है, साथ ही ऐसे कर्म्मयोग का जैसे उपनिषदों में समर्थन हुआ है, एवमेव कामभावशून्या, तत्त्वोपासनात्मिका, अतएव त्रिगुणभावविरहिता भक्ति भी अवश्यमेव पराशान्ति का कारण बन सकती है, एवं ऐसी भक्ति का अवश्यमेव उपनिषदों में समर्थन हुआ है।

इस भक्तियोग के अनुष्ठान से बुद्धिगत अस्मितालक्षण अनैश्वर्य्यभाव पलायित हो जाता है। अस्मिता के आवरण से विद्यमान भी आत्मशक्तियाँ मुकुलितावस्था में परिणत रहतीं हैं। यही जीवात्मा के

स्वतः सिद्ध ऐश्वर्य्य का महाप्रतिबन्धक 'अस्मिता' नामक अविद्यादोष है। भक्तियोग के द्वारा बुद्धिस्थ ऐश्वर्य्य-भाव विकसित होता है, अस्मिता पलायित होती है। यही 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' है, जिसे उपनिषदों की परिभाषा में उपासना कहा गया है। गीता के शब्दों में यही अव्यभिचारिणी भक्ति कहलाई है, जिसके ज्ञान, तथा वैराग्य नामक दो सत्पुत्र मानें गए हैं।

धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग की तुलना में ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग का आसन ऊँचा माना गया है। कारण इसका यही है कि, भक्तियोग में शास्त्रसिद्ध धर्म्मलक्षण कर्म्म के संग्रह के साथ साथ ईश्वरध्यानजन्य प्रसादगुण का समावेश और रहता है। अपिच कर्म्मयोग से जहाँ क्षर के द्वारा अक्षरप्राप्ति होती है, वहाँ भक्तियोग से क्षर के द्वारा अव्ययप्राप्ति होती है। विज्ञानपरिभाषानुसार अव्यय-क्षर की समष्टि भक्तियोग है, अक्षर-क्षर की समष्टि कर्म्मयोग है, तथा अक्षरप्रधान अव्यक्तज्ञान ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा है। अवश्य ही कर्म्मादि योगों की इस परिभाषा में पाठकों को नवीनता प्रतीत होगी। परन्तु तत्त्वान्वेषण के द्वारा उन्हें अवश्य ही इस परिभाषा पर श्रद्धा करनी पड़ेगी।

उपनिषदों का उक्तलक्षण भक्तियोग **'राज, मन्त्र, हठ, लय'** भेद से चार श्रेणियों में विभक्त माना गया है। इन चारों में राजयोग ही ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग है, यही उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है, जबकि गौणरूप से मन्त्रादि इतर तीनों योगों का भी उपनिषदों में यत्र तत्र संग्रह हुआ है। कर्म्मयोगापेक्षया श्रेष्ठ भक्तियोग एकमात्र ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग ही माना गया है। क्योंकि इसी में स्वात्मविकास के साथ साथ कर्म्म का संग्रह है, लोकसंग्रह-रक्षा है। शेष तीनों योग केवल प्रातिस्विक आत्मसंस्था से सम्बन्ध रखते हुए, अतएव लोकसंग्रह से वञ्चित रहते हुए अवर-श्रेणि में हीं प्रतिष्ठित हैं। यही कारण है कि, उपनिषदों को अपना मूलाधार बनाने वाले गीताशास्त्र ने चारों में से ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग को ही प्रधानता दी है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, कामभावशून्य, कर्म्मसंग्रहात्मक, लोकसंग्रहात्मक, बुद्धिस्थ ऐश्वर्य्यभावविकासक, आत्मध्यानलक्षण भक्तियोग ही उपनिषदों का भक्तियोग है, जिसकी सिद्धि के लिए तत्त्वोपासन प्रथम द्वार है। इसी तत्त्वोपासना को लक्ष्य बना कर भक्तियोग (उपासना) समर्थक निम्न लिखित औपनिषद वचनों का समन्वय करना चाहिए।

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग (उपासना) के समर्थक वचन

१— चाक्षुषपुरुषोपासना—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये" ॥(ई० उ० १५)

"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्,
समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" (ई० उ० १६।)

"वायुरनिलममृतम्" (ई० उ० १७)

वैश्वानरपुरुषोपासना— "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम" (ई० उ० १८)

❀

२— शक्त्युपासना— "स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-
मुमां हैमवतीम् ।" (केनोप० ३।२५) ।

❀

३— सर्वभूतान्तरात्मोपासना— "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।"(कठो०५।९,)

भूतात्मोपासना— "यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि, यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके, छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।।"
(कठो० ६।५।)

❀

४— प्राणोपासना— "देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ।।
\+ + + + + + + +
या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ।।
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रानुत्तस्य श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः " (प्र० २।८-१३)

ओङ्कारोपासना—

"स यद्येकमात्रमभिध्यायीत"

"यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते"

"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणैवोमित्येनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत"

५—

अक्षरोपासना—

"धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धीयत।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य! विद्धि॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥" (मुण्डको० २।२।३,४,)।

हिरण्यगर्भोपासना—

"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥"

(मुण्डको० ३।१।२)।

६—

प्रणवोपासना—

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं-

भवद्-भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्-

त्रिकालातीतं, तदप्योङ्कार एव" (माण्डूक्यो०१)।

विभूतिपुरुषोपासना—

"तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत"

"तन्मह इत्युपासीत"

"तन्नम इत्युपासीत"

"तद् ब्रह्मेत्युपासीत"

"तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत"

"स यश्चायं पुरुषे, यश्चासावादित्ये, स एकः" (तै०उ०३।१०)

८—

प्रज्ञानब्रह्मोपासना— "कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा–येन वा–रूपं पश्यति + + +। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। + + एष ब्रह्म, एष इन्द्रः, एषः प्रजापतिः, एते सर्वे देवाः, इमानि च पञ्च महाभूतानि। + + + स एतेन प्राज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्य–अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामनाप्त्वाऽमृतः समभवत्"

९—

उद्गीथोपासना—

"ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छाँ०उ०१।१।१)।

"नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" (छा०१।२।२)।

"य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत" (छां०१।३।१)।

"अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत" (छां०१।३।३)।

"अथ खलु उद्गीथाक्षराण्युपासीत" (छां०१।३।६)।

१०—

सामोपासना—

"लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत" (छां० २।२।१)।

"वृष्टौ " " (" २।३।१)।

"सर्वास्वप्सु " " (" २।४।१)।

"ऋतुषु " " (" २।५।१)।

"पशुषु " " (" २।६।१)।

"प्राणेषु " " (" २।७।१)।

"अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधं सामोपासीत" (" २।८।१)।

षडङ्गवैश्वानरोपासना

"कं त्वमात्मानमुपास्स-इति-"दिवमेव" (छां०उ० ५।१२।१।)।
" " "आदित्यमेव" (" ५।१३।१।)।
" " "वायुमेव" (" ५।१४।१।)।
" " "आकाशमेव" (" ५।१५।१।)।
" " "अप एव" (" ५।१६।१।)।
" " "पृथिवीमेव (" ५।१७।१।)।
"आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते" (" ५।१७।२।)।

११— **क्रमसिद्धा—तत्त्वोपासनमूला—आत्मोपासना**

"स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे"
" य एवासौ चन्द्रे पुरुषः, "
" य एवासौ विद्युति पुरुषः, "
" य एवासौ आकाशे पुरुषः, "
" य एवायं वायौ पुरुषः, "
" य एवायमग्नौ पुरुषः, "
" य एवायमप्सु पुरुषः, "
" य एवायमादर्शे पुरुषः, "
" य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्यमेवाहं ब्रह्मोपासे"
" य एवायं दिक्षु पुरुषः, "
" य एवायं छायामयः पुरुषः "
"स होवाच गार्ग्यः-य एवायमात्मनि पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे"

इत्युपनिषदां भक्तियोगशिक्षा (ऐश्वर्य्यबुद्धियोगशिक्षा द्वितीया)

—२—

७–उपनिषदों की ज्ञानयोगशिक्षा–

३—उपनिषदों का ज्ञानयोग–(ज्ञानबुद्धियोग)

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" (गीता ५।१५) के अनुसार 'अविद्या' नामक क्लेश के आक्रमण से बुद्धि में मोह का उदय हो जाता है, स्वाभाविक ज्ञानभाव का अभिभव हो जाता है। अज्ञानावृत ऐसा ज्ञान ही मोह है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकाभाव ही मोहज्ञान (अज्ञान) का प्रधान फल है। इस मोहलक्षण अज्ञान की निवृत्ति के लिए जिस अव्यक्तज्ञान का आश्रय लिया जाता है, वही ज्ञानबुद्धियोगलक्षण 'ज्ञानयोग' है।

व्याख्याताओं के मतानुसार सर्वकर्म्मविमोकलक्षण संन्यास ही ज्ञानयोग है, जिसका स्वरूप प्रथम परिच्छेद में बतलाया जाचुका है। परन्तु विज्ञानपरिभाषा में कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। शरीरयात्रानिर्वाहक शारीरिक कर्म्मों को, तथा ज्ञानकर्म्मोभयलक्षण आत्मा के वासनात्मक कर्म्मावरणों को हटाने वाले तप–श्रद्धा–अरण्यनिवास–आदि आध्यात्मिक कर्म्मों को अपने गर्भ में रखने वाला, उत्तरोत्तर लोकपरिग्रहों के त्याग को लक्ष्य बनाने वाला, क्षीणोदर्कमुक्तिसाधक ज्ञानप्रधान योग ही ज्ञानयोग है, जिसे हम 'ज्ञानबुद्धियोग' कहेंगे।

इस ज्ञानयोग की मूलप्रतिष्ठा पराकृति नाम से प्रसिद्ध 'अव्यक्त' है। अतएव अव्यक्त ज्ञानयोग से सम्बन्ध रखने वाले निवृति–प्रधान अरण्यकर्म्म भी अव्यक्त ही हैं। इनका लोकसङ्ग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। न ऐसे ज्ञानयोगियों से सर्वसाधारण का कोई उपकार ही सम्भव है। साथ ही अव्यक्त के अनुग्रह से यह ज्ञानयोग इन्द्रियनिग्रहादि का अनुगामी बनता हुआ कायक्लेशात्मक बना हुआ है। न आत्मप्रसाद है, न लोकसंग्रह है। साथ ही 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' के अनुसार पदे पदे पतन का भय है। ऐसा यह दुःसाध्य ज्ञानयोग केवल वैय्यक्तिक निःश्रेयसमात्र का (अभ्युदय का नहीं) ही अनुगामी बन रहा है। इन्हीं कुछ एक कारणों से इसे कर्म्मयोग की अपेक्षा भी निम्न श्रेणि का माना गया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, सर्वकर्म्मपरिग्रहलक्षण, कामत्यागलक्षण, धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग, तथा लोकसंग्राहक कर्म्मत्यागलक्षण आध्यात्मिक कर्म्मपरिग्रहलक्षण, कामत्यागलक्षण, इन्द्रियनिग्रहानुगत, ज्ञानबुद्धियोगलक्षण,दोनों ही योग निःश्रेयसभाव (मुक्ति) के प्रवर्त्तक हैं। तथापि दोनों की तुलना में कर्म्मयोग ही श्रेष्ठ माना जायगा। क्योंकि इसमें परागति की दृष्टि से जहाँ समानता है, वहाँ लोकदृष्टि से विशेषता है। अव्यक्तप्रधान ज्ञानयोग की इसी जटिलता का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा है–

१–ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
२–संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

३–क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।। (गी०१२।३,४,५,)।

भगवान् ने 'राजर्षिविद्या' में दोनों की तुलना करते हुए, दोनों को समानोदर्क मानते हुए अन्त में कर्म्मयोग का ही वैशिष्ट्य बतलाया है, जैसा कि निम्न लिखित प्रश्नोत्तर–सन्दर्भ से प्रमाणित है–

अर्जुन उवाच–

संन्यासं कर्म्मणां कृष्ण ! पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ?।। १ ।।

भगवानुवाच–

संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ।।२।।
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।३।।
सांख्ययोगौ पृथग्–बालाः प्रवदन्ति, न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।४।।
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५।।
× × × × × × ×
संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
× × × × × × ×
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।६।।
× × × × × × ×
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।७।।
× × × × × (गी०५।२–७) ।

सांसारिक कर्म्मपरित्यागलक्षण, किन्तु आवश्यकतम, अतएव अत्याज्य शारीरिककर्म्म, तथा आत्म–ज्ञानोदयोपयिक आध्यात्मिक कर्म्मपरिग्रहलक्षण यही ज्ञानयोग हमारा संशोधित ज्ञानबुद्धियोग है, जिसमें कर्म्म का भी अवश्यमेव सम्बन्ध है । ऐसा ज्ञानयोग अवश्यमेव ज्ञानकर्म्मोभय आत्मा की प्राप्ति का एक उपाय माना जा सकता है । परन्तु असम्भावित कर्म्मविमोक्लक्षण ज्ञानयोग तो एकमात्र नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का ही काल्पनिक प्रसून है । निम्न लिखित वचन उक्तलक्षण संशोधित ज्ञान–(बुद्धि)–योग का ही समर्थन कर रहे हैं–

ज्ञानबुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग के समर्थक वचन—

१—"यस्तु सर्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥"(ई०उ०६,७,)।

२—"प्रतिबोधविदितं मतममृतत्त्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्य्यं विद्यया (ज्ञानेना) ऽमृतमश्नुते ॥
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदिन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥"
(केनोप०२।१२,१३,) ।

३—"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥
(कठ०१।२।१२।)।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् (१।१।१६)।
अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥"
(कठ०१।२।२०।)

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥
(कठ१।३।१४।)।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ॥ (२।१।१)।
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥"(कठ०२।४।१५)।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्त्वं च गच्छति ॥(कठ०२।६।८।)

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।।" (कठ०२।६।६।)।

४–"विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ।। (प्र०४।११)
अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति" (प्र०६।६)।

५–"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रम् ।
तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्व्वगतं सुसूक्ष्मम् ।
तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।। (मुण्डक०१।१।६।)।
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा—
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व –
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मु०३।१।८)

६–"अमात्रश्चतुर्थोऽव्यहार्यः प्रपञ्चोपशमः—
शिवोऽद्वैतः, एवमोङ्कार आत्मैव ।
संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद" (माण्डूक्य०१२।)

७–"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।। (तै०उ०२।८।)
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने–
ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति" (तै०२।७।)

८–" स वा एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन्–
आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः, स स्वराड्
भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छां०उ०२।२५।२)

९–"यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् सन्देह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत् स हि सर्व्वरूप कर्त्ता तस्य लोकः स तु लोकः एव ।।
(बृ०उ०४।४।१३)

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।" (बृ०इ०४।४।१५)।

इत्युपनिषदां ज्ञानयोगशिक्षा (ज्ञानबुद्धियोगशिक्षा-तृतीया)

—३—

—※—

८–उपनिषदों की सिद्धान्तयोगशिक्षा—

३–उपनिषदों का सिद्धान्तयोग (वैराग्यबुद्धियोग)

वैराग्य-बुद्धियोगलक्षण बुद्धियोग ही उपनिषदों का मुख्य दृष्टिकोण है। बुद्धिगत राग-द्वेषात्मिका आसक्ति ही एकमात्र बन्धन का कारण है। अस्मितामूलक अनैश्वर्य, अज्ञानमूलक मोह, अभिनिवेशमूलक अधर्म, पूर्वप्रतिपादित इन तीनों दोषों की प्रवृत्ति का मूल भी वस्तुतः आसक्ति ही है। इसी को हमनें 'फलकामासक्ति' नाम से व्यवहृत किया है। स्व-स्व वर्ण से सम्बद्ध स्व-स्व नियत धर्म्म का (कर्म्म का) आसक्ति छोड़ते हुए यावज्जीवन अनुगमन करना ही वैराग्यबुद्धियोग है। अनासक्तिभाव से कर्म्मजनित संस्कार के साथ भोक्तात्मा का ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध नहीं होने पाता, जैसा कि–'**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते**' (गी०२।५०) इत्यादि वचन से स्पष्ट है।

वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टि कर्म्मात्मा है, यही जीवात्मा है। इन्द्रियवर्ग भोगसाधन है, सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता, अतएव 'सर्वेन्द्रिय' नाम से प्रसिद्ध प्रज्ञानमन भोगप्रवृत्ति का अनन्य प्रवर्त्तक है। '**विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः**' के अनुसार यह प्रज्ञानात्मा (मन) विज्ञानात्मा (बुद्धि) से नित्य युक्त रहता है। इसप्रकार बुद्धियुक्त मन इन्द्रियों के द्वारा कर्म्मात्मा को भोग में प्रवृत्त करता है। इसी भोग सम्बन्ध से कर्म्मात्मा 'भोक्तात्मा' नाम से प्रसिद्ध है।

"**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः**"(कठ०१।३।४।)

के अनुसार आत्मा (वै०तै०प्रा० लक्षण कर्म्मात्मा), इन्द्रियवर्ग, मन, तीनों की समष्टि भोक्ता है। भौतिक विषय भूतमात्रा है, इन्द्रियकर्म्म प्राणमात्रा है, मानसवृत्ति प्रज्ञामात्रा है। प्रज्ञा, प्राण, भूत, तीनों मात्राओं के समन्वय से ही भोग की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है, जिसका प्रधान आलम्बन प्रज्ञानमन है। प्रज्ञानमन का स्वरूप अन्न पर निर्भर है। '**अन्नमयं हि सोम्य मनः**' (छां०उप०) के अनुसार अन्न ही शुक्रादि धातु रूपों में परिणत होता हुआ अपनी सुसूक्ष्म सोमावस्था में आता हुआ 'मन' कहलाया है। चान्द्रसोम भूतभाग है, बुद्धि से प्राप्त चिदंश प्रज्ञाभाग है, क्रियातत्त्व प्राणभाग है। इसप्रकार स्वयं प्रज्ञान मन में 'प्रज्ञा-प्राण-भूत' तीनों मात्राओं का समावेश है, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रज्ञानात्मवर्णनपरा केनोपनिषत् में द्रष्टव्य है।

प्रज्ञानमन का भूतभाग सोम स्नेहगुणक है। इसीके अनुग्रह से भोगजनित संस्कार के साथ कर्म्मात्मा का बन्धन सम्बन्ध हो जाता है। यही बन्धन पतन का मूल कारण है। अब यदि कोई ऐसा उपाय निकल

आवे, जिससे भोगमर्य्यादा भी सुरक्षित रहे, साथ ही भोग से उत्पन्न संस्कार का आत्मा के साथ ग्रन्थिबन्धन भी न हो,तो कर्म्म कदापि बन्धन का कारण नहीं बन सकता। वह उपाय है एकमात्र मन के स्नेहधर्म्म को शिथिल बना देना। एवं ऐसा तभी सम्भव है, जब कि मन बुद्धि का अनुगामी बनता हुआ ही कर्म्मप्रवृत्ति का कारण बने। यद्यपि बिना बुद्धियोग के मन कथमपि विषयप्रवृत्ति का कारण नहीं बना करता। और ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि, बुद्धियोग-सम्पत्ति स्वतः सिद्ध है। तथापि गौण-मुख्यभाव के तारतम्य से इस बुद्धियोग के ही दो विवर्त्त हो जाते है।

चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है। हमारा शरीर भी पार्थिव (भौम) है, एवं शरीररथ में प्रतिष्ठित रथी (कर्म्मात्मा) भी पार्थिव है। इस सजातीय सम्बन्ध से मन का पार्थिव भोगों के साथ स्वाभाविक आकर्षण बना रहता है। दूसरे शब्दों में मन का स्नेहबल अधिक प्रबल है। एवं विदूरस्थित सूर्य्य से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि का बल मनोबल की तुलना में निर्बल बना रहता है। ऐसी प्राकृत बुद्धि मन की अनुगामिनी बनी रहती है। बुद्धि का अपना प्रातिस्विक असङ्ग-धर्म्म मन के प्रातिस्विक ससङ्ग-धर्म्म से अभिभूत रहता है। यही अविज्ञानवान् मन है, बुद्धिविरहित मन है। इसप्रकार बुद्धि को अपने अधिकार में रखने वाला मन अवश्य-मेव आसक्ति का प्रवर्त्तक बना रहता है। इस आसक्ति-मुक्ति के लिए मन का बुद्धि के अधिकार में जाना आवश्यक है।यह तभी सम्भव है,जब कि बुद्धिगत रागद्वेष को वैराग्य नामक विद्याभाग के द्वारा हटा दिया जाय। वैराग्यसम्पत्ति से बुद्धिगत रागद्वेष पलायित हो जाता है। रागानुगत सुकृत, द्वेषानुगत दुष्कृत, दोनों हट जाते हैं। बुद्धि बलवती बन जाती है। बलवती बुद्धि मन पर अपना अधिकार कर लेती है। बुद्धि के स्वाभा-विक असङ्ग धर्म्म से मन का स्वाभाविक ससङ्ग धर्म्म अभिभूत हो जाता है। ऐसा विज्ञानवान्-मन बुद्धियुक्त मन है। एवं ऐसा मन सतत कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ भी आसक्ति-बन्धन से पृथक् है।

प्राकृतिक इच्छा ईश्वरेच्छा है, कृत्रिम इच्छा जीवेच्छा है। जीवेच्छा का मन से सम्बन्ध है, ईश्वरेच्छा का बुद्धि से सम्बन्ध है। बुद्ध्यनुगता ईश्वरेच्छा से सम्बद्ध कर्म्म यज्ञार्थकर्म्म हैं। इनका जीवस्वार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु ऐसे कर्म्म सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति विश्वेश्वर के विश्वस्वरूप के अनुगामी बनते हुए अबन्धन हैं, जैसा कि-**'यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः'** (गी० ३।९।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। यज्ञार्थकर्म्म आत्मकर्म्म है, यही स्वकर्म्म है, यही स्वधर्म्म है, जिसका अनुगमन कभी बन्धन का कारण नहीं बन सकता। बुद्धियोगमूलक इसी स्वधर्म्म का विश्लेषण करते हुए भगवान् ने कहा है-

१—कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्म्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि॥

२—योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

३—दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय!
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

४—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥
५—कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(गी०२।४७-५१)

सम्भवतः पाठक उस पहेली का समाधान न कर सके होंगे, जो कर्मयोग, तथा बुद्धियोग के पार्थक्य से सम्बन्ध रखती है। निष्कामबुद्ध्या स्वधर्म्मानुगमन करना ही कर्मयोग है, एवं यही लक्षण बुद्धियोग का हुआ है। दोनों के स्वरूप में क्या अन्तर ?। ईश्वर-जीवेच्छा के पार्थक्य से यद्यपि इस प्रश्न का समाधान हो जाता है, तथापि स्पष्टीकरण के लिए दो शब्दों में प्रश्न का विश्लेषण और हो जाना चाहिए। पूर्व परिच्छेदों में जिन कर्म्म-भक्ति-ज्ञानयोगों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनका जीवसंस्था से सम्बन्ध है। एवं प्रकान्त बैराग्यबुद्धियोग का ईश्वरसंस्था से सम्बन्ध है।

आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, भेद से सत्य आत्मा को 'अमृतसत्य, ब्रह्मसत्य, देवसत्य' भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। अमृतसत्य त्रिसंस्थ है, ब्रह्मसत्य पञ्चसंस्थ है, देवसत्य त्रिसंस्थ है। अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर की समष्टि अमृतसत्यात्मा है। अव्यक्त-महान्-बुद्धि-मन-भूत-की समष्टि ब्रह्मसत्यात्मा है। एवं वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टि देवसत्यात्मा है। देवसत्यात्मा जीवात्मा है, ब्रह्मसत्यात्मा इसका आधार है, सर्वाधार अमृतसत्यात्मा है। देवसत्यात्मा-लक्षण जीवात्मा का वैश्वानर भाग अर्थप्रधान है, एवं धर्म्मबुद्धियोगलक्षण निष्कामकर्म्मयोग का इसी से सम्बन्ध है। तैजस भाग क्रियाप्रधान है, एवं ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण निष्कामभक्तियोग का इसी से सम्बन्ध है। प्राज्ञभाग ज्ञानप्रधान है, एवं ज्ञानबुद्धियोग-लक्षण ज्ञानयोग का इसी से सम्बन्ध है। इसप्रकार संशोधिता योगत्रयी का जीवात्मा के तीनों पर्वों से सम्बन्ध हो रहा है। इन तीनों योगों में समता का अभाव है। ज्ञान-कर्म्म की समता-समतुलन-ही समत्वयोग है। कर्मयोग में अर्थलक्षण कर्म्म का प्राधान्य है, भक्तियोग में क्रियालक्षणा भक्ति का प्राधान्य है, ज्ञानयोग में ज्ञान का प्राधान्य है। इसी गौण-प्राधान्यभाव से तीनों योग **'समत्वं योग उच्यते-योगः कर्म्मसु कौशलम्'** परिभाषायुक्ता समत्वसम्पत्ति से वञ्चित रहते हुए अपूर्ण योग हैं।

उधर ब्रह्मसत्य से सम्बन्ध रखने वाला वैराग्यलक्षण बुद्धियोग ज्ञानकर्म्म की समता से सम्बन्ध रखता हुआ समत्त्वभाव का प्रवर्त्तक बनता हुआ पूर्णयोग बन रहा है, यही ईश्वरीय योग है। समता का सम्बन्ध हृदय से है। एवं विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य से उत्पन्न बुद्धि हृदयभाव से युक्त है। तद्युक्त बुद्धियोग इसी प्रातिस्विक हृदयभाव से समत्त्व का प्रवर्त्तक बन रहा है। यही आत्मसमाधि है, यही स्थितप्रज्ञता है, यही जीवात्मा की कृतकृत्यता है, पूर्णता है, एवं यही उपनिषदों की सिद्धान्तयोगशिक्षा है, जिसका बुद्धियोग-शास्त्र (गीता) में विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

उपनिषदों में सुसूक्ष्म भाषा में उपवर्णित इसी बुद्धियोग का विस्तार से प्रतिपादन करने के कारण गीताशास्त्र 'उपनिषत्' (भगवद्गीतासूपनिषत्सु) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। गीताशास्त्र में उपनिषदों के

संशोधित उक्त तीनों योगों के संग्रह के साथ साथ बुद्धियोग का ही प्रधानरूप से विश्लेषण हुआ है । चारों योगों की प्राप्ति का उपाय बतलाने वाला साधन ही गीता में 'विद्या' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । कर्म्मयोग का रहस्य विश्लेषण करने वाली विद्या **'आर्षविद्या'** है, भक्तियोग का स्पष्टीकरण करने वाली विद्या **'राजविद्या'** है, ज्ञानयोग का प्रतिपादन करने वाली विद्या **'सिद्धविद्या'** है, एवं बुद्धियोग का प्रतिपादन करने वाली विद्या **'राजर्षिविद्या'** है । आर्षविद्यानुगत कर्म्मयोग, राजविद्यानुगत भक्तियोग, सिद्धविद्यानुगत ज्ञानयोग, राजर्षिविद्यानुगत बुद्धियोग, इन चारों के स्वरूप के सम्बन्ध में यहाँ जो कुछ कहा गया है, सर्वथा अपर्य्याप्त है । इसके लिए हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि, वे गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोग-परीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा, बुद्धियोगपरीक्षा, नामक स्वतन्त्र खण्डों का अवलोकन करें, जो क्रमशः ७००—३००—१०००—६०० पृष्ठों में सम्पन्न हुए हैं । अब कुछ एक बुद्धियोगसमर्थकवचन उद्धृत कर परिच्छेद समाप्त किया जाता है ।

वैराग्यबुद्धियोगलक्षण बुद्धियोग के समर्थक वचन—

१—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ (ई० उ० १) ।
विद्यां-चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (ई० उ० ११) ।
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥" (ई० उ० १४) ।

२—"सा ब्रह्मेति होवाच । ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ।
ततो हैव विदाञ्चकार-ब्रह्मेति" (केनोप० ४।१) ।

३—"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥१॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥२॥
× × × × × × × × × ×
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥३॥
\+ + + + + × × × + ×
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥४॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" ॥५॥

(कठोप० १।२।१,२,६,८,६)

४–"एष हि द्रष्टा, स्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, योद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षरे–आत्मनि सम्प्रतिष्ठते । परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते–स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वो भवति । तदेष श्लोकः—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश" ।

(प्रश्नोप० ४।१०,११,)

५–"मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥

(मुण्डक० २।२।७।)

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् * पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ "

(मुण्डक० ३।१।३।)

६–"एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्य्यामी, एष योनिः—
सर्वस्य, प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्" (माण्डूक्यो० ६।)

७–"स एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः । अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते–सेन्द्रयोनिः-यत्रासौ केशान्तो विवर्त्तते–व्यपोह्य शीर्षकपाले । XXX । विज्ञान-पतिः । एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्मप्राणारामं मन आनन्दम् । शान्ति–समृद्ध–ममृतम्" (तै० उ० १।६।१,२,)

८–"स एतमेव सीमानं विदार्य्य–एतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विद्दतिर्नाम-द्वाः, तदेतन्नान्दनं, तस्य त्रय–आवसथाः, त्रयः स्वप्नाः । स

* 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत–दुष्कृते" (गीता०) ।

जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्-किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्-इदमदर्शमिति । तस्मादिदन्द्रो नाम । इदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तं-'इन्द्र' (विज्ञानात्मा-बुद्धिः) इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः"

(ऐ० उ० ३।१२।१३,१४,) ।

९-"अथ य आत्मा-स सेतुः । विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय । नैतं सेतुमहोरात्रे तरतः, न जरा, न मृत्युः, न शोकः, न सुकृतं, न दुष्कृतम् । सर्वे पाप्मानोऽतो विवर्तन्ते, अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः" (छा० उ० ८।४।१।) ।

१०-"स वा एष महानज आत्मा, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः । स न साधुना कर्म्मणा भूयान्, नो एवासाधुना कनीयान् । एष सर्वेश्वरः, एष भूताधिपतिः, एष भूतपालः, एष सेतुः, विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय । तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकनेन । एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति" (बृ० आ० उ० ४।४।२२।)

इत्युपनिषदां बुद्धियोगशिक्षा (वैराग्यबुद्धियोगशिक्षा-चतुर्थी)

—४—

६-उपनिषदों की व्यावहारिक शिक्षा—

"उपनिषत् एकमात्र अखण्ड-ब्रह्म को लक्ष्य बनाते हुए, जगन्मिथ्यावाद का समर्थन करते हुए सर्वकर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण ज्ञानयोग की शिक्षा दे रहे हैं"—व्याख्याताओं की कल्पना से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदों की यह शिक्षा जहाँ व्यावहारिक जगत् से सर्वथा बहिष्कृत है, वहाँ प्रत्नदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली शिक्षाएँ परमार्थसाधन के साथ साथ व्यावहारिकता का भी समर्थन कर रहीं हैं। प्रकृत परिच्छेद में दो शब्दों में हमें उसी व्यावहारिक ज्ञानशिक्षा का दिग्दर्शन कराना है।

"आर्षसाहित्य (वैदिक साहित्य) का हमारे दैनिक व्यावहारिक जीवन में क्या उपयोग"? इस प्रश्न का महत्त्व उस समय और भी अधिक बढ़ जाता है, जबकि-क्षणिक विज्ञान को अपने मूल में रखने वाली वर्त्तमान शिक्षा के संसर्ग में आए हुए भारतीय व्याख्याताओं के व्यामोहन-अनुग्रह से अपने आर्षसाहित्य को

एकमात्र परलोक का साधन मानते हुए इसे सर्वथा उपेक्षणीय मान बैठते हैं। उनकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए यह आवश्यक है कि, उपनिषदों के आधार पर उनके सम्मुख कुछ एक ऐसे सिद्धान्त रक्खे जायँ, जिनके आधार पर उन्हें यह मान लेने के लिए विवश हो जाना पड़े कि, आर्षसाहित्य का महत्त्वपूर्ण यह अङ्ग (उपनिषच्छास्त्र) केवल जरा–जीर्ण–शीर्ण वृद्धावस्था में पारायण की ही वस्तु नहीं है, अपितु अपने कर्म्म-प्रधान गार्हस्थ्य जीवन में भी इस शास्त्र से पर्य्याप्त लाभ उठाया जा सकता है।

'किं कर्म्म, किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' इस गीता सिद्धान्त के अनुसार बड़े बड़े विचारशीलों के सम्मुख भी कर्म्ममार्ग के सम्बन्ध में कभी कभी ऐसी अड़चनें उपस्थित हो जातीं हैं, जिनसे थोड़ी देर के लिए वे व्यामोह में पड़ जाते हैं, कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक जाता रहता है, किं कर्त्तव्यं, किं न कर्त्तव्यं की जटिलसमस्या उनकी गति का अवरोध कर डालती है। विशेषतः कर्म्ममार्ग की यह कठिनाई उनके लिए तो और भी जटिल समस्या धारण कर लेती है, जो परमार्थ की उपेक्षा कर केवल वैय्यक्तिक स्वार्थ के ही अनुगामी बने हुए हैं। विशुद्ध स्वार्थपथ का अनुगमन करने वाले व्यक्ति उपस्थित होनें वालीं कठिनाइयों से सदा क्लान्त बने रहते हैं। बाह्यदृष्टि से यद्यपि उनका जीवन सुखपूर्ण प्रतीत होता है, परन्तु स्वयं उनके अन्तरात्मा से यदि शपथ–पुरस्सर पूछा जाता है, तो उन्हें यही उत्तर देना पड़ता है कि, हमारा अन्तर्जगत् सर्वथा अशान्त है।

स्वार्थ के अतिरिक्त कुछ एक प्राकृतिक आक्रमण भी ऐसे है, जिनको सहने में असमर्थ निर्बल मानवहृदय कम्पित हो जाता है। अपने पारिवारिक जीवन में, गार्हस्थ्य जीवन में, सामाजिक जीवन में–जिन्हें हम व्यावहारिक जीवन के अन्तर्गत मान सकते हैं–आध्यात्मिक–आधिभौतिक–आधिदैविक आक्रमणों का होना दुर्निवार है। इन तीनों आक्रमणों में से पहिले आध्यात्मिक आक्रमण की ही मीमांसा कीजिए। हमारी अध्यात्मसंस्था कारण–सूक्ष्म–स्थूल भेद से त्रिसंस्थ है। प्रज्ञामात्राप्रधान कारणसंस्था **'आत्मा'** है, प्राणमात्राप्रधान सूक्ष्मसंस्था **'मन'** है, एवं भूतमात्राप्रधान स्थूलसंस्था **'शरीर'** है। **'आत्मा सत्वं–शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्'** न्याय से वात-पित्त-कफ-वत् तीनों त्रिदण्डवत् अन्योऽन्याश्रित हैं। हमारी स्थूल दृष्टि स्वीकार करे, अथवा न करे, परन्तु यह सिद्ध विषय है कि, तीनों में से किसी एक के कुपित हो जाने पर शेष दोनों संस्थाएँ अवश्यमेव क्लान्त हो जातीं हैं। हमारा शरीर पूर्ण स्वस्थ है, मन को अशान्त करने वाला भी कोई कारण नहीं हैं। मनोयुक्त इन्द्रियों के, तथा शरीर के सभी सुख–साधन प्रस्तुत हैं। परन्तु फिर भी शान्ति नहीं। क्यों ?, आत्मस्थिरता का अभाव। आत्मा पर आक्रमण करने वाले अविद्यादोष के संसर्ग से आत्मानन्द अभिभूत हो रहा है। परिणाम में आत्मा से नित्य सम्बद्ध मन, शरीर दोनों अशान्त बन रहे हैं। इसी प्रकार मन की अशान्ति में आत्मसंस्था भी अशान्त है, शरीर भी कुपित है। एवमेव रोगादि के विशेष आक्रमण पर शरीर के साथ साथ मन, तथा आत्मा, दोनों कुपित है। तात्पर्य्य–तीनों की स्वस्थता में ही **'अध्यात्मसंस्था'** की स्वस्थता है।

वात–पित्त–कफ नामक प्राणात्मक (अतएव इन्द्रियातीत) तीनों धातुओं की विषमता से सम्बन्ध रखने वाले प्रज्ञापराधजनित रोग (व्याधियाँ) भूतमात्राप्रधान स्थूलशरीर पर आक्रमण करते हैं, जिनके

मूल में प्रज्ञासहयोगी राग-द्वेष प्रतिष्ठित हैं *। काम-क्रोध-मद-मात्सर्य्यादि ६ धातु अति-हीन-मिथ्या-अयोगा-त्मक योगदशाओं में कुपित बनते हुए प्राणमात्राप्रधान सूक्ष्मशरीर (मन) पर आक्रमण करते हैं, जिनकी मूलप्रतिष्ठा भी राग-द्वेष ही मानें गए हैं। अविद्या, अस्मिता, आसक्ति, अभिनिवेश, नाम की चार अविद्याएँ बुद्धिद्वारा प्रज्ञामात्राप्रधान कारणशरीर (आत्मा) पर आक्रमण करतीं हैं। अविद्याचतुष्टयी से आत्मसंस्था, कामादि षड्रिपुवर्ग से मनःसंस्था, वातादि धातुवैषम्य से शरीरसंस्था कुपित बनी रहती है। तीनों के मूल में राग-द्वेष प्रतिष्ठित हैं। राग-द्वेष मानसवृत्तिस्थानीय बनते हुए आध्यात्मिक दोष हैं। अतएव इस त्रिविध आक्रमण को **'आध्यात्मिक आक्रमण'** ही कहा जायगा। निश्चयेन इस आक्रमण की मूल-प्रतिष्ठा राग-द्वेषयुक्त प्रज्ञापराध ही माना जायगा। अज्ञान ही प्रज्ञापराध का प्रवर्त्तक है। अज्ञानता ही इस आक्रमण की मूलोपनिषत् है। ये आक्रमण जीवात्मा की स्वार्जित सम्पत्ति है।

दूसरा विभाग आधिभौतिक आक्रमण का है। हमारी अध्यात्मसंस्था सर्वथा निरापद है। परन्तु राग-द्वेषमय जगत् के गर्भ में रहते हुए हम अन्य व्यक्तियों के संसर्ग से भी अपने आपको नहीं बचा सकते। कोई ईर्ष्यावश हमारी सम्पत्ति पर आक्रमण करता है, कोई वाक्प्रहार करता है, कोई शस्त्रादि से आघात करता है। निष्कारण ही ईर्ष्यालु मनुष्य हमें परोक्ष-प्रत्यक्ष में उत्पीड़ित किया करते हैं। मनुष्यों के अतिरिक्त हिंसक जन्तुओं के आक्रमण का भी भय बना रहता है। नगर में स्वच्छता न रहने से दंश-मशकादि की वृद्धि होती है, रोग फैल जाता है। ये सब आधिभौतिक आक्रमण हैं।

तीसरा विभाग आधिदैविक आक्रमण का है। समय पर वृष्टि नहीं हुई, अतिवृष्टि हुई, अनावृष्टि रही, भूकम्प हुआ, ज्वालामुखी फट पड़ा, विद्युत्पात हो गया, तूफान से धन-जन की अपार हानि हो गई, ये सब आधिदैविक आक्रमण हैं। प्रकृति में वैषम्य आजाने से ही इन आक्रमणों का जन्म होता है, अतएव इन्हें हम प्राकृतिक आक्रमण कहा करते हैं। आधिभौतिक, तथा आधिदैविक आक्रमणों में हमारा प्रज्ञापराध निमित्त नहीं है। अपितु आधिभौतिक आक्रमण का निमित्त लोकसत्तातन्त्र है, एवं आधिदैविक आक्रमण का निमित्त प्रकृति का क्षोभ है,जिस प्राकृतिक क्षोभ का निमित्त परम्परया प्रकृतिविरुद्ध आचरण करने वाले मनुष्यों का अधर्म्मानुगमन ही माना गया है।

त्रिविध आध्यात्मिक आक्रमणों से, तथा प्राकृतिक आधिदैविक आक्रमणों से बचाने वाला देश का ब्राह्मणवर्ग है। एवं आधिभौतिक आक्रमण की रक्षा शासक क्षत्रवीर्य्य पर अवलम्बित है, जैसा कि गीता-विज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-कर्म्मयोगपरीक्षा के **'वर्णव्यवस्थाविज्ञान'** नामक प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। समर्थ क्षत्रियराजा का राजदण्ड ही आततायियों के आधिभौतिक आक्रमण से समाज की रक्षा करेगा। एवं वेद-रहस्यवित्-कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-बुद्धियोगपरायण ब्राह्मण ही त्रिविध आध्यात्मिक आक्रमण से, तथा प्राकृतिक आधिदैविक आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करेगा।

---

* **रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान्।**
औत्सुक्यमोहारतिदान् जघान यो पूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥
--अष्टाङ्गहृदय।

आध्यात्मिक स्थूलशरीर (शरीर) की चिकित्सा चरकसुश्रुतादि भेदभिन्न आयुर्वेदशास्त्र करेगा, सूक्ष्मशरीर (*सत्त्व–मन) की चिकित्सा मनुस्मृति–याज्ञवल्क्यस्मृति–गृह्यसूत्रादि भेदभिन्न धर्म्मशास्त्र करेगा, एवं कारणशरीर (आत्मा) की चिकित्सा वेदान्त–सांख्य–वैशेषिकादि भेदभिन्न दर्शनशास्त्र करेगा। आधिदैविक आक्रमण का निराकरण यज्ञकर्म्म प्रतिपादक ब्राह्मणभाग से होगा। प्राकृतिक नित्य यज्ञों की विषमता ही आधिदैविक कोप का मुख्य कारण है। इसके लिए नित्य यज्ञों के आधार पर वितत पुरुषप्रयत्नसाध्य वैधयज्ञों का ही आश्रय लेना पड़ेगा, जिनका निरूपक वेदभाग 'विधि' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे कि सामान्य दृष्टि से ब्राह्मण भी कहा जाता है।

जो तत्त्व अधिदैवत में हैं, वे ही तत्त्व अध्यात्म में हैं। हमारे प्रज्ञापराध से आध्यात्मिक तत्त्व, जिन्हें वैदिक परिभाषा में 'प्राण'–'देवता' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है, निर्बल बन जाते हैं। तत्त्वों की निर्बलता से हमारी आध्यात्मिक संस्था उक्त त्रिविध आक्रमणों को सहने में असमर्थ बनती हुई क्लान्त हो जाती है। इस क्लान्ति-निवृत्ति का एक यह भी उपाय है कि, हम अपने आध्यात्मिक तत्त्वों का आधिदैविक तत्त्वों के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध कराते हुए उनकी घन–शक्ति के स्रोत को अपनी अल्पशक्तियों में प्रवाहित कर इन्हें सबल बनादें। यही तत्त्वोपासना वैज्ञानिक भक्तियोग है, जिसका प्रधानरूप से वेद के आरण्यक भाग में विश्लेषण हुआ है।

आयुर्वेदसिद्ध शरीरचिकित्सा, धर्म्मशास्त्रसिद्ध मानसचिकित्सा, दर्शनशास्त्रसिद्ध आत्मचिकित्सा, ब्राह्मणभागसिद्ध यज्ञात्मकर्म्मयोग, आरण्यकभागसिद्ध तत्त्वात्मक भक्तियोग, इन सब शान्ति उपायों का जब तक हमें मौलिक रहस्य ज्ञात नहीं हो जाता, तब तक इन उपायों पर पूर्ण श्रद्धान नहीं होता। एवं कार्य्यकारण-रहस्यज्ञानाभाव में सुरक्षित अश्रद्धान पूर्ण सफलता का कारण नहीं बनता। इसी मौलिक रहस्य का उपनिषद् भाग में विश्लेषण हुआ है, जैसाकि इसके नाम निर्वचन से ही स्पष्ट है—(देखिए उ० भू० १ खं० उपनिषच्छब्दार्थनिर्वचनप्रकरण)। आत्मचिकित्सालक्षण ज्ञानयोग, कर्म्मयोग, भक्तियोग, तीनों के समर्थक वचन पूर्वपरिच्छेदों में उद्धृत किए जा चुके हैं। अब केवल शरीरचिकित्सा, मानसचिकित्सा, ये दो क्षेत्र बच जाते हैं। इनकी उपनिषदें (मौलिक रहस्य) भी उपनिषदों में यत्र तत्र स्पष्टरूप से उपलब्ध हो रहीं हैं। पहिले कुछ एक निदर्शन–शरीरोपनिषत् के ही लीजिए—

१–"ब्रह्मविदाप्नोति परमं पदम्। तदेषाभ्युक्ता—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति।

---

* रजस्तमोभ्यां तु मनः परीतं सत्त्वसंज्ञकम्।
शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणां च कारणम्॥ (चरकसं० सू० २४।११।)

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्‌भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (चिकित्सापुरुषः–चिकित्स्यः *)— (तै० उ० २।१।) ।

२–" × इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ " (कठोप० १।३।४।) ।

३–"÷पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यद्रेतः । तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्त्ति । तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति, अथैनज्जनयति, तदस्य प्रथमं जन्म । तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति, यथा स्वमङ्गं तथा । तस्मादेनां न हिनस्ति । साऽस्यै तमात्मानमत्र गतं भावयति । सा भावयित्री भावयितव्या भवति, तं स्त्री गर्भं बिभर्त्ति, सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति । स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति, आत्मानमेव तद् भावयति–एषां लोकानां सन्तत्या । एवं सन्तता हीमे लोकाः । तदस्य

---

*–"यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति, स एष–कर्म्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः" (सु० शा० अ० १) ।

"पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव च षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते" (चरक० शा० ५ अ० ३।) ।

×–"आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां योऽयं 'पुरुष' संज्ञकः ।
राशिरस्यामयानां च प्रागुत्पत्तिविनिश्चये ॥ " (चरक० सू० २५।४।) ।

÷–"पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्गः–ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथैव युक्ते च संसर्गे शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽतिक्रामति सत्त्वसंप्रयोगात्, तदा गर्भोऽभिनिर्वर्त्तते । स सात्म्यरसोपयोगादरोगोऽभिसंवर्द्धते सम्यगुपचारैश्चोपचर्य्यमाणः । ततः प्राप्तकालः सर्वेन्द्रियोपपन्नः परिपूर्णसर्वशरीरो बलवर्णसत्त्वसंहननसम्पदुपेतः सुखेन जायते समुदायादेषां भावानाम्" (चरक० शा० ३.३।) ।

द्वितीयं जन्म । × × × । स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते, तदस्य तृतीयं जन्म" (ऐ० उ० ४।१,२,३,४,)।

४–"अथातो रेतसः सृष्टिः। प्रजापते रेतो वर्षं, वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतो अन्नं, अन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः, प्रजानां रेतो हृदयं, हृदयस्य रेतो मनः, मनसो रेतः कर्म्म। तदिदं कर्म्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः। स इरामयः। यद्धि–इरामयः, तस्माद्धिरण्मयः" (ऐ० उ० १।३।)।

५–"पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्त्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम्।
तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरम्॥
भवति पञ्चात्मकमिति कस्मात्?–पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति। तत्र यत् कठिनं (मूर्त्तिः)–सा पृथिवी, यद्द्रवं–ता आपः, यदुष्णं–तत्तेजः, यत् सञ्चरति (प्राणः)–स वायुः, यत् सुषिरं–तदाकाशमित्युच्यते। तत्र पृथिवी धारणे, आपः पिण्डकरणे, तेजः प्रकाशने, वायुर्व्यूहने, आकाशमवकाशप्रदाने *। ××××××××।"

६—"परस्परं सौम्यगुणत्वात् षड्विधो रसः। रसाच्छोणितं, शोणितान्मांसं, मांसात् मेदः, मेदसः स्नायवः, स्नायुभ्योऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जातः शुक्रम्। शुक्रशोणितसंयोगादावर्त्तते गर्भो हृदि व्यवस्थां नयति। हृदयेऽन्तराग्निः, अग्निस्थाने पित्तं, पित्तस्थाने वायुः, वायुतो हृदयं प्राजापत्यात् क्रमात्"।

७—"ऋतुकाले सम्प्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, अर्द्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति, मासद्वयेन शिरः सम्पद्यते, मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति। अथ चतुर्थे मासे गुल्फ–जठर–कटिप्रदेशा भवन्ति। पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति। षष्ठे मासे मुख–नासिका–चि–श्रोत्राणि भवन्ति। सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति"।

* "तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्त्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसन्तापः, वायुः प्राणः, वियच्छुषिराणि" (चरक० शा० ५।४।)।

८—"पितृ × रेतोऽतिरेकात् पुरुषः, मातृरेतोऽतिरेकात् स्त्री, उभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति। व्याकुलितमनसोऽन्धाः, खञ्जाः, कुब्जा, वामना भवन्ति। अन्योऽन्यवायुपरिपीडित–शुक्रद्वैविध्यात्तनु स्यात्ततो युग्माः प्रजायन्ते।"

९—"पञ्चात्मकः समर्थः पञ्चात्मिका चेतसा बुद्धिर्गन्धरसादिज्ञानाक्षराक्षरमोङ्कारं चिन्तयतीति तदेतदेकाक्षरं ज्ञात्वा–अष्टौ प्रकृतयः षोडशविकाराः शरीरे तस्यैव देहिनः"।

१०—"अथ मात्राशितपीतनाड़ीसूत्रगतेन प्राण आप्यायते। अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति, पूर्वजातिं स्मरति, शुभाशुभं च कर्म्म विन्दति"।

११—"शरीरमिति कस्मात्?-अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते-ज्ञानाग्निः, दर्शनाग्निः, कोष्ठाग्निःइति। तत्र कोष्ठाग्निर्नाम–अशितपीतलेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म्म विन्दति। त्रीणि स्थानानि भवन्ति–मुखे–आवहवनीयः, उदरे गार्हपत्यः, हृदि दक्षिणाग्निः। आत्मा यजमानः, मनो ब्रह्मा, लोभादयः पशवः, धृतिर्दीक्षा, सन्तोषश्च बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, हवींषि कर्म्मेन्द्रियाणि, शिरः कपालं, केशा दर्भाः, मुखमन्तर्वेदिः। चतुष्कपालं शिरः, षोडश पार्श्वदन्तपटलानि, सप्तोत्तरं मर्म्मशतं, साशीतिकं सन्धिशतं, सनवकं स्नायुशतं, सप्त शिराशतानि, पञ्च मज्जाशतानि, अस्थीनि च ह वै त्रीणि शतानि षष्टीः, सार्द्धचतस्रः रोमाणि कोट्यः, हृदयं पलान्यष्टौ, द्वादशपला जिह्वा, पित्त–प्रस्थं, कफस्याढकं, शुक्रकुडवं, मेदः प्रस्थौ द्वावनियतं–मूत्रपुरीषमाहारपरिमाणात्"।

—गर्भोपनिषत्।

निदर्शनमात्र है। उपनिषदों ने सृष्टिविज्ञान का निरूपण करते हुए आध्यात्मिक विज्ञान को अपना मुख्य लक्ष्य बना कर स्थूलशरीर के मौलिक रहस्य का भलीभाँति स्पष्टीकरण किया है। एवमेव सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध रखने वाली धर्म्मशास्त्रानुगता–मानस–चिकित्सा का भी विस्तार से रहस्यविश्लेषण हुआ है। किन

× "रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण, तेन द्विविधीकृतेन॥
बीजेन कन्यां च सुतं च सूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन" (चरक० शा० २।१२)।
"आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादार्त्तवाधिके।
नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी"॥ (भावप्रकाश)

किन नियमोपनियमों के अनुगमन से हमारा अन्तःकरण पवित्र बना रहता है ?, इस धार्म्मिक प्रश्न की भी पर्य्याप्त मीमांसा हुई है । आनृशंसधर्म्म (सभ्यता-लोकव्यवहार-मनुष्यता), नीतिधर्म्म, सत्य-अहिंसादि सामान्य धर्म्म, इन सब अवान्तर धर्म्माङ्गों की भी शिक्षा हमें उपनिषदों से मिल रही है, जिस नैतिक शिक्षा को हम अपने व्यावहारिक जीवन से पृथक् नहीं कर सकते । पहिले नीतिधर्म्म के उदाहरण पर ही दृष्टि डालिए ।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित् जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ (ई० उ० १) ।

उक्त मन्त्र का विज्ञान, धर्म्म, नीति, तीनों काण्डों से सम्बन्ध है । मनः-प्राण-वाक् का त्रिवृद्भाव ही इस त्रिकाण्डता का मूल है । इसी त्रिवृद्भाव के आधार पर मन्त्र का तीनों काण्डों के साथ समन्वय हो रहा है, जैसाकि 'ईशविज्ञानभाष्य' में विस्तार से निरूपित है । प्रकृत में हमें नीतिमूलक अर्थ को लक्ष्य बना कर ही मन्त्र का समन्वय करना है । यह केवल आदर्शवाद ही नहीं, अपितु यथार्थवाद है कि, केवल इस एक नैतिक शिक्षा के अनुगमन से मानवसमाज त्रिविध तापों से अतिमुक्त होता हुआ पूर्ण सुखी बन सकता है । प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि, वह उस भोग्यसम्पत्ति पर अपनी नियत न डिगावे, जिस भोग्यसम्पत्ति पर किसी अन्य व्यक्ति का अधिकार है । दूसरों के न्यायसिद्ध भोग्य पदार्थों की लिप्सा ही व्यक्तियों में, समाज में, ग्राम में, राष्ट्र में, विश्व में संघर्ष का कारण बनती है । अपने नियताधिकार से बहिर्भूत, साथ ही परःसत्वानुगत भोग्यवस्तु की प्राप्ति के लिए मनुष्य सत्य-अहिंसा-अस्तेय-आदि मानवगुणों को (नैतिकधर्म्म को) थोड़ी देर के लिए भूल जाता है, एवं बदले में असत्य-हिंसा-स्तेयादि दुर्गुणों का अनुगामी बन जाता है । इन दुर्गुणों से इसकी अध्यात्मसंस्था भी मलिन हो जाती है, आधिभौतिक आक्रमण से भी यह इस दशा में अपने आपको नहीं बचा सकता, साथ ही परम्परया ऐसा लुब्धक आधिदैविक आक्रमण का भी निमित्त बन जाता है । इसप्रकार केवल **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'** नीति की उपेक्षा कर देने से मानवजीवन घोर अशान्ति का अतिथि बन जाता है । यदि प्रत्येक व्यक्ति अधिकारमर्य्यादा को सुरक्षित रखता हुआ परस्पर अधिकारसिद्ध आदान-प्रदान करने लगता है, तो निश्चयेन उस देश का मानवसमाज पूर्ण समृद्ध है ।

"अन्याय से बलात्कार से हम किसी की भोग्य-सम्पत्ति पर दृष्टि न डालें, अपितु अपने पुरुषार्थ से न्यायपथानुगमन के द्वारा प्रवर्ग्य सम्पत्ति का ही उपभोग करें" यही इस नैतिक शिक्षा का निष्कर्ष है, जिसका मन्त्र से स्पष्टीकरण हो रहा है ।

हम ही क्या, प्राणिमात्र सुखी रहना चाहते हैं । परन्तु खेद है कि, हम से कहीं स्वल्प-ज्ञानमात्रा रखने वाले प्राणी अपने क्षेत्र के अनुसार जहाँ सुखी हैं, वहाँ हम ज्ञानमात्रा की पर्य्याप्तता सुरक्षित रखते हुए भी दुःखी हैं । क्यों ?, अकर्म्मण्यता, आलस्य, पौरुषहीनता । विश्वास करना चाहिए कि, कर्म्मशून्य-अकर्म्मण्य-आलसी व्यक्ति न स्वयं सुखी हो सकता, न अपने आश्रित परिवार को सुखी रख सकता । यही नहीं, अपितु कर्म्मशून्य ऐसे मन्दभागी पदे पदे आपत्तियों के जाल में फँसे रहते हैं । जो कर्म्मठ हैं, पुरुषार्थी हैं, सम्पत्ति उनके सामने करबद्ध खड़ी है । पुरुषार्थशून्य पुरुषाधम ही दूसरों की सम्पत्ति के इच्छुक बने रहते हैं । जो

स्वयं पुरुषार्थी हैं, वे कभी 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' नीति से पराङ्मुख नहीं होते। हमें यावज्जीवन कर्म्म करना चाहिए, पुरुषार्थ का अनुगमन करना चाहिये। कर्म्मोपासना ही सुखी जीवन का गुप्त रहस्य है। कर्म्मठ मनुष्य न कभी दुःखी रहता, न दुःखों से कम्पित होता, न आपत्तिजाल से कभी घबराता।

"हमें यावज्जीवन अधिकारसिद्ध-योग्यतासिद्ध-कर्म्म का अनुगमन करते रहना चाहिए। इस कर्म्मानुगमन से कभी हमारी स्थिति नहीं बिगड़ सकती। साथ ही न कभी हम परमुखापेक्षी बन सकते"।

यही उपनिषदों की दूसरी नैतिक शिक्षा है, जिसका निम्नलिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥"

अब कुछ एक ऐसे शिक्षावचन उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिनके आधार पर विज्ञ पाठक भलीभाँति यह निश्चय कर सकेंगे कि, उपनिषच्छास्त्र केवल आत्ममूलक-परलोकशास्त्र ही नहीं है, अपितु इसके द्वारा हम अपने ऐहलौकिक जीवन में, अपने वैय्यक्तिक-कौटुम्बिक-सामाजिक-तथा राष्ट्रीय जीवन में भी अन्यतम उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं—

१—माता के भक्त बनो! (मातृदेवो भव)।
२—पिता के भक्त बनो! (पितृदेवो भव)।
३—गुरु के भक्त बनो! (आचार्य्यदेवो भव)।
४—सद्गुणों का ग्रहण करो! (यान्यनवद्यानि कर्म्माणि, तानि सेवितव्यानि)।
५—अवगुणों की उपेक्षा करो! (नो इतराणि)।
६—महान् पुरुषों का आदर करो! (आसनेन प्रश्वसितव्यम्)।
७—अतिथियों का सत्कार करो! (अतिथिदेवो भव)।
८—वृद्धों के अनुशासन में चलो! (तथा तेषु वर्त्तेथाः)।
९—सदा सत्यभाषण करो! (सत्यं वद)।
१०—धर्म्म का आचरण करो! (धर्म्मं चर)।
११—किसी को कष्ट न दो! (मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि)।
१२—अधिदैवत कर्म्म को कभी विस्मृत न करो! (देवकार्यान्न प्रमदितव्यम्)।
१३—किसी की सम्पत्ति पर नियत न डिगाओ! (मा गृधः कस्य स्विद्धनम्)।
१४—कर्म्म करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करो! (कुर्वन्नेह कर्म्माणि)।
१५—अपने आपको सब शक्तियों से युक्त समझो! (पूर्णस्य पूर्णमादाय)।
१६—हानि-लाभ को समतुलित समझो! (सम्भूतिं च विनाशं च)।
१७—पढ़ने का व्यसन रक्खो! (स्वाध्यायात् मा प्रमदः)।
१८—वंशवृद्धि की ओर ध्यान रक्खो! (प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः)।
१९—सावधानी से काम करो! (कुशलान्न प्रमदितव्यम्)।

२०—सम्पत्ति का दुरुपयोग न करो ! (भूत्यै न प्रमदितव्यम्)।
२१—हितवचन कहना न छोड़ो ! (प्रवचनान्न प्रमदितव्यम्)।
२२—सर्वत्र समबुद्धि बनाए रक्खो ! (यस्मिन् सर्वाणि भूतानि०)।
२३—परिणाम को लक्ष्य में रक्खो ! (क्रतो स्मर, कृतं स्मर)।
२४—शक्त्यनुसार कर्म्म करो ! (अग्ने नय सुपथा राये०)।
२५—ज्ञान-कर्म्म-वित्त का अतिमान न करो ! (यस्यामतं तस्य मतम्०)।
२६—हितकर कर्म्म में प्रवृत्ति रक्खो ! (श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो०)।
२७—हितकर-रुचिकर कर्म्म में प्रवृत्ति रक्खो ! (श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो०)।
२८—केवल रुचिकर कर्म्म को छोड़ दो ! (प्रेयो मन्दः०)।
२९—कुतर्क कभी न करो ! (नैषा तर्केण मतिरापनेया०)।
३०—सचाई की खोज करते रहो ! (सत्यधृतिर्बतासि)।
३१—अन्धश्रद्धालु न बनो ! (अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः)।
३२—विषयलोलुप न बनो ! (न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त)।
३३—आत्मा को अजर अमर समझो ! (अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः०)।
३४—सोच-समझ कर काम करो ! (यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा०)।
३५—धीरता ही शान्ति की प्रतिष्ठा है ! (धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती)।
३६—ईश्वरीय दण्ड से डरते रहो ! (महद्भयं वज्रमुद्यतम्०)।
३७—कभी मुख से 'नास्ति' न बोलो ! (असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद वेत्)।
३८—सदा अस्तित्व की उपासना करो ! (अस्तीत्येवोपलब्धव्यः)
३९—शिष्यभाव से जिज्ञासा करो ! (समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादम्०)।
४०—दिन में रति न करो ! (प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति, ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते)।
४१—कुटिलता-छल का परित्याग करो ! (न येषु जिह्ममनृतं न माया)।
४२—पाण्डित्य का घमण्ड न करो ! (स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः)।
४३—उदारमना बने रहो ! (महामना स्यात् , तद्व्रतम्)।
४४—धूप की निन्दा न करो ! (तपन्तं न निन्देत्-तद्व्रतम्)।
४५—वर्षा की निन्दा न करो ! (वर्षन्तं ")।
४६—ऋतुओं की निन्दा न करो ! (ऋतून् ")।
४७—स्थान की निन्दा न करो ! (लोकान् ")।
४८—पशुओं की निन्दा न करो (पशून् ")।
४९—ब्राह्मणों की निन्दा न करो ! (ब्राह्मणान् ")।
५०—अन्न की निन्दा न करो ! (अन्नं न निन्द्यात् ")।
५१—किसी भी अवस्था में भय न करो ! (न बिभेति कुतश्चन)।

१०–उपनिषदों का शिक्षण–कौशल—

श्रेयः–प्रेयोभावात्मक उपनिषदों का शिक्षणकौशल वास्तव में एक अभूतपूर्व इत्तिवृत्त है। उपनिषदों में जिन तात्त्विक विषयों का विश्लेषण हुआ है, वे सब श्रेयोभाव को मूलाधार बनाते हुए 'सत्यं' है। जटिल से जटिल तत्त्वों का निरूपण प्रेयोभाव को लक्ष्य बना कर हुआ है, अतएव औपनिषद–विषय 'सुन्दरं' है। सत्यं, सुन्दरं, ने औपनिषद विषयों को 'शिवं' बना रक्खा है। कटुसत्य परिणाम में 'शिवं' बनता हुआ भी श्रवणकाल में असुन्दरं है, अतएव 'अशिवं' है। और **'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'** के अनुसार ऐसा अप्रिय सत्य श्रोता के स्वाभाविक आकर्षण पर आघात करने वाला है, तत्–तत्त्वप्रवृत्ति में अरति उत्पन्न करने वाला है। वर्त्तमान युग की शिक्षाप्रणाली, विशेषतः संस्कृतसाहित्यशिक्षाप्रणाली शिक्षानुयायियों के लिए कटुसत्य ही सिद्ध हो रही है। कारण यही है कि, वर्त्तमान प्रणाली ने प्रेयोभाव का परित्याग करते हुए विशुद्ध श्रेयोभाव-मूलक कटुसत्य को प्रधान बना रक्खा है। यही कारण है कि, आज सर्वसाधारण की दृष्टि में यह आर्षवैभव एक महाविभीषिका बन रहा है "संस्कृत महा कठिन है, इसमें रटाई बहुत होती है, कोई आकर्षण नहीं है" ऐसे ऐसे उद्गार जब सुनने में आते हैं, तो कहना पड़ता है कि, भारतीय विद्वत्समाज शिक्षण–कौशल से दूर हट चुका है। जब संस्कृत साहित्य में शिक्षण–कौशल का समावेश कर दिया जाता है, तो उस स्थिति में बिना किसी सन्देह के यह कहा जा सकता है कि, "संस्कृतसाहित्य की तुलना में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कहलाने योग्य पृथिवी का अन्य कोई साहित्य नहीं है"। परन्तु············।

विचार उपनिषदों की शिक्षा का प्रक्रान्त है। भाषा, भाव, निरूपणीया शैली, आदि सभी दृष्टियों से उपनिषदों की शिक्षा एक अपूर्व कौशल रखती है। गहन से गहन तत्त्वों का व्यावहारिक लौकिक दृष्टान्तों के द्वारा बड़ी ही प्राञ्जल, तथा बोधगम्यभाषा में जैसा स्पष्टीकरण उपनिषदों में हुआ है, उसे देखते हुए कहना पड़ता है कि, ऋषियों नें उपनिषदों की शिक्षा के सम्बन्ध में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को अथ से इति पर्य्यन्त चरितार्थ किया है। उदाहरण के लिए कुछ एक उद्धरण यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं। इनके आधार पर स्थालीपुलाकन्याय से पाठक भलीभाँति इस शिक्षण–कौशल का महत्व अवगत कर सकेंगे।

(१)–"अन्न से मन बनता है, पानी से प्राण बनता है, तेज से वाक् का निर्म्माण होता है" यह उपनिषत् का सिद्धान्तसूत्र है, मौलिक शिक्षा है। इस शिक्षा का किस कौशल से उपनिषत् ने स्पष्टीकरण किया है, यह द्रष्टव्य है। श्वेतकेतु शिष्य हैं, स्वयं श्वेतकेतु के पिता महर्षि अरुण उपदेष्टा हैं। श्वेतकेतु के सामने जब उक्त सिद्धान्तसूत्र आता है, तो सहसा उनकी बुद्धि स्तब्ध सी हो जाती है। वे विचारने लगते हैं कि, अन्न, आपः, तेज से मन–प्राण–वाक् का निर्म्माण कैसे हुआ ?। अरुणमहर्षि पुत्र की इस मनोदशा को लक्ष्य में रखते हुए अपनी ओर से एक दृष्टान्त उपस्थित करते हुए कहने लगते हैं—हे प्रिय ! दही बिलोना देखा होगा। और देखा होगा कि, मन्थनप्रक्रिया से दही के ऊपर सुसूक्ष्म घृतबिन्दुएँ निकल आतीं हैं। ठीक यही स्थिति मनः–प्राण–वाक् की समझो। जब तुम शारीराग्नि में अन्न, पानी, तेज की आहुति देते हो, तो शरीर में मन्थनप्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इस मन्थन से तीनों के सुसूक्ष्म भाग ऊपर आ जाते हैं। ये ही सुसूक्ष्म भाग क्रमशः मनः–प्राणः–वाक् हैं। और सम्भव है, इस 'दधि–सर्पि' दृष्टान्त से तुम समझ गए होंगे कि–

"अन्नमयं हि सौम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" ।

दधि का सारभाग सर्पि है, एवमेव अन्न, अप्, तेज, का सारभाग क्रमशः मनः-प्राणः-वाक् है, दृष्टान्त का यही तात्पर्य्य है। कैसा सुलभ, साथ ही तात्त्विक दृष्टान्त है। दृष्टान्त की अनुरूपता भी कम महत्त्व नहीं रखती। एक ही दधि-सर्पिदृष्टान्त में तीनों की अनुरूपता विद्यमान है। दधि दुग्ध का रूपान्तर है। दुग्ध में सोममात्रा अधिक रहती है। उधर चान्द्र सोमरस ही अन्नरूप में परिणत होता हुआ रसासृङ्मांसादि क्रमसे अपने विशुद्धरूप से मन का स्वरूपनिर्म्मापक बनता है। दुग्ध मन का निर्म्मापक नहीं बनता, अपितु 'दधि' मन का निर्म्मापक बनता है। जमे हुए दुग्ध का ही नाम दधि है। तरलरस दुग्ध है, घनरस दधि है। '**दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्**' (शत०७।५।१।३।) के अनुसार पार्थिव अन्नरस दधिरूप है। खेत से आया हुआ अन्न दधि (घन) भावापन्न है। इस दधिस्थानीय अन्न की आहुति होती है। मन्थनप्रक्रिया आरम्भ होती है। घनता टूट जाती है। दधिमें रहने वाला आन्तरिक्ष्य घृतरस निकल पड़ता है। वही मन का स्वरूपनिर्म्मापक बनता है। दधिमन्थनप्रक्रिया में पानी का भी समावेश रहता है। अप्सम्बन्ध से ही इस में फेन (झाग) निकलते हैं। एवं इस दृष्टि से यही मन्थनप्रक्रिया '**आपोमयः प्राणः**' का दृष्टान्त बन रही है। मन्थनप्रक्रिया एक प्रकार का घर्षण है। इस घर्षण से ताप उत्पन्न हो जाता है, जिसका मन्थन प्रक्रिया में साक्षात्कार किया जासकता है। और इसी दृष्टि से यही मन्थनप्रक्रिया '**तेजोमयी वाक्**' का भी दृष्टान्त बन रही है।

दधि-सर्पि-दृष्टान्त से योग्य शिष्य तत्त्व पर पहुँचता हुआ भी अभी अनुभूति से वञ्चित है, यह लक्ष्य में रखते हुए अरुण एक प्रायोगिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। आदेश देते हैं कि, पन्द्रह दिवस पर्य्यन्त अन्न खाना छोड़ दो, केवल पानी पीओ। शिष्य ने आदेश का पालन किया। १५वें दिन गुरु ने प्रश्न किया कि, हे सोम्य ! क्या तुम ऋक्-यजुः-साम का विश्लेषण कर सकते हो ?। शिष्य उत्तर देता है, भगवन् ! इस समय मुझे कुछ सुझाई नहीं देता। बस गुरु का शिक्षणकौशल समाप्त हुआ। शिष्य को विदित हो गया कि, अन्न खाने से जब मेरा प्रज्ञानजगत् शिथिल हो गया है, तो अवश्यमेव '**अन्नमयमेव मनः**'। (छां०उप०६।५,६,७,-खण्ड)।

———१———

(२)-असुरेन्द्र विरोचन, तथा देवेन्द्र इन्द्र के सम्मुख आत्मा के सम्बन्ध में यह उपनिषत् (सिद्धान्त-सूत्र) उपस्थित हुई कि-"आत्मा अजर है, अमर है, भूख-प्यास से दूर है, पाप से विरहित है, सत्यकाम है, सत्यसंकल्प है। ऐसे इस आत्मा के परिज्ञान से सम्पूर्ण विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं"। इस आत्मोपनिषत् ने दोनों का ध्यान आत्मस्वरूपविज्ञान की ओर आकर्षित किया। फलतः आत्मस्वरूपविषयिणी जिज्ञासा ले कर समित्-पाणि बन कर दोनों प्रजापति की सेवामें पहुँचे, और अपनी जिज्ञासा प्रकट की। प्रजापति ने आदेश दिया कि, आत्मस्वरूपपरिज्ञान से पहिले योग्यता प्राप्त्यर्थ तुम्हें ३२ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्यव्रत का अनुगमन करना चाहिए। अनन्तर तुम्हें आत्मस्वरूप बतलाया जायगा। दोनों नें आदेशानुसार ब्रह्मचर्य्य का पालन किया, अनन्तर दोनों समित्-पाणी बन कर प्रजापति के सम्मुख पुनः उपस्थित हुए। प्रजापति ने सामने रक्खे हुए जलपात्र की ओर सङ्केत करते हुए दोनों को आदेश दिया कि, तुम्हें इस जलपात्र पर दृष्टि डालनी चाहिए। यदि इस प्रतिबिम्बभाव से तुम्हें आत्मस्वरूप अवगत न हो, तो पुनः जिज्ञासा प्रकट करना। दोनों ने आदे-

शानुशार जलपात्र पर दृष्टि डाली । 'जलपात्र' में क्या देखा ?, पूँछने पर दोनों नें उत्तर दिया कि, इस जलपात्र में हम अपना सर्वाङ्गशरीर देख रहे हैं । प्रजापति ने पुनः आदेश दिया कि, अब तुम सुन्दर आभूषण, सुन्दर वस्त्र धारण कर जलपात्र पर दृष्टि डालो । दोनों नें ऐसा ही किया । 'क्या देखा' ? प्रजापति के प्रश्न करने पर उत्तर दिया कि, अब हम अलङ्कार-आभूषणों के सहित सर्वाङ्गशारीर को प्रतिबिम्बित देख रहे हैं । प्रजापति ने आदेश दिया कि, जिसे तुम जलपात्र में प्रतिबिम्बित देख रहे हो, वही अमृत-अभय-लक्षण आत्मब्रह्म है । प्रजापति के इस समाधान से दोनों की आत्मविषयिणी जिज्ञासा थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाती है । दोनों वापस लौट आते हैं । इस सम्बन्ध में यह और स्मरण रखिए कि, प्रजापति ने सर्वप्रथम 'अक्षिपुरुष' को लक्ष्य में रखते हुए यह कहा था कि, आँख में जो प्रतिबिम्बित पुरुष दिखलाई पड़ता है, वही आत्मब्रह्म है । इस पर दोनों नें यह प्रश्न किया था कि, पानी, तथा दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है, वह क्या है ? । प्रजापति ने उत्तर दिया था कि, यह भी वही आत्मा है । इसप्रकार प्रजापति की ओर से आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में चक्षुपटलप्रतिविम्बित पुरुष, दर्पणप्रतिबिम्बित पुरुष, जलपात्रप्रतिबिम्बित पुरुष, तीन उदाहरण सामनें आए । तीनों के द्वारा प्रतिबिम्बविधा से प्रजापति ने आत्मस्वरूप का विश्लेषण किया ।

उक्त तीनों उदाहरणों में दर्पण, चक्षुपटल, उदशराव (जलपात्र), यह क्रम समझना चाहिए । दर्पण में शरीर का प्रतिबिम्ब खचित होता है, परन्तु असङ्गरूप से । जिस प्रकार दर्पण में असङ्गरूप से शरीर प्रतिबिम्बित होता है,एवमेव दर्पणस्थानीय महत्तत्त्व पर चित् का प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित होता है । यही चित् प्रतिबिम्ब चिदाभास है, यही चिदाभास जीवात्मा है । दर्पणस्थानीय महद्भूत ही इस चिदाभास के निर्वचन का साधन है । एवं इस दृष्टि से दर्पणदृष्टान्त सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है । दूसरा चक्षुर्दृष्टान्त है । पुरोऽवस्थित पुरुष का प्रतिबिम्ब हमारे नेत्रपटल पर खचित हो जाता है । जबतक चिदाभासलक्षण आत्मा पाञ्चभौतिक शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक चक्षुपटल में अन्य पुरुष का प्रतिबिम्ब खचित होता है । शवशरीर के चक्षुपटल में अन्य पुरुष का प्रतिबिम्ब खचित नहीं होता । इस उदाहरण से प्रजापति को यह बतलाना था कि, जिस चित् तत्त्व में अन्य पुरुषके प्रतिबिम्ब-ग्रहण की शक्ति है, वही जीवात्मा है । जब तक शरीर में वह प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक चक्षुपटल पर पुरुषप्रतिबिम्ब खचित होता है । एवं इस दृष्टि से चक्षुःपुरुषदृष्टान्त भी सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है । तीसरा उदशरावपुरुष दृष्टान्त है । पानी पारमेष्ठ्य तत्त्व है । पारमेष्ठ्य तत्त्व 'भृगु' है, एवं आपः-वायुः-सोम भेद से इसकी तीन अवस्था मानीं गईं हैं । **'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्'** से तीनों 'आपः' हैं । चिदाभासलक्षण जीवात्मा के तीन ही गर्भक्षेत्र हैं । अतएव जीवसर्ग आप्य, वायव्य, सौम्य , भेद से तीन ही भागों में विभक्त हैं । भागत्रय में विभक्त यही भार्गव अप्तत्त्व 'महान्' है । एवं **'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'** के अनुसार यही महत्तत्त्व चिदाभास की योनि है । उदशरावदृष्टान्त से प्रजापति बतलाना यही चाहते थे कि, जिस प्रकार पानी में शरीर प्रतिबिम्बित है, वैसे ही अप्तत्त्व-लक्षण महत् के आधार पर चिदाभासलक्षण जीवात्मा प्रतिष्ठित है । आत्मा शरीरसापेक्ष है । आत्मा, पाञ्चभौतिक शरीर, दोनों की समष्टि का आधार शुक्रावच्छिन्न महद्ब्रह्म माना गया है । इन दोनों को लक्ष्य में रख कर प्रजापति ने पहिले तो आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः शरीर का प्रतिबिम्ब लक्ष्य बनवाया, अनन्तर वस्त्राभूषण-सुसज्जित शरीर को लक्ष्य बनवाया । शरीर विशुद्ध चिदात्मा का दार्ष्टान्तिक बना, वस्त्रादि **'वासांसि जीर्णानि'** न्याय से शरीर का दार्ष्टान्तिक बना । एवं इस दृष्टि से यह उदशरावदृष्टान्त भी सर्वथा अन्वर्थ बना ।

दृष्टान्तविधि से आत्मस्वरूप का विश्लेषण कर प्रजापति ने दोनों जिज्ञासुओं को लक्ष्य में रखते हुए यह उद्गार प्रकट किए कि, सम्भवतः दोनों अभी आत्मस्वरूप की वस्तुस्थिति पर नहीं पहुँचे हैं। दोनों में जो आत्मस्वरूपोपनिषत् के तथ्य पर पहुँच जायँगे, विजित होंगे, अन्य पराजित होंगे। इधर प्रजापति यह विचार-विमर्श कर रहे थे, उधर उन दोनों की क्या स्थिति हुई ?, यह देखिए। असुरेन्द्र विरोचन दृष्टान्त को ही सिद्धान्त पक्ष मान बैठे। उन्होंनें अपनी असुरमण्डली में यह उद्घोष प्रकट कर दिया कि, 'प्रजापति ने शरीर को ही आत्मा बतलाया है। शरीर को स्वस्थ-बलिष्ठ-रखना ही सुखप्राप्ति का अन्यतम द्वार है। शरीर को जलाना नहीं चाहिए, क्योंकि यह तो आत्मा है। इसे साध्वलंकृत रखना चाहिए। अहोरात्र शरीरचिन्ता में ही निमग्न रहना चाहिए। शरीर से अतिरिक्त आत्मा नहीं है, यह आज प्रजापति ने उदशराव-दृष्टान्त से स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है"। तभी से असुर-सम्प्रदाय के लिए निम्न लिखित सिद्धान्त प्रचलित हो पड़ा—

"असुराणां ह्येषोपनिषत्। प्रेतस्य शरीरं भिक्षया, वसनेन, अलङ्कारेणेति-संस्कुर्वन्ति। एतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते-इति *।

मन्दबुद्धि विरोचन शीघ्र ही सन्तुष्ट हो गए। परन्तु इन्द्र सन्तुष्ट न हुए। उन्होंनें अपनी देवमण्डली में आकर ये मनोभाव प्रकट किए कि, प्रजापति ने जिस प्रतिबिम्ब को अमृताभयलक्षण आत्मा बतलाया, वह आत्मा (शरीरप्रतिबिम्ब) तो सर्वथा भयाक्रान्त है। जैसा शरीर, वैसा प्रतिबिम्ब। हस्त-पाद-चक्षु आदि अङ्ग-हीन शरीर का प्रतिबिम्ब भी अङ्गहीन ही रहता है। तात्पर्य्य, नाशवान् शरीर का प्रतिबिम्ब भी सर्वथा नाशवान् है। फिर इसे अविनाशी, अनुच्छित्तिधर्म्मा आत्मा कैसे मान लिया जाय ?। व्याकुलमना इन्द्र समित्पाणि बन कर पुनः प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुए, एवं अपना क्षोभ प्रकट किया। प्रजापति ने कहा-मघवन्! ऐसा ही है, तुम्हारा क्षोभ यथार्थ है। ३२ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य का अनुगमन और करो। अनन्तर वस्तुतत्त्व की व्याख्या की जायगी।

३२ वर्षानन्तर प्रजापति कहने लगे,इन्द्र ! जाग्रदवस्था के अनन्तर अपना प्रभाव प्रतिष्ठित रखने वाली स्वप्नावस्था से सम्भवतः तुम परिचित हो। इस अवस्था में जो तत्त्वविशेष विविध प्रकार के स्वप्न देखा करता है, वह स्वप्नद्रष्टा ही अमृत-अभयलक्षण आत्मब्रह्म है। इस स्वप्नपुरुष-दृष्टान्त से प्रजापति का अभि-प्राय यही था कि, स्वप्नावस्था में पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड की बाह्य क्रियाएँ शान्त हो जातीं हैं। दूसरे शब्दों में शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। इस दशा में स्वप्नदर्शन हुआ करता है। न रथ है, न मार्ग है, न अश्व है। परन्तु वह द्रष्टा अपनी महिमा से स्वयं ही रथ, रथमार्ग, अश्वादि बन कर क्रीडा किया करता है। अवश्य ही यह स्वप्नद्रष्टा शरीर में रहता हुआ शरीर से भिन्न अमृत तत्त्व है। केवल द्रष्टृत्वेन चिदंश ही स्वप्नद्रष्टा है। एवं इस दृष्टि से यह दृष्टान्त भी सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है।

इन्द्र शान्तहृदय होकर देवमण्डली में लौट आते हैं। और कहने लगते हैं कि, प्रजापति ने स्वप्न-द्रष्टा को अमृताभयलक्षण आत्मा बतलाया है। यह ठीक है कि, शरीरविकृति का स्वप्नद्रष्टा पर कोई प्रभाव

---

* शवशरीर को वस्त्रालङ्कारों से सुसज्जित करना आसुरधर्म्म है। विदित नहीं, देवधर्म्मानुयायिनी आस्तिक प्रजा में यह आसुरधर्म्म कैसे, कब से, और क्यों प्रचलित हो पड़ा ?।

नहीं पड़ता, जैसा कि प्रतिबिम्बित उदशरावपुरुष पर पड़ता था। परन्तु यह भी तो स्पष्ट है कि, स्वप्नद्रष्टा स्वप्नावस्था में कभी रोने लगता है, कभी व्याकुल हो पड़ता है, कभी हँसने लगता है। आत्मानुगता एकसत्ता यहाँ कहाँ है। फिर कैसे स्वप्नद्रष्टा को अभय-अमृत मान लिया जाय।अवश्य ही एतल्लक्षण आत्मा स्वप्नद्रष्टा से कोई पृथक् तत्त्व होगा,जिसका उपदेश अनधिकारी समझ कर प्रजापति ने नहीं दिया है। इन्द्र वापस लौटे, 'इन्द्र! शान्तहृदय बन कर लौट गए थे, फिर वापस क्यों आए' प्रजापति के यह पूँछने पर इन्द्र ने वस्तु-स्थिति प्रकट की। पुनः ३२ वर्ष के ब्रह्मचर्य्यानुगमन का आदेश मिला। अनन्तर निरुपाधिक आत्मतत्त्व का तटस्थलक्षण से विश्लेषण करते हुए प्रजापति कहने लगे कि, इन्द्र ! स्वप्नावस्था से अगली अवस्था 'सुषुप्ति' है। इस अवस्था में अन्तर्जगत् का व्यापार भी उपरत हो जाता है। विशुद्ध आत्मा अपने आपमें डूबा रहता है। यही **'स्वमपीतो भवति'** लक्षणा 'स्वपिति' कही जाती है। स्वप्नावस्था से भी अतीत, अतएव सर्वातीत, अतएव वाङ्मनसपथातीत, अतएव 'नेति-नेति' शब्द से निर्धीत तत्त्वविशेष ही अमृत-अभय-लक्षण आत्म-ब्रह्म है। तात्पर्य्य प्रजापति का यही है कि, स्वप्नद्रष्टा प्रज्ञानमन चिदंश के अनुग्रह से स्वप्नदर्शन में समर्थ होता है। जब प्रज्ञानमन विज्ञान के साथ सम्पृक्त होकर हृदयावच्छिन्न पुरीतति नाड़ी में चला जाता है, तो हृदयाकाशस्थ दहराकाश में तद्रूप से प्रतिष्ठित विशुद्ध चिद्घन में प्रज्ञान का चिदंश डूब जाता है, द्वैत नष्ट हो जाता है, अद्वैतप्रसाद प्रकट हो जाता है। फलतः स्वप्नदर्शन बन्द हो जाता है। इस दशा में विशुद्ध चिदात्मा निरुपाधिक है। अतएव किसी भी शब्द से, किंवा दृष्टान्त से इसका समतुलन नहीं किया जा सकता। एवं यही वस्तुतः आत्मतत्त्व है, जिसके सम्बन्ध में निम्न लिखित तटस्थ उत्तर के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं हो सकता—

"तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, एष आत्मा"

इन्द्र शान्त होकर वापस लौट आए। और देवमण्डली के समक्ष अपने ये उद्‌गार प्रकट किए कि, प्रजापति ने सुषुप्त्यवस्थापन्न जिस आत्मतत्त्व का तटस्थ लक्षण से उपदेश दिया, उससे भी मुझे अभी सन्तोष नहीं हुआ है। स्वप्नद्रष्टा-पर्य्यन्त बतलाए गए आत्मस्वरूप में नाशवान् भूतभाग का प्राधान्य था। परन्तु सुषुप्ति-अवस्थायुक्त आत्मस्वरूप में तो नाशवान् भूतभाग के साथ साथ अविनाशी 'अहं' भाव का भी विलोप है। सुषुप्ति में 'अहमस्मि' का भी अभाव है। 'अहं' ही तो आत्मोपनिषत् है। जिस अवस्था में 'अहमस्मि' ही न रहे, वह अवस्था, उस अवस्था से युक्त तत्त्वविशेष, दोनों ही बुद्धि से परे हैं। इसलिए मुझे कहना पड़ेगा कि, अभी आत्मस्वरूप अपने लिए अविदित ही है।

इन्द्र पुनः उपस्थित होते हैं। एवं समित्पाणि बन कर अपना उक्त क्षोभ प्रकट करते हैं। प्रजापति आदेश देते हैं कि, ५ वर्ष और धैर्य्य रक्खो। इसप्रकार ३२-३२-३२-५-के संकलन से आत्मजिज्ञासानुवर्त्ती इन्द्र की आयु के १०१ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। निरन्तर १०१ वर्ष पर्य्यन्त इन्द्र ब्रह्मचर्य्य का अनुगमन करते रहे। तब जाकर कहीं प्रजापति नें उन्हें अधिकारी माना। और सर्वान्त में आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में अपना यह सिद्धान्त प्रकट किया कि—

"इन्द्र ! पाञ्चभौतिक शरीर मर्त्य है। अमृतात्मा का यह मर्त्य शरीर अधिष्ठान बन रहा है। अमृत मृत्युपुर में प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि, जब तक शरीर पर (उपाधि पर) दृष्टि है, तब तक प्रिय-अप्रिय

द्वन्द्वों से अतीत अमृतात्मप्राप्ति (बोध) असम्भव है। निरस्तसमस्तोपाधि-प्रपञ्चोपशम-अद्वय-अमृत-अभया-त्मतत्त्व अनुभूति से परे की वस्तु है। अनुभूति भोग है, भोग का प्रज्ञानसहकृत विज्ञान (बुद्धि) से सम्बन्ध है। बुद्धि स्वयं भौतिक-मर्त्य पदार्थ है। वह उसका अनुभव कर भी कैसे सकती है, जब कि 'यो बुद्धेः परतस्तु सः'। 'अहमस्मि' यह अनुभव भी तो मर्त्यभावाक्रान्त ही है। अनुभव द्वैतसापेक्ष है। द्वैत नामरूपात्मक है। आकाशोदर ही नामरूपात्मक भय का प्रवर्त्तक है। जब वह नामरूपातीत है, तो उसका शब्द-द्वारा उपदेश कैसे सम्भव है। परज्योतिःस्वरूप सम्प्रसाद ही उसकी एकमात्र तटस्थ परिभाषा है। यही आत्मस्वरूप का-जैसा समझो, विश्लेषण है"। (छां०उप०८प्र०।७,८,९,१०,११,१२,१३,१४ खण्ड)

पाठक देखेंगे कि, किस कौशल से स्थूल से सूक्ष्म की ओर लाते हुए आत्मस्वरूप का तटस्थ लक्षण द्वारा विश्लेषण हुआ है। आयु के १०० वर्षों तक बड़े संयम के साथ जीवनयात्रा का निर्वाह करने वाला, आत्मजिज्ञासा सुरक्षित रखने वाला धीर ही इस आत्मबोध का अन्यतम अधिकारी है। इसप्रकार एक ओर सर्वानुभूत-बोधगम्य दृष्टान्तों के द्वारा जहाँ उपनिषत् सोपाधिक आत्मस्वरूप का विश्लेषण कर रही है, वहाँ अधिकारी की मर्य्यादा का भी पूरा पूरा स्पष्टीकरण हुआ है। क्या ऐसे शिक्षणकौशल का अन्यत्र मिल सकना सम्भव है ?।

—२—

(३)—"**नामरूपात्मक पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर भूतसत्य है। वैश्वानराग्नि, तैजस वायु, प्राज्ञ इन्द्र, की समष्टि शरीराभिमानी 'देवसत्य' है। प्राण, प्रज्ञान, विज्ञान, महान्, अव्यक्त, इन पाँचों की समष्टि 'ब्रह्मसत्य' है। एवं आत्मक्षर-अक्षरानुगत-चिद्घन अव्यय पुरुष 'आत्मसत्य' है, यही 'सत्यस्य सत्यम्' है**" इस उपनिषत् का शिक्षण कौशल उस समय भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है, जब कि केनोपनिषत् में उपवर्णित कथानक की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। कथानक यों है कि, ३३ सों देवताओं में प्रधान जातवेदा नामक अग्नि, मातरिश्वा नामक वायु, तथा मघवा नामक इन्द्र, तीनों को यह अभिमान हो गया कि, सम्पूर्ण त्रैलोक्य में हमारा ही प्रभुत्व है। हम से बढ़ कर अन्य शक्ति का अभाव है। इनके इस अभिमान को दूर करने के लिए एक यक्ष प्रकट हुआ। देवता इसे देख कर घबरा गए। सर्वप्रथम अग्नि गए, अग्नि के सामने यक्ष ने एक तृण रख दिया, अग्नि इसे न जला सके, अग्नि वापस लौट आए। वायु गए, परन्तु ये भी इसे न उड़ा सके। सर्वान्त में इन्द्र पहुँचे। इन्द्र के पहुँचते ही तृण विलीन हो गया। देवता स्तब्ध, तथा चकित हो गए। उसी समय आकाश में 'हैमवती उमा' प्रकट हुई। और उसने आकाशवाणी की कि, हे देवताओ ! जिस यक्ष को देख कर तुम आश्चर्य्य में पड़ रहे हो, वह ब्रह्म (चिद्घन आत्मा) है। इसी के विजय में तुम्हारा विजय है। तप, दम, कर्म्म ही उसकी प्राप्ति के साधन हैं। साङ्गवेद, सत्य ही उस आत्मब्रह्म का आयतन है। जो आत्मब्रह्म की इस उपनिषत् को जान लेता है, वह पूर्णप्रतिष्ठित हो जाता है"। (केनोपनिषत्)

आख्यान के द्वारा उन सुप्रसिद्ध ज्ञान-क्रिया-अर्थ नामक तीन शक्तियों की ओर उपनिषत् ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जिनके अभिमान में पड़ कर जीवात्मा परमात्मा को भूल जाता है। पाञ्चभौतिक शरीरभुवन में अर्थाधिष्ठाता वैश्वानर अग्नि है, यही जातवेदा है। क्रियाधिष्ठाता तैजस वायु है, यही मातरिश्वा

है। ज्ञानाधिष्ठाता प्राज्ञ इन्द्र है, यही मघवा है। वै० तै० प्राज्ञ की समष्टि ही अर्थ-क्रिया-ज्ञानमूर्त्ति देवसत्य नामक जीवात्मा है। इसे यह अभिमान हो जाता है कि, जो कुछ प्राप्तव्य (अर्थ), कर्त्तव्य (क्रिया) तथा ज्ञातव्य (ज्ञान) है, वह सब कुछ मुझ में स्वतः सिद्ध है । फिर मुझ से अतिरिक्त ईश्वर है, इस झंझट में क्यों फँसा जाय। श्रुति कहती है-भूलते हो। एक 'ज्ञानीयतृण' तुम्हारे सामने रक्खा जाता है । तुम्हारा अग्निभाग प्रयत्न-रुहस्रों से भी इसे नहीं जला सकता। तुम्हारा वायुभाग इसे उड़ा नहीं सकता। तुम्हारा इन्द्रभाग उसी प्रकार इसमें डूब जाता है, जैसे समुद्र में लौटे का पानी। स्मरण रक्खो, तुम्हारा यह वैभव वस्तुत: न तो तुम्हारा है, न तुम्हारे आलम्बनभूत प्रज्ञानादि की समष्टिलक्षण ब्रह्मसत्य का है। **"यदस्य च त्वं-ब्रह्मसत्यं-यदस्य च देवेषु, अथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्"** के अनुसार भूतसत्यात्मक शरीरभुवन में प्रतिष्ठित देवसत्य, तथा ब्रह्मसत्य दोनों मीमांस्य हैं । वस्तुतत्त्व दोनों में व्याप्त रहने वाला सर्वव्यापक स्वतन्त्र तत्त्व है। एवं उसके दर्शन का एकमात्र उपाय शक्त्युपासना है । **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** के अनुसार शक्त्युपासना ही उस चिद्घनानुग्रह का अन्यतम द्वार है। उस परमात्मशक्ति के कणदान से ही तुम्हारा स्वरूप प्रतिष्ठित है । परमात्मशक्तियाँ हीं जीवात्मशक्तियों की प्रतिष्ठा है । **'तमुपास्वेत्युपनिषत्'**।

(४)—**'पानी से पुरुषशरीर उत्पन्न होता है'** यह उपनिषत् है, जिसका छान्दोग्य की 'पञ्चाग्निविद्या' में स्पष्टीकरण हुआ है। जलीयसृष्टि का यह शिक्षणकौशल भी द्रष्टव्य है। घटना यों घटित हुई। अरुणपुत्र, अतएव 'आरुणि' नाम से प्रसिद्ध श्वेतकेतु एकबार कुरुपञ्चालों की समिति में पधारे । वहाँ सुप्रसिद्ध सृष्टिविज्ञानवेत्ता प्रवाहण जैबिली भी विद्यमान थे। आपने श्वेतकेतु से प्रश्न किया कि, कुमार ! तुमने किस से शिक्षा प्राप्त की ?। पिता गौतम ने मेरा अनुशासन किया है, श्वेतकेतु ने उत्तर दिया। राजर्षि प्रवाहण ने कुमार श्वेतकेतु से एक साथ पाँच प्रश्न किए, एवं पाँचों के सम्बन्ध में श्वेतकेतु ने 'नाहं भगवो वेद' यही उत्तर दिया। यदि तुम इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते, तो तुमने क्या शिक्षा प्राप्त की ?, राजर्षि की इस भर्त्सना से क्लान्तमना होने वाले श्वेतकेतु पिता के पास लौटे, और कहा कि, उस राजन्यबन्धु ने मुझ से जो प्रश्न किए, उनका उत्तर आपने क्यों नहीं बतलाया ?। गौतम ने उत्तर दिया, मैं स्वयं इनका उत्तर नहीं जानता। यदि जानता, तो अवश्य बतलाता। पुत्र को आश्वासन प्रदान कर गौतम प्रवाहण के समीप पहुँचते हैं, और जिज्ञासा प्रकट करते हैं कि, आपने कुमार से जो प्रश्न किए हैं, उनका उत्तर बतलाइए ? गौतम ने सर्वप्रथम **'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'** इस पाँचवें प्रश्न का विश्लेषण करना आरम्भ किया।

'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्' के अनुसार रोदसीत्रैलोक्य के आदित्याग्निप्रधान द्युलोक से ऊपर प्रतिष्ठित परमेष्ठी नामक तीसरे द्युलोक में श्रद्धात्मक सोम प्रतिष्ठित रहता है । द्युलोकावच्छिन्न दिव्य सावित्राग्नि योनि है, तृतीय द्युलोकावच्छिन्न श्रद्धात्मक पारमेष्ठ्य सोम रेत है, जो कि 'अम्भः' नामक अप्तत्त्व है। इस दाम्पत्यभाव से, दूसरे शब्दों में श्रद्धारेत, एवं दिव्याग्निलक्षण योनि के समन्वय से भास्वरसोम नामक दाह्य तत्त्व उत्पन्न होता है। यही इस प्रथमाहुति का फल है । एवं यह अप्तत्त्व की द्वितीयावस्था है।

रोदसीत्रैलोक्य में व्याप्त पर्जन्य नामक आप्य अग्नि में प्राणदेवताओं के द्वारा श्रद्धाहुति से उत्पन्न सोम की आहुति होती है। पर्जन्याग्नि में हुत सोम वर्षा (पानी) रूप में परिणत होता है। वर्षा ही इस द्वितीयाहुति का फल है। एवं यही अप्तत्त्व की तृतीयावस्था है। पार्थिव गायत्राग्नि योनि बनती है, इसमें वर्षा नामक रेत की आहुति होती है। इस आहुति से अन्नसम्पत्ति उत्पन्न होती है। यह अन्नसम्पत् उस श्रद्धा नामक अप्तत्त्व का चतुर्थ रूप है। यही तृतीयाहुति का फल है।

लोमकेश–नखाग्र भागों को छोड़ कर सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त वैश्वानर अग्नि योनि है, अन्न रेत है। आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के द्वारा इस रेतोभूत अन्न की योनिभूत पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में आहुति होती है। भुक्तान्न में पार्थिव–आन्तरिक्ष्य–दिव्य–तीनों तत्त्व हैं। रस–मल के क्रमिक विशकलन से भुक्तान्न क्रमशः रस, असृक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा–रूप में परिणत होता हुआ 'शुक्र' रूप में परिणत हो जाता है। अन्नाहुति से उत्पन्न शुक्र अप्तत्त्व की पाँचवीं अवस्था है। यही चतुर्थी आहुति का फल है।

गर्भाशयगत शोणिताग्नि योनि है, पुरुषाण्डगत रेत रेत है। नाभानेदिष्ठ, एवयामरुत्, वृषाकपि, बालखिल्या, आदि प्राणदेवताओं के सहयोग से यही रेतः–आहुति गर्भपुरुषरूप में परिणत होती है। यही पाँचवीं आहुति का फल है। इसप्रकार दिव्य सावित्राग्नि, आन्तरिक्ष्य पर्जन्याग्नि, पार्थिव गायत्राग्नि, शारीर वैश्वानराग्नि, शोणिताग्नि, इन पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धालक्षण आपः, सोमलक्षण आपः, वृष्टिलक्षण आपः, अन्नलक्षण आपः, शुक्रलक्षण आपः, इन आहुतिद्रव्यों की आहुति होती है। इस परम्परा से पाँचवीं शुक्राहुति में वही श्रद्धा नामक अप्तत्त्व पुरुषस्वरूप में परिणत हो रहा है।

बड़े ही व्यवस्थित ढंग से, साथ ही प्राञ्जलभाषा में गर्भविज्ञानोपनिषत् की शिक्षा देती हुई उपनिषत् इस महत्त्वपूर्ण शिक्षा की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है कि, जिस विषय का हमें ज्ञान नहीं है, पाण्डित्य का गर्व छोड़ कर उस विषय के जानकार की सेवा में प्रणतभाव से पहुँच जाना चाहिए। 'वयं विद्वांसः' की कुत्सित भावना ज्ञानविकास का महाप्रतिबन्धक देखा सुना गया है।

(५)—**"प्रजापति ने स्वप्रजा के भरण–पोषण के लिए सात प्रकार के अन्न उत्पन्न किए"** यह उपनिषत् है। (बृ० आ० उ० १।५।१।)। उपनिषत् का शिक्षणकौशल देखिए, किस ऋजुपद्धति से उसने इस सप्तान्न–विज्ञान का स्पष्टीकरण किया है। सात अन्नों का साधारण, देवता, आत्मा, पशु, इन अन्नादभावों के क्रम से १–२–३–१–इसप्रकार विभाजन हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है—

यत्सप्तान्नानि मेधसा तपसाऽजनयत्पिता ॥
एकमस्य साधारणं, द्वे देवानभाजयत् ॥१॥
त्रीण्यात्मनेऽकुरुत, पशुभ्य एकं प्रायच्छत् ॥
तस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ॥२॥
कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्व्वदा ॥

यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन ॥
स देवानपिगच्छति स ऊर्ज्जमुपजीवति ॥३॥ (बृ० आ० १।५।)।

जौ, गेहूँ, उर्द, मूँग, चना, चांवल, आदि सुप्रसिद्ध अन्न प्रथमान्न विभाग है। इसी के लिए '**एक-मस्य साधारणम्**' कहा गया है। एतिलक्षण हुत अन्न, प्रेतिलक्षण प्रहुत अन्न, दोनों का द्वितीयान्न विभाग है। इसी के लिए '**द्वे देवानभाजयत्**' कहा गया है। पय तृतीयान्न विभाग है, इसी के लिए '**पशुभ्य एकं प्रायच्छत्**' कहा गया है। एवं 'मनः-प्राणः-वाक्' की समष्टि चतुर्थान्न विभाग है, इसी के लिए '**त्रीण्या-त्मनोऽकुरुत**' कहा गया है। इसप्रकार सात अन्न चार भागों में विभक्त हैं।

---*

१—प्रसिद्धमन्नम्]—**साधारणमन्नम**

२—हुतम्
३—प्रहुतम } —**देवान्ने**

४—पयः]—**पश्वन्नम्**

५—मनः
६—प्राणः } —**आत्मान्नानि**
७—वाक

(१—७) } —**"सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता"**

अब लौकिक भाषा में इन सातों अन्नों की मीमांसा कीजिए। आत्मा मनः-प्राण-वाङ्मय माना गया है। ज्ञानघन मन, क्रियाघन प्राण, अर्थघना वाक्, तीनों की समष्टि ही '**तदिदं सर्वम्**' है। सुसूक्ष्म मन की कामना से, तथा सूक्ष्म प्राण के व्यापार से स्थूल वाक्तत्त्व का विकास हुआ है, जो कि वाक्तत्त्व तै० के शब्दों में 'आकाश' भूत नाम से प्रसिद्ध है। बलग्रन्थितारतम्य से यही वागाकाश आगे जाकर क्रमशः वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन चार भूतों में परिणत हो जाता है। इसप्रकार मनःप्राणप्रधान आत्मा आकाशादि पाँच भूतों का जनक बनता हुआ सप्तकल बन रहा है। सप्तकलोपेत आत्मब्रह्म का अंशभूत जीवात्मा भी इन्हीं सातों कलाओं से युक्त है, जो सप्तकलासमष्टि चार भागों में विभक्त मानी जा सकती है। पृथिवीप्रधान स्थूलशरीर की एक स्वतन्त्र कला है। जल, तेज, दोनों की समष्टि एक कला है। वायु एक स्वतन्त्र कला है। आकाशात्मिका वाक्, प्राण, मन, इन तीनों की एक स्वतन्त्र कला है। चार भागों में विभक्त इन्हीं सात कलाओं के अन्न का विचार प्रस्तुत है। भौतिक शरीर नामक प्रथम विभाग भूतसृष्टिमात्र में सामान्य है, आहार-निद्रा-भय-मैथुन, चारों धर्म्म भी इस दृष्टि से सामान्य हैं। अतएव इस सामान्य आत्माङ्ग के अन्न को श्रुति ने 'साधारण' नाम से व्यवहृत किया है। स्थूलशरीरगत जलीय तत्त्व सौम्य प्राणदेवताओं से युक्त है, तेजस्तत्त्व आग्नेय प्राणदेवताओं से युक्त है। सौम्य देवता, आग्नेय देवताओं की समष्टि 'देवविभाग' नामक एक स्वतन्त्र विभाग है। पार्थिव

साधारण अन्न जहाँ पार्थिव शरीर का अन्न है, वहाँ जल, तथा तेज (प्रकाश) दोनों क्रमशः सौम्य-आग्नेय देवताओं के अन्न हैं।

शारीर-रसों को मस्तक से पाद पर्य्यन्त, पाद से मस्तक पर्य्यन्त प्रवाहित करने वाला शारीर वायुतत्त्व है। यह वायुतत्त्व आन्तरीक्ष्य है। उधर सृष्टिविज्ञान के अनुसार पशुप्राण वायव्य बनता हुआ आन्तरीक्ष्य है, जैसा कि -**'अन्तरिक्षभाजना वै पशवः'** इत्यादि निगम से प्रमाणित है। पशुभाग वायुप्रधान है, अतएव पशुप्राण-प्रधान अश्वादि पशुओं के अपत्य उत्पत्ति से कुछ समय पीछे ही उछलने कूदने लगते हैं। **'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे'** इत्यादि मन्त्रश्रुति भी पशु की इसी वायुरूपता का समर्थन कर रही है। इस पशव्य वायु का भोग हमारे (मनुष्य) शरीर में भी हो रहा है। श्लेष्मादि चिक्कण भाग साक्षात् पशु है। 'घृतमन्तरिक्षस्य' के अनुसार अन्नगत घृत रस आन्तरिक्ष्य है, जो पयोरस का रूपान्तर है। इसप्रकार अन्नगत घृतरस भी शारीर पशु का अन्न बन रहा है। एवं साक्षात्रूप से श्वास-प्रश्वास द्वारा भी वायुतत्त्व शारीर पशुभाग का अन्न बन रहा है।

आकाश भूमा है, यही सुख, किंवा आनन्द है, जैसा कि—**"को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्"** इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। निरावरणप्रान्त, खुली हवा, निःसीमभूमा, आदि ही तो आनन्द के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। इसप्रकार भूमात्मक आकाश आकाशत्त्वेन भी आत्मा का अन्न बन रहा है, एवं अपने शब्दगुण से भी यह आत्मा का अन्न बन रहा है। दूसरा प्राणात्मक क्रियान्न है, तीसरा मनोमय ज्ञानान्न है। ज्ञान-क्रिया-आकाश, तीनों क्रमशः आत्मा के मनः-प्राण-वाक् भागों के अन्न बन रहे हैं। और इसप्रकार सातों अन्नों का आध्यात्मिक सातों अन्नादकलाओं के साथ उपभोग हो रहा है।

सहज भाषा की दृष्टि से सातों का समन्वय कीजिए। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, क्रिया, ज्ञान, ये सात अन्न हैं। सातों में पाँच तो प्रजापति के कोश से बिना परिश्रम के ही मिलते रहते हैं। श्वासप्रश्वासात्मक वायु[1], सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि-वाक्-आत्म-भेदभिन्न तेज[2] (ज्योति), आकाशभूमा, एवं तदनुगत शब्द[3],क्रिया[4], ज्ञान[5], ये पाँच अन्न तो स्वतः प्राप्त हैं। शेष पृथिवी, जल के लिए हमें श्रम करना पड़ता है। पानी प्रयासपूर्वक मुख में डाला जाता है। पृथिवी (मिट्टी) को रूपान्तर (जौ-गेहूं आदि) में परिणत कर प्रयासपूर्वक भोग्य बनाया जाता है। यही सप्तान्नविज्ञान की संक्षिप्त परिभाषा है, जो गहनतम बनती हुई भी शिक्षण-कौशल से सरलतम बन रही है।

१—मनः—ज्ञानम् (सहजज्ञानविकासः)
२—प्राणः—क्रिया (सहजक्रियासञ्चारः) } —— **आत्मान्नम्**
३—वाक् आकाशः (भूमा,शब्दश्च)

४—पशुः—वायुः (श्वासप्रश्वासौ)]—पश्वन्नम्

५—आग्नेयदेवाः—तेजः (पञ्चविधं ज्योतिः) } —— **देवान्नम्**
६—सौम्यदेवाः—जलम् (पेयं जलम्)

७—शरीरम्—पृथिवी (गोधूमादीनि सा० अन्नानि) ⌉—— साधारणान्नम्

पूर्वप्रदर्शित कुछ एक निदर्शनों से हमें यह मान लेना पड़ता है कि, उपनिषदों का शिक्षणक्रम, दूसरे शब्दों में विषयनिरूपणीया शैली प्रियसत्यभावानुगता बनती हुई 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को अक्षरशः चरितार्थ कर रही है। यही उपनिषच्छास्त्र का शिक्षणकौशल है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि, यह शिक्षणकौशल अध्यापनकौशल पर अवलम्बित है, एवं अध्यापनकौशल परिभाषाज्ञान पर अवलम्बित है। निसन्देह परिभाषाज्ञान की विलुप्ति से आज हमारा अध्यापनकौशल बिगड़ गया है। फलस्वरूप सत्यं-शिवं-सुन्दरं उपनिषच्छास्त्र जिज्ञासु वर्ग के लिए एक जटिल समस्या बन गया है। विलुप्त वैदिक परिभाषाओं का पुनरुद्धार ही शिक्षणकौशल का जीर्णोद्धार कर सकता है, यह कहना पिष्टपेषण ही माना जायगा।

—*—

प्रकरणोपसंहार—

उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?, प्रश्न के सम्बन्ध में यद्यपि अभी बहुत कुछ वक्तव्य है। परन्तु विस्तारभय से यहीं विश्राम किया जाता है। ज्ञान–कर्म–भक्ति–विज्ञान–आदि जटिल विषयों की रहस्यशिक्षा के साथ साथ व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध नैतिक शिक्षाओं को हमारे सम्मुख रखता हुआ उपनिषच्छास्त्र अपनी उपयोगिता का सभी दृष्टिकोणों से समर्थन कर रहा है। औपनिषद–शिक्षासूत्र के नियन्त्रण में रहता हुआ मनुष्य अधिकार–योग्यतानुसार अपने लक्ष्य पर पहुँच सकता है, जिस लक्ष्य की मूलप्रतिष्ठा–'बुद्धियोग–शिक्षा' है। यही उपनिषदों की प्रधान शिक्षा है। उपनिषत् हमें क्या नहीं सिखाती ?, यही प्रकरणोपसंहार–वाक्य है।

'उपनिषत्–शिक्षास्वरूपदिग्दर्शन'–नामक

तृतीय स्तम्भ उपरत

–३–

—*—

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'उपनिषत्-शिक्षास्वरूपदिग्दर्शन'- नामक

तृतीयस्तम्भ-उपरत

३

—×—

श्री:

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-

'औपनिषद-ज्ञानाधिकारिस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

चतुर्थ-स्तम्भ

४

श्रीः

औपनिषद्–ज्ञानाधिकारिस्वरूपादिग्दर्शन

चतुर्थ–स्तम्भ

१–ब्रह्मविद्या, और तत्प्रतिपादक शास्त्र—

अव्यय–अक्षर–गर्भिता आत्मक्षरविद्या ही ब्रह्मविद्या है। परिभाषानुसार उपाधिरहित **'ब्रह्म'** शब्द एकमात्र आत्मक्षर का ही वाचक माना गया है। आत्मक्षर का मूल अक्षर है, सर्वमूल अव्यय है, यही काष्ठा है, यही परा गति है। अव्यय–अक्षर के बिना आत्मक्षर अनुपपन्न है। अतएव आत्मक्षर से सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्मविद्या का–**'अव्ययाक्षरगर्भितत्त्वे सति–आत्मक्षरविद्यात्त्वं ब्रह्मविद्यात्त्वम्'** यही लक्षण न्याय–सङ्गत माना जायगा। नानाभावोपेता खण्ड–खण्डात्मिका ददरपुण्डीरविद्या, उद्‌गीथविद्या, सामविद्या, प्रणवविद्या, परिमरविद्या, पर्य्यङ्कविद्या, अभिप्लवविद्या, पृष्ठविद्या, हिङ्कारविद्या, श्यैत-नौधसविद्या, ज्योतिर्विद्या, आदि यच्चयावत् इतर विद्याओं का इसी ब्रह्मविद्या में अन्तर्भाव है। ब्रह्मविद्या के परिज्ञान से सब कुछ विज्ञात बन जाता है। इसी अभिप्राय से–**'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'** यह कहा जाता है। ब्रह्मविद्या का तत्त्वतः परिज्ञान प्राप्त करने वाले ब्रह्मवित् विद्वान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। इसी ब्रह्मविद्या के आधार पर भारतीय महर्षिगण 'सर्वज्ञ' कहलाए, इसीके बल पर उन्होंनें अपनें लिए **'विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः'** शब्दों का प्रयोग किया, जिन शब्दों को निम्न लिखित श्रुति से समर्थन प्राप्त है—

'तदाहुः–ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः' (शत० १४।४।२।२०।)

ब्रह्मचर्य्य, तपः, सत्य, श्रद्धा, उपनिषत्, विद्या, आदि ब्रह्मविद्याप्राप्तिसाधनों के अनुष्ठान से ऋषियों नें सर्वज्ञानमूलभूता इस ब्रह्मविद्या का साक्षात्कार किया, एवं लोकाभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए अपनी दैवी वाणी में उसका संकलन किया। ऋषिसंकलिता शब्दात्मिका वही ब्रह्मविद्या आजदिन **'वेदशास्त्र'** नाम से प्रसिद्ध है। **'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति'** (मनुः १२।९७।) कहते हुए भगवान् मनु ने भी उक्त श्रुति का यथावत् अनुगमन किया है। महर्षियों के चिरकालिक तपोयोग से अवतीर्ण वेदशास्त्र एक प्राकृतिक शास्त्र है, अन्तर्य्यामी की सत्यनियति से नियन्त्रित मर्य्यादाशास्त्र है। इसे लौकिक शब्दशास्त्रों की भाँति सामान्य शास्त्र नहीं माना जा सकता। अतएव सर्वसाधारण इसके अधिकारी नहीं बन सकते। प्रकृत्या (जन्मना) जिनमें अधिकार–समर्पण–लक्षणा योग्यता बीजरूप से प्रतिष्ठित है, वे ही (भारतीय द्विजातिवर्ग ही) इस शास्त्र के अनन्य अधिकारी माने गए हैं।

केवल जन्मना द्विजाति होने से भी तब तक वेदशास्त्राधिकार प्राप्त नहीं होता, जब तक कि, स्वाध्याय-सम्बन्धी निर्दिष्ट नियमों को नहीं अपना लिया जाता। यही अधिकारसमर्पण की दूसरी नियति है। उपनिषदों की सामान्यशिक्षा, जिसे पूर्वप्रकरण के अन्तिम परिच्छेद में हमनें व्यावहारिकी शिक्षा के नाम से व्यवहृत किया है, जहाँ सर्वसाधारण के लिए विहित है, वहाँ कर्म्म–ज्ञान–भक्ति–योगादि लक्षणा रहस्यशिक्षा विशेष अधि-

कारियों के लिए ही नियत है। अनधिकारी पुरुष चाहे यावज्जीवन वेदशास्त्र की पुस्तक का भारवहन करता रहे, परन्तु वह इसके तत्त्व का सदा अनधिकारी ही बना रहेगा। प्रकृत प्रकरण में संक्षेप से उसी अधिकार-मर्य्यादा का स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

पूर्वप्रतिपादिता ब्रह्मविद्या सर्वविद्या है, तत्प्रतिपादक वेदशास्त्र सर्वशास्त्र है। वेदशास्त्र की इस सर्वता के परिज्ञान के लिए प्रथम ब्रह्मविद्या की सर्वता का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक होगा। विद्यात्मक ब्रह्मतत्त्व को त्रिमूर्त्ति बतलाया गया है। त्रिमूर्त्ति इस ब्रह्म के तत्त्वभेद से **'ज्ञानाधिकरण, क्रियाधिकरण, अर्थाधिकरण'** ये तीन अधिकरण हो जाते हैं। ज्ञानाधिकरण **'अमृतसंस्था'** है, क्रियाधिकरण **'ब्रह्मसंस्था'** है, एवं अर्थाधिकरण **'शुक्रसंस्था'** है। अमृतसंस्था **'मनोमयी'** है, ब्रह्मसंस्था **'प्राणमयी'** है, शुक्रसंस्था **'वाङ्मयी'** है। तीनों की समष्टि ही **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** इस बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार सृष्टिसाक्षी आत्मा, किंवा ब्रह्म है।

मनः-प्राण-वाक्-कलाओं के स्वाभाविक त्रिवृद्भाव के कारण तीनों संस्थाओं में (प्रत्येक में) तीन तीन अवान्तर कलाओं का उपभोग हो रहा है। ज्ञानाधिकरणलक्षणा मनः-संस्था **'आनन्द-विज्ञान-मनो'** मयी है। क्रियाधिकरणलक्षणा प्राणसंस्था **'मनः-प्राण-वाङ'** मयी है। एवं अर्थाधिकरणलक्षणा वाक्संस्था **'वाक्-आपः-अग्नि'** मयी है। इन्हीं तीन संस्थाओं के भेद से ब्रह्मविद्या **'अमृतविद्या, ब्रह्मविद्या, शुक्रविद्या'** इन तीन भागों में विभक्त हो रही है। तीनों को **'मनोविद्या, प्राणविद्या, वाग्विद्या'** इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। मनोविद्या **'आत्मविद्या'** है, प्राणविद्या **'देवविद्या'** है, वाग्विद्या **'भूतविद्या'** है। तीनों एक ही के तीन विवर्त्त हैं, एवं वही तीनों हैं। निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति इसी त्रिसंस्था तत्-विद्या का विश्लेषण कर रही है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एत द्वै तत्॥ (कठोप० ६।१।)।

अर्थाधिकरणात्मिका शुक्रसंस्था के वाक्-आपः-अग्नि, इन तीन पर्वों में उस समस्त भौतिक विज्ञान का अन्तर्भाव है, जिसके कुछ एक अंश-प्रत्यंशों को हस्तगत करने वाला वर्त्तमानयुग का वैज्ञानिक जगत् भारतीय आर्षसाहित्य को एकमात्र अध्यात्मविद्यापरक मानता हुआ इसे विज्ञानशून्य बतलाने की भयङ्कर भूल कर रहा है। **'वागिन्द्रः'** (शत० ८।७।२।६।) के अनुसार सर्वव्यापक, आकाशात्मा इन्द्र ही वाक् है। **'रूपं रूपं मघवा बोभवीतु'** (ऋक्सं० ३।५३।८।) के अनुसार यही वाङ्मय मघवेन्द्र प्रकाशात्मा है। **'विद्युद्वा अपां ज्योतिः'** (शत० ७।५।२।४६) के अनुसार आपःशुक्र ही विद्युत् है। अग्नि ही ताप का अधिष्ठाता है। इसप्रकार प्रकाश-विद्युत्-ताप, तीनों क्रमशः वाक्-आपः-अग्नि शुक्रों के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। लाइट (Light), इलेक्ट्री (Electry), हीट (Heat) वर्त्तमान विज्ञान के ये तीनों मूलाधार हमारे शुक्रतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, जो कि शुक्र तत्त्व आर्षसाहित्य का सर्वथा अवर धरातल माना गया है। इसी शुक्रत्रयी के आधार पर वेदयुगकालीन (देवयुगकालीन) वैज्ञानिकों नें, जो कि वैज्ञानिक **ऋभू**, विभ्वा,

वाज, त्वष्टा, आदि नामों से प्रसिद्ध थे, ऐसे ऐसे अद्भुत वैज्ञानिक आविष्कार किए थे, जिनकी प्रतिकृति भी सम्भवतः आज अनुपलब्ध है। **सोमपानसाधक चमसयन्त्र, जल-थल-नभ सञ्चारी हरि (अश्व), वरुण की नौका, सौभविमान, प्लवविमान, धातुमयी गौ, उत्ता, सुपर्ण, पुरुष, वृषभ, सूर्य्यचक्र, सूर्य्यसदन,** आदि जिन अभूतपूर्व भौतिक आविष्कारों का ऋग्वेदसंहिता में यत्रतत्र वर्णन उपलब्ध होता है, उनके आधार पर वर्त्तमान युग के हम अकर्म्मण्य-वेदतत्त्वज्ञानवञ्चित भारतीय कम से कम यह कहने की धृष्टता तो कर ही सकते हैं कि, अवश्य ही वेदशास्त्र नें आध्यात्मिक क्षेत्र के साथ साथ भौतिक विज्ञानक्षेत्र का भी पर्य्याप्त विश्लेषण किया है। भौतिकविज्ञानाधिष्ठात्री, शुक्रात्मिका यही वाग्विद्या विज्ञानशास्त्र का **'भूतविद्या'** नामक प्रथम पर्व है।

भूतविद्या का आधार प्राणविद्या है, जिसे क्रियाधिकरणलक्षणा बतलाया गया है। प्राण ही परिभाषानुसार 'देवता' है, जिसके **'ऋषि, पितर, देव, असुर, गन्धर्व** आदि अवान्तर अनेक भेद हैं। यही प्राणविद्या **'देवविद्या'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। सर्वाधारभूता मनोविद्या ही **'आत्मविद्या'** है। वाक् की अपेक्षा प्राण प्रबल है, प्राण की अपेक्षा मन अधिक प्रबल है। फलतः तीनों में प्रथम-मध्यम-उत्तम भेद से श्रेणिविभाग मान लेना न्यायसङ्गत बन रहा है। वाङ्मयी, किंवा शुक्रमयी भूतविद्या ही यज्ञात्मक **'कर्म्मकाण्ड'** है। प्राणमयी, किंवा-ब्रह्ममयी देवविद्या ही तत्त्वोपासनात्मक **'उपासनाकाण्ड'** है। मनोमयी, किंवा अमृतमयी आत्मविद्या ही अव्यक्तात्मक **'ज्ञानकाण्ड'** है। हमारी आध्यात्मिक संस्था के आत्मा, देवता, भूत, ये तीनों पर्व आधिदैविक उक्त तीनों पर्वों से उपकृत हैं। आधिभौतिक वाङ्मय पदार्थों के माध्यम से आधिभौतिक अभ्युदय के लिए कृत कर्म्म कर्म्मकाण्ड है। आधिभौतिक वाङ्मय पदार्थों के माध्यम से आधिदैविक तत्त्वसंग्रह के लिए होनें वाला प्राणव्यापार ही उपासनाकाण्ड है। एवं आधिदैविक साधनों के द्वारा आधिदैविक फल प्राप्त्यर्थ जो अव्यक्त कर्म्म किया जाता है, वही ज्ञानकाण्ड है। कर्म्म का भूतपर्व से सम्बन्ध है, उपासना का देवता से सम्बन्ध है, ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध है। ब्रह्मविद्या के स्थूल पर्वस्थानीय शुक्रात्मक भूतविद्यापर्व का विश्लेषण प्रधानरूप से **'ब्राह्मणभाग'** में हुआ है। सूक्ष्म पर्वस्थानीय ब्रह्मात्मक देवविद्यापर्व का विश्लेषण प्रधानरूप से **'आरण्यकभाग'** में हुआ है। एवं सुसूक्ष्म पर्वस्थानीय अमृतात्मक आत्मविद्यापर्व का विश्लेषण प्रधानरूप से **'उपनिषद्भाग'** में हुआ है। इसप्रकार त्रिकाण्डात्मिका ब्रह्मविद्या त्रिकाण्डात्मक वेदशास्त्र के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हुई है, जिसके अतिरिक्त कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है।

ब्रह्मविद्या--शास्त्रपरिलेखः—

*

——————*

१-आनन्दः
२-विज्ञानम्
३-मनः

}--मनःसंस्था-मन. (अमृतम्) -ज्ञानाधिकरणम्

——————*

1-मनः
2-प्राणः } -प्राणसंस्था-प्राणः (ब्रह्म)--क्रियाधिकरणम्
3-वाक्

1-वाक्
2-आपः } -वाक्संस्था-वाक् (शुक्रम्)--अर्थाधिकरणम्
3-अग्निः

1-अमृतात्मा—ज्ञानात्मा—आत्मविद्यालक्षणः—सर्वाधारः
2-ब्रह्मात्मा—-कर्म्मात्मा--देवविद्यालक्षणः—-तत्त्वाधारः
3-शुक्रात्मा—-भूतात्मा—-भूतविद्यालक्षणः—विश्वाधारः

1-आत्मविद्या—ज्ञानकाण्डप्रतिष्ठा—उपनिषच्छास्त्रम्
2-देवविद्या—-उपासनाकाण्डप्रतिष्ठा-आरण्यकशास्त्रम्
3-भूतविद्या—-कर्म्मकाण्डप्रतिष्ठा--ब्राह्मणशास्त्रम्

२-वर्णप्रजा, और अधिकारमर्य्यादा—

'देवेभ्यस्तु जगत् सर्वम्' (मनुः३।२०१।) इस मनुवचन का तात्पर्य्य है-'देवासुराभ्यां जगत् सर्वम्'। देव, असुर, दोनों प्राणों के समन्वय का ही नाम जगत् है। देव आग्नेय हैं, असुर आप्य हैं। अप् तत्त्व की विरलावस्था ही 'सोम' है। फलतः 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस सिद्धान्त का उक्त मानवसिद्धान्त के साथ भलीभाँति समन्वय हो रहा है। दैवीविभूति का देवप्राण से सम्बन्ध है, आसुरीविभूति का असुरप्राण से सम्बन्ध है। दोनों विभूतियों का समन्वय ही विश्व है। समष्टि-व्यष्टि-रूप से सर्वत्र इन्हीं दोनों विभूतियों का साम्राज्य है। सत्त्वगुण का दैवीविभूति से, तमोगुण का आसुरीविभूति से सम्बन्ध है। रजोगुण दोनों का संयोजक है। इसप्रकार दैवासुरप्राणकृतमूर्त्ति विश्व के प्रत्येक पदार्थ में तीनों प्राकृतिक गुणों की गौण-प्रधान-तारतम्य से सत्ता सिद्ध हो जाती है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

१–न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ (गी० १८।४०)।
२–त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ (गी० ७।१३।)।

सत्त्वानुगता देवप्राणप्रधाना गुणविभूति, तमोऽनुगता असुरप्राणप्रधाना दोषविभूति, दोनों की समष्टि 'तदिदं सर्वम्' है, जैसाकि–भूमिकाप्रथमखण्डान्तर्गत **'मङ्गलरहस्य'** नामक प्रकरण में–**'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी'** इत्यादि रूप से विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस सामान्य अनुगम के अनुसार मानववर्ग का भी प्रकृत्या (जन्मना) आसुरभावमूलक तमोगुण से सम्बद्ध पाप्माओं के संसर्ग से असंस्कृत रहना अनिवार्य्य है। स्वकर्म्मानुसार माता–पिता के योषावृषात्मक बीज में औपपातिकरूप से प्रतिष्ठित रहने वाला जीवात्मा मातृदोष, पितृदोष, कालदोष, ग्रहदोष, नाड़ीदोष, पूर्वजन्मसञ्चित कर्म्मसंस्कारदोष, रसासृङ्मासादि भूतदोष, आदि अनेक दोषों को ले कर ही गर्भाशय में प्रतिष्ठित रहता है। इन आगन्तुक, तथा प्राकृतिक दोषों के लेप से इसका मनःप्राणवाङ्मय आत्मा मलिन रहता है, असंस्कृत रहता है। जिस प्रकार तैललिप्त मलीमस असंस्कृत वस्त्र पर रङ्गादि शुभ संस्कार सम्भव नहीं है, इसी भाँति इस असंस्कृत–मलीमस आत्मा पर विद्यासंस्कार का कोई प्रभाव नहीं होता। जिस प्रकार **'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** श्रुतिप्रमाण से हमारा आत्मा सूर्य्यमूलक है, एवमेव **'सैषा त्रयी विद्या तपति'** (शत० १०।५।२।२।) श्रुति–प्रमाण से वेदशास्त्र भी सूर्य्यमूलक ही माना गया है। यही सूर्य्यवेद विज्ञानशास्त्र में **'गायत्रीमात्रिक'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन भूमिका द्वितीयखण्ड में किया जा चुका है। वर्णसृष्टि, लोक-सृष्टि, आश्रमविभाग, भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान, सबकी प्रतिष्ठा यही वेदतत्त्व है, जैसाकि निम्न लिखित स्मृति-वचन से स्पष्ट है—

चातुर्वर्ण्यं, त्रयो लोका, श्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं-भवत्–भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ॥ (मनुः १२।९७।)

त्रयीघन सूर्य्य का ऋग्–भाग अग्नि है, इसीसे भूलोक उत्पन्न हुआ है। यजुर्भाग वायु है, यही भुवर्लोक का अधिष्ठाता है। सामभाग आदित्य है, यही स्वर्लोक का अधिष्ठाता है। भूलोकावच्छिन्न ऋङ्मूर्त्ति अग्नि अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से छन्दित है। इसी गायत्राग्नि से ब्रह्मवीर्य्य का विकास हुआ है। सृष्टि में जिस प्रजा में इस गायत्रीवीर्य्य की प्रधानता रहती है, वही वर्णों में **'ब्राह्मण'** कहलाया है। भुवर्लोकावच्छिन्न यजुर्म्मूर्त्ति वायु (किंवा वाय्वविनाकृत मरुत्वानिन्द्र) एकादशाक्षर त्रिष्टुपछन्द से छन्दित है। इसी त्रैष्टुभ इन्द्र से क्षत्रवीर्य्य का विकास हुआ है। प्रजासृष्टि में एतद्वीर्य्यप्रधाना प्रजा 'क्षत्रिय' नाम से प्रसिद्ध हुई है। स्वर्लोकावच्छिन्न साममूर्त्ति आदित्य (किंवा आदित्याविनाकृत विश्वेदेव) द्वादशाक्षर जगतीछन्द से छन्दित है। इन्हीं जागत विश्वदेवों से विड्वीर्य्य का विकास हुआ है। प्रजासृष्टि में एतद्वीर्य्यप्रधाना प्रजा **'वैश्य'** नाम से व्यवहृत हुई है।

गायत्राग्नि सौरयज्ञ के प्रातःसवन के, त्रैष्टुभ इन्द्र माध्यन्दिनसवन के, एवं जागत विश्वेदेव सायंसवन के अधिष्ठाता हैं। इसप्रकार वेदात्मक एक ही सौर तेज अपने त्रिषवणात्मक (त्रिसवनात्मक) अहर्यज्ञ में त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंशस्तोमावच्छिन्न पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–नामक तीन स्तौम्य लोकों से युक्त अग्नि–इन्द्र–विश्वेदेव, इन तीन देवताओं के भेद से ब्रह्म–क्षत्र–विड्–वीर्य्यद्वारा ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य, इन तीन वर्णों का प्रभव बन रहा है। प्रातःसवन में गायत्री है, माध्यन्दिनसवन में सावित्री है, सायंसवन में सरस्वती, किंवा वृषाकपायी है। गायत्रप्रणाली में व्याप्त प्रातःकालीन सौर प्राण ब्राह्मणवर्ण का जनक है। सावित्रप्रणाली में व्याप्त माध्यन्दिनसवनीय सौर प्राण क्षत्रियवर्ण का प्रभव है। सारस्वतप्रणाली में व्याप्त सायंकालीन सौर प्राण वैश्यवर्ण का उत्पादक है। अक्षरानुगृहीत अव्ययमन का हृदयस्थानीय इस सूर्य्य में ही विकास माना गया है। अतएव सौरप्राणावच्छिन्न अव्ययमन '*मनु' कहलाया है। मनुलक्षण यही अव्ययपुरुष सौरवेद के द्वारा उक्त रूप से वर्णसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक बना हुआ है। इसी वर्णोत्पत्तिविज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने कहा है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ (गी०४।१३।)।

प्रकृतिमण्डल में प्रातःकाल का सूर्य्य ब्राह्मण है, एवं पूर्व क्षितिज इस की प्रतिष्ठा है। मध्याह्न का सूर्य्य क्षत्रिय है, एवं मध्याकाश इस की प्रतिष्ठा है। सायंकाल का सूर्य्य वैश्य है, एवं पश्चिम क्षितिज इस की प्रतिष्ठा है। अपने प्रवर्ग्यलक्षण उच्छिष्ट भाग से यही विट्–सूर्य्य अर्थोत्पादन का निमित्त बनता है। प्रातः–सायं समानावस्थापन्न हैं। दोनों पर मध्याकाशस्थ सावित्रतेजोमय क्षत्रवीर्य्यप्रधान प्रचण्ड चण्डांशु का प्रभुत्त्व है, शासन है। त्रिविध सूर्य्यसंस्थाओं से उत्पन्न तीनों वर्णों की भी यही स्थिति है। ब्राह्मण प्रातःकाल का शान्त, किन्तु वर्द्धिष्णु तेज है। वैश्य सायंकालीन शान्त, किन्तु क्षयिष्णु तेज है। दोनों में हीं शान्तिलक्षण समतुलन है। ब्राह्मण–वैश्य का समतुलन प्रसिद्ध है। दोनों पर मध्यस्थ क्षत्र का शासन है। इन तीनों वर्णों में आधारशिला ब्राह्मणवर्ण ही माना गया है। प्रातःकाल ही मध्याह्न, एवं सायं का आधार है। पृथिवी ही अन्तरिक्ष, एवं द्यौ की प्रतिष्ठा है। गायत्री ही त्रिष्टुप्, एवं जगती का उक्थ है। ऋक् ही यजुः-साम की वितानभूमि है। अग्नि ही वाय्वादित्य की प्रतिष्ठाभूमि है। इसी प्रतिष्ठातत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने ब्राह्मण को इतर वर्णों की योनि माना है। जो समाज इस वर्ण की उपेक्षा कर देता है, तथा जिस समाज का यह वर्ग स्व-स्वरूप से विच्युत हो जाता है, उस समाज की विनष्टि निश्चित है। अग्नि ही अग्नि–वायु–आदित्यरूप से त्रयीवेदरूप में परिणत हुआ है। इधर अग्निप्रधान वर्ण ब्राह्मणवर्ण है। अतएव तीनों वर्णों में से अग्नि–प्रधान ब्राह्मणवर्ण ही 'वेदगोप्ता' माना गया है।

यह तो हुई अहर्यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली सौरकालव्यवस्था की चर्चा। अब रात्रिकाल की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। रात्रि का सम्बन्ध भूपिण्ड, तथा चन्द्रमा से माना गया है। चन्द्र–

---

* 'मनु' तत्त्व का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत–**'मनोर्ह वा ऋषभ आस, तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक् प्रविष्टास'** (शत०१।१।४१।१४।कं०से१७कं०पर्य्यन्त) इत्यादि ब्राह्मणभाष्य में देखना चाहिए।

प्राणानुगता रात्रि सौम्यप्राणप्रधाना है, इसी से योषासर्ग (स्त्री-सृष्टि) हुआ है। भूपिण्डानुगता रात्रि पूषाप्राणप्रधाना है, इसी से शूद्रसृष्टि हुई है। उभयानुगता रात्रि में तमोमय आसुर प्राण का साम्राज्य है, जो कि आसुरप्राण अग्निमुख पूर्वप्रतिपादित दिव्यप्राण का प्रतिस्पर्द्धी माना गया है। इस तमःप्रणाली में व्याप्त मलीमस सौम्य-पौष्ण प्राण से क्रमशः स्त्री, शूद्रवर्ग का आविर्भाव हुआ है। यह रात्रिगत प्राण अच्छन्दस्क है, अमर्य्यादित है। इसी से स्त्री-शूद्र की आत्मसंस्था का सम्बन्ध है। इसी वर्णोत्पत्तिविज्ञान को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति कहती है—

"गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्।
न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्"॥

ऋतुओं में वसन्त ब्राह्मण है। वसन्ताग्नि शान्त, तथा वर्द्धिष्णु है। ग्रीष्म क्षत्रिय है। शीर्णधर्म्मा क्षयिष्णु शारदाग्नि वैश्य है। पुष्टिप्रवर्त्तक वर्षाकाल शूद्र है। इसी आधार पर अग्न्याधान की निम्नलिखित व्यवस्था का समन्वय हुआ है—

(१) "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत"।
(२) "ग्रीष्मे राजन्यः"।
(३) "शरदि वैश्यः"।
(४) "वर्षासु रथकारः (पूषप्राणदेवतायुक्तः सच्छूद्रः) अग्नीनादधीत"।

उक्त वर्णविज्ञान से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, सोपनिषद-सारण्यक-सब्राह्मण-सशाख-अथर्व-गर्भित त्रयीवेद का सौर अहर्यज्ञ से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में तत्त्वात्मिका वेदविद्या की सत्ता अहर्यज्ञ ही है। एवं इसी के तीनों सच्छन्दस्क प्राणदेवताओं से ब्रह्म-क्षत्र-विड्-वीर्य्य-द्वारा द्विजातिप्रजा की सृष्टि हुई है। अतएव एकमात्र द्विजातिप्रजा को ही वेदशास्त्र-स्वाध्याय का अधिकार है। वेदतत्त्वविरहित रात्रिभाग से उत्पन्न स्त्री-शूद्र त्रयीविद्या में सर्वथा अनधिकृत हैं। ब्राह्मणभागसिद्ध यज्ञात्मक कर्म्मयोग, आरण्यकभाग-सिद्ध तत्त्वात्मक भक्तियोग, उपनिषद्भागसिद्ध अव्यक्तात्मक ज्ञानयोग, तीनों योगों का अधिकार भी एकमात्र द्विजाति-पुरुषों को ही है। निम्न लिखित व्याससूक्ति इसी अधिकारमर्य्यादा का स्पष्टीकरण रही है—

"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा"

—*—

३-संस्कार-और अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारमर्य्यादा के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-कुल में जन्म लेने वाला, अतएव जन्मना ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य कहलाने वाला पुरुष वेदस्वाध्याय का अधिकार रखता है, अथवा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य वर्णोचित कर्म्म करने वाला वेदस्वाध्याय का अधिकार रखता है?, यही प्रश्न का स्वरूप है। प्रश्न का तात्पर्य्य यही है कि, वर्णव्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली अधिकारमर्य्यादा का

जाति(वर्ण)से सम्बन्ध है, अथवा कर्म्म से ?। उत्तर में यही कहा जायगा कि, जाति से भी वर्ण का सम्बन्ध नहीं है, एवं कर्म्म से भी वर्ण का कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल ब्राह्मणादि वर्णों में उत्पन्न होने से भी वेदाधिकार नहीं मिल सकता। एवं द्विजातीतर शूद्रादि वर्ण-अवर्ण में उत्पन्न होकर जिसनें व्यामोहवश यज्ञोपवीतादि संस्कारों का अभिनय कर डाला है, वह भी वेदाधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। जो द्विजातिकुल में उत्पन्न नहीं होते, दूसरे शब्दों में जिनके आत्मा में वेदतत्त्वात्मक सच्छन्दस्क अहर्यज्ञ बीजरूप से प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसे स्त्री-शूद्रों पर किया गया संस्कार निरर्थक है। जब बीज ही नहीं, तो संस्कार किस का। एवमेव जात्या द्विजाति होने पर भी जिन का वीर्य्य वेदतत्त्वग्राहक सांस्कारिक कर्म्म से शून्य हैं, ऐसे द्विजबन्धु भी इस वेदसंस्कार के अयोग्य ही मानें जायँगे। भगवान् वसिष्ठ के शब्दों में-**'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च'** के अनुसार जन्मानुगता संस्कारसम्पत्ति ही अधिकारप्राप्ति का अनन्य साधन है।

'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते' के अनुसार संस्कार न होने पर्य्यन्त द्विजातिवर्ग असंस्कृत-संस्कृतानर्ह शूद्रकोटि में प्रविष्ट है, शूद्रवत् है। इस सम्बन्ध में हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, संस्काराभावपर्य्यन्त कर्म्मणा शूद्रवत् रहता हुआ भी द्विजातिकुलोत्पन्न द्विजातिवर्ग द्विजाति-मातापिता के शुक्रशोणित में प्रतिष्ठित द्विजातिभावसम्पादक ब्रह्म-क्षत्र-विड् वीर्य्यों की सत्ता से जन्मना द्विजाति ही माना जायगा, एवं वही संस्कारकर्म्म का अधिकारी माना जायगा। सुरापान, ब्रह्महत्या, गोहत्या, भ्रूणहत्या, आदि कुछ एक जातिभ्रंशकर महापातकों का सम्बन्ध जब तक इस के आत्मा के साथ नहीं हो जाता, तब तक इसका जात्यनुगत वीर्य्य सुरक्षित रहता है।

इसके अतिरिक्त जब तक वीर्य्यस्वरूपरक्षक प्राणदेवता स्व-स्वरूप से सुरक्षित रहते हैं, तभी तक वीर्य्यसत्ता सुरक्षित है। प्राणरक्षा छन्दों के आधार पर अवलम्बित है। छन्दोमय वयोनाधप्राणों का अपना नियतकाल होता है। नियत अवधि समाप्त हो जाने पर छन्दों का अतिक्रमण हो जाता है। इसके अनन्तर संस्कार करना व्यर्थ है। क्योंकि छन्दोऽतिक्रमण से छन्दित प्राणदेवता उत्क्रान्त हो जाते हैं, वीर्य्यभाव निर्वीर्य्यभाव में परिणत हो जाता है। यही 'व्रात्य' (पतित द्विजाति) संज्ञा का रहस्यार्थ है। १६-२२-२४ वाँ वर्ष सावित्री-संस्कार की अन्तिम अवधि है। इसके अनन्तर-**'पतितसावित्रीका होने शूद्रवदव्यवहार्य्या भवन्ति'**। यथाजात-असंस्कृत-शूद्र समुदाय ही 'व्रत' है। व्रतश्रेणि (शूद्रश्रेणि) में आने वाला द्विजाति ही 'व्रात्य' है। इसप्रकार जिसके आत्मा में द्विजवीर्य्य प्रतिष्ठित है, अर्थात् जो जन्मना द्विजाति है, साथ ही व्रात्यदशा से पहिले पहिले जिसका सावित्रीसंस्कार हो गया है, ऐसा संस्कार-संस्कृत-जन्मजात द्विजाति ही वेदस्वाध्याय का अधिकारी है।

वेदस्वाध्याय का अधिकार जहाँ तीनों वर्णों को है, वहाँ वेदाध्यापनलक्षण उपदेश का अधिकार एकमात्र ब्राह्मणवर्ण को ही दिया गया है। अर्थशक्ति का अनुगामी वैश्य, क्रियाशक्ति का अनुगामी क्षत्रिय, दोनों ज्ञानशक्ति से सम्बन्ध रखने वाले अध्यापन कर्म्म में स्वभावतः अनधिकृत हैं। यह अधिकार ज्ञानशक्ति के अनुगामी ब्राह्मण की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। इसी वैशिष्ट्य के आधार पर इसे सर्ववर्णों की योनि माना गया है। निम्नलिखित मनुवचन ब्राह्मणवर्ण के इसी वैशिष्ट्य का समर्थन कर रहे हैं—

१–उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्त्तिर्धर्म्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्म्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
२–ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्म्मकोशस्य गुप्तये ॥
३–सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत् किञ्चिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥
४–स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ (मनुः१अ०।६८,६६,१००,२०१,श्लो०)

जैसाकि कहा जा चुका है, शूद्रदम्पती के मिथुनभाव से उत्पन्न शुद्र के लिए, तथा–अच्छन्दस्क रात्रिगत सौम्यप्राणप्रधाना स्त्री के लिए संस्कार अविहित हैं । जन्मतः वीर्य्यसम्पत्ति से वञ्चित इन दोनों वर्गों का संस्कार करना व्यर्थ है । वज्र (हीरे) की खान में उत्पन्न होने वाले मलिन वज्र को शाण पर चढ़ा के चमकदार बनाया जा सकता है । परन्तु कोयले की खान में उत्पन्न कोयले में संस्कारसाहस्री से भी दीप्तिभाव उत्पन्न नहीं किया जासकता । इसप्रकार सूत्रकारों की व्यवस्था के अनुसार संस्कारसंस्कृत द्विजातिवर्ग ही अधिकारमर्य्यादा-कोटि में आता है ।

४–संस्कारस्वरूपदिग्दर्शन—

अब प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में संस्कारस्वरूप की मीमांसा कर लेना भी अनावश्यक न माना जायगा । **दोषमार्ज्जन,अतिशयाधान,हीनाङ्गपूर्त्ति,** भेद से संस्कारकर्म्म त्रिपर्वा माना गया है । **'शोधक'** संस्कार दोषों का मार्ज्जन करते हैं , **'विशेषक'** संस्कार निर्दुष्ट पदार्थ में अतिशय का आधान करते हैं, एवं **'पूरक'** संस्कार पूर्णतासम्पादन करते हैं । जड़-चेतन, किसी का भी संस्कार कीजिए, इन्हीं तीन संस्कारों का आश्रय लेना पड़ेगा । वस्त्रनिर्म्माणार्थ कपास लाया जाता है, यह असंस्कृत है, इसका संस्कार करना है । सर्वप्रथम बिनौले, तृण, आदि निकालते हुए इसे स्वच्छ रूई का स्वरूप दिया जाता है, एवं यही पहिला शोधक–दोषमार्ज्जनसंस्कार है । सूत्ररूप में परिणित कर वस्त्र बना डालना विशेषक अतिशयाधानसंस्कार है । सम्पन्न वस्त्र पर इस्त्री करना, बटन आदि लगाना पूरक हीनाङ्गपूर्त्तिसंस्कार है । जौ का वितुषीकरण दोष० है, कूट–पीस–छान कर रोटी बना लेना अतिशया० है, घृतसम्बन्ध करा देना हीनाङ्ग० है । स्नान करना दो० है, वस्त्रपहिनना अति० है, सुगन्धिद्रव्य, पुष्पादि धारण करना हीनाङ्ग० है । निदर्शनमात्र है । यही त्रिपर्वा सामान्य संस्कार हमारी अधिकारमर्य्यादा से सम्बद्ध है ।

आत्मा, देव, भूत, तीनों की समष्टि 'अहं' पदार्थ है । इनमें आत्मा असंस्कार्य्य है , नित्य संस्कृत है । देव, भूत दो पर्व संस्कार्य्य हैं । अतएव शास्त्रीय संस्कार भी देवसंस्कार, भूतसंस्कार भेद से दो भागों में विभक्त मानें गए हैं । दैवसंस्कार श्रौतसंस्कार कहलाए हैं, भूतसंस्कार स्मार्त्तसंस्कार कहलाए हैं । श्रौत० ३२ हैं, स्मार्त्त० १६ हैं, सम्भूय ४८ संस्कार हो जाते हैं । इन संस्कारों के नित्य–नैमित्तिक–काम्यादि अवान्तर अनेक भेद और

हो जाते हैं, जिनका अन्यत्र* विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जाचुका है। पञ्चमहायज्ञादि नित्यसंस्कार, पार्वणादि मासिक संस्कार, आग्रयणादि वार्षिक संस्कार, उद्वाहादि नैमित्तिक संस्कार, गुणाधायक अग्निष्टोमादि काम्यसंस्कार, आदि भेदभिन्न संस्कारों से सुसंस्कृत द्विजाति सगुणब्रह्म की साक्षात् प्रतिमा माना गया है। देखिए !

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः ।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्म लौकिम् ॥
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः ॥ (शङ्खस्मृतिः)

संस्काराभावदशा में असंस्कृत बना हुआ आत्मा दिव्यसंस्कार को अपने ऊपर प्रतिष्ठित करने में असमर्थ है। असंस्कृत आत्मा मध्यस्थ दोषावरण से उसी प्रकार मलिन बना रहता है, जैसे कि कृष्णादर्पण के सम्बन्ध से दीप की शुक्लप्रभा कृष्ण बनी रहती है। ठीक यही स्थिति असंस्कृत आत्मा की है। ऐसे मलिनसत्त्व मनुष्यों के विचार वर्णधर्म्म से सर्वथा विपरीत पथ का ही अनुसरण करते हैं। संस्काराभाव से ही आज प्रत्येक वर्ण की शास्त्रीयोपदेश के प्रति अरुचि हो रही है। प्रकृतिविरुद्ध कर्म्म ही आज उन्नति का मार्ग माना जा रहा है। वर्णाश्रमधर्म्मविरोध ही आज के पुरुषार्थियों का परमपुरुषार्थ बन रहा है। हमारी ओर से इन पुरुषार्थियों को निराश नहीं होना चाहिए। अवश्यमेव उनका यह सत्पुरुषार्थ ? आसुरीविभूति को समृद्ध बनाता हुआ उनकी सदाशा ? पूरी करेगा। परन्तु इस सम्बन्ध में उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि, जिसे वास्तव में अभ्युदय कहते हैं, आत्मविकास कहते हैं, जिसके आराधन से भारतवर्ष जगद्गुरु कहलाया है, भारतवर्ष का वह अभ्युदय, वह आत्मविकास, वह जगद्गुरुत्व तो एकमात्र संस्कार-संस्कृत-विशुद्ध-पूत-ऋषियों के शास्त्राज्ञा-देशानुगमन से ही सुरक्षित रह सकता है। यदि हमें वेदशास्त्र पर विश्वास है, यदि हम इस आनन्दकोश के अधिकारी बनना चाहते हैं, तो हमें अवश्यमेव संस्करानुबन्धिनी अधिकारमर्य्यादा का अनुगमन करना पड़ेगा।

वाचक्नवी, गार्गी, मैत्रैयी, भारती, अनुसूया, आदि विदुषियों को दृष्टान्त बना कर वेदाध्ययनसम्बन्धिनी उस सामान्य अधिकारमर्य्यादा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि कोई अपने कर्म्मातिशय से स्ववीर्य्य में परिवर्त्तन करने की शक्ति रखता है, तो वह अवश्यमेव अधिकारी है। सुप्रसिद्ध कवषपुत्र ऐलूष को किसने रोका। उसका देखा हुआ 'आपोनप्त्रीय सूक्त' आज ऋग्वेद की शोभा बढ़ा रहा है। यह सब कुछ होते हुए भी समाजव्यवस्था-रक्षा के नाते व्यवस्था में नियन्त्रण आवश्यक है। किन्हीं विशेष प्राकृतिक आधिदैविक कारणों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक अपवादस्थान सामान्य प्राकृतिक नियमों के विघातक नहीं माने जा सकते। सामान्य दृष्टान्त ही सामान्य व्यवस्था में उपयुक्त मानें जा सकते हैं। अस्तु, यह विवाद एक स्वतन्त्र विषय है। प्रकृत में इस परिच्छेद से वक्तव्य यही है कि शास्त्रदृष्टया वेदाधिकार केवल उन्हीं द्विजातियों को है, जिन्होंनें विविध संस्कारों से अपने महानात्मगत सच्छन्दस्क वर्णवीर्य्यात्मक बीज को स्वच्छ बना लिया है। देवप्राणघन वेदतत्त्व (विद्यात्मक संस्कार) उन्हीं के आत्मा में प्रतिष्ठित हो सकता है। यही संस्कारसापेक्षा अधिकारमीमांसा है।

* पूर्वोक्त वर्णविज्ञान, तथा प्रकृत का संस्कारविज्ञान गीताभूमिका के **वर्णव्यवस्थाविज्ञान**, तथा **संस्कारविज्ञान**, नामक स्वतन्त्र प्रकरणों में देखना चाहिए।

५–ब्रह्मविद्यावित्-परमाचार्य्य–

अब एक अन्य दृष्टि से अधिकार-मर्य्यादा की मीमांसा की जाती है, जिसका संस्कार की तुलना में कम महत्त्व नहीं है। महर्षि पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा के दिग्दर्शन से पहिले आर्षस्वाध्यायपरम्परा से सम्बन्ध रखने वाले ऐतिहासिक सन्दर्भ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ब्रह्मविद्यावित् परमाचार्य्यों में परम्परया प्रतिष्ठित ब्रह्मविद्या का इतिवृत्त भी हमारी उक्त लक्षणा अधिकारमर्य्यादा का ही पोषक माना जायगा। जिस समय भारतवर्ष में वेदविद्यात्मक सूर्य्य अपने प्रखर तेज से तप रहा था, जिस युग की सामान्य अशिक्षित प्रजा भी **'तद्धैतद्विद्वांस अभ्याहुः-सैषा त्रयी विद्या तपति'** (शत० १०।५।२।२।) इत्यादि के अनुसार सूर्य्य को त्रयीविद्या नाम से व्यवहृत कर रही थी, उस वेदयुग में ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध रखने वाले गभीरातिभीर तत्त्वों का अन्वेषण-प्रचार-प्रसार करने वालीं कई एक विज्ञानशालाएँ इस देश में प्रतिष्ठित थीं। ब्रह्मविद्या का, किंवा वेदविद्या का मूलस्तम्भ प्राणतत्त्व माना गया है। लोकविज्ञान के अनुसार प्राणतत्त्व सत्यलोकात्मक स्वयम्भूलोक की प्रातिस्विक वस्तु माना गया है। स्वायम्भुव वेद ही **'ब्रह्मनिःश्वसित'** नामक अपौरुषेयवेद है, जिसका भूमिका द्वितीय खण्ड में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।

स्वायम्भुव वेदतत्त्व के ऋक्-यजुः-साम भेद से तीन पर्व हैं। इनमें ऋक्-साम वयोनाधलक्षण छन्दोवेद है। इस छन्दोवेद से छन्दित यजुर्वेद वयोलक्षण वस्तुतत्त्व है। यही यजु पुरुष है, इसे ही 'ब्रह्माग्निलक्षण–सत्याग्नि'–'सार्वयाजुषाग्नि' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। ब्रह्माग्निलक्षण यजुर्वेद के यत्-जू, नामक दो पर्व हैं। स्थितिप्रकृतिक जू भाग आकाश है, यही वाक् है। गतिप्रकृतिक यत् भाग वायु है, यही प्राण है। यह प्राणतत्त्व ही मौलिक वेद है। यही प्राणतत्त्व–**'तद्यत्पुराऽस्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषंस्तस्मादृषयः'** (श० ६।१।१।१) के अनुसार 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है। 'ऋषि' नामक यही यजुःप्राण तत्त्वात्मक 'वेदमन्त्र' है। इसी को लक्ष्य में रख कर–**'ऋषिर्वेदमन्त्रः'** कहा गया है।

इस वेदस्वरूप ऋषिप्राण के कश्यप, अगस्त्य, भृगु, अङ्गिरा, अगस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, वसिष्ठ, मत्स्य, विश्वामित्र, भरद्वाज, बृहस्पति, जमदग्नि, आदि असंख्य अवान्तर भेद मानें गए हैं। प्राणानन्त्य ही वेदानन्तता का मूलाधार है। इसी प्राणानन्त्यविज्ञान को लक्ष्य में रख कर इन्द्रप्रदत्त वर के प्रभाव से चारसौ वर्षों की आयु प्राप्त करने वाले सुप्रसिद्ध वेदाभ्यासी महर्षि भरद्वाज के प्रति इन्द्र ने कहा था—**'अनन्ता वै वेदाः'** (तै० ब्रा० ३।१०।११।३।)। इन ऋषिप्राणों का स्वरूपज्ञान प्राप्त कर लेना कोई सामान्य काम नहीं है। स्वयं मन्त्रसंहितानें निम्न लिखित शब्दों में ऋषिप्राणविज्ञान की दुरूहता का समर्थन किया है—

> **"विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ॥**
> **ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥१॥**
> **ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि ।**
> **नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥"** (ऋक्सं०१०।६२।५,६,)

अनेकधा विभक्त इन ऋषिप्राणों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, नाक्षत्रिक, आदि भेद से अनेक संस्थान मानें गए हैं। उदाहरण के लिए पहिले आध्यात्मिकसंस्था को ही लीजिए। आध्यात्मिक

अङ्गिराप्राण से कर्म्मप्रवणता का उदय होता है। इसकी प्रतिष्ठा शारीराग्नि है। जबतक शारीर भूताग्नि में में अङ्गिराप्राण प्रतिष्ठित रहता है, तबतक अग्नि प्रबल बना रहता है। एवं जबतक अग्नि सबल रहता है, तभीतक कर्म्म में प्रवणता रहती है। आधिभौतिक प्रपञ्च में अङ्गिरा अङ्गाराग्नि की प्रतिष्ठा माना गया है। प्रज्ज्वलित अङ्गारखण्ड में जो एक रक्तवर्ण की दीप्ति दिखलाई पड़ती है, वह अङ्गिराप्राणप्रतिष्ठा का ही माहात्म्य है। जबतक अङ्गार में अङ्गिरा प्रतिष्ठित है, तभी तक अङ्गार खण्ड स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। अङ्गिराप्राणोत्क्रान्ति ही अङ्गारखण्ड की विनष्टि का कारण बनती है। अग्निज्वाला में भृगुप्राण प्रतिष्ठित है, अङ्गारपिण्ड में अङ्गिराप्राण प्रतिष्ठित है। अङ्गारखण्ड को पानी से शान्त कर दीजिए। पुनः उसे प्रज्ज्वलित कीजिए। दुबारा प्रज्ज्वलित करने पर अङ्गार खण्ड में जो दीप्ति उत्पन्न होगी, उसका 'बृहस्पति' प्राण से सम्बन्ध होगा। इसी प्रकार अङ्गार को बुझाते हुए प्रज्ज्वलित करते जाइए। नवीन प्राणों का उदय होता जायगा। यह धाराक्रम २१बार चल सकेगा। २२वीं बार अङ्गारखण्ड भस्मरूप में परिणत हो जायगा। अङ्गिराप्राण को मूल बना कर प्रकट होने वाले अङ्गारखण्डानुगत इन्हीं २१ प्राणों के लिए **'एकविंशिनोऽङ्गिरसः'** कहा गया है। इसी आधिभौतिक अङ्गिरा–भृगुप्राण की व्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

> **"अङ्गारेष्वङ्गिराः सम्बभूव। अर्चिषि भृगुः सम्बभूव।**
> **अथ यदङ्गारा अवशान्ताः पुनरुददीप्यन्त, अथ बृहस्पतिरभवत्" ॥**

वसिष्ठप्राण ओजस्विता का प्रवर्त्तक माना गया है। अगस्त्यप्राण परोपकारशीलता का प्रवर्त्तक है। ये ही दोनों प्राण अधिदैवत में भिन्न कर्म्मों के अधिष्ठाता बन रहे हैं। पानी को मृद्रूप में परिणत कर देना वसिष्ठप्राण का काम है। दूसरे शब्दों में वायुसहयोग से वसिष्ठप्राण पानी में घनता उत्पन्न कर देता है। इस घनता के उत्तरोत्तरप्रवाह से पानी आपः–फेन–मृत्–सिकतादि स्वरूपों में परिणत होता हुआ कालान्तर में स्थल-रूप में परिणत हो जाता है। उत्तरदिशा में क्योंकि घनताप्रवर्त्तक वसिष्ठप्राण का प्राधान्य है। यही कारण है कि, उत्तर समुद्र क्रमशः स्थलरूप में परिणत होता जा रहा है। उत्तर में होने वाली भूभागवृद्धि ही इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष निदर्शन है। दक्षिणदिशा में प्रतिष्ठित अगस्त्यप्राण का व्यापार वसिष्ठ से ठीक विपरीत माना गया है। पानी की घनता का उच्छेद करना इस प्राण का अन्यतम कर्म्म माना गया है। जिस पारम्परिक ग्रन्थिबन्धन से श्रद्धातत्त्व सोम–पर्जन्य–रूप में परिणत होता हुआ अन्ततः वर्षा (पानी) रूप में परिणित होता है, अगस्त्यप्राण उसी ग्रन्थिबन्धन का उच्छेद करता है। ग्रन्थिबन्धविमोक से पानी अपनी सुसूक्ष्मावस्था (वाष्पावस्था) में परिणत होता हुआ उत्क्रान्त हो जाता है।

पुलस्त्यप्राण घातकता का प्रवर्त्तक है, हिंसाभाव का उत्तेजक है। क्रतुप्राण अध्यवसाय का जन्मदाता है। दक्षप्राण से बुद्धि में निश्चयात्मक व्यवसायधर्म्म का उदय होता है। विश्वामित्रप्राण से आयुःस्वरूप की रक्षा होती है। बृहतीसहस्र (३६०००) के सम्बन्ध से प्रत्येक मनुष्य वेदोक्त आयुर्म्मर्य्यादानुसार ३६००० दिन (१०० वर्ष) जीवित रहता है। इस बृहतीसहस्र की मूलप्रतिष्ठा यही विश्वामित्रप्राण माना गया है। मरीचिप्राण से अध्यात्म में स्वेदोत्पत्ति होती है। यही मरीचिप्राण सूर्य्यरश्मियों में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'मरीचि' नामक सौर–आग्नेय जल का उत्पादक बनता हुआ कूर्म्माकाराकारित कश्यपसंस्था का जन्मदाता बनता है। कश्यपप्राण पुरंभ्रिता का प्रवर्त्तक है।

इसप्रकार प्रत्येक प्राण भिन्न भिन्न संस्थाओं के अनुरूप भिन्न भिन्न कर्म्म का प्रवर्त्तक बन रहा है। विदितवेदितव्य वेदद्रष्टा महर्षि भी-**"को हि तद्वेद-यदन्तरात्मन्-प्राणाः"** (शत०७।२।२।२०) इत्यादिरूप से प्राणतत्त्व की गहनता, दुर्विज्ञेयता स्वीकार करते हैं। यही प्राणतत्त्व सृष्टि का मूलाधार, तथा मूलप्रवर्त्तक माना गया है। **"असत्, चित्य, चितेनिधेय, अवकाश, अदिति, एकर्षि, द्वयर्षि, सप्तर्षि, स्पृत, शाकल, बालखिल्या, धवित्र, पवित्र, साकञ्ज, स्तौम्य, लोक्य, ऐन्द्र, वैराज, मनु, प्राजापत्य"** आदि भेद से इनके अवान्तर असंख्य विवर्त्त हैं। प्राणानन्त्य ही वस्तुभेद की मूलप्रतिष्ठा है। यही प्राणतत्त्व सुप्रसिद्ध वेद-तत्त्व है। प्राणविद्या ही वेदविद्या है। ऋषिप्राणवित् विद्वान् हीं वेदवित् हैं, ये ही ब्रह्मविद्यावित् परमाचार्य्य हैं। इन्हीं को परम-ऋषि कहा गया है-**'नमः परम-ऋषिभ्यः, नमः परम-ऋषिभ्यः'**।

इन ऋषिप्राणों के प्रथम परीक्षक तपस्वी महापुरुष ही ऋषिप्राण नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। आज मनुष्यविध ऋषियों के वसिष्ठ-अगस्त्य-कश्यप-भरद्वाज-अङ्गिरा, आदि जो नाम सुने जाते हैं, वस्तुतः ये उनके यशोनाम हैं, कर्म्मनाम हैं। ऋषिलक्षण वेदमन्त्र (वेदतत्त्व) के द्रष्टा (प्रथमद्रष्टा-प्रथम परीक्षक) पुरुष भी उन उन ऋषि नामों से ही प्रसिद्ध हुए हैं। इसी आधार पर-**'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः-साक्षात्-कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः'** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। उन तपःपूत महर्षियोंनें तत्प्राणपरीक्षण के लिए जो विज्ञानशालाएँ स्थापित कीं, वे ही 'ब्रह्मपर्षत्' (परिषत्) कहलाईं। तत्तत् ब्रह्मपर्षदों में शिष्यादि परम्परया तत्तद् विशेषप्राणों का परीक्षण ही प्रक्रान्त रहा। एवं तत्तद् पर्षत् के भावी कुलपति तत्तत्प्राण नाम से ही प्रसिद्ध हुए। उन परिषदों में से कुछ एक का परिचय यहाँ भी उद्धृत कर दिया जाता है

६-ब्रह्मपर्षत्स्वरूपदिग्दर्शन--

(१)-आसुरब्रह्मपर्षत्—

प्राणविद्या ही वेदविद्या है। यह प्राणविद्या देवविद्या, असुरविद्या, भेद से दो भागों में विभक्त मानी गई है। बृहस्पति देवविद्या के आचार्य्य मानें गए हैं, शुक्र असुरविद्या के आचार्य्य मानें गए हैं। संहारक विविध शस्त्र-अस्त्र-यन्त्र-ग्रह-विद्युत्-आदि के आविष्कारक शुक्राचार्य्य की परम्परा में आसुरवेद प्रतिष्ठित रहा है। रक्षक देवताविज्ञानात्मक यज्ञकाण्ड बृहस्पति की आचार्य्यपरम्परा में सुरक्षित रहा है। यही देववेद है। देवप्राण की विकासभूमि सूर्य्य है, एवं आसुरप्राण की विकासभूमि आपोमय परमेष्ठी है। पारमेष्ठ्यमण्डल के अभिमानी देवता वरुण हैं, सौरमण्डल के अभिमानी देवता 'इन्द्र' (मघवा नामक) हैं। इन दोनों प्राणों में परस्पर अश्व-माहिष्य है। असुर-प्राणाधिष्ठाता वरुण तत्त्वात्मक आसुरवेद के आलम्बन हैं, एवं देवप्राणाधिष्ठाता इन्द्र तत्त्वात्मक देववेद के आलम्बन हैं। इसप्रकार प्राणभेद से वेद के दो विवर्त्त हो जाते हैं।

उक्त प्राकृतिक (आधिभौतिक) चरित्र के प्रतिकृतिरूप आधिभौतिक (मनुष्यविध) देवता, और असुर क्रमशः दोनों वेदों के सम्प्रदायप्रवर्त्तक बनें। असुरेन्द्र वरुण आसुरवेद के, देवेन्द्र इन्द्र देववेद के प्रवर्त्तक बनें। वर्त्तमान में 'बलख' नाम से प्रसिद्ध देवयुगकालीन सुप्रसिद्ध 'बाह्लीक' नगर ही असुरेन्द्र वरुण की राजधानी थी, जो कि वरुण पश्चिमदिशा के दिक्पाल, तथा आपोलोक के लोकपाल कहलाते थे। असुरों के सतत उद्योग से भी जब देवताओं नें असुरों को सोमपान का अधिकारी नहीं समझा, तो अन्त में असुरों के विशेष आग्रह से वरुण ने असुरों के लिए आसुरबलप्रवर्द्धक, तथा देवबलविरोधी पाप्मा द्रव्यों के सम्मिश्रण से एक अपूर्व मादक द्रव्य उत्पन्न किया। वरुणद्वारा आविष्कृत वही पेय 'वारुणी' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सुप्रसिद्ध महर्षि भृगु इन्हीं वरुण के औरस पुत्र थे। असुरकुल में उत्पन्न होने पर भी इनमें पूर्वजन्मकृत-सूर्य्यसंस्कारातिशय से दैव वीर्य्य का प्राधान्य था। अतएव पामीर नामक प्राग्मेरु स्थानस्थित हिरण्यशृङ्गपर्वत-निवासी, प्राग्ज्योतिष नामक नगर के, तथा 'कान्तिमती' नामक लोकसभा के अध्यक्ष भौम ब्रह्माने भृगु को अपना दत्तक पुत्र (मानसपुत्र) बना लिया था। ब्रह्मा जिसमें जन्मतः ब्रह्मवीर्य्य की अतिशय प्रधानता देखते थे, उसे ही अपना दत्तक पुत्र बना कर उसे वेदधर्म्म में दीक्षित कर लेते थे। वे ही ब्रह्मपुत्र पुराणपरिभाषा में 'मानसपुत्र' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। असुरों की देखा देखी देवमण्डली में भी वारुणी का प्रलोभन जाग्रत हुआ। अन्त में वरुणपुत्र भृगु के द्वारा इसका निरोध हुआ *।

प्रकृत में उक्त ऐतिहासिक सन्दर्भ से यही बतलाना है कि, आसुरवेद के मूलप्रवर्त्तक असुरेन्द्र वरुण ही थे। इन्हीं की सम्प्रदाय में पुलस्त्य-पुलह-किलात-आकुली आदि असुरप्राणों की परीक्षा हुई। एवं तत्तदासुरप्राण-परीक्षक असुर ऋषि तत्तन्नामों से ही प्रसिद्ध हुए। पुलस्त्यप्राण के परीक्षक पुलस्त्य कहलाए, पुलहप्राण के परीक्षक पुलह कहलाए। इन दोनों असुर कुलपतियों की ब्रह्मपर्षदें उस सुप्रसिद्ध 'पोलेण्ड' स्थान में थीं, जो रूस-तथा जर्म्मन् के संदश में स्थित है। देवेन्द्रानुगत दिव्यवेद में इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अतः आसुरपर्षत् का विवेचन यहीं समाप्त कर दिव्यपर्षदों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

*-(दिव्यब्रह्मपर्षत्)-

(२)-कश्यपपर्षत्-(स्वर्गपरिषत्)-

यों तो दिव्य परिषदें अनेक थीं। परन्तु उनमें से १० परिषदें ही मुख्य मानीं जातीं थीं। इनमें १ पर्षत् भौम स्वर्ग में थी, १ पर्षत् भौम अन्तरिक्ष में थी, शेष पर्षदें भौमपृथिवी (भारतवर्ष) लोक में थीं। स्वर्गीय पर्षत् के कुलपति कश्यपमहर्षि थे, जिन्हें 'प्रजापति' भी कहा जाता था। इस पर्षत् में प्रधानरूप से कश्यपप्राण की ही परीक्षा होती थी। आदिब्रह्मा की आवासभूमि हिरण्यशृङ्ग पर्वत बतलाया गया है। इसी के समीप 'तिब्बत' प्रदेश है। तिब्बत से उत्तर कश्यपपर्षत् की प्रतिष्ठा थी। स्वर्गस्था होने से इसे विशेष सम्मान प्राप्त था।

(३)-अत्रिपर्षत्-

सांख्य अत्रि, भौम अत्रि, भेद से अत्रिवंश दो शाखाओं में विभक्त हुआ। इनमें भौम अत्रि के औरस पुत्र चन्द्रमा थे। ब्रह्माके द्वारा यही अत्रिपुत्र चन्द्रमा सोमवल्ली को असुरों के आक्रमण से बचाने के लिए मौनेय गन्धर्वसेना के साथ उत्तरदिशा के दिक्पाल बनाए गए, एवं ओषधि (सोम) के लोकपाल बनाए गए। अपनी गान्धर्वमर्य्यादा का दुरुपयोग करते हुए राज्यमदोन्मत्त चन्द्रमा के द्वारा ही वह अप्रिय घटना घटित हुई, जो आगे जाकर देवबलविनाश का कारण सिद्ध हुई। तारापहरणजनित पाप से चन्द्रमा रक्षाकर्म्म में शिथिल हो गए। फलस्वरूप दिव्ययज्ञकर्म्म के सहजशत्रु असुरों ने यज्ञस्वरूप-संसाधिका सोमवल्ली का मूलोत्पाटन कर डाला। देवबल उच्छिन्न हो गया, असुरों का साम्राज्य दृढमूल बन गया। इस आसुरी सत्ता के

* सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यौ-वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥(मनुः)।

एकमात्र निमित्त चन्द्रमा ही बने थे, अतएव देव-वेद-धर्म्मविरोधी सम्प्रदायविशेषों में निदानविद्यासम्बन्धी संकेत के अनुसार चान्द्रतिथिको ही प्रधानता दी जाती है। तारागर्भ से चन्द्रमा के बुध पुत्र उत्पन्न हुए। बुध के साथ मनुभगिनी इला का परिणय हुआ। यही दम्पती–युग्म सोमवंश (चन्द्रवंश) का मूल प्रवर्त्तक बना। इसी आधार पर सोमवंशी क्षत्रिय **'ऐलः प्रकृतिरुच्यते'** के अनुसार ऐल (इलावंशज) कहलाए।

दूसरे सांख्य अत्रि के वंशज वेदधर्म्म से बहिष्कृत होते हुए महादुराचारी बन गए। इनके असदाचरणों से दुःखी होकर सांख्य अत्रि ने देवनिकायपर्वत (सुलेमान पर्वत) को अपना आवास स्थान बना लिया। इनके पुत्रों के वंशज ही आगे जाकर 'यवनवंश' के प्रवर्त्तक बनें। प्रसङ्गोपात्त यह भी जान लेना चाहिए कि, आज जिसे (ग्रीस को) यूनान कहा जाता है, वास्तव में वह तत्त्वतः यूनान नहीं है। वास्तविक यूनान (यवनदेश) अर्बस्तान से सम्बन्ध रखता है, जहाँ यवनों के मूलपुरुष सांख्य अत्रि के पुत्र निवास करते थे। अर्बस्तान (जो कि पुराण मे **'बनायु'** नाम से प्रसिद्ध है) ६ खण्डों में विभक्त माना गया है। इनमें एक खण्डविशेष ही यूनान कहलाया है। अत्रिपुत्र सांख्यायन के वंशज, आसुरधर्म्मानुयायी, अतएव 'असुर' नाम से प्रसिद्ध **'हेलि'** नामक असुर यहीं निवास करते थे। इनके निवास से ही यह बनायुखण्ड (अर्बखण्ड) यवन (यूनान) देश कहलाया। कालान्तर में अर्बों की आदि जाति ने यवनों को युद्ध में परास्त किया। पराजित यवनों नें अर्बखण्ड को छोड़ कर जिस पाश्चात्य प्रदेश (ग्रीक) को अपनी आश्रयभूमि बनाया, वही यूनान नाम से व्यवहृत हुआ। कालातिक्रमण से अर्बखण्डात्मक यूनान आज विस्मृत हो गया है, कल्पित यूनान यूनान माना जाने लगा है। वास्तविक यूनान ही पाश्चात्यभाषा में आज 'पेलेस्टाइन' नाम से प्रसिद्ध है। एवं यह वर्त्तमान युनानियों (ग्रीक निवासियों) का तीर्थस्थान माना जाता है। कालनेमि मय, आदि सुप्रसिद्ध यवनासुर यहीं निवास करते थे। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्वित् वराहमिहिर ने यहीं आकर मयासुर से आसुर ज्यौतिष की शिक्षा ग्रहण की थी। यवनवंश के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, वर्तमान परिभाषा में यवन शब्द से जिस जातिविशेष का ग्रहण किया जाता है, उसका उस प्राक्तन यवनवंश से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जिसे आज 'ईरान' कहा जाता है, वही हमारा सुप्रसिद्ध **'आर्य्यायण'** है। एवं जिसे आज 'हिन्दूस्तान' कहा जाता है, वही **'आर्य्यावर्त्त'** है। एवं आर्य्यायण, तथा आर्य्यावर्त्त की समष्टि **'भारतवर्ष'** है। आर्य्यावर्त्त पूर्व भारत है, आर्य्यायण पश्चिम भारत है। भारतीय भुवनकोश से अणुमात्र भी परिचय न रखने वाले जो राजनैतिक भौगोलिक सिन्धु–नद को भारतवर्ष की पश्चिम सीमा बतलाते हुए भारतांशभूत आर्य्यायण को पृथक् मान रहे हैं, वह नितान्त भ्रान्ति ही मानी जायगी, अथवा तो नैतिक–कौशल माना जायगा। भारतीय वर्षात्मक भुवनकोश के अनुसार भारतवर्ष ९० अंश पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखता है। पीतसमुद्र (चीन का यलोसी) भारतवर्ष की पूर्वसीमा है, एवं महीसागर नाम से प्रसिद्ध पश्चिम समुद्र (मेडिट्रेनियेन्सी) पश्चिम सीमा है। यही ९० अंशात्मक भारतवर्ष है, जो आज हमारी उदासीनता से अपना आधा अङ्ग खो चुका है *।

---

* प्रस्तुत ग्रन्थप्रकानात्मक वर्त्तमान दुर्भाग्यपूर्ण युग में तो उस खण्डात्मक भारत के भी हमारी भावकता से अनेक कल्पित खण्ड हो चुके हैं।

ऋज्राश्व ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्त्तक, छन्दोभ्यस्ता की तुलना में 'जन्दावस्ता' का नवनिर्म्माण करने वाले जरथुस्त्र ही इस अङ्ग-भङ्ग के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र-ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विधवाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्थानी कहलाये, वे ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसन्धि का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरितनायक भौम अत्रि की वह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्षत् थी, जहाँ पारदर्शकताप्रतिबन्धक, धामच्छद, प्रजोत्पादक, ग्रहणप्रवर्त्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदवित्महर्षि 'दाल्भ्य' की ब्रह्मपर्षत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्षत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)–शिविपर्षत्–

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्षत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिवि' थे।

(५)–अङ्गिरापर्षत्–

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्त्तदेश में अङ्गिरापर्षत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानतः अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्त्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्षत् को प्राप्त हुआ था।

(६)–याज्ञवल्क्यपर्षत्–

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भङ्ग धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्षत् प्रतिष्ठित थी। 'सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्षत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)–उद्दालकपर्षत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोसलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्षत् थी।

(८)–प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कन्नौज में प्रवाहणि के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'बत्रर' की पर्षत् थी।

(९)–अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'केकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)–प्रतर्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के ब्रह्मा थे।

उक्त पर्षदों में ब्रह्मर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

—※—

७–पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी–स्वरूप का सङ्केतभाषा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि काण्व, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म-पर्षदों के ब्रह्माओं में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैव्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में हीं अधिकार–मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त्त मानें गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक–शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। ऐतरेय–माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर–अवर' भेद से दो विवर्त्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मसत्य' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (संघ) लक्षण क्षरतत्त्व 'अवरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों से पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अवरब्रह्मविद्या है, विश्वप्रविष्ट–विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अवरब्रह्मविद्या कर्म्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान–प्रधाना है।

जो व्यक्ति अवरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान–प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासाभाव

से आए हुए भारद्वाजादि ६ ओं विद्वानों नें इसी परब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट की थी। वे कर्म्मप्रधान अवरब्रह्म का यथार्थस्वरूप अवगत करने के अनन्तर ही परब्रह्मलक्षण औपनिषद ज्ञान की ओर आकर्षित हुए थे। न केवल आकर्षित ही हुए थे, अपितु अपनी जिज्ञासा को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए सन्नद्ध हो गए थे। न केवल सन्नद्ध ही हुए थे, अपितु उसे खोजने के लिए उसी जिज्ञासा को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए अपने अपने आश्रमों से निकल पड़े थे। न केवल निकल ही पड़े थे, अपितु अपनी इस सच्ची लगन के प्रभाव से उन्होंनें पिप्पलाद जैसा तत्त्वज्ञ आचार्य्य भी प्राप्त कर लिया था, जहाँ इनकी जिज्ञासा का यथावत् समाधान हुआ। परब्रह्म की ओर झुकना, दूसरे शब्दों में तद्विषयिणी जिज्ञासा करना प्रथमाधिकार है। जिसमें जिज्ञासा नहीं, वह औपनिषद ज्ञान का तो क्या, सामान्यज्ञान का भी अधिकारी नहीं माना जा सकता। जिज्ञासावृत्ति पहिली, तथा मुख्य अधिकारमर्य्यादा है, जिसका **'ब्रह्मपराः'** शब्द से विश्लेषण हुआ है। जिज्ञासा करके ही यदि हम शान्त हो गए, तो जिज्ञासाधिकार सर्वथा व्यर्थ है। जिज्ञासा हुई, उस पर अनन्य भाव से आरूढ़ हो गए। जब तक जिज्ञासा का समाधान नहीं हो जाता, तब तक अध्यात्मसंस्था अशान्त है, कुछ नहीं सुहाता। यह जिज्ञासानन्यता ही दूसरी अधिकारमर्य्यादा है, जिसका **'ब्रह्मनिष्ठाः'** शब्द से विश्लेषण हुआ है। जिज्ञासा हुई, तन्निष्ठ भी बनें, परन्तु प्रयास न किया, खोज न की, तब भी काम नहीं चल सकता। अपनी तन्निष्ठता की पूर्त्ति के लिए हमें विजिज्ञास्य की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो जाना पड़ेगा, उसकी खोज में लग जाना पड़ेगा। एवं यही तीसरी अधिकारमर्य्यादा कहलाएगी, जिसका **'परं ब्रह्मान्वेषमाणाः'** शब्द से विलेषण हुआ है।

आत्मसमर्पण ही उक्त त्रिपर्वा अधिकारमर्य्यादा का मौलिक रहस्य है। आत्मा का सर्वतोभावेन त्याग करने वाला ही इस ज्ञान का अधिकारी माना जा सकता है। आत्मा की 'मनः-प्राण-वाक्' भेद से तीन कलाएँ सुप्रसिद्ध हैं। जिज्ञासालक्षणा प्रथमाधिकारमर्य्यादा का मन से सम्बन्ध है, जिज्ञासानिष्ठालक्षणा द्वितीयाधिकार-मर्य्यादा का प्राण से सम्बन्ध है, एवं अन्वेषणलक्षणा तृतीयाधिकारमर्य्यादा का वाक् से सम्बन्ध है। इच्छा प्रथम व्यापार है, तदनुकूल अन्तःप्रयत्न करना तपोलक्षण कर्म्म द्वितीय व्यापार है, एवं शरीरव्यापारलक्षण श्रम तृतीय व्यापार है। प्राप्तव्य परब्रह्म सत्य है, तदंशभूत प्राप्तकर्त्ता जीवात्मा भी सत्य है। एवं यह सत्य उस सत्यस्य सत्यं ज्ञानं को तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि, यह अपने आत्मसत्य को 'यावदनु मनः-तदनु प्राणः-तदनुगता वाक्' लक्षणा सत्यव्यापारत्रयी का अनुगमन करे। 'ब्रह्मपराः' मानस व्यापार है, 'ब्रह्मनिष्ठाः' प्राण व्यापार है, 'परंब्रह्मान्वेषमाणाः' वाग्व्यापार है! तृतीय व्यापार के अनन्तर **'जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ***' के अनुसार अवश्य ही तत्त्वदर्शी उपदेष्टा का आश्रय प्राप्त हो जाता है। इसी फलभाव को व्यक्त करने के लिए-**'भगवन्तं पिप्लादमुपसन्नाः'** यह कहा गया है। यही वास्तविक अधिकारमर्य्यादा है, जिसका निम्न लिखित श्रुतिद्वारा सङ्केतविधि से स्पष्टीकरण हुआ है—

*** मैं बौरी ढूँढन गई रही किनारे बैठ।**
जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ॥

"सुकेशा च भारद्वाजः, शैव्यश्च सत्यकामः, सौर्य्यायणी च गार्ग्यः, कौशल्यश्चाश्व-लायनः, भार्गवो वैदर्भिः, कबन्धी कात्यायनः, ते हैते ब्रह्मपराः (संकल्पपराः), ब्रह्मनिष्ठाः (अध्यूढ़ाः), परंब्रह्मान्वेषमाणाः(कृतप्रयत्नाः)–'एष वै तत् सर्वं वक्ष्यति' इति (निश्चित्य) ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः" (प्रश्नोपनिषत् १।१।)।

यदि तज्ज्ञानजिज्ञासा है, तज्ज्ञाननिष्ठा है, साथ ही तज्ज्ञानोपदेशान्वेषणकर्म्मप्रवृत्ति है, तो ऐसा व्यक्ति अवश्यमेव औपनिषद ज्ञान का अधिकारी माना जायगा, एवं ऐसी सच्ची लगन वाले को अवश्यमेव गुरु मिल जायगा। गुरु के सम्बन्ध में श्रुति ने परोक्षभाषा में थोड़ा संकेत किया है। पहिले यह निश्चय कर लेना भी आवश्यक है कि, कौन गुरु हमारी जिज्ञासा का यथावत् समाधान कर सकता है?। हठात् चाहे जिसे गुरु बना लेना आगे जाकर परिताप का कारण होता है। अयोग्य गुरु भी गुरु है, अतएव उसके प्रति प्रयत्न–पूर्वक श्रद्धा रखना आवश्यक कर्म्म है, जो कि कर्म्म कष्टसाध्य है। इस विप्रतिपत्ति से बचने के लिए, अश्रद्धा–जनित प्रत्यवाय से बचने के लिए पहिले से ही अपने अन्तरात्मा में अन्वेषण के द्वारा यह निश्चय कर लेना चाहिए कि, अमुक गुरु ही हमारी जिज्ञासा शान्त कर सकता है। इसप्रकार शिष्य यदि ब्रह्म–पर, ब्रह्म–निष्ठ, ब्रह्मान्वेषमाण होना चाहिए, तो गुरु–**'एष वै तत् सर्वं वक्ष्यति'** लक्षण होना चाहिए। उक्त लक्षण शिष्य जहाँ अध्ययन का अधिकारी है, वहाँ उक्त लक्षण गुरु अध्यापन का अधिकारी माना गया है। इसप्रकार श्रुति ने दोनों की अधिकारमर्य्यादाओं का विश्लेषण कर दिया है।

प्राणविद्या ही वेदविद्या है, वेदविद्या ही ब्रह्मविद्या है, यह कहा जा चुका है। वेदतत्त्वात्मक यह प्राणर्षि आध्यात्मिक संस्था में प्रादेशमित प्रदेश में अपनी व्याप्ति रखता है। **'स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्-शाङ्गुलम्'** के अनुसार १०॥ अङ्गुलात्मक परिमाण ही 'प्रादेश' है। प्रत्येक शारीरप्राण–**'प्रादेशमितो वै प्राणः'** (कौ०ब्रा०२।२।) के अनुसार प्रादेशपरिमाण से समतुलित है। प्रादेशमित यह प्राणाग्नि–**'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति'** (प्रश्नो०४।३।) के अनुसार इस आध्यात्मिक पुर (पाञ्चभौतिकशरीर) में सदा जागता रहता है। प्राणाग्नि–अग्नि है, अग्नि गायत्रीछन्द से छन्दित है, गायत्रीछन्द अष्टाक्षर है। इस अष्टाक्षर गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से गायत्राग्निप्राण की आठ संस्था हो जाती है। दूसरे शब्दों में ब्रह्मरन्ध्र से आरम्भ कर पाद पर्य्यन्त व्याप्त प्राणाग्नि के आठ स्वतन्त्र संस्थान हैं। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ पर्य्यन्त प्रथम प्रादेश है, कण्ठ से हृदयपर्य्यन्त द्वितीय प्रादेश है, हृदय से नाभिपर्य्यन्त तृतीय प्रादेश है, नाभि से ब्रह्मग्रन्थिपर्य्यन्त चतुर्थ प्रादेश है, ब्रह्मग्रन्थि से पाद पर्य्यन्त ४ प्रादेश हैं। सम्भूय आठ प्रादेश हो जाते हैं। प्रत्येक प्रादेश में प्रादेश–मित, अक्षरात्मक एक एक गायत्राग्निप्राण प्रतिष्ठित है। प्रत्येक की व्याप्ति १०॥ अङ्गुलमित है। इसप्रकार गायत्री के सम्बन्ध से अष्टप्रादेशात्मक पाञ्चभौतिक शरीर का मान ८४ अङ्गुलात्मक हो जाता है। प्रत्येक प्राणी अपने हाथों की अङ्गुली के नाप से चतुरशीति(८४)अङ्गुलिमित है। इन आठों प्राणों में नाभि से हृदयपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला, व्यानसहयोगी गायत्रप्राण सब में प्रधान है। व्यानप्राणात्मकता ही इसकी प्रधानता का मूलकारण है। हृदयावच्छिन्न व्यानप्राणात्मक गायत्रप्राण, किंवा गायत्रप्राणावच्छिन्न हृदयस्थ व्यानप्राण ही जीवनसूत्र की मूलप्रतिष्ठा है, जैसा कि–**'मध्ये वामनमासीनम्'**–**'इतरेण तु जीवन्ति'** इत्यादि उपनिषद्वचनों से प्रमाणित है।

इसी हृद्य प्राण के आधार पर सर्वेन्द्रिय–अनिन्द्रिय-लक्षण प्रज्ञानघन मन प्रतिष्ठित है। मन के आधार पर विज्ञानघना बुद्धि प्रतिष्ठित है। सूर्य्योपादानमूलभूता, अतएव अग्निसमतुलिता इसी बुद्धि में, किंवा विज्ञानज्ञानाग्नि में विद्यात्मक सोम की आहुति होती है। दूसरे शब्दों में हृद्य प्राणावच्छिन्न–प्रादेशमित–विज्ञान-सम्परिष्वक्त–प्रज्ञान मन पर ही विद्यात्मक संस्कार प्रतिष्ठित होता है। इस विद्याहुति से आध्यात्मिक प्राण प्रज्वलित हो पड़ता है। साधारण–यथाजात–लौकिक मनुष्यों का शारीराग्नि जहाँ केवल लौकिक–भूतात्मक-अन्नाहुति से सबल बना रहता है, वहाँ विद्वानों का प्राणाग्नि दिव्यान्नलक्षण वेदतत्त्व, तथा यज्ञातिशय से प्रज्वलित रहता है। भूताग्नि का प्रज्वलन भूतान्नाहुति से सम्बद्ध है, प्राणाग्नि का प्रज्वलन दिव्यान्नाहुति से सम्बद्ध है। भूताग्निका प्रज्वलन कर्म्म इन्धन'है, प्राणाग्निका प्रज्वलन कर्म्म समिन्धन है। भूताग्नि में सामान्य काष्ठ डाल कर इसे प्रज्वलित करना इन्धन कर्म्म है। एवं इसी भूताग्नि में आधाररूप से प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में तदनुरूप मन्त्रद्वारा प्राणपरिमित (प्रादेशमित) समिधाहुति डालना समिन्धन कर्म्म है। इन्धन भूत का होता है, समिन्धन प्राण का होता है। इन्धन सामान्य परिमाणशून्य काष्ठ से होता है, समिन्धन मन्त्रपूत–दिव्यप्राण–युक्त प्रादेशमित काष्ठ से होता है। सामान्य काष्ठ **'इध्म'** नाम से व्यवहृत हुआ है, अलौकिक प्राणभावापन्न काष्ठ **'सामिधेनी'** नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी सामिधेनी–विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है–

"इन्धे ह वा एतदध्वर्युः–इध्मेनाग्निं, तस्मादिध्मो नाम। समिन्धे सामिधेनीभि-र्होता, तस्मात् सामिधेन्यो नाम" (शत०१।४।२।१।)।

"यो ह वा ऽ अग्निः सामिधेनीभिः समिद्धः, अतितरां–ह वै स इतरस्मादग्नेस्त-पति, अनवधृष्यो हि भवति, अनवमृश्यः" (शत०१।४।३।१।)।*।

प्रादेशमित सामिधेनी (एतन्नामक काष्ठ) उस प्रादेशमित हृद्य प्राण की प्रतिकृति है, प्रतिमान है। शिष्य अपने प्रादेशमित इस प्राणाग्नि को गुरु के प्रादेशमित हृद्य आत्मा से निकली हुई विद्यासंस्काराहुति–लक्षणा सामिधेनी से प्रज्वलित करने के लिए ही गुरु की सेवा में उपस्थित होता है। दूसरे शब्दों में विद्या के द्वारा यह अपने प्रादेशमित प्राणाग्नि को ही विद्यासंस्कार से समिद्ध करना चाहता है। "मैं विद्यात्मिका सोमाहुति से अपने प्रादेशमित प्राणाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए उपनीत हुआ हूँ" अपनी इसी जिज्ञासा को परोक्षविधि से प्रकट करने के लिए शिष्य प्रादेशमित समिधा हाथ में ले कर ही गुरु के समीप पहुँचता है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार जिस किसी को गुरु का शिष्यत्त्व स्वीकार करना होता था, अथवा सामान्यतः अपनी सन्देहनिवृत्ति अभीष्ट होती थी, वह अपने मुख से आरम्भ में अपना शिष्यत्त्व प्रकट नहीं करता था। अपितु अपनी इस शिष्यवृत्ति के प्रकाशन के लिए वह समित्पाणिः बन कर ही उपस्थित होता था। भावी गुरु का अभ्युत्थानादिलक्षण सत्कार भावी शिष्य का अमङ्गल कर सकता है, इसलिए, साथ ही प्राणसमि–न्धनाभिव्यक्ति के लिए समित्पाणि बन कर उपनीत होना ही विज्ञानसम्मत मार्ग है।

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत उक्त ब्राह्मणभाष्य में देखना चाहिए।

अपिच-समित्पाणि बन कर उपनीत होना उस अधिकारमर्य्यादा का भी पोषक बन रहा है, जिसका संस्कार-संस्कृत द्विजातिवर्ग के साथ अनन्य सम्बन्ध बतलाया गया है। पलाश ब्रह्मवीर्य्यप्रधान है, खदिर काष्ठ क्षत्रवीर्य्यप्रधान है, एवं उदुम्बर (गूलर) काष्ठ विड्वीर्य्यप्रधान है। जिस प्रकार सावित्री दीक्षाकाल (यज्ञोपवीत संस्कारकाल) में ब्राह्मण सजातीय पलाशदण्ड का, क्षत्रिय खदिरदण्ड का, एवं वैश्य उदुम्बरदण्ड का ग्रहण करता है, एवमेव उपनीत दशा में भी तीनों वर्ण क्रमशः पलाश-खदिर-उदुम्बर की प्रादेशमित समिधा को लेकर ही गुरु के समीप उपस्थित होते हैं। गुरु इस समित्-स्वरूप से ही यह जान लेते हैं कि, शिष्य अमुक वर्ण का अधिकारी है।

समित्-स्वरूप के अतिरिक्त योग्य गुरु भावी शिष्य के बाह्य स्वरूप के आधार पर भी इस बात का निश्चय कर लेते हैं कि, यह अधिकारी है, यह अधिकारी नहीं है। वर्णानुगत, वर्णस्वरूपपरिचायक समित्-काष्ठ के रहते भी मनोविज्ञानसम्मत पुरुषपरीक्षा÷ में ऋषि को वर्णविपर्य्यय का यदि थोड़ा भी सन्देह हो जाता है, तो तत्काल 'किं गोत्रोऽसि'? प्रश्न हो पड़ता है। चतुष्पाद ब्रह्म के तात्त्विक रहस्यवेत्ता जबालापुत्र सत्यकाम की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाली किसी दोषवृत्ति से इनका स्वाभाविक ब्रह्मवीर्य्य दोषाक्रान्त था। जब ये समित्पाणि बन कर महर्षि गौतम के समीप पहुँचे, तो गौतम को पुरुषपरीक्षा के आधार पर इनके आधिकारिक वर्ण पर सन्देह हो गया। तत्काल प्रश्न कर बैठे—**'किं गोत्रोऽसि'**। अन्त में परिस्थितिवश उत्पन्न वीर्य्य-दोषनिवृत्ति के लिए गुरु का जो आदेश मिला, वह भी वर्त्तमानयुग के अधिकारलिप्सु महानुभावों के लिए मननीय है। आदेश ही क्या, वहाँ का पूरा कथानक ही भारतीय महर्षि, तथा भारतीय साहित्य की विज्ञानसम्मत उदारता का परिचय दे रहा है। घटना यों घटित हुई—

१—'सत्यकाम ने अपनी जबाला माता को सम्बोधन करते हुए यह प्रश्न किया कि, मैं विद्याध्ययन करने के लिए गुरु-दीक्षा लेना चाहता हूँ। (दीक्षाधिकार के लिए द्विजाति-मर्य्यादा आवश्यक है), इसलिए मैं यह जानना चाहता हूँ कि, मेरा गोत्र (कुल) क्या है?

२—भारत की उस पवित्रहृदया जबाला ने उत्तर दिया—पुत्र! तेरा क्या गोत्र है, यह मैं नहीं जानती। युवावस्था में इतस्ततः अनुधावन करते हुए मैंने तुझे प्राप्त किया है। मैं नहीं जानती (तू किसका पुत्र है, एवं) तेरा क्या गोत्र है। इस सम्बन्ध में मैं यही कह सकती हूँ कि, मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है (अर्थात् तेरा पितृवंश

÷—"सोऽयं प्रजानामुपद्रष्टा प्रविष्टः, ताविमौ प्राणोदानौ। तस्मादाहुः-मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति-इति। मनसा संकल्पयति, तत् प्राणमपिपद्यते, प्राणो वातं, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तं—

मनसा संकल्पयति तंद्वातमपिगच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः॥ (शत० ३।४।२।६,७,)।

अविदित है)। तू जिस गुरु के समीप जाय, वहाँ यही कह देना कि, भगवन् ! मेरा नाम सत्यकाम है, मेरी माता का नाम जबाला है * ।

३-४—सत्यकाम समित्पाणि बन कर (पलाशसमित् लेकर) महर्षि गौतम के आश्रम में आते हैं। वहाँ आकर अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं। गौतम देखते हैं कि, इसके हाथ में पालाशी समित् है। प्रतीत होता है, 'यह ब्रह्मवीर्य्य से ही समुद्भूत है'। परन्तु बाह्यस्वरूप सूचित करता है कि, अवश्य ही इसके ब्रह्मवीर्य्य में कुछ न कुछ दोष है। फलतः समित्-ग्रहण करना (शिष्य बनाना) अनुचित है। यह निश्चय कर गौतम प्रश्न करते हैं-हे प्रिय ! तुम्हारा क्या गोत्र है ?। सत्यकाम उत्तर देता है-भगवन् ! मैं नहीं जानता। माता से पूँछा था, परन्तु उसने कहा, मैंने युवावस्था में तुझे किसी से प्राप्त किया है। विदित नहीं, तू किस गोत्र का है। इसलिए भगवन् ! मैं नहीं जानता कि, मैं किस गोत्र का हूँ। मैं इस सम्बन्ध में अपनी माता के आदेशानुसार यही कह सकता हूँ कि, मेरा अपना नाम तो सत्यकाम है, एवं जबाला का मैं पुत्र हूँ"।

५—सत्यकाम की सत्यनिष्ठा से, निष्कपट इस विशुद्ध उक्ति से ऋषि गद्गद हो जाते हैं। और कहने लगते हैं—सत्यकाम ! अपने गोत्र के सम्बन्ध में तूने जो स्पष्टीकरण किया है, वह एकमात्र ब्रह्मवीर्य्य का ही फल है। अवश्य ही तू जन्मतः ब्राह्मण है। क्योंकि अब्राह्मण व्यक्ति अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसा स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। मैं समित् लेकर तुझे शिष्य बनाता हूँ।

६—गौतम ने शिष्य तो बना लिया। परन्तु अभी इसका ब्रह्मवीर्य्य असंस्कृत था, एवं संस्कृत द्विजाति ही ब्रह्मविद्या में अधिकृत है। अतएव उपदेश से पहले गौतम ने वीर्य्यशुद्धि आवश्यक समझी। फलस्वरूप आदेश हुआ कि-सत्यकाम ! इन दुबली पतली ४०० गायों को अपने साथ लेकर चले जाओ। जब तक इनकी संख्या एक सहस्र (१०००) न हो जाय, तब तक वापस न लौटना" ÷ (छां० उ० ४।४।)।

गोपशु का सूर्य्य से सम्बन्ध है। उधर ब्रह्मात्मिका वेदविद्या का भी पूर्व में सूर्य्य से सम्बन्ध बतलाया गया है। जिस सौरतत्त्व से आत्मविकास होता है, वही सौरतत्त्व गोपशु में प्रतिष्ठित है। गौ का पादरज, गोमय, गोमूत्र, दर्शन, स्पर्श, सेवा हमारा क्या अभ्युदय नहीं कर सकती। कम से कम वेदस्वाध्यायप्रेमियों के लिए तो गोसेवा एक आवश्यक कर्म्म माना जायगा। जिन्हें वेदतत्त्व हृदयङ्गम करने में कठिनता प्रतीत हो, वे गोसेवा भी इस सम्बन्ध में एक प्रकार का चिकित्साकर्म्म मानने का अनुग्रह करें।

---

*—क्या ऐसा स्पष्ट कथन अन्य साहित्य में उपलब्ध हो सकता है ?, पाठक मुकुलितनयन बन कर विचार करें, और रोमहर्ष का अनुगमन करें।

÷—गोसेवा से वीर्य्यगत दोष हट जाते हैं, आत्मा पवित्र, तथा मेध्य बन जाता है, जैसाकि अन्यत्र निरूपित है।

वर्णानुगता अधिकारमर्य्यादा को लक्ष्य में रख कर ही 'ते ह समित्पाणयः'–'किं गोत्रोऽसि' इत्यादि वचन उद्धृत हुए हैं, यही वक्तव्यांश है। प्रश्न होता है कि, क्या अधिकारमर्य्यादा का यहीं विश्राम है ?, नहीं। अभी ब्रह्मपरादि लक्षण द्विजाति अधिकारी के लिए कुछ एक अधिकारमर्य्यादाएँ और अपेक्षित हैं। ब्रह्मपराः–ब्रह्मनिष्ठाः–परंब्रह्मान्वेषमाणाः–ये तीनों अधिकारमर्य्यादाएँ कार्य्यस्थानीया हैं। एवं बतलाई जाने वालीं तीन अधिकारमर्य्यादाएँ कारणस्थानीया हैं। जब सुकेशादि विद्वान् समित्पाणि बन कर पिप्पलाद की सेवा में पहुँचते हैं, तो पिप्पलाद उन्हें उत्तर देते हैं—

"तान् ह स ऋषिरुवाच—

भूय एव तपसा, ब्रह्मचर्य्येण, श्रद्धया–सम्वत्सरं सम्वत्स्यथ।
यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ। यदि विज्ञास्यामः, सर्वं वो
वक्ष्यामः" (प्रश्नो० १।२।)।

ब्रह्मविद्यात्मक संस्कार की प्रतिष्ठा के लिए जहाँ ब्रह्मपर–ब्रह्मनिष्ठ–ब्रह्मान्वेषणवृत्यनुगमन–अपेक्षित है, वहाँ इन तीनों धर्म्मों की प्रवृत्ति, तथा रक्षा के लिए तप, ब्रह्मचर्य्य, श्रद्धा, इन तीन आत्मधर्म्मों का अनुगमन करना भी आवश्यक हो जाता है। बिना इस त्रयी के वह त्रयी कथमपि स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं रह सकती। अतएव इसे हमनें कारणस्थानीया कहा है, एवं उसे कार्यस्थानीया माना है। आत्मा मनः–प्राण–वाङ्मय है, यह बतलाया गया है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** के अनुसार निर्बल आत्मा में न तो ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव है, न तदनुकूल अन्तर्व्यापार सम्भव है, एवं न तदनुकूल बहिर्व्यापार सम्भव। आत्मा को, किंवा आत्मकलाओं को बलवान् बनाने वाले ब्रह्मचर्य्यादि तीन साधन मुख्य मानें गए हैं।

ब्रह्मचर्य्य वाग्भाग में बलाधान करता है, तप प्राणभाग में बलाधान करता है, एवं श्रद्धा मानसक्षेत्र को बलवान् बनाती है। ठीक इसके विपरीत व्यभिचारप्रवृत्ति वाग्भाग को, आलस्य–अकर्म्मण्यता प्राणभाग को, तथा अश्रद्धामूलक असत्यभाग मनोभाग को निर्बल बनाता है। ऐसा निर्बल आत्मा दोषयुक्त है, अतिशय से रहित है, हीनाङ्ग है, अतएव असंस्कृत रहता हुआ विद्यासंस्कारग्रहण के लिए अयोग्य है। ब्रह्मचर्य्य दोषमार्ज्जनलक्षण शोधक संस्कार है, तपःकर्म्म अतिशयाधानलक्षण विशेषक संस्कार है, एवं श्रद्धा (सत्यस्वधारण) हीनाङ्गपूर्त्तिलक्षण पूरक संस्कार है। श्रद्धासंस्कार से संस्कृत मन ब्रह्मजिज्ञासा का प्रवर्त्तक बनता हुआ जिज्ञासु को 'ब्रह्मपर' बनाता है, तपःकर्म्मसंस्कार से संस्कृत प्राण ब्रह्मनिष्ठा का प्रवर्त्तक बनता हुआ जिज्ञासु को 'ब्रह्माध्यारूढ़' बनाता है, एवं ब्रह्मचर्य्यसंस्कार से संस्कृता वाक् तदन्वेषणप्रवृत्ति का कारण बनती हुई जिज्ञासु को ब्रह्मान्वेषमाण बनाती है।

मनस्तन्त्र ज्ञानशक्ति का आधार है, प्राणतन्त्र क्रियाशक्ति का उक्थ है, वाक्तन्त्र अर्थशक्ति का प्रभव है। ज्ञानशक्त्याधार मन कारणशरीरलक्षण **'आत्मा'** है, क्रियाशक्त्युक्थप्राण सूक्ष्मशरीरलक्षण **'सत्त्व'** है, अर्थशक्तिप्रभवभूता वाक् स्थूलशरीरलक्षण **'शरीर'** है। दार्शनिक परिभाषानुसार मन **'प्रज्ञामात्रा'** है, प्राण **'प्राणमात्रा'** है, वाक् **'भूतमात्रा'** है। वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार मन **'बीजचिति'** है, प्राण **'देवचिति'** है, वाक् **'भूतचिति'** है। तन्त्रपरिभाषा के अनुसार मन **'पशुपति'** है, प्राण **'पाश'** है, वाक् **'पशु'** है। नैतिक परिभाषानुसार मन **'शासक'** है, प्राण **'शासनदण्ड'** (शासनसूत्र) है, वाक् अनुशासिता **'प्रजा'** है। निगूढविज्ञानसिद्धान्त के अनुसार मन **'उक्थ'** है, प्राण **'अर्क'** (रश्मि) है, वाक् **'अशीति'** है। आयुर्वेदसिद्धान्त के अनुसार मन **'सत्त्व'** है, प्राण **'ओज'** है, वाक् **'सप्तधातुसमष्टि'** है। ब्राह्मणविज्ञानानुसार मन 'आत्मा' है, प्राण **'प्राणः'** है, वाक् **'पशवः'** है। लौकिक परिभाषानुसार मन **'भोक्ता'** है, प्राण **'भोगसाधन'** है, वाक् **'भोग्य'** है। कोशविज्ञानानुसार मन **'मनोमयकोश'** है, प्राण **'प्राणमयकोश'** है, वाक् **'अन्नमयकोश'** है। स्वरूपविज्ञानानुसार मन असङ्ग है, प्राण **'ससङ्गासङ्ग'** है, वाक् **'ससङ्ग'** है। प्रणवविज्ञान के अनुसार मन **'अकार'** है, प्राण **'उकार'** है, वाक् **'मकार'** है। कामविज्ञान के अनुसार मन **'आनन्द'** है, प्राण **'रति'** है, वाक् **'प्रजाति'** है। एषणाविज्ञान के अनुसार मन **'लोकैषणात्मक'** है, प्राण **'पुत्रैषणात्मक'** है, वाक् **'वित्तैषणात्मिका'** है। अश्वत्थविज्ञानानुसार मन **'आनन्द-विज्ञान-मनोमय-अमृततन्त्र'** है, प्राण **'मनः-प्राण-वाङ्मय ब्रह्मतन्त्र'** है, वाक् **'वाक्-आपः-अग्निमय शुक्रतन्त्र'** है। सत्यविज्ञानानुसार मन **'अमृतसत्यात्मा'** है, प्राण **'ब्रह्मसत्यात्मा'** है, वाक् **'देवसत्यगर्भित भूतात्मा'** है। ज्योतिर्विज्ञानानुसार मन **'स्वज्योति'** है, प्राण **'परज्योति'** है, वाक् 'रूपज्योति' है। शंब्रह्मविज्ञानानुसार मन **'खंब्रह्म'** है, प्राण **'रंब्रह्म'** है, वाक् **'कंब्रह्म'** है। अन्नादब्रह्मविज्ञानानुसार मन **'आवपन'** है, प्राण **'अन्नाद'** है, वाक् **'अन्न'** है। त्रिदेवविज्ञानानुसार मन **'ब्रह्मा'** है, प्राण **'विष्णु'** है, वाक् **'शिव'** (भूतपति) है। व्याहृतिविज्ञानानुसार मन **'स्वर्लोक'** है, प्राण **'भुवर्लोक'** है, वाक् **'भूलोक'** है। आधारविज्ञान के अनुसार मन **'हितोपहितप्रतिष्ठा'** है, प्राण **'हित'** है, वाक् **'उपहिता'** है। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा के इन कुछ एक व्याप्ति-उदाहरणों के आधार पर सम्भव है पाठक आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति की ओर आकर्षित हो सकेंगे।

	१–मनोविवर्त्तभावाः	२–प्राणविवर्त्तभावाः	३–वाग्विवर्त्तभावाः
(१)—	१–ज्ञानशक्तिः	२–क्रियाशक्तिः	३–अर्थशक्तिः
(२)—	१–कारणशरीरम्	२–सूक्ष्मशरीरम्	३–स्थूलशरीरम्
(३)—	१–आत्मा	२–सत्त्वम्	३–शरीरम्
(४)—	१–प्रज्ञामात्रा	२–प्राणमात्रा	३–भूतमात्रा
(५)—	१–बीजचितिः	२–देवचितिः	३–भूतचितिः
(६)—	१–पशुपतिः	२–पाशः	३–पशुः
(७)—	१–शासकः	२–शासनदण्डः	३–शासितप्रजा
(८)—	१–उक्थम्	२–अर्काः	३–अशीतयः
(९)—	१–सत्त्वम्	२–ओजः	३–सप्तधातवः
(१०)—	१–आत्मा	२–प्राणाः	३–पशवः
(११)—	१–भोक्ता	२–भोगसाधनम्	३–भोग्यपदार्थाः
(१२)—	१–मनोमयकोशः	२–प्राणमयकोशः	३–अन्नमयकोशः
(१३)—	१–असङ्गभावः	२–ससङ्गासङ्गभावः	३–ससङ्गभावः
(१४)—	१–अकारः	२–उकारः	३–मकारः
(१५)—	१–आनन्दः	२–रतिः	३–प्रजातिः
(१६)—	१–लोकैषणा	२–पुत्रैषणा	३–वित्तैषणा
(१७)—	१–आनन्दविज्ञानमनोमयम्	२–मनःप्राणवाङ्मयः	३–वागापोऽग्निमयी
(१८)—	१–अमृतसत्यात्मा	२–ब्रह्मसत्यात्मा	३–देवसत्यगर्भितभूतात्मा
(१९)—	१–स्वज्योतिः	२–परज्योतिः	३–रूपज्योतिः
(२०)—	१–खंब्रह्म	२–रंब्रह्म	३–कंब्रह्म
(२१)—	१–आवपनम्	२–अन्नादः	३–अन्नम्
(२२)—	१–ब्रह्मा	२–विष्णुः	३–शिवः
(२३)—	१–स्वर्लोकः	२–भुवर्लोकः	३–भूलोकः
(२४)—	१–हितोपहितप्रतिष्ठा	२–हितः	३–उपहिता

स वा एष आत्मा–वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयः। त्रयं सदेकमयमात्मा।
आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्

मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मतत्त्व का श्रमव्यापारप्रवर्त्तक वाग्भाग अन्नमयकोश बतलाया गया है। वाक् आकाश है। मनःप्राणात्मक आत्मतत्त्व से सर्वप्रथम इसी वाग्रूप आकाशतत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है, जो कि वागाकाश बलग्रन्थितारतम्य से क्रमशः वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन चार भूतों का प्रभव बन रहा है, जैसा कि-**'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः'** (तै०उ०२।१।) इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति से प्रमाणित है। आकाशात्मिका वाक् ही सर्वभूतजननी है, इसी वागाकाश में सब भूत अर्पित हैं, सम्पूर्ण भूत वाङ्मय हैं, इत्यादि सिद्धान्तों को-**'अथो वागेवेदं सर्वम्'** (ऐ०आ०३।१।६।)- **वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता'** (तै०ब्रा०२।८।८।४।) इत्यादि श्रुतियों का समर्थन प्राप्त है। हमारा स्थूलशरीर पाञ्च-भौतिक है, इसी आधार पर तालिका में वाक् को स्थूलशरीर का संग्राहक माना गया है।

शरीरगत वैश्वानराग्नि में सायं प्रातः हम जिस पार्थिव अन्नद्रव्य की आहुति देते हैं, उस भोग्य अन्न में पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, तीनों लोकों का रसभाग समन्वित है। अन्नगत घनभाग पार्थिव दधिरस है, अन्न-गत मिठास दिव्य मधुरस है, अन्नगत स्नेहनद्रव्य आन्तरीक्ष्य घृतरस है, जैसा कि-**'दधि हैवास्य लोकस्य रूपं, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य'** (शत०७।५।१।३।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। पार्थिव द्रव्य स्थूलभाग है, तदन्तर्गत आज्यलक्षण प्राणभाग सूक्ष्म है, एवं सर्वान्तरतम मधुभागयुक्त दिव्य चान्द्ररस सुसूक्ष्म है। भुक्तान्न के स्थूलभूतभाग से-**'रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र'** इन सात स्थूल धातुओं की पुष्टि होती है। भुक्तान्न के सूक्ष्म आज्यभाग से प्राणमय ओज की स्वरूपरक्षा होती है। एवं भुक्तान्न के सुसूक्ष्म मधुभागावच्छिन्न दिव्य चान्द्ररस से मन की तुष्टि होती है। इसप्रकार त्रिधर्म्मावच्छिन्न अन्न आत्मा के तीनों पर्वों का स्वरूपरक्षक बन रहा है। इसी आधार पर इस आत्मपुरुष को आयुःशास्त्र ने-**'अन्नरसमय पुरुष'** कहा है, जैसा कि पूर्वप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है।

सप्तधातुवर्ग वाङ्मय है, वाक्प्रधान है। **'शुक्र'** धातु पृथिवी का अन्तिम रस है। इसका निर्गमन **'ऊर्ध्व-अधः-तिर्य्यक्'** भेद से तीन प्रकार से सम्भव है। जो ज्ञानोपासक अपने इस शुक्र-सोम की ब्रह्मरन्ध्रो-पलक्षित शिरोगुहा में प्रतिष्ठित ज्ञानाग्नि में आहुति देते रहते हैं, वे-**'ऊर्ध्वरेता'** कहलाए हैं। ऐसे ज्ञानोपासक कुछ एक अपवादस्थलों को छोड़ कर शरीर से कृश रहते हैं। क्योंकि इनका शुक्र ज्ञानपोषण में उपयुक्त होता रहता है। अतएव ज्ञानोपासक ब्राह्मण के लिए आचार्य्यों नें शरीरायास निषिद्ध माना है। योषि-दग्नि में वृषासोम की आहुति देते हुए पुरन्ध्रिता धर्म्म के अनुयायी गृहमेधी-**'अधोरेता'** कहलाए हैं। ऊर्ध्व-अधः-दोनों मार्गों का निरोध कर (शरीर-पुष्ट्यर्थ) केवल शरीराग्नि में शुक्राहुति देने वाले मनुष्य **'तिर्य्यग्-रेता'** कहलाए हैं।

'तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्' के अनुसार ज्ञान ही 'ब्रह्म' है। इस ब्रह्म की चर्य्या (आचरण, अनुगमन) ही 'ब्रह्मचर्य्य' है। यह चर्य्या शुक्ररक्षा पर ही अवलम्बित है। अतएव लक्षणया ब्रह्मचर्य्य को शुक्ररक्षापरक भी मान लिया गया है। शुक्ररक्षा से ओज(प्राण)का विकास होता है। जिसका शुक्र अतिशयमात्रा में क्षीण हो जाता है, उसका ओज निर्बल हो जाता है, स्फूर्त्ति विलीन हो जाती है। ओजक्षय से तत्प्रतिष्ठित मन निर्बल बन जाता है। क्योंकि शुक्रगत सोम ही तो ओजावस्था में आता हुआ अपने विशुद्ध सोमभाग से मनःस्वरूप-सम्पादक बनता है। मन की निर्बलता से तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि का व्यवसायधर्म्म उच्छिन्न हो जाता है।

'बुद्धिनाशात्-प्रणश्यति' रूप मृत्युफल कालान्तर में अतिथि बन जाता है। इस मृत्युपाश-विमुक्ति का मुख्य साधन शुक्ररक्षात्मक ब्रह्मचर्य्य ही माना जायगा, जैसा कि-'**ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत**' इत्यादि सूक्ति से प्रमाणित है।

"**रसो ह्येव सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**" के अनुसार आनन्दघन आत्मा सर्वालम्बन है, यही शाश्वतानन्दोपलब्धि की प्रतिष्ठा है। इस पर विज्ञान प्रतिष्ठित है, विज्ञान पर कारणशरीरलक्षण मन का वेष्टन है, मन पर प्राणात्मक सूक्ष्मशरीर का वेष्टन है, प्राण पर वाङ्मय स्थूलशरीर का वेष्टन है। सर्व-प्रथम वाक्स्तर, तदन्तः प्राणस्तर, तदन्तः मनःस्तर, तदन्तः विज्ञानस्तर, सर्वान्तरतम आनन्द। यह व्यवस्थित क्रम है। '**तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः**' के अनुसार विज्ञान ही आनन्दघन आत्मसाक्षात्कार का मुख्य द्वार माना गया है। यदि वाङ्मय शुक्र स्व-स्वरूप से सुरक्षित है, तो ओज बलवान् है। ओज स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित है. तो मन बलवान् है। मन स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता हुआ यदि स्वस्थ है, तो-'**स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति**' के अनुसार विज्ञानात्मिका बुद्धि का विकास है। इस विज्ञानबल से ही अधिकारप्राप्ति सम्भव है, जिसके मनः-प्राण-वाङ्मय श्रद्धा-तप-ब्रह्मचर्य्य, ये तीन कर्म्म प्रतिष्ठा बन रहे हैं। मनोमयी श्रद्धा, प्राणमय तप, वाङ्मय ब्रह्मचर्य्य, तीनों विज्ञानबलवर्द्धक हैं। प्रवृद्ध विज्ञान ही ब्रह्मपर-ब्रह्मनिष्ठ-परब्रह्मान्वेष-माण व्यक्तियों की अधिकारमर्य्यादा यथावत् सुरक्षित रखने में समर्थ हैं। सम्वत्सरयज्ञ से उत्पन्न द्विजाति औपनिषद ज्ञान के लिए उपनीत बनता हुआ कम से कम सम्वत्सरपर्य्यन्त उक्त तीनों नियमों का अनुगमन करेगा। तभी इसका समित्पाणित्व चरितार्थ होगा, जिसका-'**सम्वत्सरं सम्वत्स्यथ**' से स्पष्टीकरण हुआ है। पिप्पलादसम्मता इसी अधिकारमर्य्यादा का निम्न लिखित अभियुक्त वचन से भी स्पष्टीकरण हुआ है—

"**ब्रह्मचर्य्यं-तपः-सत्यं-वेदानां-चानुपालनम्।**
श्रद्धा-चोपनिषच्चैव ब्रह्मोपायनहेतवः॥

आगे जाकर भगवान् पिप्पलाद ने ब्रह्मचर्य्य-तप-सत्य की ओर विशेष ध्यान दिलाते हुए अनृत-जिह्मता-माया-को इस अधिकारमर्य्यादा का एकान्ततः परिपन्थी माना है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको-येषां तपो, ब्रह्मचर्य्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको, न येषु जिह्म-मनृतं-माया च॥
(प्रश्नोप॰१।१५,१६,)

"हमें अपने श्रद्धा-आस्था-शून्य, अतएव सर्वथा शुष्क-रूक्ष-केवल बुद्धिवाद के बल पर, तात्कालिक उपलालन-द्वारा, तात्कालिक विनयप्रदर्शन-द्वारा, विविध प्रलोभनों के द्वारा, वाक्छल के द्वारा, किंवा अन्यान्य अनृत-जिह्म-मायादि-छलप्रपञ्चात्मक धर्म्मशून्य लोकनीतिपथों के द्वारा उपदेष्टा से येनकेनाप्युपायेन ज्ञानलाभ कर लेना चाहिए" इसप्रकार का धर्म्मविरुद्ध-आस्थाश्रद्धाशून्य-अनृत-जिह्मता-माया-मय प्रकार कदापि वेदतत्त्वज्ञान में सफलता प्रदान नहीं करा सकता, नहीं करा सकता, यही उक्त पिप्पलादवचन का स्वारस्य है।

८–याज्ञवल्क्यसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अपने युग के समर्थ वैज्ञानिक, अशास्त्रीय रुढिवाद के अन्यतम शत्रु भगवान् याज्ञवल्क्य ने इस सम्बन्ध में अपना जो महत्त्वपूर्ण निर्णय प्रकट किया है, दो शब्दों में उसका भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए। याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रदर्शित अधिकारमर्य्यादा के अनुगामी द्विजाति ही अध्ययनाध्यापन के अधिकारी हैं। एवं जिस अधिकारबीज को गर्भ में रख कर वे अधिकारी अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्त होते हैं, वे ही उस बीज की पुष्पित-पल्लवितरूपा समृद्धि के भोक्ता बनते हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

स्वाध्याय-प्रवचन का स्वाभाविक अनुराग[१], अनन्यमनस्कता[२], अपराधीनता[३], अर्थसाधनप्रवृत्ति[४], सुखस्वाप[५], आत्मचिकित्सानुगमन[६], इन्द्रियसंयम[७], एकारामता[८], प्रवृद्धप्रज्ञा[९], यशोऽनुगमन[१०], लोकपक्ति[११], ये ११ साधन हीं अधिकारमर्य्यादा के मूलस्तम्भ मानें गए हैं। इनका क्रमशः स्वरूप-दिग्दर्शन करा देना ही प्रकृत परिच्छेदार्थ है।

(१)–स्वाध्यायप्रवचन का स्वाभाविक अनुराग (प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतः)—

मानसक्षेत्र की अपेक्षा से पदार्थों को–'**श्रेय, प्रेय, श्रेयप्रेय, श्रेयप्रेयोऽभाव**,' भेद से चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। '**हितकर**' पदार्थ 'श्रेय' हैं। '**रुचिकर**' पदार्थ 'प्रेय' हैं। '**हितकर**'–'**रुचिकर**' पदार्थ 'श्रेय-प्रेय' हैं। एवं '**अहितकर–अरुचिकर पदार्थ**' श्रेयप्रेयोऽभावलक्षण हैं। कायक्लेशात्मक अध्यात्मचिन्तन, तत्त्वोपासन, एवं यज्ञादि प्राकृतिक कर्म्म हितकर हैं, अतएव श्रेय हैं। इनके अनुगमन में कठिनता है। '**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्**' (गी०१८।३०) के अनुसार श्रेयः कर्म्मों के आरम्भ में कठिनता है, किन्तु परिणाम में निःश्रेयस्भाव है। रास्नादि क्वाथ, गुग्गुल, एक वातरोगी के लिए हितकर बनते हुए श्रेय अवश्य हैं, परन्तु रुचिकर न होने से 'प्रेय' नहीं हैं। आध्यात्मिक याज्ञिक संस्था के रक्षाकर्म्म में ग्राह्य प्रकृत्यनुगत अन्नपान-शयनादि ऐन्द्रिक भोगों के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में बुद्धिपूर्विका-ईश्वर-प्रेरणाप्रतिफलरूपा उत्थिताकांक्षा के अनुगामी स्वाभाविक भोगों के अतिरिक्त-मानसेच्छा-नुगत-उत्थाप्याकाङ्क्षामूलक-संस्कारलेपप्रवर्त्तक-बन्धनात्मक-समस्त ऐन्द्रियक भोग केवल रुचिकर बनते हुए विशुद्ध प्रेयःकर्म्म मानें गए हैं। इन प्रेयःपदार्थों के रजस्तमो भेद से आगे जाकर अवान्तर दो विभाग हो जाते हैं। प्रकृतिविरुद्ध, किन्तु इन्द्रियसुखलिप्सात्मक भोजन-दर्शन-श्रवणादि कुछ एक प्रेयोविषय तो ऐसे हैं, जिनके आरम्भ में तो सुखानुभव होता है, परन्तु परिणाम में वे महाभयङ्कर सिद्ध होते हैं। ऐसे प्रेयः पदार्थ रजोगुणात्मक कहलाए हैं। रजोगुणप्रधान प्रेयः पदार्थों के सेवनकाल में बुद्धि का एकान्ततः अभिभव नहीं है। एक वातरोगी यह समझ रहा है कि, अम्लसेवन पीड़ा बढ़ा देगा, महाकष्ट होगा। फिर भी '**बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति**' (मनुः२।२१५।) के अनुसार वह लोभसंवरण करने में असमर्थ हो जाता है। परन्तु एक स्थिति ऐसी भी मानी गई है, जिसमें बुद्धि के सदसद्विवेक का एकान्ततः अभिभव है। न दुःखानुभव है, न सुखानुभव है। प्रमत्त मनुष्य की भाँति प्रवृत्तिमात्र है। ऐसा व्यक्ति विधि-निषेध-विवेक से वञ्चित रहता हुआ उन विषयों की ओर अन्धभाव से अनुगमन करता रहता है, जिनके आरम्भ, तथा अवसान में मोहलक्षण सुख का प्रभुत्त्व रहता है। उपक्रम में भी आत्मवि-स्मृति, उपसंहार में भी आत्मविस्मृति, ऐसे मोहात्मक काल्पनिक-सुखाभासलक्षण सुखों के प्रवर्त्तक मद्यपान-

अभक्ष्यभक्षण–अगम्यागमनादि कर्म्म तमोगुणात्मक मानें गए हैं। निद्राधिक्य से, आलस्य से, प्रमाद से एक प्रकार की शान्ति की झलक दिखलाई पड़ती है। परन्तु ऐसा सुख भी तमोगुणात्मक–मोहलक्षण–प्रेयोभाव ही माना गया है। सुख ही श्रेय है, सुख ही प्रेय है। परन्तु सत्वगुणक सुख श्रेय है, रजोगुणक, तथा तमोगुणक सुख प्रेय है। उभयविध प्रेय त्याज है, श्रेय ग्राह्य है, जिसकी प्रतिष्ठा बुद्धियोग माना गया है। निम्न लिखित श्रौत–स्मार्त्तवचन इन्हीं दोनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहे हैं

श्रेय–प्रेयस्वरूपमीमांसा—

"अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय स्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते"।

श्रेयोऽनुगमनादेशः—

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमतेस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते"

श्रेयोऽनुगामिनः प्रशंसा—

"स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः"

(कठोपनिषत् १।२।१,२,३)

सत्त्वानुगतश्रेयःस्वरूपमीमांसा—

"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसाजगम्॥"

रजोऽनुगतप्रेयःस्वरूपमीमांसा—

"विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोऽपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम्॥"

तमोऽनुगतप्रेयःस्वरूपमीमांसा—

"यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्" ॥(गी०१८।३७,३८,३९)

कुछ एक ऐसे पदार्थ, तथा कर्म्म भी हैं, जिन्हें हितदृष्टि से श्रेय भी कहा जासकता है, रुचिदृष्टि से प्रेय भी माना जासकता है। ऐसा उभयनिष्ठ विभाग ही 'श्रेयःप्रेयोभाव' नामक तीसरा श्रेणि विभाग है। शारीरयज्ञरक्षा के लिए अपेक्षित सुस्वादु दैनिक भोजनकर्म्म, अपेक्षित निद्राकर्म्म, भ्रमण, व्यायाम, बुद्धि-सहकृत मानस विनोद, आदि हितकर भी हैं, रुचिकर भी हैं। च्यवनप्राशावलेह, सौवर्चलपाकवटी, हिंग्वष्टकचूर्ण, गन्धकराजबटी, आदि औषधियाँ रास्नादि क्वाथादि की भाँति केवल हितकर (श्रेय) ही नहीं हैं, अपितु हितकर

होनें के साथ साथ रुचिकर भी हैं। सर्वनाशक हालाहलादि कतिपय पदार्थ न हितकर हैं, न रुचिकर हैं। यही चौथा श्रेणि-विभाग है। वस्तुतस्तु जिन तीन विभागों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे ही प्रज्ञापराध से उभयसम्पत्ति से वञ्चित होते हुए इस चतुर्थ विभाग के जनक बन रहे हैं। मात्रायुक्त महाविष भी स्वतन्त्ररूप से हितकर बन जाता है। अन्य औषधियों के सम्पर्क से अपनी कटुता छोड़ता हुआ यही विष हितकर होने के साथ साथ रुचिकर भी बन जाता है। उधर हितकर पदार्थ प्रज्ञापराध से अहितकर बन जाता है, रुचिकर पदार्थ भी अजीर्णदशा में अरुचिप्रवर्त्तक बन जाता है। सर्वथा श्रेणि-विभाग चार संख्याओं में ही विश्रान्त है।

प्रकान्त विद्याविभाग का, किंवा स्वाध्यायकर्म्म का श्रेय, तथा श्रेयःप्रेय, इन दो विभागों के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। स्वाध्यायारम्भ काल में, दूसरे शब्दों में प्राथमिक शिक्षण काल में अध्येता के लिए अध्ययन केवल श्रेयोभावयुक्त बना रहता है। बुद्धि का अविकास ही प्रेयोभावाभाव (अरुचि) का कारण है। योग्य शिक्षक के अनुग्रह से ज्यों ज्यों बुद्धि विकसित होने लगती है, त्यों त्यों हितभाव के साथ साथ रुचिभाव भी बढ़ने लगता है। यही रुचिभाव आगे जाकर विद्यापूर्णता का कारण बन जाता है। स्वयं पढ़ने की रुचि, पठित विषय को प्रकट करने की रुचि, दोनों सफलता के मौलिक रहस्य हैं। शिक्षक की योग्यताविषेश से ही यह स्वाध्याय-प्रवचनानुबन्धी प्रियभाव (प्रेयोभाव-रुचि) शिष्य में उत्पन्न होता है। वही विद्याक्षेत्र का अधिकारी बनता है। यदि किसी में पूर्वजन्मसंस्कारवश बचपन से स्वतः एव स्वाध्याय-प्रवचन की रुचि का बीज प्रतिष्ठित है, तो उत्तमाधिकारी है, एवं वह स्वाध्याकाल में ही इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर लेता है। यदि किसी में प्रयास से भी रुचि उत्पन्न न हुई, तो वह इस क्षेत्र का अनधिकारी ही माना जायगा। **"स्वाध्याय-(अध्ययन)-प्रवचन (अध्यापन) का अनुराग ही स्वाध्यायप्रवचन का प्रियत्त्व है, यही याज्ञवल्क्यमतानुसार प्रथम अधिकारमर्य्यादा है"** यही सन्दर्भनिष्कर्ष है।

२—रुच्यनुगत। अनन्यमनस्कता-(युक्तमना भवति)-

हमारी विद्या की ओर रुचि है, अंतएव हम अधिकारी हैं, यहां तक तो ठीक है। परन्तु इस रुचि की दो अवस्था हैं। रुचि का मन से सम्बन्ध है। मन 'युक्त-अयुक्त' भेद से दो वृत्तियों में विभक्त है। किसी भी विषय, किंवा कर्म्म के साथ मन का चिरकालपर्य्यन्त सम्बन्ध हो जाना मन की युक्तता है, एवं क्षणिक सम्बन्ध होना अयुक्तता है। इन दो विरुद्ध धर्म्मों का कारण है बुद्धिसहयोग का तारतम्य। अपने स्वाभाविक सौम्य विद्युत् के कारण मन स्वभावतः चञ्चल है, चाञ्चल्य मन का स्वाभाविक धर्म्म है। इसी वृत्ति के कारण यह किसी विषय के साथ अधिक काल पर्य्यन्त सम्बन्ध बनाये रखने में असमर्थ है। नवीनतामें रुचि रहती है, कालान्तर में रुचि हट जाती है। जिस विज्ञान (बुद्धि) के प्रवर्ग्यांश से मन स्वव्यापार करने में समर्थ होता है, वह स्थिर है। विज्ञानगत इन्द्र 'ओकःसारी' है, जैसा कि-**ओकःसारी वा इन्द्रः। यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति, ऐव तत्रापरं गच्छति'** इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

मन ऐन्द्रियक संस्कारबल से बलवान् बनता हुआ विज्ञानस्थिरता को अपने वश में कर लेता है। अतएव विज्ञानस्थिरता इसका उपकार करने में असमर्थ हो जाती है। ऐसे ही व्यक्ति अन्यमनस्क, अयुक्तमना, विज्ञानवञ्चित कहलाए हैं। विद्याक्षेत्र में मानस रुचि का चिरकालिकत्त्व अपेक्षित है। यह चिरकालिकत्त्व **'यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा'** (कठोपनिषत्) इस कठश्रुति के अनुसार तभी सम्भव

है, जब कि मन बुद्धि का अनुगामी बना रहे। बुद्धिगत स्थिरधर्म्म, मनोगत सोमात्मक स्नेहधर्म्म, दोनों के समन्वय से ही मन का व्यापार, मानस रुचि विद्याक्षेत्र में स्थिरधर्म्म की प्रवर्तिका बनती है। यही **'रुच्यनुगता अनन्यमनस्कता'** है, यही मन की युक्तता है, यही दूसरी अधिकारमर्य्यादा है, जिसका बीज बुद्धिप्राधान्य माना गया है।

३—अपराधीनता–(अपराधीनः)–

जीवात्मतन्त्र स्व, पर, भेद से दो तन्त्रों में विभक्त है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टिलक्षण कर्म्मात्मा ही जीवात्मा है। इसके इस ओर प्रज्ञानमनोयुक्त इन्द्रियवर्ग है, उस ओर चिज्ज्योति से अनुगृहीता बुद्धि है। बुद्ध्यनुगत जीवात्मा स्वमूलभूत चिदात्मतन्त्र से अनुग्रहीत रहता हुआ स्व–तन्त्र (आत्मतन्त्र) में प्रतिष्ठित है। प्रज्ञानमनोऽनुगत जीवात्मा विषयसंस्कारभूत जड़तन्त्र से अनुगृहीत रहता हुआ पर–तन्त्र (विषयतन्त्र) में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'परतन्त्र' है। पारतन्त्र्य आत्मज्ञान का महाप्रतिबन्धक है, स्वातन्त्र्य महा उपाकारक है। यही स्वातन्त्र्य बुद्धिविकास का कारण है। बुद्धिविकास ही मनःक्षेत्र की युक्तता का मूल है। युक्तमना अधिकारी ही अपने विद्यानुराग को सुरक्षित रख सकता है। इन्द्रियानुबन्धी अर्थक्षेत्र की परतन्त्रता ही पराधीनता है। पेट भर भोजन नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है, उसके लिए आत्मसमर्पण करना पड़ता है, इसी अर्थचिन्ता में अहोरात्र व्यतीत हो जाता है, यही परतन्त्रता का दूसरा दृष्टिकोण है। सब कुछ बाह्य साधन रहने पर भी आसक्ति के अनुग्रह से प्राप्त परवशता भी आत्मस्वातन्त्र्य की बाधिका बनती हुई स्वाध्यायकर्म्म में प्रतिबन्धक है। बाह्य साधन न होने पर अगत्या प्राप्त अर्थचिन्ता भी आत्मस्वातन्त्र्य की प्रतिबन्धिका है। दोनों ही पराधीनताएँ बुद्धिविकास के लिए घातक यन्त्र हैं। प्राप्त वैभव में आसक्ति न हो, साथ ही आवश्यकतानुसार अर्थक्षेत्र की सुविधा भी बनी रहे, यही अपराधीनता है, यही तीसरी अधिकारमर्य्यादा है।

(४)–अर्थसाधनप्रवृत्ति–(अहरहरर्थान् साधयते)–

दो प्रकार से इस अधिकारमर्य्यादा का समन्वय किया जा सकता है। रुचि भी है, अनन्यता भी है, अनन्यतारक्षक साधन भी प्रस्तुत हैं (अपराधीनता है)। परन्तु अर्थसाधनप्रवृत्ति नहीं है। गुरु ने आज जो उपदेश दिया, उसे कल पर छोड़ दिया, कल के उपदेश को परसों पर छोड़ दिया। प्रमादवश कल कल पर छोड़ते-गए। न कभी इस कल का अन्त होगा, न अधीत विषयों में सफलता मिलेगी। वही विद्याक्षेत्र में पूर्णता प्राप्त कर सकता है, जो **'न श्वः श्वः प्रतीक्षेत'** के अनुसार कल-कल की प्रतीक्षा न करता हुआ प्रतिदिन अधीत (श्रुत) विषय का मनन-निदिध्यासन किया करता है। **'स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्'** यह आदेश भी इसी अधिकारमर्य्यादा का समर्थन कर रहा है। जैसे भोजन करना हम नहीं भूलते, वैसे स्वाध्यायकर्म्म का भी अनध्याय नहीं होना चाहिए, जिसका **'अहरहः स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** से स्पष्टीकरण हुआ है।

'हमनें इतना जान लिया, अब बस है'–इसप्रकार विद्याक्षेत्र में 'अलं' बुद्धि रखने वाला भी अधिकारी नहीं माना जा सकता। ज्ञान अनन्त है, इसकी पिपासा भी अनन्त होनी चाहिए। 'न हम कभी बुड्ढे होंगे, न हम कभी मरेंगे' इस भावना को आगे करते हुए यावज्जीवन हमें अपने इष्टसाधन में प्रवृत्त रहना चाहिए। सन्तोष करना अनन्त की उपासना से विरोध करना है। जो वस्तुतत्त्व प्राप्त नहीं है, उसे प्राप्त करो, जो प्राप्त कर चुके हो, उसका विकास करो। विकास करना एक दृष्टिकोण है, जिसका पूर्व में स्पष्टीकरण

हुआ है। प्राप्त करना दूसरा दृष्टिकोण है। इसी के लिए श्रुति ने कहा है—'अजितुं जेतुमनुचिन्तयेत्, न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्'।

(५)–सुखस्वाप (सुखं स्वपिति)–

सशक्त शरीर, उत्साहपूर्ण मन, विकसिता बुद्धि, निरालसभावानुगता अर्थसाधनप्रवृत्ति, इन सबका मूलाधार सुखस्वाप माना गया है। 'एतद्धै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति' के अनुसार स्वाध्यायलक्षण तप से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आदि शक्तियों का पर्य्याप्त मात्रा में ह्रास होता है। इस अल्पकालीन दैनिक ह्रास (विसर्ग) की क्षतिपूर्त्ति के लिए इन शक्तियों का दैनिक आदान भी अपेक्षित है। अहःकाल में जहाँ हम शक्ति-दान करते हैं, वहाँ रात्रि में विश्रामद्वारा पुनः शक्तिसञ्चय में समर्थ हो जाते हैं। विश्राम का मुख्य क्षेत्र निद्रा है। जिसे सुखपूर्वक (भरपेट) निद्रा आती है, वही शक्तिलाभ कर सकता है। दिन के परिश्रम से क्लान्त ज्ञानतन्तु (स्नायुतन्तु) सुखस्वाप से पुनः सशक्त बनते हुए दूसरे दिन के कर्म्म के लिए योग्य बन जाते हैं। एवं यही पाँचवीं अधिकारमर्य्यादा है।

(६)–आत्मचिकित्सानुगमन–(आत्मनः परमचिकित्सको भवति)–

सुखपूर्वक निद्रा तभी आ सकती है, जब हमारी अध्यात्मसंस्था अपने तीनों पर्वों से स्वस्थ बनी रहती है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशात्मक पाञ्चभौतिक, भूतग्रामात्मक स्थूलशरीर, ५-प्रज्ञामात्रा, ५-प्राणमात्रा, ५-भूतमात्रा, १-मन, २-बुद्धि, ३-चित्त, ४-अहङ्कार-लक्षणा अन्तःकरणचतुष्टयी, इन १९ कलाओं से एकोनविंशतिमुख, देवग्रामात्मक सूक्ष्मशरीर, भावना, वासना, अविद्या, काम, कर्म्म, शुक्रसमष्टिरूप, आत्म-ग्रामात्मक कारणशरीर, पञ्चकल आत्मक्षर, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल अव्यय, निष्कल परात्पर की समष्टिरूप शरीरत्रयी-नियन्ता शरीरी, इन चार संस्थाओं की समष्टि ही प्रकृत में 'आत्मा' शब्द से गृहीत है।

वात-पित्त-कफ, ये तीन स्थूलशरीर के धातु हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्य, ये ६ सूक्ष्मशरीर के धातु हैं। भावना-वासना-शुक्र, ये तीन कारणशरीर के धातु हैं। एवं आनन्दविज्ञानादि आत्मा (शरीरी) के धातु हैं। इन धातुओं की न्यूनता, अधिकता, विषमता, अपाय, समता, ये पाँच अवस्थाएँ सम्भव हैं। भोग्य पदार्थों के सेवन में गड़बड़ करने से ही चार अवस्थाओं का उदय होता है। पांच में से चार अवस्था घातक हैं, अन्तिम अवस्था ही स्वस्थता है। हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, योग, इन पाँच वृत्तियों से उक्त पाँच अवस्था उत्पन्न होतीं हैं। कल्पना कर लीजिए, हमें आत्मसमतालक्षण समत्त्वयोग के लिए एक सेर अन्न खाना है। परन्तु ऐसा न कर प्रज्ञापराध से हमनें कम खाया, यही हीनयोग है। मात्रा से अधिक खा लिया, यही अतियोग है। खाया तो मात्रा से, परन्तु प्रकृत्यनुकूल न खा कर प्रकृतिविरुद्ध अन्न खा लिया, यही मिथ्या-योग है। कुछ नहीं खाया, यही 'अयोग' है। एवं प्रकृत्यनुसार जिस नियत समय में जितना अपेक्षित है, उस समय में उतना ही खाया, यही समत्त्वप्रवर्त्तक, स्वास्थ्यमूलक योग है। हीनादि अयोगात्मक चारों योग स्वस्थता-निवर्त्तक, तथा रोगप्रवर्त्तक हैं। योगात्मक पाँचवाँ योग रोगनिवर्त्तक, तथा स्वस्थताप्रवर्त्तक है। कौन वस्तु धातुवैषम्य का कारण है?, कौन विषमता के प्रवर्त्तक हैं?, इसप्रकार आहार-विहारादि का सम्यग्ज्ञान रखते हुए समत्त्वलक्षण योग का अनुगमन करना ही आत्मचिकित्सा है। आत्मचिकित्सा के अभाव में प्रज्ञापराधा-

नुग्रह से अध्यात्मसंस्था अस्वस्थ रहती है। निद्रा नहीं आती, मन अशान्त रहता है, बुद्धि अव्यवसायधर्म्म से आक्रान्त रहती है। ऐसी अध्यात्मसंस्था विद्याक्षेत्र में अनधिकृत है। इसी आधार पर आत्मचिकित्सा भी अधिकारमर्य्यादा मान ली गई है।

(७)–इन्द्रियसंयम—

प्रश्न यह है कि, स्वस्थताप्रवर्त्तक आत्मचिकित्साकर्म्म में सफलता प्राप्त कैसे हो ?, दूसरे शब्दों में मन की स्वाभाविक चञ्चलता से सम्बन्ध रखने वाले प्रज्ञापराध का नियन्त्रण कैसे किया जाय ?। इन्द्रियसंयम ही इसका मुख्य उपाय माना गया है। हमें विशुद्ध रुचिकर भावों से बचना चाहिए, अपनी वाक्-प्राण-चक्षुः-आदि इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। शुभ-अशुभोदर्क को लक्ष्य में रखते हुए ही ऐन्द्रियक श्रेयो विषयों की ओर प्रवृत्त रहना चाहिए। सहनशक्ति का अनुगमन करना चाहिए। थोड़े साहस से काम लेने पर ही हम अपनी इन्द्रियों की विषयलोलुपता पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे संसर्ग से बचना चाहिए, जो इन्द्रियभावों का उत्तेजक हो। और हमारे अपने अनुभव से तो जनसंसर्ग से बचते रहना ही इन्द्रियसंयम का मूलरहस्य है। एकान्तप्रियता हमें अनेक दुर्गुणों से बचा लेती है। इसीलिए अध्यात्मज्ञान के सम्बन्ध में हमें **'अरतिर्जनसंसदि'** (गी० १३।१०।) यह आदेश मिला है। अपनी आवश्यकताओं को कम करना, जनसंसर्ग से बचना, शास्त्रोपदिष्ट स्वस्त्ययनकर्म्मों को अपनाना, तत्त्वदर्शी विद्वानों का सहयोग प्राप्त करते रहना, इत्यादि कुछ एक ऐसे उपाय हैं, जिनसे हम इन्द्रियसंयम-कर्म्म में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। यही इन्द्रियसंयमलक्षणा अधिकारमर्य्यादा का एक विशेष दृष्टिकोण है।

अब दूसरे दृष्टिकोण से इसका समन्वय कीजिए, जिसका स्वाध्यायकाल से सम्बन्ध है। गुरु से विद्योपदेश ग्रहण करते समय हमें इन्द्रियों पर, किंवा तद्वृत्तियों पर पूर्णसंयम रखना पड़ेगा। एवं इस संयमकर्म्म के मुख्य अधिष्ठान चक्षु, श्रोत्र, मन, ये तीन इन्द्रियभाव बनेंगे। गुरु की ओर ही दृष्टि, उसी ओर श्रोत्रेन्द्रिय, उसी ओर मन, यही इन्द्रियसंयम स्वाध्याय की सफलता का मूलाधार है। इन तीनों में भी मन का संयम मुख्यरूप से अपेक्षित है। एकाग्रमन से श्रुत-दृष्ट विषय ही दृढ़संस्काररूप में परिणत होता है। एक गुरु के समीप अनेक शिष्य विद्याध्ययन कर रहे हैं। आँखों, कानों की दृष्टि से सभी समानाधिकारी हैं। परन्तु-**'केचिदर्थैर्युज्यन्ते, अपरे न'**। कारण यही है कि, मनोजव की दृष्टि से सब असमान हैं। चक्षु-श्रोत्र-मन, के तारतम्य से इस अधिकारमर्य्यादा को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

कितनें हीं शिष्य न देखते, न सुनते, मनन की तो कथा ही दूर है। यही सर्वथा अनधिकारी वर्ग है। पुस्तक खुली पड़ी है। मन कहीं ओर है, देख दूसरी ओर रहे हैं, श्रोत्र अन्य ध्वनिश्रवण में संलग्न हैं। इन पुरुषार्थियों को छोड़ते हुए हमें उन अधिकारियों का विचार करना है, जो प्रथम-मध्यम-उत्तम कोटित्रयी में विभक्त हैं। कितनें एक विद्यार्थी सुनते भी हैं, देखते भी हैं, मनोयोग भी रखते हैं, परन्तु स्वाध्याय-समाप्त्यनन्तर पुस्तक को पूजनगृह में प्रतिष्ठित कर देते हैं। कितनें एक घर आकर मनन तो करते हैं, परन्तु अनन्यता नहीं रखते। मनोविनोद में हीं अधिक समय बिताते रहते हैं। परन्तु उत्तमाधिकारी शिष्य स्वाध्यायकाल में भी आत्मसमर्पणयोग का आश्रय लिए रहते हैं, एवं अनन्तर भी उसी कर्म्म में

तल्लीन रहते हैं, डूबे रहते हैं। पानी से भरा सरोवर है। अनधिकारी किनारे से लौट आते हैं। प्रथमाधिकारी जानुपर्य्यन्त प्रवेश कर पाते हैं, मध्यमाधिकारी कक्षपर्य्यन्त प्रवेश कर लेते हैं। परन्तु उत्तमाधिकारी पूर्णरूप से अन्तस्तल पर पहुँच कर बाहर निकलते हैं। पूर्णेन्द्रियसंयमी ऐसे उत्तमाधिकारी ही वास्तविक अधिकारी हैं। इन्हीं तीनों अधिकारियों की स्थिति का सरोवरदृष्टान्त से स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

अनधिकारी—

"यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्" ॥

त्रिविधाधिकारिणः—

"अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास, उपकक्षास, उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृशे" ॥
(ऋक्सं० १०।७१।६,७ मं०)

(८)–एकारामता—

उद्देश्यविहीन जीवन जहाँ इन्द्रियारामता का प्रवर्त्तक है, वहाँ उद्देश्ययुक्त जीवन एकारामता का प्रवर्त्तक माना गया है। लक्ष्यविहीन अकर्म्मण्य मनुष्य ही प्रज्ञापराध के सत्पात्र बनते हुए ऐन्द्रियक भोगपाशों से बद्ध होते हैं। अनुभव से प्रमाणित है कि, अकर्म्मण्यदशा में हीं हमारा मन इतस्ततः अनुधावन करता है। यदि हम इसके सामने कोई लक्ष्य रख देते हैं, तो इसकी अन्य वृत्तियों का लक्ष्य पर केन्द्रीकरण हो जाता है। इस लक्ष्य के सम्बन्ध में यह लक्ष्य रखना आवश्यक होगा कि, कहीं स्वयं लक्ष्य तो अलक्ष्य नहीं बन रहा है। एक समय में अनेक लक्ष्य बनाना लक्ष्य को अलक्ष्य बनाना है। ऐसा अलक्ष्यात्मक लक्ष्य एकारामता का प्रतिद्वन्द्वी बनता हुआ अन्ततोगत्वा इन्द्रियारामतामूलक चाञ्चल्य का ही प्रवर्त्तक बन जाता है। हमारा लक्ष्य स्थिर हो, और वह एक हो, यही एकारामता है। एकारामता ही इन्द्रियसंयम का मूल है।

(९)–प्रवृद्धप्रज्ञा—

एकारामता से प्रज्ञानमन अपने प्रज्ञाभाग से स्थिर बन जाता है। इन्द्रियारामता, तथा अनेकलक्ष्यानुगमनता जहाँ प्रज्ञा को खण्ड–खण्डरूप में परिणत करती हुई इसके स्वाभाविक विकास का द्वार अवरुद्ध कर देती है, वहाँ आत्मानुगता, किंवा बुद्धिसंस्कृता एकारामता, तथा अनन्यलक्ष्यता प्रज्ञा को एकत्र आकर्षित करती हुई प्रज्ञावृद्धि का कारण बन जाती है। यही नवीं अधिकारमर्य्यादा है। तीव्रप्रज्ञता ही इसका बीज है।

(१०)–यशोऽनुगमन—

'रेतः-श्रद्धा–यशः' ये तीन चन्द्रमा के मनोता हैं। चन्द्रमा मन का उपादान है। फलतः अध्यात्मसंस्था में ये तीनों मानसधर्म्म बन रहे हैं। इसी मानस यशःप्राण से अध्येता का मन यशस्वी बनता है।

जिसमें यशःकरण का जितना अधिक विकास होता है, वह अपने कर्म्म से लोक में उतना हीं अधिक यशस्वी होता है। देखा जाता है कि, बड़े बड़े काम करने वाले भी यशःसम्पत्ति से वञ्चित रह जाते हैं। कारण यही है कि, उनका आध्यात्मिक यशःप्राण मूर्च्छित है। अतएव इन्हें लोकसम्पति नहीं मिलती। परिणाम में कालान्तर में ये हतोत्साह बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि, यशोविकास भी स्वाध्यायकर्म में उपोद्बलक बन रहा है। इसी दृष्टि से ऋषि ने इसे भी अधिकारमर्य्यादा में अन्तर्भूत मान लिया है।

(११)-लोकपक्ति-

उक्त १० सों साधन तभी सर्वात्मना सफल हो सकते हैं, जब इसे लोकसहानुभूति, सहयोग प्राप्त होता रहे। विद्याभ्यासी को समाजद्वारा सहयोग मिलना परम आवश्यक है। अन्यथा सांसारिक चिन्ताएँ इसे इस कर्म्म से च्युत कर देतीं हैं। "हम अमुक के लिए पच-मरने के लिए तय्यार हैं, इसमें हम अपना सौभाग्य समझते हैं" इसप्रकार की भावना ही लोकपक्ति है। तदनुगत अध्येता ही स्वाध्यायकर्म्म में सफल हो सकता है। भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि, आज वह लोकपक्ति-सम्पत् को सर्वथा भुला चुका है। यही कारण है कि, अन्य साधनों के रहते भी अध्येता अध्ययनकर्म्म में सफलता प्राप्त नहीं कर रहे।

शिष्य स्वाध्यायकर्म्म का अनुगामी है, गुरु प्रवचनकर्म्म का अनुगामी है। जो ११ गुण शिष्य के लिए अपेक्षित हैं, वे ही ११ गुण प्रवचनकर्त्ता गुरु के लिए अपेक्षित हैं। इन अधिकारमर्य्यादाओं का अनुगमन करने वाला शिष्यवर्ग, तथा आचार्य्यवर्ग, फलस्वरूप इन्हीं ग्यारह विभूतियों के सत्पात्र बन जाते है। उनका [१]स्वाध्याय-प्रवचन स्वाभाविक कर्म्म बन जाता है। [२]उनका मन स्थितप्रज्ञ बन जाता है। वे [३]आत्मस्वातन्त्र्य के अनुगामी बन जाते हैं। वे [४]अभीप्सित अर्थसाधन में समर्थ हो जाते हैं। [५]उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। वे [६]पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। [७]उनका जीवन संयत बन जाता है। [८]उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका बन जाती है। वे [९]मनस्वी बन जाते हैं। [१०]लोक में उनका यश व्याप्त हो जाता है। एवं-'[११]**सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति**' के अनुसार सब उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहते हैं। इसी अधिकार, एवं तदनुगत फलस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अधिकारमर्य्यादा- (उद्देश्यरूपा)		फलमर्य्यादा- (विधेयरूपा)
१—प्रिये स्वाध्यायप्रवचने स्याताम्	—	१—"प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतः"
२—युक्तमना भवेत्	—	२—"युक्तमना भवति"।
३—अपराधीनः (भवेत्)	—	३—"अपराधीनः (भवति)"।
४—अहरहरर्थान् साधयेत्	—	४—"अहरहरर्थान् साधयते"।
५—सुखं स्वप्यात्	—	५—"सुखं स्वपिति"।
६—परमचिकित्सक आत्मनो भवेत्	—	६—"परमचिकित्सक आत्मनो भवति"।
७—इन्द्रियसंयम (युक्तो भवेत्)	—	७—"इन्द्रियसंयम (युक्तो भवति)"।

८—एकारामता (प्राप्नुयात्)	—	८—"एकारामता (प्राप्नोति)" ।
९—प्रज्ञावृद्धिः (कार्य्या)	—	९—"प्रज्ञावृद्धि (र्भवति)" ।
१०—यशो(ऽनुगतः स्यात्)	—	१०—"यशोऽ(नुगामी भवति)" ।
११—लोकपक्ति (रन्विच्छेत्)	—	११—"लोकपक्ति (युक्तो भवति)" ।

"ये ह वै केच श्रमा इमे द्यावापृथिवीऽअन्तरेण, स्वाध्यायो हैव तेषां परमता, काष्ठा– य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते । तस्मात्–स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"

(शत० ११। कां ४ प्र० । १ ब्रा०) ।

९–परिशिष्ट–अधिकारमर्य्यादा,–

(१) ब्रह्मविद्या का अधिकार किसे है ?, इस प्रश्न की मीमांसा मुण्डकोपनिषत् में भी हुई हैं । वहाँ वेदशास्त्रसम्मत कर्म्मानुगमन, ब्रह्मनिष्ठानुगमन, आत्मयज्ञानुगमन, श्रद्धानुगमन, शिरोव्रतोऽनुगमन, इन पाँच साधनों को अधिकारसमर्पक बतलाया गया है । जो शास्त्रसिद्ध कर्म्म के अनुगामी बने रहते हैं, जिनकी कुल–परम्परा में शास्त्रीय कर्म्मों का आचरणात्मक समादर है, जो स्वयं भी क्रियात्मक धर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त हैं, वे ही इस औपनिषद ज्ञानलक्षण ब्रह्मविद्योपदेश के अधिकारी हैं । जो सर्वत्र अभेददर्शन करते हुए 'एकर्षि' नाम से प्रसिद्ध आत्मा का यजन करते रहते हैं, आत्मधर्म्म के उपासक बने रहते हैं, वे ही इसके अधिकारी हैं । जो इस विद्या के प्रति श्रद्धा रखते हैं, वे ही इसके अधिकारी है । सर्वोपरि जिन्होंनें शिरोव्रत का अनुगमन कर लिया है, वे ही इसके अधिकारी हैं ।

ज्ञानाग्नि, प्राणाग्नि, भूताग्नि, भेद से आध्यात्मिक संस्था में तीन अग्निसंस्थान मानें गए हैं । शिरोगुहा ज्ञानाग्निसंस्थान है, उरोगुहा प्राणाग्निसंस्थान है, एवं उदरगुहा भूताग्निसंस्थान है । शिरोगुहा–स्थित प्रज्ञान–संयुक्त विज्ञान (बुद्धि) ही ज्ञानाग्नि है । जो अपने शुक्रात्मक सोम की इस ज्ञानाग्नि में आहुति देते रहते हैं, वे ऊर्ध्वरेता कहलाए हैं, जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है । इस शिरोभागस्थित ज्ञानाग्नि में शुक्राहुति देने वालों का ही ज्ञानाग्नि प्रवृद्ध रहता है । ऐसे ज्ञाननिष्ठ ही 'शिरोव्रती' कहलाए हैं । इसप्रकार ज्ञानयज्ञानुगत शिरोव्रती ही प्रधानतः ज्ञानप्रधाना इस ब्रह्मविद्या के प्रधान अधिकारी मानें जा सकते हैं । ज्ञान की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति ही इस अधिकारमर्य्यादा का प्रत्यक्ष निदर्शन है । जो आत्यन्तिकरूप से विषय–परायण हैं, उनका ज्ञानाग्नि मूर्च्छित रहता है । ऐसे ही लोकव्रती (लोकपरायण) 'अचीर्णव्रती' हैं । ऐसे व्यक्ति इस क्षेत्र में सर्वथा अनधिकृत हैं । निम्न लिखित मुण्डकश्रुति इसी अधिकार–मर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रही है—

"क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा, स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥
तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच–नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मुण्डकोप० ३।२।१०,११,) ।

(२)–सबसे प्रधान मर्य्यादा 'अनुसूया' भाव है । जो व्यक्ति शास्त्रीय वचनों पर श्रद्धा करता है, शास्त्रादेशों के प्रति अनुराग रखता है, जिसे यह विश्वास है कि, इसके अनुगमन से अवश्य ही मेरा

अभ्युदय-निःश्रेयस् है, ऐसा श्रद्धालु, विश्वासी व्यक्ति ही इस शास्त्र का अधिकारी बन सकता है। स्वयं वेद-भगवान् का इस सम्बन्ध में यह आवेशपूर्ण आदेश है कि, तुम उसी के प्रति विद्योपदेश करो, जो शास्त्र के प्रति श्रद्धा रखता है, ऋजुभाव से अनुकूल तर्क से अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है। ठीक इसके विपरीत यदि तुमनें अनधिकारी-अश्रद्धालु को उपदेश का क्षेत्र बना लिया, तो विश्वास करो-तुम्हारा अपना विद्यासंस्कार निर्बल हो जायगा। अनधिकारी का अश्रद्धा दोष तुम्हारे आत्मा पर भी आक्रमण कर बैठेगा। इसी अधिकारमर्य्यादा का समर्थन करते हुए ऋषि कहते हैं—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया, वीर्य्यवती तथा स्याम्" ॥

"(किसी समय) विद्या (विद्याभिमानिनी वाग्देवी) वेदवित् ब्राह्मण के समीप आई, और कहने लगी, हे ब्राह्मण ! तुम मेरे स्वरूप की रक्षा करो। सुरक्षित होती हुई मैं तुम्हारे अभीष्ट सिद्ध कर सकूँगी। परनिन्दक, कुटिल, असंयतेन्द्रिय, अश्रद्धालु, मायावी, लोकैषणासक्त,ऐसे अनधिकारियों के लिए मेरा कदापि प्रवचन न करो। इस नियम के परिपालन से मैं तुम्हारे लिए वीर्य्यवती बनी रहूँगी"।

अधिकारीवर्ग को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि, जिस गुरु से वे विद्योपदेशग्रहण करते हैं, उसके प्रति, उसके वचनों के प्रति पूर्ण श्रद्धा बनाए रक्खे। तभी इसमें विद्याविकास सम्भव होगा। जो गुरु अपने उपदेशामृत से शिष्य की अविद्या दूर करता हुआ इसे अमृतसम्पत्ति प्रदान करता है, हमें 'द्विज' सम्पत् प्रदान करने वाला ऐसा गुरु मातृ-पितृ-स्थानीय है। उस से द्रोह करना अपने आप से द्रोह करना है। गुरु के प्रति अनन्यश्रद्धा ही अधिकार-मर्य्यादा का मूलाधार है। उपदेष्टा गुरु के प्रति जो भूल से भी द्रोह करने लगते हैं, न उन पर गुरुकृपा रहती, एवं न गुरूपदेश ही उनके लिए सफल बनता। उनका सम्पूर्ण श्रुत उपदेश सर्वथा व्यर्थ चला जाता है। इसलिए—

"य आतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ॥
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह ॥१॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्म्मणा वा ॥
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥"

साथ ही उपदेशक गुरु को भी विद्योपदेश से पहिले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि, अमुक व्यक्ति इस योग्य है, अथवा नहीं ?। धर्म्मशास्त्रोक्त यम-नियमानुगमन के द्वारा जिसका अन्तःकरण निर्म्मल है, आशु-ग्रहणलक्षण मेधागुण से जो युक्त है, जो जिज्ञासाभाव से यथाविधि शिष्य बन रहा है, साथ ही जिसके प्रति यह विश्वास है कि, यह कभी द्रोह नहीं करेगा, उसी के प्रति विद्योपदेश करना चाहिए—

"यमेव विद्याः शुचिमप्रत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्य्योपपन्नम् ।
यस्तेन द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूयान्निधिपाय ब्रह्मन्" ॥*॥

(३)–वेदव्याख्याता यास्काचार्य्य ने भी इस अधिकारमर्य्यादा का संक्षेप से स्पष्टीकरण किया है। निरुक्त का प्रधान लक्ष्य निर्वचन है, निर्वचन ही शब्दों के तत्त्वार्थ का बोधक माना गया है। अतएव निरुक्ति से पहिले शब्द–ज्ञान आवश्यक है। उपदेश का आधार शब्दशास्त्र है। अतएव शब्दज्ञानसाधक व्याकरण का विशेष बोध नहीं, तो सामान्यबोध अवश्यमेव अपेक्षित है। वेदशास्त्राधिकार–प्राप्ति के लिए व्याकरणज्ञान नितान्त अपेक्षित है। व्याकरणशून्य के लिए वेदशास्त्र एक असमाधेय प्रश्न है। चाहे व्याकरणशास्त्र का परपारगामी विद्वान् ही क्यों न हों, यदि उसमें प्रपन्नता नहीं है, शिष्यानुगता जिज्ञासा नहीं है, तो ऐसे अनुपसन्न नैव्याकरण को भी वेदशास्त्र का अनधिकारी ही माना जायगा। प्रत्येक दशा में शिष्य बनना अनिवार्य्य है। यदि कोई शुष्कवैय्याकरण है, जिसे कि, 'वैय्याकरणखसूचि' कहा गया है, तो वह भी 'अनिदंवित्' बनता हुआ अनधिकारी ही माना जायगा। वेदशास्त्र सर्वज्ञाननिधि है। इसमें प्रवेशाधिकार पाने के लिए केवल व्याकरणज्ञान ही पर्य्याप्त नहीं है। दर्शनादि अन्य शास्त्रज्ञान के बिना विशुद्ध वैय्याकरण अनिदंवित् बनता हुआ अनधिकारी है। अवश्य ही इस अधिकारप्राप्ति के लिए अन्य शास्त्रों का सामान्य बोध भी परम आवश्यक है। इसके अतिरिक्त स्वाभाविक प्रतिभा भी अपेक्षित है। प्रज्ञानुगामिनी प्रतिभा ही वेदशास्त्र के तात्त्विक बोध में समर्थ है। बिना प्रतिभा के वेद के निगूढ विषय समझ में नहीं आते। और उस दशा में प्रतिभाशून्य अधिकारी अपने अज्ञान का दोष उपदेष्टा के प्रति समर्पित करने लगता है। परिणाम में विद्याप्रतिबन्धक असूया–दोष उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार निरुक्तमतानुसार व्याकरणज्ञानयुक्त, अन्यशास्त्रबोधयुक्त, प्रतिभा–सम्पन्न, शिष्यबुद्धियुक्त व्यक्ति ही वेदशास्त्राध्ययन का अधिकार प्राप्त कर सकता है। निम्न लिखिता सूत्र–चतुष्टयी इसी अधिकारमर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रही है–

"१–नावैय्याकरणाय, २–नानुपसन्नाय, ३–अनिदंविदे वा,
४–नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया" (या० नि० २।३।५,६,७,८,)।

---

* विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेस्मि रक्ष माम् ॥
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्य्यवत्तमा ॥१॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ॥
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥२॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ॥
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥३॥
—मनुः २।११४,१५,१६,।

"उपसन्नाय तु निब्रूयात्–यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्, मेधाविने-तपस्विने वा" (या०नि०२।३।६)।

अधिकारप्रश्न को लेकर आज अनेक प्रकार के ऊहापोह उपस्थित किए जारहे हैं। परिस्थिति वस्तुतः यह है कि, किसी को तत्त्वपरिज्ञान की जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासा के अतिरिक्त आज कई एक आगन्तुक दोषों से हमारा सत्त्वभाग सर्वथा मलिन हो चुका है। फलतः स्वाभाविक अधिकारमर्य्यादा एकान्ततः अभिभूत है। अधिकार माँगने से नहीं मिलता, अपितु वह अपनी योग्यता पर अवलम्बित है। जबतक विद्याग्रहणयोग्यतानुरूपा अधिकार-मर्य्यादा उद्बुद्ध नहीं हो जाती, तब तक 'हम अधिकारी हैं, हम अधिकारी हैं' इस निरर्थक उद्घोष से कोई लाभ नहीं हो सकता। ज्ञानलवदुर्विदग्ध वर्त्तमानयुग के मादृश अधिकारी कभी सफल नहीं हो सकते। हम स्वयं विद्वान् बन कर, पहिले से अपना मन्तव्य स्थिर बना कर आगे बढ़ते हैं। ऐसी दशा में तत्त्वज्ञान न हो तो, कोई आश्चर्य्य नहीं है। **'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'** इस औपनिषद आदेश के अनुसार हमें बच्चे बन कर ज्ञानक्षेत्र में प्रवृत होना चाहिए। शास्त्रप्रदिष्ट उन उपायों का अनुगमन करना चाहिए, जो आत्मगत दोषों को हटा कर उसे विद्यासंस्कारग्रहण के योग्य बनाते हैं। **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'** को लक्ष्य बनाकर तत्त्वदर्शी गुरु के प्रति आत्मसमर्पण किए बिना केवल अनुवाद-भाष्यादि के बल पर, किंवा धर्म्म, तन्मूला आस्था श्रद्धा, तद्युक्त शास्त्रीय विधि-विधान से सर्वथा असंस्पृष्ट रूक्ष विशुद्ध बुद्धिवाद के बल पर तत्त्वज्ञानप्राप्ति नितान्त असम्भव है, जैसाकि-निम्नलिखित छान्दोग्यवचन से प्रमाणित है-

"तमाचार्य्योऽभ्युवाद-सत्यकाम ! इति, भगव ! इति प्रतिशुश्राव। ब्रह्मविदेव वै सोम्य ! भासि, को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति प्रतिजज्ञे। भगवाँस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्। श्रुतं ह्येव भगवद्दृशेभ्यः-'आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति, इति तस्मै हैतदेवोवाच। अत्र ह न किञ्चन वीयाय-इति"

(छां०उ०४।६।१,२,३,)।

हमारी अधिकारमर्य्यादा, तथा शास्त्रीय अधिकारमर्य्यादा, दोनों के समतुलन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, हम वेदशास्त्र के लिए सर्वथा अनधिकारी हैं। विद्याविकास के लिए जो चिरकालिक धैर्य्य अपेक्षित है, वह सर्वथा विलीन है। आज हम चाहते यह हैं कि, अहोरात्र अन्यान्य सांसारिक-अर्थ-प्रधानक्षेत्रों की उपासना करते रहें, अपनी काल्पनिक लोकैषणाओं के द्वारा कल्पित व्यक्तित्त्व के विमोहन में आसक्त होकर आत्म-ब्रह्म-विद्या-वेद-धर्म्म-विरोधी भी लोकमानवों का समालिङ्गन करते हुए कल्पित मानवता का अभिनय करते रहें, और साथ ही हमारी विद्याक्षेत्र में भी पूर्ण प्रगति होती रहे। सर्वथा असम्भव। ऐसे अनधिकारियों के अनुग्रह से ही तो सच्छास्त्र आज अन्तर्म्मुख बने हुए हैं। प्रश्न के अव्यवहितोत्तरकाल में ही इच्छा यह प्रकट की जाती है कि, अभी इसका तत्त्वज्ञान करा दिया जाय। यदि प्रश्नकर्त्ता से यह कह दिया जाता है कि, अभी आप इसका उत्तर हृदयङ्गम नहीं कर सकेंगे, तो प्रश्नकर्त्ता तत्काल यह निर्णय कर डालता है

कि, इन्हें कुछ नहीं आता । उधर औपनिषद ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली अधिकारमर्य्यादाओं के इतिवृत्त की ओर जब हमारा ध्यान जाता है, तो वर्त्तमानयुग की प्रवृत्ति पर स्तब्ध हो जाना पड़ता है ।

सुकेशा भारद्वाजादि विद्वान् पिप्पलाद के सम्मुख जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं, उत्तर मिलता है-एकवर्ष पर्य्यन्त योग्यता सम्पादक नियमों का अनुगमन कीजिए । अनन्तर प्रश्न का समाधान किया जायगा । सत्यकाम को आदेश मिलता है ४०० गाएँ ले जाओ, जब ये १००० बन जायँ, तब वापस लौटना, अनन्तर उपदेश के अधिकारी बनोगे । इन्द्र-विरोचन प्रजापति की सेवामें आत्मस्वरूप की जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं । उत्तर मिलता है-"**एवमेवैष मघवन्निति होवाच । एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि । स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास । तस्मै होवाच**"(छां०उ०८।६।३।)। ये ही कुछ एक ऐसी जटिल समस्याएँ हैं, जिन्हे लक्ष्य में रखते हुए वर्त्तमान युग के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-सर्वज्ञ-बुद्धि-वादी अधिकारियों के सम्मुख अधिकारमर्य्यादा का स्वरूप रखते हुए हम हृत्कम्प का अनुभव कर रहे हैं ।

---*---

६-स्वाध्यायव्रतमीमांसा—

"आदर्शवाद जिस युग में यथार्थवाद था, उस युग के लिए प्रतिपादित उक्त अधिकारमर्य्यादाओं के अनुगमन के बिना किसी भी युग में वेदशास्त्र का पूर्णरूप से तत्त्वबोध सम्भव नहीं है," इस सिद्धान्त को सुरक्षित रखते हुए भी हम उस युग से सम्बन्ध रखने वाले यथार्थवाद, किंवा परिस्थितिवाद की ओर से भी सर्वथा आँखमिचौली नही खेल सकते, जिस युग में कई एक कारणविशेषों से यथार्थवाद का आदर्शवाद से अनेक अंशों में पार्थक्य हो गया है । वर्त्तमान युग की विषम परिस्थितियों में प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादा प्राप्त कर ली जाय, फलस्वरूप वेदशास्त्र का तत्त्वज्ञान उपलब्ध हो जाय, यह केवल काल्पनिक जगत् के काल्पनिक विचार हैं । यत्र कुत्रचित् परिगणित अपवाद स्थलों को छोड़ कर आज परिस्थितियों के आक्रमण से वह अधिकारमर्य्यादा हमारे लिए प्रणम्य बन रही है । ऐसी दशा में क्या यह किया जाय कि, वेदशास्त्र को बस्ते में बन्द कर पूजागृह में प्रतिष्ठित कर दिया जाय ?, नेति होवाच !

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् गतिं तात ! गच्छति ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

सिद्धान्त के आधार पर हम प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादाओं में से वर्त्तमान की कुछ एक मर्य्यादाओं का वर्त्तमान परिस्थिति में भी अनुगमन कर सकते हैं, एवं इन्हीं अंशात्मिका अधिकारमर्य्यादाओं के आधार पर हम अंशतः अपने स्वाध्यायकर्म्म में सफलता भी प्राप्त कर सकते हैं । अधिकारमर्य्यादा के सम्बन्ध में जो नियमोपनियम बतलाए गए हैं, उन सबका एकमात्र लक्ष्य यही है कि, हमारा मन दोषों से वियुक्त होता हुआ विद्यासंस्कार-ग्रहण-योग्य बन जाय, हमारा ज्ञानाग्नि विकसित हो जाय । परमकारुणिक महर्षियों नें कुछ एक ऐसे उपाय भी बतला दिए हैं, जिनके अनुगमन से कालान्तर में लक्ष्यसिद्धि हो जाती है, एवं हम अधिकारी की कोटि में आ जाते हैं । हमें हमारी चर्य्याओं में कुछ एक ऐसे अतिशयों का समावेश कर डालना चाहिए, जिनसे अध्यात्मसंस्था का उत्तरोत्तर विकास निश्चित है । उन अतिशयाधायक नियम विशेषों को ही **'स्वाध्यायव्रत'** कहा गया है ।

यद्यपि निर्दिष्ट स्वाध्यायव्रत स्वाध्याय-कर्म्म में प्रवृत्त होने के अनन्तर स्वाध्यायकर्म्म की रक्षा के लिए उपयुक्त माने गए हैं । तथापि इन्हें अधिकारसमर्पक भी माना जा सकता है । अवश्य ही इनके

पूर्णानुगमन से, एवं सततानुगमन से स्वाध्याय की ओर हमारी प्रवृत्ति भी होने लगती है, एवं वह प्रवृत्ति सुरक्षित भी रह सकती है। जो इस अनन्त तपःकर्म्मलक्षण स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहते हैं, जिन्हें ब्रह्मविद्या-सेतु पर पहुँचने की आकांक्षा है, उन्हें निम्न लिखित (कतिपय) स्वाध्यायव्रतों का अनुगमन करना चाहिए—

स्वाध्यायव्रतनिदर्शनानि—

१—सूर्य्योदय से पहिले उत्थापन
२—ईशसंस्मरणपूर्वक नित्यकर्म्मानुगमन
३—देव-द्विज-गुरु-ज्येष्ठ-वृद्धों का उपसेवन
४—अहरहः स्वाध्यायकर्म्मानुगमन
५—यथाशक्य सत्यभाषणानुगमन
६—सत्त्वगुणोपेतआहारविहारोपसेवन
७—कुसङ्ग का एकान्ततः विसर्जन
८—जनकलकलसंसर्ग का विसर्जन
९—गोवंशपूजन
१०—उद्दण्डतापरिवर्ज्जन
११—हित-मित-प्रियभाषणानुगमन
१२—असत्प्रियाख्यानवर्जन
१३—वृथाचेष्टाविसर्जन
१४—कुतूहलप्रवृत्तिवर्जन
१५—स्वस्त्ययनकर्म्मानुगमन *

"तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्" (मनुः ४।१४।)

एक अनुभूत प्रयोग है-'स्वाध्यायकर्म्म का नैरन्तर्य्य'। हमें यह नियम बना लेना चाहिए कि, हम प्रतिदिन कुछ न कुछ अवश्य पढ़ेंगे। भोजनकर्म्मवत् इस कर्म्म को अनिवार्य्य बना लेना चाहिए। अवश्य ही थोड़े दिनों मानसजगत् अपने ऊपर अनुचित भार का अनुभव करेगा। परन्तु थोड़ी सावधानी से, बुद्धिपूर्वक बलप्रयोग से यदि हमनें इस अभ्यास को सुरक्षित रक्खा, तो अवश्यमेव स्वाध्यायानुष्ठान में सफलता मिलेगी। शास्त्राभ्यास ज्यों ज्यों वृद्धिंगत होगा, त्यों त्यों बुद्धिगत विज्ञान विकसित होगा। स्वयं भगवान् मनु ने इस शास्त्राभ्यासनैरन्तर्य्य को सफलता का मूलसूत्र माना है—

१—बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥
२—यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ (मनुः ४।१९,२०)।

इसी सम्बन्ध में एक बात और। स्वाध्यायकर्म्म के सम्बन्ध में कल्पसूत्र, स्मृत्यादि में अष्टमी, प्रतिपत् आदि जो अनध्यायकाल बतलाए गए हैं, उनके प्रति अपनी श्रद्धा को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण करने का साहस किया जायगा कि, जिस युग में वेदस्वाध्याय एकान्ततः विलुप्त हो चुका हो, वैदिक साहित्य स्मृतिगर्भ में विलीन हो रहा हो, आज के उस आपद्युग में हमें-'अनध्याय-

---

* जिन कर्म्मों के अनुगमन से आत्मा के अस्वस्तिभाव की निवृत्ति, तथा स्वस्तिभाव की प्रवृत्ति होती है, उन शान्ति-समृद्धि-तुष्टि-पुष्टि-प्रवर्त्तक कर्म्मों को ही 'स्वस्त्यनकर्म्म' कहा गया है। इनका वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत कर्म्मयोगपरीक्षा-द्वितीयखण्डात्मक 'ग' विभाग के **'हमारे स्वस्त्यनकर्म्म'** नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

प्रिया हि छात्राः, विशेषतो गुरवः' इस सुन्दर सूक्ति की एकान्ततः उपेक्षा कर देनी चाहिए। यह हमारा सौभाग्य है कि, स्वयं श्रुति ने अनध्यायमर्य्यादा को दत्तकपुत्र-मर्य्यादावत् अपवादकोटि में ही सुरक्षित रक्खा है। सृष्टिकालोपलक्षित वेदस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा के पुण्याह में कोई तिथि, कोई समय वर्ज्य नहीं है। सोते, खाते, पीते, उठते, बैठते, सब अवस्थाओं में सर्वत्र सदा हमारे आध्यात्मिक जगत् में स्वाध्यायकर्म्म का धारावाहिक स्रोत प्रवाहित रहना ही चाहिए। शाश्वतब्रह्म के शाश्वतयज्ञ (ब्रह्मयज्ञ) लक्षण स्वाध्यायकर्म्म का कभी अनध्याय नहीं है।

क्या कभी पानी अपना बहाव बंद करते हैं ?, क्या आदित्य अपनी दैनंदिनगति से कभी विश्राम लेते हैं ?, क्या चन्द्रमा को कभी किसी ने अनध्याय करते देखा है ?, क्या नक्षत्र कभी छुट्टी लेकर स्वक्षेत्र से पलायित होते हैं ?। यदि दुर्भाग्य से ये प्राकृतिक देवता अनध्याय करने लगें, तो सृष्टिमर्य्यादा की कैसी दुर्दशा हो, कल्पना कीजिए। ब्राह्मण भी भूदेव हैं, प्राकृतिक देवताओं के अनुसार इन्हें भी सदा स्वाध्याय-यज्ञलक्षण सत्र में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। मृत्यु, जरा, रोग, ये तीन प्रतिबन्धक ही इन्हें इस सत्र से विमुख बना सकते हैं। आत्मा 'स्व' लक्षण है। तदनुगत अध्ययन ही 'स्वाध्याय' है। शाश्वतधर्म्म स्व (आत्मा) का अध्ययनलक्षण स्वाध्यायकर्म्म भी इसी शाश्वतधर्म्म से युक्त है। यही स्वाध्यायकर्म्म की अनवच्छिन्नता का मूलरहस्य है, जिसका–"अभिव्याहरेत–व्रतस्याव्यवच्छेदाय" (शत० ११।४।१।१०) से समर्थन हो रहा है। देखिए–स्वयं वेदभगवान् अपनी ओर से क्या आदेश दे रहे हैं—

१—"अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। तस्य वाऽएतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूः, मन उपभृत्, चक्षुध्रुवा, मेधा स्रुवः, सत्यमवभृथः, स्वर्गो लोक उदयनम्। यावन्तं ह वाऽइमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णं ददँल्लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति, भूयांसं चाक्षय्यं, य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शत० ११।५।६।३।)।

२—"तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य चत्वारो वषट्काराः–यद्वातो वाति, यद्विद्योतते विद्युत्, यत्स्तनयति, यदवस्फूर्जति। तस्मादेवंवित् वाते वाति, विद्योतमाने स्तनयति, अवस्फूर्जति–'अधीयीतैव' ××× । स चेदपि प्रबलमिव न शक्नुयात्, अप्येकं देवपदं–अधीयीतैव। तथा भूतेभ्यो न हीयते" (शत० ११।५।६।८।)।

३—"यदि ह वा अप्यभ्यक्तः, अलङ्कृतः, सुहितः, सुखे शयने शयानः, स्वाध्यायमधीते–आ हैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते, य एवं विद्वान्स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।" (शत० ११।५।७।४।) *।

---

*–वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः॥
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥१॥
[शेष पृष्ठ २६३ पर]

४—"यन्ति वाऽआपः, एति आदित्यः, एति चन्द्रमाः, यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा ऽएता देवता नेयुः, न कुर्युः, एवं हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति, यदहः स्वाध्यायं नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"। (शत० ११।५।७।१०।)।

———※———

※ प्रकरणोपसंहार—

'औपनिषद ज्ञान का अधिकारी कौन है'? इस प्रश्न के सम्बन्ध में अब तक जिन अलौकिक, लौकिक अधिकारों का दिग्दर्शन कराया गया है, उन सबका वस्तुतः आत्मनिष्ठा से ही सम्बन्ध माना जायगा। जैसाकि कहा जा चुका है, अधिकार न तो प्राप्त करने की ही वस्तु है, न माँगने से ही अधिकार मिलता है। हृदयाकाशस्थ दभ्राकाश (दहराकाश) में उक्थरूप से प्रतिष्ठित चिज्ज्योतिर्घन ब्रह्म ही औपनिषद पुरुष है। यही वस्तुतः औपनिषद ज्ञान है, जिसके सम्पर्कमात्र से अशेष भेद प्रत्यस्त हैं, जो विशुद्ध सत्ताघन है, अतएव वाङ्मनस पथातीत बनता हुआ अगोचर है ÷। औपाधिक भेदनिवृत्ति हो जाने पर यह स्वतः प्रकट है। **'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** के अनुसार शास्त्रसिद्ध सोपाधिक कर्म्मानुगमन से जब बुद्धियोगसम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, तो बिना किसी प्रयास के नाप्राप्त (नित्यप्राप्त) इस औपनिषद ज्ञान का अधिकार प्रकट हो जाता है। प्रतिपादित तप, मेधा, प्रवचन, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य्य, श्रवण, मनन, आदि अधिकार बुद्धियोग से सम्बन्ध रखते हैं, न कि औपनिषदज्ञान से। निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति को सम्मुख रखते हुए प्रकरण विश्राम ग्रहण कर रहा है—

"नायमात्मा प्रवचेन लभ्यः, न मेधया, न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥"
(कठोपनिषत् १।२।२२)।

'औपनिषद-ज्ञानाधिकारिस्वरूपदिग्दर्शन' नामक
चतुर्थ स्थम्भ उपरत

४

——※——

[पृष्ठ ३६२ की टिप्पणी का शेषांश]

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः॥
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥२॥
—(मनुः २ अ०।१६६-६७ श्लो०)।

÷-प्रत्यस्ताशेषभेदं यत्, सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'औपनिषद-ज्ञानाधिकारिस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

चतुर्थ-स्तम्भ-उपरत

४

—×—

श्री:

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-

'ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

पञ्चम-स्तम्भ

५

श्रीः

ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन

पञ्चम स्तम्भ

१–उपनिषत्, और उपनिषच्छास्त्र—

प्रकृत प्रकरण के यथावत् समन्वय के लिए हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि, इस प्रकरण के अवलोकन से पहिले वे एकबार भूमिका-प्रथमखण्डान्तर्गत–'**उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है ?**' नामक प्रकरण पर एक दृष्टि डाल लें। प्रकृत प्रकरण में जो कुछ वक्तव्य है, उसका रूपान्तर से वहाँ दिग्दर्शन कराया जा चुका है। प्रकरणसङ्गति के लिए सिंहावलोकनन्याय से दो शब्दों में उस मन्तव्य की पुनरावृत्ति कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। विधि, आरण्यक, उपनिषत्, वेद के ब्राह्मणभाग के इन तीन शास्त्रखण्डों से सर्वसाधारण भलीभाँति परिचित हैं। प्राचीन व्याख्याताओं की दृष्टि से '**स्वर्गादिफलावाप्तिसाधक-काम्य-कर्म्मयोगत्त्व**' 'विधि' शब्द का अवच्छेदक है। '**ईश्वरानुग्रहप्राप्तिकामलक्षण–भक्तियोगत्त्व**' 'आरण्यक' शब्द का अवच्छेदक है, एवं '**सर्वकर्म्मविमोकलक्षण विशुद्ध ज्ञानयोगत्त्व**' 'उपनिषत्'–शब्दका अवच्छेदक है। विधिभाग विशुद्ध कर्म्मयोग का, आरण्यकभाग विशुद्ध भक्तियोग का, तथा उपनिषत्-भाग विशुद्ध ज्ञानयोग का प्रतिपादन कर रहा है। व्याख्याताओं की इस विभक्त–दृष्टि से निष्कर्ष यह निकलता है कि, 'उपनिषत्' शब्द एकमात्र 'ईश-केन-कठ' आदि नामों से प्रसिद्ध, एतन्नामक उपनिषद्ग्रन्थों में हीं निरूढ है। अतएव '**सर्वे वेदान्ताः**' सूक्ति वृद्धव्यवहार में उपनिषद्ग्रन्थों की ही संग्राहिका बन रही है।

वस्तुस्थिति यह सिद्ध कर रही है कि, ज्ञानयोगत्त्व उपनिषत्–शब्द का अवच्छेदक नहीं है। अपितु–'**व्यवस्थितविज्ञानसिद्धान्तत्त्व**' ही उपनिषत्–शब्द का अवच्छेदक है, जैसाकि भूमिका–प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। वह मौलिक सिद्धान्त, तत्त्वविज्ञान अपने गर्भ में 'उपपत्ति–निश्चय–स्थिति' लक्षण 'उप–नि–षत्' भावों को अपने गर्भ में रखता हुआ ही 'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। व्याख्याताओं नें योगत्रयी के जो लक्षण मानें हैं, जिनका कि–'**उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?**' इस प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है, वे सर्वथा अवैज्ञानिक, अतएव प्रणाम्य हैं। वही योगत्रयी वस्तुतः ग्राह्य, तथा उपादेय है, जो क्रमशः कामनिवृत्ति, अनुग्रहकामनिवृत्ति, कर्म्मप्रवृत्ति, से सम्बन्ध रखती हुई संशोधिता योगत्रयी है, जिसका उक्त प्रकरण में ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है। धर्म्मबुद्धियोगात्मक कामनिवृत्तिपरक व्यक्त कर्म्मप्रवृत्तिपरक कर्म्म ही 'कर्म्मयोग' है। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक–अनुग्रहकामनिवृत्तिपरक उपासनातत्त्व ही 'भक्तियोग' है, कामनिवृत्तिपरक–अव्यक्तकर्म्मप्रवृत्तिपरक ज्ञान ही 'ज्ञानयोग' है। एवं–रागासक्तिविरहित–ज्ञानकर्म्मोभयात्मक–वैराग्यबुद्धियोग ही चौथा सिद्धान्त–स्थानीय 'बुद्धियोग' है। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत प्रकरण का विश्लेषण करना है।

कर्म्म, भक्ति, ज्ञान, बुद्धि, नामक चारों ही योग पुरुषस्वरूप के विकासक बनते हुए 'पुरुषार्थ' माने जा सकते हैं। ये योग पुरुषार्थ क्यों माने गए ?, क्यों इनका अनुगमन किया जाय ?, किस कौशल से इनका अनुगमन किया जाय ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान तब तक असम्भव है, जब तक कि, इनकी मौलिक उपपत्तियाँ हृदयङ्गम न कर लीं जायँ। अवश्य ही सञ्चरविद्यात्मक विज्ञान, तथा प्रतिसञ्चरविद्यात्मक ज्ञान, इन दोनों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्म (विज्ञान) तथा, ज्ञान के मौलिक रहस्य ही योगचतुष्टयी–प्रवृत्ति के मुख्य आधारहैं। 'रहस्यप्रतिपादनत्त्व' ही उपनिषत् शब्द का प्रधान अवच्छेदक है। एवं ऐसा 'उपनिषत्' शब्द न केवल उपनिषच्छास्त्र से ही सम्बद्ध है, अपितु कर्म्मयोगप्रतिपादक विधिभाग, भक्तियोगप्रतिपादक आरण्यकभाग, बुद्धियोगप्रतिपादक उपनिषद्–भाग, तीनों वेदभागों के साथ उपनिषत्-शब्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपनिषच्छास्त्र में प्रतिपादित उपनिषदें (तात्त्विकरहस्य) सर्वत्र व्याप्त हैं। यहाँ तक कि, स्वयं मूलसंहिताएँ भी इस मर्य्यादा से वञ्चित नहीं है, जैसाकि पाठक आगे जाकर देखेंगे।

प्रश्न इस सम्बन्ध में यह शेष रह जाता है कि, यदि 'उपनिषत्' शब्द का(उक्त अवच्छेदक मर्य्यादा से) विधि, आरण्यक भागों से भी सम्बन्ध है, तो उन्हें भी 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं किया गया ?, क्या कारण है कि, उपनिषत् शब्द से केवल ईशाद्युपनिषद्भाग ही प्रसिद्ध हुआ ?। प्रश्न का समाधान उपनिषच्छब्दार्थ से गतार्थ है। यहाँ स्मरणमात्र करा दिया जाता है। कर्म्मयोगप्रतिपादक विधिभाग जिन कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता बतलाता है, वह कर्म्मकलाप क्रत्वर्थ, पुरुषार्थ, भेद से दो भागों में विभक्त है। अनेक क्रत्वर्थकर्म्मों के समन्वय से एक पुरुषार्थकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। क्रत्वर्थकर्म्मों का आरभ्याधीत विधिवचनों से सम्बन्ध है, एवं पुरुषार्थकर्म्मों का अनारभ्याधीत विधिवचनों से सम्बन्ध है। आरभ्याधीत विधिवचनों में 'लिङर्थ' इष्ट है, अनारभ्याधीत विधिवचनों में 'स्वर्गादिफल' इष्ट हैं। आरभ्याधीत विधिपरक क्रत्वर्थकर्म्म यज्ञार्थकर्म्म हैं, इनसे यज्ञकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अनारभ्याधीत विधिपरक कर्म्म यज्ञकर्म्म हैं, इनसे यज्ञकर्त्ता पुरुष का स्वार्थसाधन होता है, अतएव इन्हें 'पुरुषार्थ' कहा गया है।

क्रत्वर्थ–पुरुषार्थ भेदभिन्न यज्ञकर्म्म विशेष बनते हुए विशेष (द्विजाति) अधिकारियों के लिए ही विहित हैं। इनसे अतिरिक्त एक तीसरा सामान्य विधिभाग है, जिसका मनुष्यमात्र को समानाधिकार है। **"सदा कर्म्म करते रहो, सत्य भाषण करो, धर्म्मपथ का अनुगमन करो, किसी की हिंसा न करो"** इत्यादि विधिवचन 'सामान्याधीत–विधिवचन' हैं। इसप्रकार विशेष–सामान्याधिकारी भेद से कर्म्मयोग **'क्रत्वर्थ–पुरुषार्थ–लोकार्थ'** भेद से तीन भागों में विभक्त हो रहा है। तीनों क्रमशः–**'आरभ्याधीत–अनारभ्याधीत–सामान्याधीत'** इन विधिवचनों से सम्बद्ध हैं। इस त्रिविध कर्म्मभेद से कर्म्मोपपत्तिलक्षण–विज्ञानसिद्धान्तरूपा 'उपनिषत्' के भी तीन भेद हो जाते हैं।

क्रत्वर्थकर्म्मों की उपनिषदों (विज्ञानसिद्धान्तों) का प्रतिपादन तो सर्वात्मना विधिभाग में ही हो गया है। साधारण विज्ञानात्मिका ये उपनिषदें क्रत्वर्थकर्म्मेतिकर्त्तव्यता–प्रतिपादन के साथ साथ ही प्रतिपादित हैं। क्योंकि क्रत्वर्थ प्रतिपादक–विधिभाग में कर्म्मेतिकर्त्तव्यता का प्राधान्य है, वहीं विधि का मुख्य लक्ष्य है, उपपत्तिविज्ञानलक्षणा उपनिषदें गौण हैं, अतएव क्रत्वर्थकर्म्मप्रतिपादक आरभ्याधीत विधिभाग से सम्बद्ध उपनिषदों को 'उपनिषत्' रूप से व्यवहार करने का अवसर नहीं आता। अपितु इनका 'विधि' शब्द से ही ('तद्वादन्याय' से) ग्रहण कर लिया जाता है।

अब शेष बचते हैं—पुरुषार्थकर्म्मानुगत अनारभ्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थ-कर्म्मानुगत सामान्याधीत विधिवचन। पुरुषार्थकर्म्मों के भी सामान्य-विशेष भेद से दो श्रेणि विभाग हैं। दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, वरुणप्रघासेष्टि, पुत्रेष्टि, तानूनप्त्रेष्टि, सौत्रामणी, आदि पुरुषार्थकर्म्म सामान्य हैं। ग्रहयाग, राजसूय, वाजपेय, चयन, प्रवर्ग्य, आदि पुरुषार्थकर्म्म उच्चकोटि के मानें गए हैं। महाविज्ञानानुगत इन उभयविध पुरुषार्थकर्म्मों की उपनिषदों का प्रायः तत्कर्म्मेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक-तत्तदनारभ्याधीत विधिवचनों के साथ ही प्रतिपादन हो गया है। हाँ कुछ एक अनारभ्याधीतविधियाँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रतिपादन विधिग्रन्थों में नहीं भी हुआ है। पुरुषार्थकर्म्मानुगत विधिभाग में भी विधि (कर्म्म) की ही प्रधानता है। अतएव क्रत्वर्थवत् इन उपनिषदों का भी उपनिषत् शब्द से व्यवहार नहीं होने पाया है, जैसा कि सोदाहरण शब्दार्थप्रकरण में प्रतिपादित है।

महाविज्ञानानुबन्धी कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों का प्रतिपादन करने वाले अनारभ्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थकर्म्मप्रतिपादक सामान्याधीत विधिवचन, दो विभाग शेष रह जाते हैं। कारुणिक महर्षियों नें इन दोनों की उपनिषदों का पृथक्रूप से निरूपण कर दिया है। वही विभाग उपनिषत्-प्रतिपादन की प्रधानता से उसी तद्वादन्याय से 'उपनिषत्' शब्द से प्रसिद्ध हुआ है। **एकधनावरोध, देवस्मर, यज्ञविरिष्टसन्धान,** आदि अनारभ्याधींत विधियों की उपनिषदें उपनिषद्ग्रन्थों में हीं प्रतिपादित हैं—(देखिए-कौ० उ० २।३।४।)-(छां० उ० ४।१७।)। स्पष्टीकरण यह है कि-समस्त क्रत्वर्थकर्म्म, एवं कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों को छोड़ कर समस्त पुरुषार्थकर्म्म उपनिषदों के सहित विधिभाग में प्रतिपादित हैं, एवं इनमें इतिकर्त्तव्यतालक्षण कर्म्मभाग प्रधान है, उपपत्तिलक्षणा उपनिषदें गौण हैं। अतएव विधिभागान्तर्भूत उभयविध उपनिषदों को 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत नहीं किया गया। कुछ एक पुरुषार्थकर्म्म (एकधनावरोधादि) ऐसे हैं, जिनकी इतिकर्त्तव्यता तो विधिभाग में विशेषरूप से प्रतिपादित हुई है, एवं उपपत्तिलक्षणा उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। एवमेव सामान्य विधियों की इतिकर्त्तव्यता तो प्रधानरूप से विधिभाग में, तदनुगत स्मृतिभाग में हुई है, एवं उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। यही स्वतन्त्रोपनिषत्समष्टि 'उपनिषत्' प्राधान्य से 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुई है। 'यदि वेद के विधिभाग में उपनिषत्-शब्दावच्छेदक विद्यमान है, तो वह उपनिषत्-शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं हुआ ?" इस प्रश्न का यही युक्तियुक्त, तथा विज्ञानसम्मत समाधान है।

विधिभाग के अनन्तर भक्तियोगप्रधान 'आरण्यकभाग' हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसे उपनिषत नाम से क्यों नहीं व्यवहृत किया गया, जबकि अवच्छेदकभावयुक्त उपनिषत् का विधिभागवत् इसमें भी समावेश है ?' प्रश्न के सम्बन्ध में इसलिए समाधान करना अप्रयोजक है कि, **'बृहदारण्यकोपनिषत्'** इत्यादि वृद्ध-व्यवहार स्वयं आरण्यकभाग का उपनिषत् के साथ सम्बन्ध मानता हुआ आरण्यक के उपनिषत्-त्व का समर्थन कर रहा है। अपिच आरण्यकप्रतिपादित भक्तियोग (तत्त्वोपासना) की उपनिषदों का तद्योगप्रतिपादन के साथ ही विधिभागवत् स्पष्टीकरण हो गया है। अतएव उसे भी विधिभागवत् स्वतन्त्ररूप से 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत करने का अवसर अप्राप्त रह गया।

प्रकृत परिच्छेद से बतलाना हमें यही है कि, उपनिषत्-शब्द रहस्यविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। वेद का उपनिषद् भाग क्योंकि प्रधानरूप से इसी रहस्यज्ञान का विश्लेषण करता है, कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-बुद्धियोग-

चतुष्टयी की उपनिषदें बतलाता है. अतएव यह ईशाद्युपनिषद्विभाग में ही निरूढ बन गया है। 'उपनिषत्-और उपनिषच्छास्त्र' का यही स्वाभाविक सम्बन्ध है। अब हमें कुछ एक ऐसे वचन और उद्धृत कर देने हैं, जिनके आधार पर पाठक यह निर्णय कर सकें कि, 'उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक ज्ञानयोगत्त्व है, अथवा विज्ञानसिद्धान्तत्व ?। यद्यपि उपनिषच्छब्दार्थप्रकरण में दो एक उदाहरण उद्धृत हुए हैं, तथापि वे सर्वात्मना सन्तोषकर नहीं है। अतः यहाँ और उदाहरण उद्धृत करना प्रासङ्गिक मान लिया गया है।

२-उपनिषत्-शब्द का अवच्छेदक—

'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इत्यादि वचनों के अनुसार आर्षसाहित्य में प्रयुक्त शब्द ही अपने अवच्छेदकभावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं। उदाहरण के लिए 'इति-हास-पुराण', शब्दों को ही लक्ष्य बनाइये। **'इति-ह-आस'** (ऐसा-निश्चयेन था-) रूप से स्वयं 'इतिहास' शब्द अपने अवच्छेदक का स्पष्टीकरण कर रहा है। **'पुरा-नवं-भवति'** निर्वचन पुराणशब्द का अवच्छेदक व्यक्त कर रहा है। एवमेव 'उपनिषत्' शब्द का अवच्छेदक भी हमें उपनिषत् शब्द से ही पूँछना चाहिए। **'उप-नि-षत्'** ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक है। 'उप' का अर्थ है—'समीप'। 'नि' का अर्थ है—'निश्चयेन'। 'षत्' का अर्थ है 'बैठना'। जिस तत्त्वज्ञान के परिज्ञान से हम तज्ज्ञानप्रतिष्ठ विषय के समीप निश्चयेन पहुँच जाते हैं, वह तत्त्वज्ञान ही 'उप-नि-षत्' का साधक बनता हुआ 'उपनिषत्' है। साधकत्त्वेन तत्त्वज्ञान यदि उपनिषत् है, तो साध्यत्त्वेन भी यह उपनिषत् ही बन रहा है।

उपपत्तिज्ञान 'उप' है, निश्चयबोध 'नि' है, तत्रस्थिति 'षत्' है। उपपत्तिज्ञान ही निश्चयबोधपूर्वक तद्विषयस्थिति का कारण बनता है। अतएव इसे इस साध्यदृष्टि से भी 'उपनिषत्' (उप-उपपत्ति, नि-निश्चय, षत्-स्थिति) कहना अन्वर्थ बन रहा है। जो जिसकी मूलप्रतिष्ठा है, मूलाधार है, जिस मूलाधार के आधार पर तदाधेय स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, वह मूलाधार 'उपपत्ति-निश्चय-स्थिति' रूप से उपनिषत् है, एवं ऐसी मूलाधारात्मिका उपनिषत् का परिज्ञान भी उप-नि-षत्-(समीपे-अन्तस्तले-निश्चयेन-स्थापयत्यात्मानम्) रूप से उपनिषत् है। यही उपनिषत् शब्द का तात्त्विक अवच्छेदक है। निम्नलिखित वचन इसी अवच्छेदक को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुए हैं—

१—**"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"**(शत० ब्रा० १०।४।५।१।)।

२—**"अथादेशाः-उपनिषदाम्"** (शत० ब्रा० १०।४।५।१)

३—**"यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति"** (छान्दो० उप० १।१।१०।)।

४—**"अथ खल्वियं सर्व्वस्यै वाच उपनिषत्"** (ऐ० आ० ३।२।५।)।

५—**"तस्योपपनिषदहमिति"** (बृ० आ० उ० ४।५।४।)।

६—**"तस्योपनिषदहरिति"** (बृ० आ० उ० ४।५।३।)।

७—**"तस्योपनिषन्न याचेत्-इति"** (कौ० उ० २।१।)।

८—"अन्नवानन्नादो भवति, य यतामेवं साम्नामुपनिषदं वेद"(छान्दो॰उ॰१।३।४)।
९—"बतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत्" (छान्दो॰ उ॰ ८।८।५।)।
१०—"तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाच" (छान्दो॰ उ॰ ८।८।४।)।
११—"तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति" (बृ॰ आ॰ उ॰ २।१।२०।)।
१२—"उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः" (बृ॰ आ॰ ४।२।१।)।
१३—"अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः" (तै॰ उ॰ १।३।१।)।
१४—"ओं सत्यमित्युपनिषत्" (कैवल्योप॰ २।)।

उद्धृत वचनों में प्रयुक्त 'उपनिषत्' शब्द 'ईशाद्युपनिषदों' का वाचक नहीं है, यह स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त स्वयं व्याख्याताओं नें भी 'अरण्यमियान्न पुनरेयादित्युपनिषत्' इत्यादि रूप से उपनिषत् शब्द के यौगिकार्थ का अनेक स्थलों में समर्थन किया है। निम्न लिखित वचन भी उपनिषत् का अवच्छेदक पृथक् ही मान रहा है।

प्रथमं स्यात् महानाम्नी द्वितीयश्च महाव्रतम्।
तृतीयं स्यादुपनिषद् गोदानञ्च ततः परम्" (आश्वालायनगृह्यकारिका)

इस प्रकार अवच्छेदक की मर्य्यादा से उपनिषत्तत्त्व का 'विधि–आरण्यक–उपनिषत्' तीनों काण्डों के साथ सम्बन्ध हो रहा है। जिस प्रकार अवच्छेदक मर्य्यादा से उपनिषत्-तत्त्व का तीनों काण्डों से सम्बन्ध है, एवमेव इसी अवच्छेदकमर्य्यादा से विधि, तथा आरण्यकभाग का भी तीनों काण्डों से घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। यही कारण है कि, एक काण्ड के परिज्ञान के लिए शेष दोनों काण्डों का स्वरूप–परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है।

३–काण्डत्रयी का त्रिपुटी–सम्बन्ध—

धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग, ज्ञानबुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, एवं वैराग्यबुद्धियोगलक्षण बुद्धियोग, चारों में बुद्धियोग एक स्वतन्त्र योग है, जिसका प्रधानरूप से उपनिषद्–भाग में विश्लेषण हुआ है। यही उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है। इस बुद्धियोगसम्पत्ति के अनुग्रह से ही शेष तीनों योग सोपनिषत्क बनते हुए बलवत्तर बन रहे हैं। इस विलक्षण बुद्धियोग को थोड़ी देर के लिए पृथक् रखते हुए हमें काण्डत्रयी से सम्बद्ध योगत्रयी का विचार करना चाहिए। बुद्धियोग क्योंकि तीनों का आलम्बन है, अतएव इसकी स्वतन्त्र गणना नहीं होती। योगत्वेन योगत्रयी ही शेष रह जाती है, जिसका काण्डत्रयी से क्रमिक सम्बन्ध है। बुद्धियोग ही कर्म्मयोग का कौशल है, यही भक्तियोग का कौशल है, एवं यही ज्ञानयोग का कौशल है। वैज्ञानिकों नें इन योगों के जो वैज्ञानिक लक्षण किए हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, प्रत्येक योग में गौणरूप से इतर दोनों का समन्वय हो रहा है। कर्म्मयोग में कर्म्म का प्राधान्य है, ज्ञानयोग में अव्यक्तज्ञान का प्राधान्य है। मध्यस्थ भक्तियोग का 'देहलीदीपकन्याय'

से दोनों के साथ सम्बन्ध है। साथ ही मध्यस्थ होने से भक्तियोग इस ओर की कर्म्मसम्पत्ति, उस ओर की ज्ञानसम्पत्ति, दोनों से युक्त है। इसप्रकार प्रत्येक योग योगत्रयात्मक बन रहा है। सामान्य दृष्टि से भी कर्म्मयोग में ज्ञान भी अपेक्षित है, उपासना भी अपेक्षित है। भक्तियोग में उपासना के साथ साथ ज्ञान-कर्म्म भी अपेक्षित हैं। एवमेव ज्ञानयोग में ज्ञान के साथ साथ कर्म्म, तथा उपास्ति भी अनिवार्य्य हैं। पहिले कर्म्मप्रधान कर्म्मयोग की मीमांसा कीजिए, जिसका प्रधानतः विधिभाग से सम्बन्ध है।

जितनें भी कर्म्म हैं, सब की प्रतिष्ठा भिन्न भिन्न उपनिषत् है। जिस कर्म्म की उपनिषत् भलीभांति जान ली जाती है, वही कर्म्म सुसम्पन्न बनता है। उपनिषल्लक्षण तत्त्वज्ञान के आधार पर ही कर्म्म प्रतिष्ठित है। कर्म्मप्रधान विधिग्रन्थों में प्रजापति, आत्मा, उक्थ, पृष्ठ, आदि तत्त्वों का यत्र तत्र सुविशद निरूपण हुआ है। इन सब का तत्त्वज्ञान ब्रह्मविज्ञानप्रधाना उपनिषत् से ही सम्बद्ध है। कर्म्मात्मक यज्ञ यौगिक तत्त्व है, ज्ञानात्मक ब्रह्मतत्त्व मौलिक तत्त्व है। मौलिक ब्रह्मतत्त्व ही यौगिक यज्ञकर्म्म की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मस्वरूप को यथावत् अवगत किए बिना तत्प्रतिष्ठ कर्म्म का स्वरूप सर्वथा अविदित ही रहता है। मानना पड़ेगा कि, जब तक औपनिषद लक्षण ज्ञान को आधार नहीं बना लिया जाता, तब तक कर्म्म में बलाधान सम्भव नहीं है। एवं इसी दृष्टि से उपनिषत्-सम्बन्धी ज्ञानयोग का कर्म्मयोग में अन्तर्भाव हो रहा है। इसके अतिरिक्त यह भी मानी हुई बात है कि, बिना तद्विषयक-इतिकर्त्तव्यतालक्षण ज्ञान के कर्म्मप्रवृत्ति अमर्य्यादित है, स्खलित है। अज्ञानसहकृत कर्म्म में पदे पदे पतन का भय है। ज्ञानसहकृत कर्म्म ही कर्म्म-सौष्ठव का प्रवर्त्तक है। इसप्रकार इस सामान्य दृष्टि से भी ज्ञान का कर्म्म में संग्रह हो रहा है। निम्न लिखित वचन इसी ज्ञानसम्बन्ध की अनिवार्य्यता सिद्ध कर रहा है—

ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥

यही स्थिति उपासना के सम्बन्ध में समझिए। आरण्यकभागानुगता उपासना के अनेक लक्षण हुए हैं। उनमें से किसी न किसी लक्षण का कर्म्म में अवश्यमेव अन्तर्भाव रहता है। इसी आधार पर **'होता अध्वर्युमुपास्ते'** इत्यादि वचन प्रतिष्ठित हैं। दृष्टि है—भूताग्नि पर, मन है दिव्याग्नि पर। यह भी एक प्रकार की उपासना ही है। पाठकों की सुविधा के लिए उपासना के कुछ एक तात्त्विक लक्षण उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताभाष्यान्तर्गत **'भक्तियोगपरीक्षा'** प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

१—"प्रत्यक्षप्रत्ययेन परोक्षार्थे प्रत्ययप्रवाहः-उपासनम्"।

२—"बुद्धिसन्निकृष्टार्थद्वारा विदूरार्थप्रत्ययधारणम्-उपासनम्"।

३—"विजिज्ञासितस्य भावस्य यत्किञ्चिद्रूपं प्रतिपद्य-तत्र-सत्यत्त्वेनास्था-धारणं श्रद्धानम्। श्रद्धानपारवश्यात्-तदनुकूला वैज्ञानिकी परिचर्य्या ध्यानरूपा-बुद्धियोगः-तदुपासनम्"।

४—"ईश्वरोऽयमस्तीति विश्वासभाजां दृढप्रत्ययेन सूर्य्ये, गुरौ, अवतारपुरुषे, धातुप्रतिमायां वा ईश्वरोचितकर्म्मकरणं–उपासनम्" ।

५—"कस्मिंश्चित् प्रत्येतव्येऽर्थे विज्ञानसमर्थानामधिकारिणां सौकर्य्येण प्रत्ययोत्पत्यर्थं–आधिभौतिके कस्मिंश्चित् संनिहितेऽर्थे–आहार्य्यारोपमूलकं, प्रतिरूपमूलकं, प्रतीकमूलकं, वा प्रत्ययालम्बनं (ऐन्द्रियकप्रत्यक्षज्ञानालम्बनं) तत्प्रत्यक्ष–(परोक्षाधिदैविकप्रत्यय)–प्रवाहोत्पादनम्–उपासनम्" ।

६—"उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्" (शां० भा० ४।१।७।) ।

७—"अन्यसिद्धयर्थमन्यत्र स्थितिः–'उपासना' ।

८—"श्रद्धानसूत्रेण मनो–बुद्धयर्पणम्–'उपासना' ।

९—"श्रद्धासूत्रद्वारा परत्रात्मनि स्व मनो–बुद्धयात्मांशमर्पयन्तः परमात्मभक्ता भवन्ति । भक्तिर्नाम भागोंऽशः । भक्तिकरणं कर्म्माप्युपचारात्–भक्तिः । सैषा भक्तिः–'उपासना' ।

१०—"तद्वृत्त्यनुकूलवृत्तिं धारयमाणस्य तदिच्छानुसारेण चरणमुपासनम्" ।

११—"श्रद्धानसूत्रार्पितमनोवृत्त्यनुकूलदृष्टिसूत्रार्पितायाः श्रद्धेयपरिस्थित्यनुरोधवदपेक्षाबुद्धिसहकृताया भावनाबुद्धेस्तदनुरोधापेक्षितवृत्तिस्थिरत्वम् उपासनम्" । (इत्यादीनि लक्षणानि) ।

१—प्रत्यक्षज्ञान को मध्यस्थ बना कर इसके द्वारा परोक्षविषय को प्राप्त करना ही उपासना का प्रथम लक्षण है । स्वर्गादि फल परोक्ष हैं । आहवनीय–गार्हपत्य–दक्षिणाग्नि–पुरोडाश–जुहू–उपभृत्–ध्रुवा–दर्भ–वेदि, मन्त्र–आदि यज्ञकर्मस्वरूपसम्पादक सामग्री–सम्भार प्रत्यक्षज्ञानसिद्ध विषय हैं । एकमात्र श्रद्धासूत्र के आधार पर यज्ञकर्त्ता यजमान इन प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थों की मध्यस्थता के आधार पर उस परोक्ष स्वर्गफलावाप्ति की उपासना कर रहा है ।

२—हमारे (यजमान के) बौद्धिक धरातल मे 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधिश्रद्धान से परोक्ष स्वर्गफल प्रतिष्ठित है । इस बुद्धिसंनिकृष्ट वासनात्मक फल के आधार पर हम यज्ञकर्मद्वारा उस विदूरस्थ (दिव्यलोकस्थ) फलात्मक नाचिकेत–स्वर्गप्रत्यय के अधिकारी बन जाते हैं । यही उपासना का प्रथम लक्षण से मिलता जुलता दूसरा लक्षण है ।

३—जिस इन्द्रियातीत परोक्षभाव को हम जानना चाहते हैं, निदानलक्षण संकेत के आधार पर उसका एक काल्पनिकरूप बना लिया जाता है । उस कल्पित रूप में 'स एवायम्' इसप्रकार का जो सत्यत्व धारण है, वही श्रद्धा है । इस श्रद्धा से आकर्षित होकर उस कल्पितरूप की जो परिचर्य्या की जाती है, वही उपासना है । ब्रह्म स्वस्वरूप से निर्गुण है, निराकार है, परोक्ष है, इन्द्रियातीत है ।

"अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ "

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार उसकी कल्पित प्रतिमा बना ली जाती है । साथ ही इसे साक्षात् वही समझते हुए उसकी परिचर्य्या की जाती है । ठीक यही स्थिति यज्ञकर्म्म में समझिए । यज्ञकर्म्मसम्पादक आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्निकुण्ड क्रमशः स्वर्ग-अन्तरिक्ष-पृथिवीलोक से समतुलित हैं । तत्रस्थ अग्नित्रयी आदित्य-वायु-अग्नि से समतुलित हैं । तदनुरूप ही इनकी परिचर्य्या की जाती है । एवं इस दृष्टि से भी कर्म्म में उपासना का समन्वय हो रहा है ।

४—ईश्वर पर विश्वास रखने वाले श्रद्धालु ईश्वरांशभूत सूर्य्य, गुरु, अवतार, पाषाणप्रतिमा, आदि में वैसी ही भावना रखते हुए इनकी आराधना करते हैं । तथैव स्वर्गफल पर विश्वास करने वाले याज्ञिक तत्प्राप्त्युपायभूत कुण्डाग्नि-पुरोडाश-सोम-आज्यादि की श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं । वे गार्हपत्य को साक्षात् पृथिवी समझते हैं, आहवनीय को सूर्य्य मानते हैं, सोमरस को तृतीय द्युलोक की वस्तु मानते हैं ।

५-जिस तत्त्व को हम जानना चाहते हैं, किंवा प्राप्त करना चाहते हैं, मान लीजिए वह विजिज्ञास्य-प्राप्तव्य तत्त्व आधिदैविक-सूक्ष्म-जगत् की वस्तु होने से परोक्ष है । उसके परिज्ञान, तथा उपलब्धि के लिए वैज्ञानिक अधिकारियों के बोधसौकर्य्य को लक्ष्य में रखते हुए आधिभौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बना कर इसमें उस परोक्ष तत्त्व का आहार्य्यारोपविधि से, किंवा प्रतिरूपविधि से, किंवा प्रतीकविधि से आरोप कर इसके द्वारा उस परोक्ष तत्त्व के साथ जो अपने ज्ञानक्षेत्र से सम्बन्ध करा देना है, वही उपासना है । तात्पर्य्य यही है कि, आधिभौतिक पदार्थ में प्रत्ययालम्बनता तीन प्रकार से सम्भव है । आधिदैविक तत्त्व की प्राप्ति के सम्बन्ध में मध्यस्थ आधिभौतिक पदार्थों में दृष्टि-स्थिर करने के ये ही तीन आलम्बन है ।

'अन्य को अन्य समझना' ही आरोपविधि है । यह आरोप प्रातिभासिक, व्यावहारिक, भेद से दो श्रेणियों में विभक्त है । रज्जु में सर्प का, स्थाणु में पुरुष का, शुक्ति में रजत का, मृगमरीचिका में जल का, शश में शृङ्ग का, वन्ध्या में पुत्रप्रसूति का आरोप करना प्रातिभासिक आरोप है । अतएव ये आरोप मिथ्या-कोटि में अन्तर्भूत हैं । व्यावहारिक आरोप परमार्थदृष्टि से असत् रहता हुआ भी व्यवहारजगत् की दृष्टि से परमोपयोगी है । प्रातिभासिक आरोप जहाँ दार्शनिक परिभाषा में-'**अध्यास**' कहलाता है, वहाँ व्यावहारिक आरोप को प्रातिभासिक आरोप से पृथक् बतलाने के लिए '**आहार्य्यारोप**' नाम से व्यवहृत किया गया है । जिस सत्य-परमार्थ बोध के लिए यह आरोप किया जाता है, बोधानन्तर वह आरोप स्वतः निवृत्त हो जाता है । जिस भौतिक वस्तु में आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का, तथा जिस परोक्षतत्त्व की प्राप्ति के लिए आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का समतुलन करके ही आरोप किया जाता है । दोनों के अभिन्न धर्म्मों का ग्रहण कर लिया जाता है, भिन्न धर्म्मों का परित्याग कर दिया जाता है । समस्त संसारिक व्यवहार इसी आहार्य्यारोप पर प्रतिष्ठित हैं । यही इसकी उपादेयता है । एक भ्राता दूसरे भ्राता में कर्म्मसाहाय्य-दृष्टिसाम्य से दक्षिण भुजा का आरोप करता है । पट्टिका पर लिखित वर्णमात्रिका में नित्य वाक्तत्त्व का आरोप होता है । इसीप्रकार यज्ञिय कर्म्मकाण्ड में आज्य में वज्र का, विराट्छन्द में यज्ञ का, मृगचर्म्म में वेदत्रयी का आरोप है ।

आहार्य्यारोपविधि के अनन्तर प्रतिरूपविधि हमारे सामने आती है। शालग्रामशिला आभूप्रजापति (स्वयम्भू) का,प्रतिरूप (प्रतिकृति–प्रतिमा–नकल) है। अश्वत्थवृक्ष षोडशीप्रजापति का प्रतिरूप है। कच्छपप्राणी कूर्म्मप्रजापति का प्रतिरूप है। यज्ञकर्म्मप्रधान वेद के विधि भाग में चिति–यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए प्रतिकृतिलक्षणा-प्रत्ययालम्बनात्मिका इसी प्रतिरूपोपासना का आश्रय लिया गया है। रुक्म-कूर्म्म-पञ्चपशुशीर्ष–आदि चित्य पदार्थों के द्वारा प्रतिरूपविधि से सूर्य्य-कश्यप-पञ्चपशु आदि ही अभिप्रेत हैं, जैसाकि चयनविज्ञानात्मक तत्–प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित हैं। तीसरी प्रतीकरूपा उपासना है, इसे ही 'अङ्गवती' उपासना भी माना गया है। सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–आदि पर्व उस विराट्पुरुष के प्रतीक हैं, अवयव हैं। अङ्गुलिग्रहण से जैसे मनुष्य पर ध्यान चला जाता है, चरणसेवा से जैसे गुरुसेवा गतार्थ है, वस्त्रैकदेश के दग्ध हो जाने पर जैसे 'पटो दग्धः' व्यवहार लोकसम्मत है, एवमेव पुष्करपर्ण (कमलपत्र) ग्रहण से पृथिवी का ग्रहण मानते हुए ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रतीकरूपोपासना का भी यत्र तत्र समावेश हुआ है।

६–अपने मानसज्ञान को बुद्धिपूर्वक उपास्य देवता के प्रति अनन्यरूप से, अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित करना ही उपासना है। यज्ञकर्म्मारम्भ से यज्ञसमाप्ति पर्य्यन्त ऋत्विजों से युक्त यजमान अपने मानस जगत् को अनन्यरूप से यज्ञकर्म्म में प्रतिष्ठित रखता हुआ इस लक्षण का भी अनुगामी बना हुआ है।

७–परोक्ष प्राणदेवता का अध्यात्म संस्था में आधान करने के लिए तत्–प्राणदेवताप्रधान तद्भूत पर मन का संयम किया जाता है। यही उपासना है। परोक्ष स्वर्गफलातिशय को अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित करने के लिए यजमान आधिभौतिक–प्रत्यक्ष यज्ञ पर अपनी निष्ठा रखता हुआ इस लक्षण का भी अनुगामी बन रहा है।

८–मानस-श्रद्धासूत्र के द्वारा उपास्य में मनोबुद्धि-समर्पित कर देना ही उपासना है। यज्ञकर्त्ता यजमान इसी श्रद्धा के आधार पर अपने मन, तथा बुद्धि को अनुष्ठेय कर्म्म में संलग्न रखता हुआ इस लक्षण का भी अनुगामी बन रहा है।

६–श्रद्धासूत्र के प्रभाव से उपासक अपने आत्मा को व्यापक परमात्मा के साथ युक्त करता हुआ उसका भाग बन जाता है। भक्ति ही भाग है, भाग ही अंश है। इस अंशस्वरूपात्मिका भक्ति–सम्पत् प्राप्ति के लिए जो कर्म्मविशेष किया जाता है, वह भी लक्षणया 'भक्ति' कहलाने लगा है। यही भक्ति (भक्त्युपाय) उपासना है। श्रद्धासूत्र के द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान अपने भौतिक मानुषात्मा को त्रिणाचिकेतस्वर्ग-स्थिति सम्वत्सरयज्ञात्मक दैवात्मा के साथ युक्त करता हुआ उसका भाग बन जाता है। इसी भागात्मिका (अंशात्मिका) भक्ति के आकर्षण से (दैवात्माकर्षण से) यजमान का मानुषात्मा आयुर्भोगानन्तर स्थूलशरीर छोड़ता हुआ स्वर्गफलभोक्ता बनता है। इस भक्तिलक्षणा अतिशयसम्पत् के लिए अनुष्ठेय यज्ञकर्म्म भी उपचारविधि से भक्ति ही है।

१०–उपासक पुरुष उपास्य देवता के स्वरूप, वृत्ति के अनुसार चलता हुआ, उसकी इच्छा के अनुसार अनुगमन करता हुआ ही स्वोपासना में समर्थ होता है। यज्ञकर्त्ता यजमान भी प्राप्तव्य प्राणदेवता की वृत्ति के अनुसार ही अनुगमन करता है। **'न वै देवाः सर्वेण सम्वदन्ते'** (शत० ३।१।१।१०) के अनुसार

द्विजातिवीर्य्यप्रवर्त्तक यज्ञिय देवता शूद्रादि से सम्बन्ध नहीं रखते। अतएव तत्संग्राहक दीक्षित यजमान भी यज्ञसमाप्तिपर्य्यन्त शूद्र से भाषण नहीं करता। होता अध्वर्यु के प्रैष (अनुज्ञा) के अनुसार चलता हुआ इस लक्षण का अनुगमन करता हुआ उपासक बन रहा है, जैसाकि-'अध्वर्युमुपास्ते' रूप से स्पष्ट किया जा चुका है। ११-ग्यारहवाँ लक्षण भी इन्हीं उक्त लक्षणार्थों से गतार्थ है।

इसप्रकार विधिभागोक्त यज्ञकर्म्म में प्रतिपादित सभी उपासना-लक्षणों का समन्वय हो रहा है। उपनिषत् तत्त्व से जैसे विधिभाग नित्य अन्वित है, एवमेव उपासनातत्त्व से भी विधिभाग नित्य सम्बद्ध है। बिना उपनिषत्-उपासना-तत्त्व परिज्ञान के विधिभागोक्त कर्म्म का रहस्य जान लेना असम्भव है। कर्म्म-प्रधान विधिभाग, उपासनाप्रधान आरण्यकभाग, तथा ज्ञानप्रधान-उपनिषद्भाग के बिना अकृत्स्न है, असर्व है, अतएव अपूर्ण है।

यही अवस्था उपासनाप्रतिपादक आरण्यकभाग की है। उपासनातत्त्व तो यहाँ प्रधान है ही। इसके अतिरिक्त बाह्यकर्म्म, तथा ज्ञानाधारत्त्व भी यहाँ अनिवार्य्य है। ज्ञानप्रतिष्ठ कर्म्म ही इन्द्रियधारण लक्षणा तत्त्वोपासना का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। शेष उपनिषत् भाग की भी यही परिस्थिति है। उपनिषदों में तीनों योगों का प्रत्यक्षरूप से स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि-'**उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?**' प्रकरण में सोदाहरण बतलाया जा चुका है।

उक्त सन्दर्भ से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, विधि, आरण्यक, उपनिषत्, तीनों में परस्पर उपकार्य्योपकारक सम्बन्ध है। तीनों में तीनों विषयों का दृष्टिभेद से विश्लेषण हुआ है। स्वाध्यायप्रेमी हमारे इस कथन का सर्वात्मना समर्थन करेंगे कि, विधिभागोक्त कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध रखनें वाले कुछ एक तत्त्व ऐसे हैं, जिनका आरण्यक-उपनिषत् भाग का आश्रय लिए बिना कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। एवमेव आरण्यक में प्रतिपादित विषय भी अपनी पूर्णता के लिए विधि-उपनिषत्-भागों की अपेक्षा रखते हैं। एवमेव उपनिषत्-भाग के कतिपय विषयों का स्पष्टीकरण विधि-आरण्यक भागानुगमन पर ही अवलम्बित है। उदाहरण के लिए विधिभाग के यज्ञविरिष्टसंधानकर्म्म को ही लीजिए। जबतक छान्दोग्योपनिषदुपवर्णित इस विषय के विज्ञान को आत्मसात् नहीं कर लिया जाता, तबतक विधिभाग का वह विषय अपूर्ण बना रहता है। एवमेव कठोपनिषत् के नचिकेता-यम संवाद का विधि-भागोक्त चयनयज्ञस्वरूप का परिचय प्राप्त किए बिना कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। विधिभाग कर्म्म के साथ साथ उपासना, एवं ज्ञान पर, आरण्यकभाग उपासना के साथ साथ कर्म्म तथा ज्ञान पर, एवमेव उपनिषत् भाग ज्ञान (विज्ञानयुक्तज्ञानात्मिका उपनिषत्) के साथ साथ कर्म्म तथा उपासना पर प्रकाश डालते हुए परस्परानुग्राह्यानुग्राहक बनते हुए अपनी अभिन्न मैत्री का समर्थन कर रहे हैं।

प्रधान प्रतिपाद्यों की दृष्टि से जहाँ 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों तीन शास्त्र हैं, वहाँ गौणविषयों की दृष्टि से तींनों की समष्टि एक शास्त्र है। यही क्यों, तीनों तीन शास्त्र नहीं, अपितु एक शास्त्र के तीन तन्त्र हैं। जिस प्रकार वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरिक-तीनों एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र हैं, दर्शनशास्त्र एक है। एवमेव ये तीनों काण्ड एक शास्त्र है। काण्ड का अर्थ है 'पर्व'। पर्व स्वतन्त्र नहीं होता। एक गन्ने में अनेक पर्व होते हैं, सब पर्व एक गन्ने की दृष्टि से अभिन्न हैं। एवमेव कर्त्तव्यात्मक वेदशास्त्र के ये तीन पर्व

हैं। तीनों परस्पर अभिन्न हैं। दूसरे शब्दों में तीनों का परस्पर अभेद-सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर प्राचीन वैज्ञानिकों नें तीनों काण्डों के लिए '**ब्राह्मण**' शब्द का प्रयोग किया है। "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" में 'मन्त्र' शब्द जहाँ अनेकशाखाविभक्त मन्त्रसंहिता का संग्राहक है, वहाँ 'ब्राह्मण' शब्द 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों का संग्राहक बन रहा है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि ब्राह्मण शब्द तीनों का संग्राहक है, तो केवल विधिभाग को ही 'शतपथब्राह्मण-ऐतरेयब्राह्मण' इत्यादि रूप से 'ब्राह्मण' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ?। जो 'विधि' शब्द विधिभाग के लिए नियत है, उस विधि शब्द से तो यह विधिभाग व्यवहृत होता नहीं, अपितु जो 'ब्राह्मण' शब्द तीनों के लिए समान है, उस ब्राह्मण शब्द से ही यह विधिभाग व्यवहृत होता है, जब कि आरण्यक, तथा उपनिषत्, दोनों भी इस नाम के समानाधिकारी बनते हुए इस नाम से वञ्चित-से देखे जाते हैं। प्रश्न का समाधान मन्त्रभाग से सम्बन्ध रखता है। वेद का मन्त्रभाग '**ब्रह्म**' नाम से व्यवहृत हुआ है, शेष काण्डत्रयी के लिए 'ब्राह्मण' शब्द नियत है। ज्ञातव्य भाग ब्रह्मवेद है, कर्त्तव्य भाग ब्राह्मणवेद है। यद्यपि कर्त्तव्यात्मिका काण्डत्रयी में ब्रह्मविज्ञानसम्बन्धी ज्ञातव्य विषयों का भी पर्य्याप्त स्पष्टीकरण हुआ है, तथापि इनका प्रधान लक्ष्य कर्त्तव्यशिक्षा ही माना गया है। कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी मानव का अधिकार-भेदभिन्न कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य का 'कर्म्म' से सम्बन्ध है। ज्ञातव्य का ज्ञान से सम्बन्ध है। कर्म्म ही ज्ञान की व्याख्या है। ब्रह्म (ब्रह्म) की व्याख्या का 'ब्राह्मण' कहलाना स्वतःप्राप्त है। 'ब्राह्मण' शब्द कर्त्तव्यलक्षण कर्म्म का सूचक है। योगत्रयी के प्रतिपादक तीनों काण्ड इसी कर्म्ममर्यादा से 'ब्राह्मण' उपाधि के अधिकारी बन रहे हैं। अतएव ब्राह्मण शब्द से (कर्त्तव्यकर्म्मदृष्टया) तीनों का संग्रह हो जाना भी स्वतः प्राप्त है।

यद्यपि तीनों हीं योग कर्त्तव्यशिक्षण के सम्बन्ध से सामान्यतः 'ब्राह्मण' नाम के अधिकारी हैं, तथापि विधिभाग में क्योंकि कर्म्मशिक्षा का प्राधान्य है, उधर ब्राह्मण शब्द का विशेषतः कर्म्म से सम्बन्ध है, अतएव विधिभाग ही में आगे जाकर ब्राह्मण शब्द प्रधान गया है। एकमात्र इसी आधार पर हमनें प्रकृत प्रकरण के नामकरण में विधिभाग के लिए 'ब्राह्मण' शब्द को प्रधानती दी है।

'ब्रह्म-ब्राह्मण' की उक्त स्वरूपमीमांसा से हमें इस निश्चय पर भी पहुँचना पड़ता है कि, कर्त्तव्यभाग-त्रयी का ज्ञातव्यभाग से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों स्वस्वरूपबोध के लिए एक दूसरे के आश्रित हैं, एवमेव मन्त्रभागात्मक ब्रह्मभाग भी तीनों को लक्ष्य बना कर ही अपने सम्यग्बोध का परिचायक बन रहा है। अतएव यह कहा जासकता है कि, वेदशास्त्र एक है, मन्त्र-ब्राह्मण, ये उसके दो तन्त्र हैं। मन्त्रभाग अनेक अवान्तर तन्त्रों (शाखाओं) में विभक्त है, ब्राह्मणतन्त्र अवान्तर तीन-तन्त्रों में विभक्त है। यही वेदशास्त्र का 'पटधर्म्म' है। पटधर्म्म से तात्पर्य हमारे कहने का यह है कि, जिस प्रकार पट (वस्त्र) के एक तन्तु के हाथ में लेने से सम्पूर्ण पट दृष्टि के सामने उपस्थित हो जाता है, एवमेव ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक वेद के किसी भी एक तन्त्र को लक्ष्य बनाने से शेष सम्पूर्ण तन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। अतएव व्यापक दृष्टि रक्खे बिना वेदशास्त्र का सम्यग्बोध असम्भव है। यही वेदस्वाध्याय की एक ऐसी जटिल समस्या है, जो अपने उपक्रमकाल में ही अध्येताओं को विचलित कर देती है। एवं उस समय तो हमारी यह समस्या और भी अधिक विषम बन जाती है, जबकि हम-ब्रह्म-ब्राह्मण को, ब्रह्म के ऋक्-यजुः

साम-अथर्व-तन्त्रों को, ब्राह्मण के विधि-आरण्यक-उपनिषत्-तन्त्रों को पृथक् पृथक् तन्त्रायी मानते हुए वेदशास्त्र का समन्वय करने के लिए आगे बढ़ते हैं। इसी एकमात्र दोष से आज भारतीय समाज वेदार्थ के समन्वय में अपने आपको असमर्थ सिद्ध कर रहा है। इस असमर्थता का विशेष श्रेय उन व्याख्याताओं को ही अर्पण किया जायगा, जिन्होंनें इन वेदतन्त्रों को स्वतन्त्र शास्त्र मानते हुए इनका पार्थक्य कर डाला है।

दूसरा क्षेत्र वर्त्तमान वेदाभ्यासियों का है, जिनके प्राच्य-प्रतीच्य भेद से दो श्रेणिविभाग है। अतीत प्राच्य व्याख्याताओं नें पार्थक्य के साथ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को एक वेदशास्त्र मानते हुए जहाँ आंशिक रूप से वेदतत्त्व की रक्षा करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, वहाँ वर्त्तमानयुग के प्राच्य (भारतीय) वेदाभिमानियों नें तो ब्राह्मणभाग का वेदकोटि से बहिष्कार ही कर डाला है। जिन प्रतीच्य (विदेशी) विद्वानों नें दबे मुँह इनका वेदत्व स्वीकार किया है, उनके इस सम्बन्ध में ये उद्गार हैं कि, "आरम्भ में भारतीय ब्राह्मण निरे कर्म्मठ थे, विधिभागपरायण थे। अनन्तर उन्हें उपासनाकाण्ड (आरण्यक) का बोध हुआ। बहुत आगे जाकर एकेश्वरवादमूलक उपनिषदों का आविर्भाव हुआ"। यही प्रवृत्ति वर्त्तमानयुग के उन भारतीय विद्वानों की है, जो **'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः'** को सर्वात्मना चरितार्थ कर रहे हैं।

मन्त्रभाग अप्रस्तुत है। शेष विधि-आरण्यक-उपनिषत्, भागों के सम्बन्ध में सर्वान्त में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, जिस प्रकार 'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य' तीनों के समन्वय से उत्पन्न 'प्रत्यय' त्रिपुटीभाव से नित्य आक्रान्त है, एवमेव विधि-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों एक दूसरे के उपकारक-उपकार्य्य बनते हुए त्रिपुटीभाव से आक्रान्त हैं। एक के बिना दूसरे का तत्त्वज्ञान असम्भव है। **'कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्'-'जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण'-'बृहदारण्यकोपनिषत्'** इत्यादि वृद्धव्यवहार भी तीनों के इसी अभिन्न सम्बन्ध का समर्थन कर रहे हैं। एवं-'ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है?" इस प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है, जिसके सम्बन्ध में अभी कुछ और जानना शेष रह जाता है।

———×———

४-कृत्स्नात्मक वेदशास्त्र, और तन्त्रों की अकृत्स्नता—

वेदशास्त्र की अङ्ग-भङ्गता का मुख्य कारण जहाँ 'सर्व' शब्द बन रहा है, वहाँ इसकी पूर्णता का मूलाधार 'कृत्स्न' शब्द बना हुआ है। अनेक तन्त्रों को अपने गर्भ में रखने वाला वेदशास्त्र कृत्स्न है, न कि सर्व। **'एकस्याशेषत्त्वं कात्स्न्र्यम्'** के अनुसार एक वस्तु की सर्वाङ्गीणता का प्रतिपादन करने के लिए 'कृत्स्न' शब्द नियत है। एवं **'अनेकेषामशेषत्त्वं साव्र्यम्'** के अनुसार अनेक वस्तुओं की समष्टि का प्रतिपादन करने के लिए 'सर्व' शब्द नियत है। एक मनुष्यशरीर हस्त-पाद-उरः-वक्ष-मस्तक-आदि सम्पूर्ण अवयवों से युक्त रहता हुआ 'कृत्स्न' है। अनेक मनुष्यों की समष्टि 'सर्व' है। कृत्स्न शब्द सत्तैक्य से सम्बद्ध है, सर्व शब्द सत्तानैक्य से सम्बद्ध है। एकसत्तात्मक एक पदार्थ की सर्वता नहीं है, अपितु कृत्स्नता है। भिन्न भिन्न सत्तात्मक अनेक पदार्थों की कृत्स्नता नहीं है, अपितु सर्वता है। व्याख्याताओं की जिस सर्वता-भ्रान्ति ने कृत्स्न-दर्शनशास्त्र का अङ्ग-भङ्ग किया है, उसी सर्वता-भ्रान्ति ने कृत्स्न वेदशास्त्र का

अङ्ग–भङ्ग किया है। जैसा कि पूर्व परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया गया है, वैशेषिक–प्राधनिक–शारीरक, तीनों तन्त्र व्याख्याताओं की दृष्टि में स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले पृथक्–पृथक् तीन दर्शनशास्त्र हैं। तीनों की समष्टि उक्त लक्षण के अनुसार सर्वशास्त्र है। यही भेदमूला सर्वता दर्शनतन्त्रों के विरोध का मूलकारण है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से यह समझ लिया जाता है कि, तीन शास्त्र नहीं है, अपितु एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र हैं, तीन अवयव हैं, फलतः तीनों की समष्टिलक्षण दर्शनशास्त्र उक्त लक्षण के अनुसार 'कृत्स्नशास्त्र' है, तो तीनों का निर्विरोध समन्वय हो जाता है। अभेदमूला यही कृत्स्नता दर्शनतन्त्रों के अविरोध की मूलप्रतिष्ठा है।

ठीक यही परिस्थिति वेदशास्त्र के सम्बन्ध में घटित हुई है। सर्वतापक्ष में ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-भेदभिन्ना **"मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्"** चारों पृथक्–पृथक् शास्त्र हैं। चारों की समष्टि सर्व-लक्षणानुसार 'सर्वशास्त्र' है। ठीक इसके विपरीत तन्त्र पक्ष में चारों एक वेदशास्त्र के चार अवयव हैं। फलतः कृत्स्नलक्षणानुसार चारों की समष्टि 'कृत्स्नशास्त्र' है। बहुत सम्भव है, हमारी इस कृत्स्न–सर्वव्याख्या को एक काल्पनिक वस्तु मानते हुए पाठक वेदकृत्स्नता की उपेक्षा करने लगें। अतः इस सम्बन्ध में हम एक ऐसी महत्त्वपूर्ण सम्मति उनके सम्मुख रख देना चाहिते हैं कि, जिससे वे इस कृत्स्नता के अनुगामी बन सकेंगे।

वेदशास्त्र की कृत्स्नता जिन चार तन्त्रों में विभक्त बतलाई गई है, उन विभागों को क्रमशः **'वेदकाण्ड, विधिव्रतकाण्ड, तपःकाण्ड, रहस्यकाण्ड'** इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। वेदकाण्ड मन्त्रसंहिता है, विधिव्रतकाण्ड ब्राह्मण है, तपःकाण्ड आरण्यक है, एवं रहस्यकाण्ड उपनिषत् है। चारों के परिज्ञान पर ही कृत्स्नवेद की कृत्स्नता अवलम्बित है। **"पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति"** (मनुः १।१०५)-**"नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्"** (मनुः १।१०३)-**"कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत्"** (मनुः ८।२०७) इत्यादि स्थलों में सर्वत्र 'एकस्याशेषत्वं कृत्स्नत्वम्' के अनुसार कृत्स्न शब्द का प्रयोग करने वाले भगवान् मनुने विस्पष्ट शब्दों में चतुः–पर्वात्मक वेदशास्त्र की कृत्स्नता का ही समर्थन किया है। देखिए!

> **"तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।**
> **वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥"** (मनुः २।१६५)।

काण्डचतुष्टयात्मक, अतएव कृत्स्न वेदशास्त्र का मुख्य तन्त्र मन्त्रभाग है, जिसके लिए मनुने 'वेद' शब्द का प्रयोग किया है। वेदज्ञानसाधक नियमादिलक्षण तपोऽनुष्ठान, स्वगृह्यविहित व्रतानुगमन, तथा रहस्यज्ञानानुगमन से ही कृत्स्न वेदाधिगम सम्भव है। इस साधनत्रयी के साथ साथ मनु ने संकेतविधि से तपःकर्म्मोपलक्षित उपासनाकाण्डात्मक आरण्यक का, व्रतोपलक्षित कर्म्मकाण्डात्मक ब्राह्मण का, रहस्योप-लक्षित ज्ञानकाण्डात्मक उपनिषत्भाग का संग्रह करते हुए कृत्स्नवेद के चारों पर्वों की ओर भी ध्यान आकर्षित कराया है। इस कृत्स्नवेद की कृत्स्नता **"विज्ञान, स्तुति, इतिहास, कर्म्म, उपासना, ज्ञान,"** इन ६ भागों में विभक्त है। विज्ञान–स्तुति–इतिहास, तीनों प्रधानतः मन्त्रसंहिताभाग के प्रतिपाद्य विषय हैं।

शेष तीनों क्रमशः विधि–आरण्यक–उपनिषत् भागों से सम्बन्ध रखते हैं। ६ ओं प्रतिपाद्य विषय परस्पर सम्बद्ध हैं, एवं इसी सम्बन्धदृष्टि से कृत्स्न वेदशास्त्र ज्ञातव्य माना गया है। वेदशास्त्र की इस कृत्स्नता से बतलाना यही है कि, एक एक तन्त्र स्वतन्त्ररूप से अपने अपने प्रधान प्रतिपाद्य की दृष्टि से अकृत्स्न है, अपूर्ण है। चारों तन्त्र समष्टिरूप से ही कृत्स्नता के प्रवर्त्तक हैं।

५–कृत्स्नात्मक वेदशास्त्र, और तन्त्रों की सर्वता—

प्रस्तुत परिच्छेद का नामकरण प्रत्यक्ष में वदतोव्याघात का जनक बनता हुआ भी तत्त्वतः व्यवस्थित है। "अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्" लक्षण केवल एक तन्त्र की सर्वता का समर्थक कैसे बन सकता है ?, यही वदतोव्याघात है। परन्तु जब प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से हम विचार करते हैं, तो यह व्याघातदोष हट जाता है। 'अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्' ही सर्वता है। शास्त्रैकता की दृष्टि से जहाँ चारों तन्त्र एक ही शास्त्र के चार पर्व बनते हुए समष्टिरूप से कृत्स्नता के समर्थक बन रहे हैं, वहाँ प्रतिपाद्य अनेक-विषयों की दृष्टि से प्रत्येक पर्व सर्व बन रहा है। यह ठीक है कि, प्रत्येक पर्व में प्रधानता स्व–स्व विषय-प्रतिपादन की ही है। परन्तु गौणदृष्टि से प्रत्येक में विज्ञानादि उक्त ६ ओं विषयों का भी समावेश हुआ है। विषय अनेक (६) हैं, सबका अपना अपना स्वरूप पृथक् पृथक् है। इन अनेकों का अशेषत्व प्रत्येक तन्त्र से सम्बद्ध है। अतएव चारों तन्त्रों की समष्टि जहाँ कृत्स्न है, वहाँ प्रत्येक तन्त्र कृत्स्नवेदशास्त्र की दृष्टि से अकृत्स्न है। एवं चारों तन्त्र कृत्स्न वेदशास्त्र की दृष्टि से जहाँ एक ओर अकृत्स्न बन रहे हैं, वहाँ प्रतिपाद्य अनेक विषयों के अशेषत्व से प्रत्येक तन्त्र 'सर्व' अवश्य बन रहा है।

शब्दाडम्बर से सम्बन्ध रखने वाली उक्त कृत्स्न–सर्व–मीमांसा इसलिए उपादेय मानी जायगी कि, इसके आधार पर हम वेदशास्त्र के तन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध का भलीभाँति समन्वय कर सकते हैं। कृत्स्नमर्य्यादा में वेदशास्त्र अवयवी है, मन्त्र–विधि–आरण्यक–उपनिषत्, चारों तन्त्र इसके अवयव हैं। शरीरावयवों में जैसे एक दूसरे के कर्म्म में सहयोग रहता है, तथैव इन चारों के प्रतिपाद्य विषयों का एक दूसरे के स्वरूप–विश्लेषण में अन्यतम सहयोग है। सर्वमर्य्यादा में चारों तन्त्र सर्वविषय के प्रतिपादक बनते हुए स्वतन्त्र अवयवी भी बन रहे हैं। साथ ही प्रधानविषयातिरिक्त प्रतिपाद्य गौण विषयों के अन्यत्र प्रधान बने रहने से एक दूसरे का उत्तरदायित्व भी दूसरे पर अवलम्बित है। कृत्स्नता **'वेदशास्त्र एक है'** इस एकत्व व्यवहार की प्रतिष्ठा है। सर्वता चारों के पृथक्–पृथक् नाम व्यवहार की प्रतिष्ठा है।

विज्ञान–स्तुति–इतिहास, ये तीन मन्त्रसंहिता के प्रधान विषय हैं। कर्म्म, उपासना, ज्ञान, ये तीन गौण विषय हैं। इन ६ ओं के संग्रह से मन्त्रसंहिता का सर्वत्त्व सिद्ध है। विधिभाग में कर्म्मेतिकर्त्तव्यता-लक्षण कर्म्म प्रधान है, शेष पाँचों गौण हैं। फलतः इसका भी सर्वत्त्व अक्षुण्ण है। आरण्यक भाग में तत्त्वाराधनात्मिका उपासना प्रधान है, शेष गौण हैं, अतएव इसका भी सर्वत्त्व निर्बाध है। उपनिषत्-भाग में अव्यक्तात्मक ज्ञान का प्राधान्य है, शेष पाँचों गौण हैं, अतएव इसकी सर्वता भी सुरक्षित है। अब इस सम्बन्ध में हमारा केवल यह कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, चारों तन्त्रों में गौण–प्रधानरूप से प्रतिपादित, सर्वताप्रवर्त्तक ६ ओं विषयों के समर्थक कुछ एक वचन उद्धृत कर भ्रान्त नवीन वेदाभ्यासियों को यह सूचित कर दिया जाय कि, काण्डचतुष्टयात्मक वेदशास्त्र के साथ कालभेदकल्पना करना सर्वथा आपातरमणीय है।

६—मन्त्रसंहिता की सर्वता -(१)

(१)—विज्ञानसमर्थकवचन—

१—"उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ" ॥
(ऋक्०सं० ५।४७।३।)।

२—"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ"॥
(यजुः ३४।५५।)।

३—"इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन्।
प्रभूर्जयो यथापथो द्यामङ्गिरसो ययुः"। (सामसं०२।१०।२।)।

४—"अविर्वै नाम देवता-ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः" ॥ (अथर्व १०।४।८।३१।)।

—×—

(२)—स्तुतिसमर्थकवचन—

१—"अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्" (ऋक्सं० १।१।१।)।

२—"नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः।
बाहुभ्यामुत ते नमः" (यजुःसं० १६।१।)।

३—"नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः।
अमैरमित्रमर्दय" (सामसं० १।२।१।)।

४—"नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते" ॥ (अथर्व० ११।४।२।)।

—×—

(३)—इतिहाससमर्थकवचन—

१—"क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित्।
बृहन्तं मानं वरुणः स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते" ॥
(ऋक्० ७।८८।५।)।

२—"आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः" ॥
(यजुः १७।३३।)

३—"इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
जघान नवतीर्नव" (सामसं० उ० ३।१।८।) ।

४—"अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभवयन् मनीषी ।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत् प्रदेशश्चतस्रः" ॥
—अथर्व० ८।३।३।) ।

—×—

(४)–कर्म्मसमर्थकवचन—

१—"सं वां कर्म्मणा समिषा हिनोमीन्द्राविष्णू अपस्पारे अस्य ।
जुषेथां यज्ञं द्रविणं च धत्तमरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्ता" ॥
(ऋक्सं० ६।६९।१।)

२—"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे" ॥ (यजुः४०।२।)

३—"नकिष्टं कर्म्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ॥
इन्द्रन्न यज्ञैर्विश्वगूर्त्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा" ॥ (साम०उ० ४।८।)।

४—"अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्म्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् व एतत् पुरो दधे" ॥
(अथर्व०४।७।७।) ।

—×—

(५)–उपासनासमर्थकवचन—

१—"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम्" ॥ (ऋक्सं० १।२२।२०।) ।

२—"य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥
(यजुः २५।१३।) ।

३—"इन्द्राय मद्वने सुतं परिष्टोभन्तु नो गिरः ।
अर्कमर्चन्तु कारवः" (सामसं०पू० २।७।४।) ।

४—"देव संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे ।
तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम" ॥
(अथर्वं० ६।७६।३।) ।

——×——

(६)–ज्ञानसमर्थकवचन—

१—"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते" ॥
(ऋक्सं० १।१६४।३६।) ।

२—"यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" ॥ (यजुःसं० ४०।७।) ।

३—"विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्यामभार स ह्यः समान ॥
(साम० उ० ६।१।७।) ।

४—"अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः ।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्" ॥
(अथर्व० १०।८।४४।)

—१—

७–ब्राह्मणवेद की सर्वता (२)—

(१)–विज्ञानसमर्थकवचन—

१—"प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्–दिवमित्यन्ये आहुः, उषसमित्यन्ये । तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् । तं देवा अपश्यन्–अकृतं वै प्रजापतिः करोति–इति । ते तमैच्छत्–य एनमारिष्यति । एतमन्योऽन्यस्मिन्नाविन्दन् । तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसन्–ता एकधा समभरन् । ताः सम्भृता एष देवोऽभवत् । अस्यैतद् भूतवन्नाम" ॥ (ऐ०ब्रा०१३अ०।६ खं० ऋग्ब्राह्मण) ।

२—"यदेतन्मण्डलं तपति–तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचांलोकः । अथ यदेत-

यदेतदर्चिर्दीप्यते-तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः-सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्र्य्येव विद्या तपति" (शत०ब्रा० १०।३।४।१.७, यजुर्ब्राह्मण)

३—प्रजापतिरकामयत-बहु स्यां, प्रजायेयेति। सोऽशोचत्। तस्य शोचत आदित्यो मूर्ध्नोऽसृज्यत। सोऽस्य मूर्द्धानमुदहन्। स द्रोणकलशोऽभवत्। तस्मिन् देवाः शुक्रमगृह्णत। तां वै स आयुषार्त्तिमत्यजीवत्"।

(ताण्ड्य० ब्रा० ६।५।१। सामब्राह्मण)।

४—"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयन्त्वेकमेव। तदैक्षत-महद्वै यक्षं-तदेकमेवास्मि, हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्म्ममे-इति। तदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहो यदाद्रर्य्मजायत-तेनानन्दत्। तमब्रवीत्-महद्वै यक्षं सुवेदमविदामहै-इति। तस्मात् सुवेदोऽभवत्। तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः"। (गो० ब्रा० पू० १।१।१।-अथर्वब्राह्मण)

—*—

(२)-स्तुतिसमर्थकवचन—

१-"इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्रवोच" मिति सूक्तं शंसति। तद्वा एतत् प्रियमिन्द्रस्य सूक्तं निष्केवल्यं हैरण्यस्तूपम्। एतेन वै सूक्तेन हिरण्यस्तूप आङ्गिरस इन्द्रस्य प्रियं धामोपागच्छत्। स परमं लोकमजयत्"

(ऐ० ब्रा० १२।१३। ऋग्ब्राह्मण)।

२-"ईडेन्यो नमस्य इति। तिरस्तमांसि दर्शत इति। समग्निरिध्यते वृषेति। वृषोऽग्निः समिध्यते-इति। अश्वो न देव वाहन इति। तं हविष्मन्त ईडत इति वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यन्तं बृहत्"

(शत० ब्रा० १।४।३।२६,३३,—यजुर्ब्राह्मण)।

३-"चात्वालमवेक्ष्य बहिष्पवमानं स्तुवन्ति। अत्र वा असावादित्य आसीत्। तं देवा बहिष्पवमानेन स्वर्गं लोकमहरन्। यच्चात्वालमवेक्ष्य बहिष्पवमानं स्तुवन्ति, यजमानमेव तत् स्वर्गं लोकं हरन्ति"

(ता० ब्रा० ६।७।२४। सामब्राह्मण)।

४"तदप्येतदृचोक्तम्—

चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश" इति ।
(गो० ब्रा० पू० २।१६। अथर्वब्राह्मण)

——*——

(३)–इतिहाससमर्थकवचन—

१–"तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः, पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः, पञ्चाशत् कनीयांसः । तद्ये ज्यायांसो, न ते कुशलं मेनिरे ।ताननुव्याजहारान्-तान् वः प्रजा भक्षीष्टेति । त एतेऽन्ध्राः, पुण्ड्राः, शबराः, पुलिन्दाः, मूतिबाः, इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः" ।
(ऐ० ब्रा० ३३। । ऋग्ब्राह्मण)

२–"तच्च्यवनो वा भार्गवश्च्यवनो वाङ्गिरसस्तदेव जीर्णिः कृत्यारूपो जहे।शर्य्यातो ह वा इदं जीर्णिं कृत्यारूपमनर्थ्यं मन्यमानः–लोष्टैर्विपिपिषुः । स शर्य्यातेभ्यश्चुक्रोध । तेभ्योऽसंज्ञां चकार, पितैव पुत्रेण युयुधे, भ्राता भ्रात्रा । शर्य्यातो ह ईक्षाञ्चक्रे-यत् किमकरं, तस्मादिदमापदीति । स गोपालांश्चाविपलांश्च सं ह्वयित्वाऽउवाच" (शत० ब्रा० ४।१।५। –यजुर्ब्राह्मण) ।

३–"केशिने वा एतद्दाल्भ्याय सामाऽऽविरभवत्" (तां० ब्रा० १३।१०।८)–"उशना वै काव्योऽकामयत-यावानितरेषां काव्यानां लोकस्तावन्तं स्पृणुयां-इति" (तां० ब्रा० १४।१२।५।)–"स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यन्तमसाविध्यत् । तं देवा न व्यजानन् । तेऽत्रिमुपाधावन् । तस्यात्रिर्भासेन तमोपाहन्यत्"
(तां० ब्रा० ६।६।८। –सामब्राह्मण) ।

४–"एतद्ध स्मैतद् विद्वांसमेकादशाक्षम्मौद्गल्यं ग्लावो मैत्रेयोऽभ्याजगाम । स तस्मिन् ब्रह्मचर्य्यं वसतो विज्ञायोवाच–किं स्विन्मर्य्या अयं तं मौद्गल्योऽध्येति, यदास्मिन् ब्रह्मचर्य्ये वसतीति । तद्धि मौद्गल्यस्यान्तेवासी शुश्राव" ।
(गो० ब्रा० पू० १।३१ –अथर्वब्राह्मण)

——*——

(४-)कर्म्मसमर्थकवचन—

१-"देवा वै यज्ञेन श्रमेण तपसाऽऽहुतिभिः स्वर्गं लोकमजयन् । तेषां वपायामेव हुतायां स्वर्गो लोकः प्राख्यायत । ते वपामेव हुत्वाऽनाहृत्येतराणि कर्म्माण्यूर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायन् । ततो वै मनुष्याश्च ऋषयश्च देवानां यज्ञवास्त्वभ्यायन्" (ऐ० ब्रा० ७।४। ऋग्ब्राह्मण) ।

२-"श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे-इति । यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म ।
तस्मादाह-श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे' इति"
(शत० ब्रा० १।६।५।४। यजुर्ब्राह्मण) ।

३-"आत्मा वा एष सम्वत्सरस्य-यद्विषुवान् । पक्षावेतावभितो भवतः, येन चेतोऽभीवर्त्तेन यन्ति, यश्च परस्तात् प्रगाथो भवति, तावुभौ विषुवति कार्य्यौ । पक्षावेव तद्यज्ञस्यात्मन् प्रतिदधति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै" ।
(तां० ब्रा० ४।७।१। सामब्राह्मण) ।

४-"अथातो यज्ञक्रमाः । अग्न्याधेयम् । अग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः । पूर्णाहुतेरग्निहोत्रम् । अग्निहोत्राद्दर्शपूर्णमासौ । दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रयणम् । आग्रयणाच्चातुर्मास्यानि । चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः । अग्निष्टोमः, राजसूयः, वाजपेयः, अश्वमेधः, पुरुषमेधः, सर्वमेधः" (गो० ब्रा० पू० ५।७। अथर्वब्राह्मण) ।

———*———

(५)-उपासनासमर्थकवचन—

१-"अथैनमुवाच (नारदो) वरुणं राजानानमुपधाव-'पुत्रो मे जायताम्,' तेन त्वा यजा' इति । तथेति, स वरुणं राजानमुपससार, तेन त्वा यजा, इति । तथेति । तस्य पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम" ।
(ऐ० ब्रा० ३३।२। ऋग्ब्राह्मण) ।

२-"तद्येऽमुष्मिंल्लोके रुद्रास्तेभ्य एतन्नमस्करोति । तद्येऽस्मिंल्लोके रुद्रास्तेभ्य एतन्नमस्करोति । तऽएवास्मै मृडन्ति" (शत० ६।१।१। यजुर्ब्राह्मण) ।

३-"नमो गन्धर्वाय विश्वग्वादिने वर्चोधा असि, वर्चो मयि धे हि" । (तां० ब्रा० १।३।१०)-"नमः समुद्राय, नमः समुद्रस्य चक्षुषे" ।
(तां० ब्रा० ६।४।७ -सामब्राह्मण) ।

४–"यो ह वा एवंवित्, स ब्रह्मवित्। पुण्यां च कीर्त्तिं च लभते, सुरभींश्च गन्धान्। सोऽपहतपाप्मानन्त्यश्रियमश्नुते–य एवं वेद, यश्चैवं विद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्ते"।

(गो० ब्रा० १।३८। अथर्वब्राह्मण)।

——*——

(६)–ज्ञानसमर्थकवचन—

१–"तेषां चित्तिः स्रुगासीत्, चित्तमाज्यमासीत्, वाग्वेदिरासीत्, आधीतं बर्हिरासीत्, केतो अग्निरासीत्, विज्ञातमग्नीदासीत्, प्राणो हविरासीत्, सामाध्वर्युरासीत्, वाचस्पतिर्होतासीत्, मन उपवक्तासीत्। ते वा एतं ग्रहमगृह्णत"। (ऐ० ब्रा० २४।६। ऋग्ब्राह्मण)।

२–"स एष नेति नेत्यात्मा। अगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्य्यो न हि शीर्य्यते, असङ्गोऽसितो न सज्जते न व्यथते। अभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः" (शत० १४।५।८।६। यजुर्ब्राह्मण)।

——*——

८–आरण्यक वेद की सर्वता (३)—

(१)–विज्ञानसमर्थकवचन—

१–"अथातो रेतसः सृष्टिः। प्रजापते रेतो देवाः, देवानां रेतो वर्षम्, वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतोऽन्नं, अन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः, प्रजानां रेतो हृदयं, हृदयस्य रेतो मनः, मनसो रेतो वाक्, वाचो रेतः कर्म्म। तदिदं कर्म्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः" (ऐ०आ०२।१।३।)।

——❀——

(२)–स्तुतिसमर्थकवचन—

१–"यो मंहिष्ठो मघोनां चिकित्वो अभि नो नय।
इन्द्रो विदे तमु स्तुषे वशी हि शक्रः"॥ (ऐ०आ०४।१।१।)।

——❀——

(३)–इतिहाससमर्थकवचन—

१–"विश्वामित्रं ह्येतदहः शंसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद। स हान्नमित्यभिव्याहृत्य बृहतीसहस्रं शशंस। तेनेन्द्रस्य प्रियं धामोपेयाय। तमिन्द्र उवाच–ऋषे! प्रियं वै धामोपागाः। वरं ते ददामि–इति" (ऐ०आ०२।२।३)।

—※—

(४)–कर्म्मसमर्थकवचन—

१–"पञ्चकृत्वः प्रस्तौति, पञ्चकृत्व उद्गायति, पञ्चकृत्वः प्रतिहरति, पञ्चकृत्व उपद्रवति, पञ्चकृत्वो निधनमुपयन्ति। तत् स्तोभसहस्रं भवति" (ऐ०आ०२।३।४)।

—※—

(५)–उपासनासमर्थकवचन—

१–"कोयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा? इति। येन वा पश्यति, शृणोति, गन्धानाजिघ्रति, वाचं व्याकरोति, स्वादु–चास्वादु च विजानाति० ××। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति" (ऐ०आ०२।६।१)।

—※—

(६)–ज्ञानसमर्थकवचन—

१–"एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे। वाचि हि प्राणं जुहुमः, प्राणे वा वाचम्। यो ह्येव प्रभवः, स एवाप्ययः" (ऐ०आ०३।२।६)।

—※—

६–उपनिषत् वेद की सर्वता (४)—

(१)–विज्ञानसमर्थकवचन—

१–"अन्नमशितं त्रेधाविधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक् । अन्नमयं हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्'' (छां०उप०६।५।) ।

—※—

(२)-स्तुतिसमर्थकवचन—

१-''विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः'' ॥
(श्वेताश्व०३।३।) ।

—※—

(३)-इतिहाससमर्थकवचन—

१—मटचीहतेषु कुरुष्वाटक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास । स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे । तं होवाच-नेतोऽन्ये विद्यन्ते, यच्च ये म इम उपनिहिता-इति । मे देहीति होवाच । तानस्मै प्रददौ''(छां०उप०३।१०।)।

—※—

(४)--*कर्म्मसमर्थकवचन

(५)--उपासनासमर्थकवचन

(६)--ज्ञानसमर्थकवचन

* प्रकरणोपसंहार

संहिताभाग को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाली विधि-आरण्यक-उपनिषत्-भेदभिन्ना काण्डत्रयी का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?, इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर तो काण्डत्रयी के सम्यक् स्वाध्याय पर ही निर्भर है । इस सम्बन्ध में हमारा अपना तो यही स्पष्टीकरण है कि, जिस प्रकार शिरः-हृदय-पाद, ये तीनों शरीरपर्व एक ही शरीर के स्वरूपनिर्म्माता हैं, तीनों का जैसे परस्पर उपकार्य्य-उपकारक सम्बन्ध है, एवमेव शिरःस्थानीय उपनिषत् , हृदयस्थानीय आरण्यक, तथा पादस्थानीय ब्राह्मण (विधि), तीनों शरीरस्थानीय कर्त्तव्यात्मक एक ही वेदशास्त्र के स्वरूपनिर्म्माता हैं, एवं तीनों का परस्पर उपकार्य्य-उपकारक सम्बन्ध है । प्रत्येक पर्व के सम्यक् अवबोध के लिए इतर दोनों पर्वों का सम्यक्-ज्ञान नितान्त अपेक्षित है ।

---

* पूर्व के द्वितीय परिच्छेद में तीनों के उदाहरण उद्धृत किए जा चुके हैं ।

उक्त पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा प्रकृत में बतलाना यही है कि, पटस्थानीय वेदशास्त्र के तन्तुस्थानीय संहिता-आदि चारों का स्वाध्याय सर्वता-तथा कृत्स्नता-भावनिबन्धन निखिल वेदशास्त्र-स्वाध्याय पर ही अवलम्बित है। केवल एक भाग को लक्ष्य बनाते हुए उस भाग के प्रतिपाद्य विषय की उसी भाग पर विश्रान्ति मानते हुए सन्तोष कर लेना प्रौढिवादमात्र ही माना जायगा। अङ्गभङ्गात्मक आज का स्वाध्यायकर्म्म इसी हेतु से वेदशास्त्रबोध का परिपन्थी बना हुआ है। वेदस्वाध्याय-प्रेमियों से इस सम्बन्ध में सानुनय निवेदन किया जायगा कि, यदि वे वेदतात्पर्य्य-जिज्ञासु हैं, तो उन्हें मन्त्रब्राह्मणात्मक कृत्स्न वेदशास्त्र को लक्ष्य बना कर ही स्वाध्यायकर्म्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—तृतीयखण्डान्तर्गत

'ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्—सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

पञ्चमस्तम्भ—उपरत

५

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'ब्राह्मणारण्यकोपानिषत्-सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

पञ्चम-स्तम्भ उपरत

५

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-

'श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि' नामक

षष्ठ–स्तम्भ

६

———*———

श्रीः

श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि

षष्ठ स्तम्भ

१-भारतीय शास्त्र—

अनुशासन करने वाला वाङ्मय संग्रह ही 'शास्त्र' है। विशुद्ध लोकतन्त्र को लक्ष्य में रख कर जिन लौकिक मनुष्यों नें लौकिक मनुष्यों के लोकतन्त्र को सुरक्षित रखने के लिए लौकिक भाषा में जो आदेशोपदेश दिए हैं, उनका संग्रह **'लौकिकशास्त्र'** है, जिसके गर्भ में भारतीयातिरिक्त विश्व के यच्चयावत् शास्त्रों का समावेश है। लोकतन्त्र के साथ साथ अध्यात्ममूलक आधिदैविक तन्त्र को लक्ष्य में रख कर जिन अलौकिक महर्षियों नें लौकिक मनुष्यों के उभय तन्त्र को सुरक्षित रखने के लिए अलौकिक भाषा में जो आदेशोपदेश दिए हैं, उनका संग्रह **'भारतीय शास्त्र'** है। दूसरे शब्दों में केवल भूतोन्नति-जिसका चरम फल **'उत्-नति'** निर्वचन के अनुसार पतन है—को लक्ष्य में रखने वाला अनुशासनग्रन्थ इतरशास्त्र है। एवं पतनभावविरहित भूताभ्युदय, तथा प्राण-निःश्रेयस्, दोनों से सम्बन्ध रखने वाला अनुशासनग्रन्थ भारतीय शास्त्र है, और यही भारतीय शास्त्र का इतर लौकिक-उन्नतिसाधक-शास्त्रों की अपेक्षा वैशिष्ट्य है, जिस वैशिष्ट्य को आज के लौकिक-शिक्षा-आवरण ने आवृत कर लिया है।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। पुरुष (मनुष्य) को लक्ष्य में रख कर ही सम्पूर्ण शब्दोपदेश प्रवृत्त हुए हैं, यह तो निर्विवाद है। क्योंकि—चतुर्द्दशविध भूतसर्ग में से एकमात्र मनुष्यसर्ग ही—**'मनुष्या एवैके-अतिक्रामन्ति'** (शत० २।४।२।६।) के अनुसार प्रज्ञापराध से प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करता हुआ उत्पथ का अनुगमन करता है। आवश्यक है कि, प्राकृतिक नियमोल्लंघन से होने वाली हानियाँ, तथा प्रकृत्यनुगमन से प्राप्त होने वाले लाभ इसके सम्मुख रक्खे जाँय, एवं दोनों का समतुलन करते हुए इसे लाभप्रद प्राकृतिक नियमों की ओर आकर्षित किया जाय। जो शब्दशास्त्रोपदेश पुरुष का एवंविध अनुशासन कर सकेगा, वही अपने 'शास्त्र' शब्द को अन्वर्थ बनाता हुआ 'शास्त्र' शब्द का अधिकारी माना जायगा। 'पुरुष की प्रकृति को यथावस्थित बनाए रखने वाला अनुशासन ग्रन्थ ही शास्त्र है,' शास्त्र की इस परिभाषा के गर्भ में वह प्रकृति—विज्ञान अन्तर्निहित है, जिसका लौकिक मनुष्य अपनी लौकिक दृष्टि से समन्वय नहीं कर सकते। लौकिक मनुष्य ऐन्द्रियक ज्ञान के अनुगामी होते हैं। इन्द्रियों का प्रवाह बाह्य भौतिक जगत् की ओर है, जिसे कि हम 'वैकारिक जगत्' कहा करते हैं। जिनका एकमात्र लक्ष्य वैकारिक जगत् है, अतएव इन्द्रियातीत, अतएव सर्वथा परोक्ष प्रकृतितन्त्र का जिन्हें आभास तक नहीं है, उन लौकिक मनुष्यों के इन्द्रियाराममूलक आदेशोपदेश पुरुष के वास्तविक पुरुषार्थ—साधन में नितान्त असमर्थ हैं। वे ही आदेशोपदेश पुरुषार्थ माने जायँगे, जो वैकारिक जगत् के साथ साथ प्राकृतिक अन्तर्जगत् के विकास को भी अपना लक्ष्य बनाए रहेंगे। अपने इस लक्ष्य में क्योंकि एकमात्र भारतीय शास्त्र ही सफल हुआ है, अतएव 'शास्त्र' परिभाषा में एकमात्र इसी को प्रतिष्ठित माना जा सकता है। **'पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा'** लक्षण भारतीय शास्त्र अन्तर्जगत् को लक्ष्य में

रख कर ही प्रवृत्त हुआ है। यदि कोई कर्त्तव्य लौकिक-सामयिक-ऐन्द्रियक दृष्टि से लाभप्रद प्रतीत हो रहा है, तब भी उसका उस दशा में सर्वथा परित्याग कर दिया जायगा, जबकि, वह लाभ शास्त्रद्वारा अलाभ घोषित कर दिया जायगा। क्योंकि लौकिक दृष्टि जहाँ भ्रान्त है, वैकारिक है, वहाँ शास्त्रीय दृष्टि निर्भ्रान्त है, प्राकृतिक है, जिसका साक्षात्कार अस्मदादि लौकिक जन्तु नहीं कर सकते। तात्पर्य्य यह निकला कि-"वैकारिक जगत् से सम्बद्ध आदेशोपदेशसंग्रह शास्त्राभासलक्षण शास्त्र है, एवं अन्तर्दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला आदेशोपदेशसंग्रह वस्तुगत्या 'शास्त्र' है, और वही हमारा भारतीय शास्त्र है, जिसके सम्बन्ध में अवतारपुरुषों के द्वारा हमें यह आदेश मिला है कि-"**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**" (गीता)।

केवल पुरोऽवस्थित पदार्थों के आधार पर ऐन्द्रियक ज्ञान के अनुसार विधि-निषेध की व्यवस्था करने वाले पुरुष लौकिक पुरुष हैं, एवं इन्हें हीं शास्त्रीय परिभाषा में 'यथाजात' कहा गया है। पुरोऽवस्थित वस्तु को माध्यम बना कर उसके अवारपारीण-भूत-भविष्यत् परिणामों के आधार पर विधिनिषेध करने वाले पुरुष अलौकिक पुरुष हैं। एवं इन्हें हीं 'ऋषि' कहा गया है। ऋषिदृष्टि योगजदृष्टि है, ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्बन्ध रखने वाली आर्षदृष्टि है, दिव्यदृष्टि है। इस दृष्टि से दृष्ट अर्थ सर्वथा निर्भ्रान्त है, एवं प्रत्येकदशा में अभ्युदयकर है। अतएव इस ऋषिदृष्टि से दृष्ट अर्थ का स्पष्टीकरण करने वाला शब्दशास्त्र किसी भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखता हुआ स्वतःप्रमाण है। ऋषियों का दृष्टिरूप अर्थ शब्दावच्छेदेन हमारे लिए 'श्रुति' है। यही 'श्रुति' हमारे लिए प्रत्यक्षदृष्टिस्थानीया बनती हुई स्वतःप्रमाणभूता है, जैसा कि अगले परिच्छेदों में स्पष्ट होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में यही वक्तव्यांश है कि, अतीतानागतज्ञ, पारोवर्य्यविद, महामहर्षियों के सहज (प्राकृतिक) ज्ञान- जोकि ईश्वरीयज्ञान है-से सम्बद्ध शब्दराशि ही भारतीय शास्त्र है। यही भारतीय शास्त्र पुरुष का परमपुरुषार्थ है। पुरुष के परम पुरुषार्थ से सम्बन्ध रखने वाला भारतीय शास्त्र भारतीय ऋषियों की 'कृति' कहलाता हुआ भी इसलिए अकृति है कि, इस शास्त्र का वितान उस पुरुषचतुष्टयी के आधार पर हुआ है, जिसे श्रुतिशास्त्र ने नित्यशब्द से व्यवहृत किया है। पुरुष-ऋषि भारतीय शास्त्र के द्रष्टा हैं, कर्त्ता नहीं। कर्त्ता है—वह पुरुष, जिसने अपने आपको चार संस्थाओं में विभक्त कर रक्खा है। एवं जिसके चार विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराना प्रसङ्गतः आवश्यक हो रहा है।

२-चतुःसंस्थ अपौरुषेय शास्त्र—

'**क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**' (पातञ्जलयोगसूत्र) के अनुसार प्रकृति से नित्य संयुक्त, महामायी, विश्वेश्वर ही 'पुरुष' है। '**मयाऽऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्**' इस स्मार्त्त सिद्धान्तानुसार वह पुरुष इस प्रकृति के द्वारा ही विश्व, तथा विश्वधर्म्मों का प्रस्तोता (वितानकर्त्ता) बना हुआ है। उस पुरुष का प्राकृतिकरूप ही विश्व का मूल है, जिसका '**अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति**' से भी समर्थन हुआ है। प्रकृत्यवच्छिन्न वही पुरुष महामाया, एवं तद्गर्भीभूत योगमायाओं के तारतम्य से चार विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। पुरुष के वे ही चारों विवर्त्त-क्रमशः इन नामों से प्रसिद्ध हैं—
"**१—महापुरुषः, २—वेदपुरुषः, ३—छन्दःपुरुषः, ४—शरीरपुरुषः**"।

पुरुषविज्ञानवेत्ता महर्षि '**बाध्व**' ने सम्वत्सरविज्ञान के आधार पर उक्त पुरुषचतुष्टयी का समन्वय करते हुए बतलाया है कि, ज्योतिश्चक्रावच्छिन्न, सवनत्रयात्मक सम्वत्सर ही (पार्थिवदृष्टि की अपेक्षा से) महापुरुष है।

इस सम्वत्सरपुरुष की सवनत्रयाध्यक्षभूता देवतात्रयी से सम्बद्ध यज्ञप्रवर्त्तक त्रयीवेद (मौलिक यज्ञमात्रिकवेद, जिसका भूमिका द्वितीयखण्ड में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है) वेदपुरुष है। वेदवाग्लक्षणा नित्या-वाक् का विवर्त्तभूत नित्य अक्षरसमाम्नाय छन्दःपुरुष है। एवं महा, वेद, छन्दःपुरुषत्रयी के आदित्य, ब्रह्म, एवं 'अ' काररस से समुत्पन्न वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण देही शरीरपुरुष है। प्रज्ञानात्मा ही इसका रस है। इस प्राज्ञरसावच्छिन्न शरीरपुरुष (देही) का ही नाम मुण्डकपरिभाषानुसार भोक्तासुपर्ण है। एवं देही के दभ्रा-काश में अन्तर्य्यामीरूप से प्रतिष्ठित छन्दः, वेद, महापुरुषात्मक तत्त्व साक्षीसुपर्ण है। फलतः शरीरपुरुष का चतुःपुरुषत्त्व सिद्ध हो रहा है। शरीरपुरुष जीवन का हेतु है, छन्दःपुरुष आयतन का संरक्षक है, वेदपुरुष आध्यात्मिक अहरहर्यज्ञ का सञ्चालक है, एवं आदित्यरसात्मक महापुरुष मन -प्राण-वाङ्मय आयुःसूत्र का प्रदाता है। यही आध्यात्मिक-पुरुषचतुष्टयी का संक्षिप्त इतिवृत्त है—(देखिए-ऐत० आ० २।३।६।)।

१—शरीरपुरुषः-योगमायावच्छिन्नो वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिर्जीवनहेतुर्देही-तस्य प्रज्ञानात्मा रसः

अध्यात्मम् २—छन्दःपुरुषः-योगमायावच्छिन्नः-आकाररूपप्रदाता साममयः स्वरः-तस्य कारो रसः

३—वेदपुरुषः—योगमायावच्छिन्नः-यज्ञप्रवर्त्तकः प्रजापतिः-तस्य ब्रह्मा रसः

४—महापुरुषः-महामायावच्छिन्नः-आयुःप्रवर्त्तकः-सम्वत्सरः-तस्य आदित्यो रसः

इस प्रकार **'यदेवेह, तदमुत्र'** न्याय से अधिभूत, तथा अधिदैवत संस्था में भी उक्त पुरुषचतुष्टयी का भोग हो रहा है। उदाहरणरूप से वेदशास्त्र को ही अपना लक्ष्य बनाइए। वेदपुस्तक, जिसके आधार पर हम वेदतत्त्व का मनन करते हैं, आधिभौतिक पदार्थ हैं। पत्र (कागज)-मसी (श्याही)-लिपि-आदि सभी आधिभौतिक पदार्थ हैं। अतएव तद्रूप वेदपुस्तक को अवश्य ही 'आधिभौतिकसंस्था' कहा जा सकता है। यही वेदपुस्तक **'शरीरपुरुष'** है, जिसके आधार पर वेदग्रन्थ प्रतिष्ठित है। स्मरण रखिए—ऋग्वेदग्रन्थ एक है, परन्तु पुस्तकें हजारों हैं। ऋग्वेद की पुस्तक हमारी है। किन्तु ऋग्वेदग्रन्थ हमारा नहीं है। अक्षरसमाम्नायात्मक शब्दप्रपञ्च ग्रन्थ है, जिसका आधार पुस्तक है। पुस्तकरूप शरीरपुरुष पर प्रतिष्ठित ग्रन्थ भिन्न वस्तुतत्त्व है। ऋग्वेदपुस्तक का अधिकार सब को है, किन्तु-ऋग्वेदग्रन्थ का अधिकार केवल द्विजाति को ही है। जिसे अक्षरबोध है, वह सामान्य यथाजात भी पुस्तक बाँच सकता है। परन्तु ब्रह्म-क्षत्र-विड्-वीर्य्यातिरिक्त सामान्य लौकिक मनुष्य ग्रन्थ नहीं समझ सकता। ग्रन्थ-और पुस्तक का यही अहोरात्रवद् महान् विभेद है। वाङ्मय प्रपञ्चरूप इसी ग्रन्थ को हम **'छन्दःपुरुष'** कहेंगे। वाङ्मय प्रपञ्चलक्षण छन्दः-पुरुष के गर्भ में प्राणात्मक नित्यविज्ञान प्रतिष्ठित है। वह नित्यविज्ञान अनेक धाराओं में विभक्त है। उन अनन्त विज्ञानों की समष्टि ही **'वेदपुरुष'** है। अनन्तविज्ञानात्मक सर्वसमष्टिलक्षण महामायी वेदैकवेद्य तत्त्व ही **'महापुरुष'** है। इसप्रकार हमारे इस आधिभौतिक उदाहरण में भी चारों पुरुषविवर्त्तों का भोग हो रहा है।

महापुरुष स्वयं अकृतक है, नित्यकूटस्थ है, अतएव अपौरुषेय है। उक्थ-स्थानीय अपौरुषेय महापुरुष के अर्क (निःश्वास) स्थानीय विज्ञानात्मक अनन्त वेद भी तत्सम (अपौरुषेय) ही हैं। वेदाभिन्न वाङ्मय प्रपञ्च भी अपौरुषेयमर्य्यादा से बहिर्भूत नहीं हैं। वाक्तत्त्व के ये तीनों पद गुहानिहित हैं। महापुरुषाधार पर प्रतिष्ठित वेदपुरुषावच्छिन्न छन्दःपुरुषपर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाला शास्त्र एकान्ततः अपौरुषेय है। एवं चौथा वैखरीवाङ्मय विवर्त्त यद्यपि पुरुषप्रयत्नसाध्य होने से पौरुषेय है, तथापि अपौरुषेय-वेदतत्त्व से

समतुलित इस वेद शब्द को भी लौकिक–पौरुषेय भाषा के समान धरातल पर नहीं रक्खा जा सकता। यही कारण है कि, पौरुषेय भी यह शरीरपुरुषात्मक वेदशास्त्र आस्तिक सम्प्रदाय में अपौरुषेय नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जो प्रसिद्धि इस तत्त्वदृष्टि से सर्वथा समीचीन है।

तात्पर्य्य-परिच्छेदान्तर का यही हुआ कि, भारतीय शास्त्रों में स्वतःप्रमाणभूत शास्त्र वेदशास्त्र है। एवं यह उक्त दृष्टि से चतुःसंस्थ है। चतुःसंस्थ अपौरुषेय यह वेदशास्त्र प्राकृतिक शास्त्र है, विज्ञानशास्त्र है, आर्षदृष्टि से दृष्ट श्रुतिशास्त्र है, अतएव निर्भ्रान्त सनातनशास्त्र है। इस सनातनशास्त्र के प्रति अप्रामाण्य बुद्धि रखना, इसे लौकिक–पौरुषेय–सामयिक–शास्त्राभासों की भाँति बुद्धिवाद की शून्य–निकषा पर कसना भ्रान्ति है। अप्रामाण्यगन्धलेशतोऽपि शून्य स्वतःप्रमाणसिद्ध चतुःसंस्थ अपौरुषेय वेदशास्त्र क्योंकि पुरुष के अन्तर्जगत् का विकासक बनता हुआ अपने बाह्यस्वरूपोपलक्षित यज्ञविधान से इसके बहिर्जगत् की भी स्वरूप रक्षा कर रहा है, अतएव इसे 'सर्वशास्त्र' कहना अन्वर्थ बनता है *।

३–आगमनिगमरहस्य—

अनन्त वेदशास्त्र की अनन्तता को अपने सान्त–सादि जीवन के सम्बन्ध में एक जटिल समस्या समझते हुए हमें उस शास्त्रद्वयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जिसका हम अपने स्वल्पजीवन में अधिक से अधिक उपयोग कर सकते हैं। हमारी उत्पत्ति, हम सुनते आ रहे हैं, माता–पिता के दाम्पत्यभाव से होती आ रही है। शोणिताधिष्ठात्री माता के प्रवर्ग्यभूत शोणित भाग से, तथा शुक्राधिष्ठाता पिता के प्र० शुक्रभाग से–दोनों के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक चिति–सम्बन्ध से–देही–शरीर का आविर्भाव हुआ है। तत्त्वद्रष्टा महर्षि कहते हैं कि, वस्तुतः हमारे माता–पिता द्यावापृथिवी हैं। स्त्रीसृष्टि में माता पृथिवी के प्राण की प्रधानता है, पुरुषसृष्टि में पिता द्यु के प्राण का प्राधान्य है। इसी परम्परा से शुक्राहुतिप्रदाता पिता, एवं शोणिताग्नि में शुक्राहुति को गर्भरूप से प्रतिष्ठित करने वाली माता नाम से व्यवहृत हुई है। द्युलोकोपलक्षित सूर्य्य हमारे पिता हैं, एवं पृथिव्युपलक्षिता उखा हमारी माता है, जैसाकि–**'द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने-भ्रातर्वसवो मृडता नः'** (ऋक्० ६।५१।५।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। द्यावापृथिवी की समष्टिरूप सम्वत्सरपुरुष–जिसका अहःकालोपलक्षित–अर्द्ध–दृश्य–खगोल अग्नितत्त्वप्रधान बनता हुआ द्युतत्त्वप्रधान है–प्राकृतिक 'पति' है। एवं रात्रिकालोपलक्षित–अर्द्ध–अदृश्य–खगोल सोमतत्त्वप्रधान बनता हुआ पृथिवी–तत्त्व प्रधान है, यही 'जाया' भाव है। इसप्रकार द्यावापृथिव्यात्मक सम्वत्सरपुरुष ही पार्थिवप्रजा का प्रधान उपादान है।

'प्रकृति के गर्भ में प्रकृति के अंश से हमारी उत्पत्ति हुई है', इस सिद्धान्त का तात्पर्य्य यही है कि, द्यावापृथिव्यात्मक आधिदैविक सम्वत्सरचक्र से हमारी उत्पत्ति हुई है, जिसके धर्म्म सर्वथा नियत हैं। इन नियत धर्म्मों के कारण ही इसे 'नियति' कहा गया है, जो कि नियति द्यु–पृथिवी भेद से दो भागों में विभक्त

---

*–खण्डचतुष्टयात्मक–**'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'** नामक निबन्ध के द्वितीय खण्ड में–**'किमिदं शास्त्रम् ?, केयं वा शास्त्रनिष्ठा ?'** नामक परिच्छेद में विस्तार से भारतीयशास्त्र–स्वरूप का उपबृंहण हुआ है।

है। हमारा अभ्युदय तभी सम्भव है, जबकि हम अपनी प्रभवभूता इस नियतिद्वयी के नियत धर्म्मों का यथानुरूप अनुगमन करते रहें। दूसरे शब्दों में प्रकृत्यनुसार जीवनयात्रा का निर्वाह करने से ही हमारा अभ्युदय हो सकता है, एवं तभी निःश्रेयसभाव की प्राप्ति सम्भव है। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि, द्यु लोकोपलक्षिता नियति का सूर्य्यपर्व तो किन धर्म्मों का अनुयायी है ?, एवं पृथिवीपर्व किन धर्म्मों का अनुगमन कर रहा है ?। इन्हीं दोनों प्रश्नों के समाधान के लिए परोक्षार्थद्रष्टा महर्षियों की ओर से निगमागमशास्त्रद्वयी का आविर्भाव हुआ है।

सूर्य्यविद्या प्रकृतिविद्या का प्रथम, तथा मुख्य पर्व है। पारमेष्ठ्य समुद्रगर्भ में यह विद्यापर्व स्वयं विनिर्गत है। **स्वयं निर्गतः'** निर्वचन से ही सूर्य्यविद्या 'निगम' नाम से व्यवहृत हुई है। अथर्वगर्भिता ऋग्-यजुः-सामात्मिका त्रयीविद्या ही सूर्य्यविद्या है, जिसका **'सैषा त्रयीविद्या तपति'** (शत० १०।५।२।२।) रूप से स्पष्टीकरण हुआ है। एवं जिसका कि 'भूमिका द्वितीयखण्ड' में तात्त्विक वेदनिरुक्तिप्रकरण में 'गायत्री-मात्रिक वेदनिरुक्ति' रूप से विश्लेषण हुआ है। इस प्राकृतिक वेदविद्या-जिसे कि स्वयं निर्गत होने से निगम विद्या कहा जायगा-का स्पष्टीकरण शब्दात्मक-ग्रन्थात्मक-जिस वेदपुस्तक से हुआ है, वह भी ताच्छब्द्यन्याय से 'निगमविद्या' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। द्यु शास्त्र, वेदशास्त्र, पितृशास्त्र, निगमशास्त्र, त्रयीशास्त्र, इत्यादि शब्द अंशतः समानार्थक हैं।

पृथिवीविद्या प्रकृतिविद्या का दूसरा पर्व है। ग्रहोपग्रहविज्ञानानुसार पृथिवी सूर्य्य का उपग्रह माना गया है। पृथिवीविवर्त्त का मूलाधार सूर्य्यविवर्त्त है। अतएव यह कहा जा सकता है कि, स्वयंनिर्गत सूर्य्य से पृथिवी विवर्त्त आगत है। त्रयीविद्याघन सूर्य्य निगम है। इस निगम से आगत होने के कारण ही पृथिवीविद्या **'निगमादागतः'** निर्वचन से 'आगम' है। इस प्राकृतिक आगमविद्या का स्पष्टीकरण शब्दात्मक जिस ग्रन्थ से हुआ है, वह भी उक्त न्याय से 'आगमविद्या' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया है। पृथिवीशास्त्र, मातृशास्त्र, आगमशास्त्र, इत्यादि शब्द अंशतः समानार्थक हैं।

निगमशास्त्र अपौरुषेय श्रुतिशास्त्र है, आगमशास्त्र पौरुषेय स्मृतिशास्त्र है। श्रुति-स्मृतिलक्षणा शास्त्रद्वयी ही 'भारतीय शास्त्र' है, जिसे हम प्राकृतिक शास्त्र कह सकते हैं। इन आगम-निगम निर्वचनों से सम्भवतः यह मान लेने में कोई आपत्ति न होगी कि, भारतीय श्रुतिस्मृतिशास्त्र मानवीय कल्पना नहीं है। अपितु सर्व-जगदाधार स्वयं ईश्वरप्रजापति का आदेश है। ऋषि इसके निमित्तमात्र हैं। वे स्वयं इनके अनुगामी रहे हैं, इस अनुगमन से उन्होंनें अभ्युदय-निःश्रेयस् प्राप्त किया है। अतएव उन्होंनें लोकाभ्युदय निश्रेयस् के लिए अपने शब्दों में अपनी सन्तति के सम्मुख उन आदेशोपदेशों को रक्खा है, जिनके अनुगमन से आर्षप्रजा का उभयविध संरक्षण संशयरहित है। हमारा मुख्य लक्ष्य 'श्रुति' शब्द है। परन्तु बिना निगमागमपरिभाषाओं के लक्ष्य-पूर्ति अपूर्ण रह जाती है। अतएव उस परिभाषा का दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझा गया। अब इस सम्बन्ध में प्रसङ्गोपात्त निगमागमग्रन्थों के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनुचित न होगा।

क्रमप्राप्त पहिले निगमविस्तार पर ही दृष्टि डालिए। **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** इस निगम प्रमाण से निगमशास्त्र भी चार भागों में विभक्त माना जा सकता है। **१-संहिता, २-ब्राह्मण, ३-कल्प, ४-अङ्ग,** ये ही निगमशास्त्र के चार विवर्त्त हैं। **ऋक्-यजुः-साम-अथर्व,** भेद से संहिता के चार मुख्य पर्व हैं। **विधि,**

आरण्यक, उपनिषत् , भेद से ब्राह्मण विभाग के तीन पर्व हैं। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, सामयाचारिकसूत्र, भेद से कल्प तीन विभागों में विभक्त है। शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष, कल्प, ये ६ अङ्ग-विभागों के अवान्तर पर्व हैं। इनमें से संहिता, ब्राह्मण, इन दोनों का सविभाग विशद वैज्ञानिक निरूपण भूमिका द्वितीय खण्ड से गतार्थ है। वितानयज्ञेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक श्रौतसूत्र, पाकयज्ञेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक गृह्यसूत्र, एवं सामयिकाचारसूत्र, त्रिधा विभक्त इस कल्प के सम्बन्ध में भी विशेष वक्तव्य नहीं है। वक्तव्य है-षडङ्ग के सम्बन्ध में।

४-षडङ्गस्वरूपपरिचय—

शिक्षादि षडङ्ग 'वेदाङ्ग' नाम से क्यों प्रसिद्ध हुए ?, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। नित्यसिद्ध विज्ञान ही वेद पदार्थ है, यह बहुधा प्रपञ्चित है। किसी भी नित्यसिद्ध विज्ञान की सर्वाङ्गीणता के सम्बन्ध में छन्द, निरुक्त, व्याकरण, गणित, शिक्षा, कल्प, ये ६ विषय आवश्यकरूप से अपेक्षित हैं। इन्हीं का क्रमशः दिग्-दर्शन कराया जा रहा है—

(१)—छन्दः—

अमुक अङ्गी वस्तु में कितनें पदार्थ किस रूप से अन्तर्भूत हैं ?, इस प्रश्नोत्तर से सम्बन्ध रखने वाला, अङ्गभूत पदार्थों का रीतिबन्धरूप से प्रतिपादन करने वाला वाक्परिमाणात्मक भावविशेष ही 'छन्द' है। जिन अङ्गशक्तियों के संघठन से अङ्गी का स्वरूपनिर्म्माण होता है, वे अङ्गशक्तियाँ भृत्यस्थानीया हैं, एवं स्वयं अङ्गी स्वामी-स्थानीय है। स्वामिशक्ति क्योंकि भृत्यशक्तियों के संघठन से सम्बन्ध रखती है, दूसरे शब्दों में अङ्गशक्तियाँ अङ्गीशक्ति के प्रति आत्मसमर्पण किए रहतीं हैं, अतएव अङ्ग से सम्बन्ध रखने वाले वाक्-परिमाणात्मक, रीतिबन्धनात्मक छन्द 'परच्छन्द' कहलाते हैं, एवं अङ्गी-छन्द 'स्वच्छन्द' कहलाता है। इस प्रकार गौण-मुख्य-न्याय से छन्दस्तत्त्व के दो विवर्त्त हो जाते हैं। यदि अङ्गीशक्ति की अविवक्षा कर अङ्ग-शक्ति का स्वातन्त्र्येण ग्रहण किया जाता है, तो उस समय ये अङ्गच्छन्द भी स्वच्छन्दस्क बन जाते है। छन्दस्तत्त्व की इस परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि, "**स्वरूपसन्निवेश छन्द है, अवयवसन्निवेश छन्द है, अन्तरङ्गपदार्थ छन्द है, रीतिबन्ध छन्द है**"।

वस्तुतत्त्व विज्ञानभाषा में 'वय' नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक वय (वस्तु) का कोई न कोई नियत आयतन होता है, जिसमें कि वय प्रतिष्ठित रहता है। यह आयतन आधार-आवपन भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। एकतः आयतन को आधार कहा जाता है, सर्वतः आयतन को आवपन कहा जाता है। उदाहरण के लिए भूपृष्ठ, और आकाश को लक्ष्य बनाइए। भूपृष्ठ, आकाश, दोनों हमारे आयतन हैं। परन्तु भूपृष्ठ हमारा एकतः आयतन है, आकाश सर्वायतन है! आकाश ने हमें सर्वतः व्याप्त कर रक्खा है। भूपृष्ठ केवल एकतोऽनुरूपा प्रतिष्ठा है। वय को चारों ओर से सीमित बनाने वाला, सीमित बना कर उसे अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला वागाकाशरूप परिणाह ही 'वयोनाध' नाम से प्रसिद्ध है। आकाशायतन से समतुलित, अतएव सर्वाधारलक्षण यह वयोनाध आवपन है, यही छन्दःपदार्थ है। छन्दोभेद ही वस्तुभेद का मूलकारण है, जैसाकि शतपथभाष्यादि में विस्तार से प्रतिपादित है।

नित्यसिद्ध विज्ञान एक प्रकार का वय है। विज्ञानात्मक प्रत्येक वय छन्दोरूप वयोनाध से बद्ध है। बिना वयोनाध-परिज्ञान के वयज्ञान असम्भव है। अतएव वैज्ञानिकों नें वयात्मक वेदमन्त्रविज्ञान के लिए

छन्दोविज्ञान आवश्यक माना है। छन्दोभेद ही विज्ञानभेद की मूलप्रतिष्ठा है। विज्ञानघन प्राणतत्त्व, जिसे कि याज्ञिक परिभाषा में 'देवता' कहा गया है, छन्द पर ही प्रतिष्ठित है। छन्द से छन्दित प्राणदेवता के संग्रह के लिए उसकी छन्दोभक्ति का समाश्रय आवश्यक रूप से अपेक्षित है। एवं यही छन्दोरूप अङ्ग का दिग्दर्शन है।

(२)–निरुक्तम्—

विज्ञानात्मक वेदतत्त्व यद्यपि नित्य है। तथापि आविर्भाव-तिरोभाव की दृष्टि से इसे हम उत्पत्ति-स्थिति-संहृति-धर्म्मों से युक्त मान सकते हैं। उत्पत्ति (प्रभव), स्थिति (प्रतिष्ठा), संहृति (परायण) लक्षणा भावत्रयी विज्ञानात्मक वेद की दूसरी भक्ति है। निश्चयेन प्रत्येक पदार्थ सम्पत्ति, प्रतिपत्ति, विपत्ति–भावों से नित्य आक्रान्त है। अर्थप्रतिपत्ति ही अर्थस्थिति है। उपचय, अपचय, साम्य, भेद से प्रत्येक अर्थस्थिति को तीन भागों में विभक्त माना जा सकता है। वस्तु का प्रातिस्विक स्वरूप ज्यों का त्यों है, इसका स्वरूपधर्म्म किसी आगन्तुक अतिशय के कारण उत्कृष्ट हो गया है, यह स्वरूपवृद्धि ही इस अर्थ का उपचय है, यही उपचय-लक्षणा अर्थप्रतिपत्ति, किंवा अर्थस्थिति है। यही वस्तु की समृद्धि है, सौभाग्य है, लक्ष्मीभाव है। वस्तुस्वरूप का अपनापन तो सुरक्षित है, परन्तु किसी आगन्तुक परधर्म्म के समावेश से स्वरूपधर्म्म विकास से दब गया है। स्वरूपहानि नहीं हुई है, स्वरूप विकृत हो गया है, यही इस वस्तु का अपचय है, यही अपचयलक्षणा अर्थप्रतिपत्ति (स्थिति) है। यही वस्तु की व्यृद्धि है, दुर्भाग्य है, निर्ऋतिभाव है। न उपचय है, न अपचय है। अपितु वस्तुस्वरूप यथानुरूप प्रतिष्ठित है। यही वस्तु का 'योगक्षेमलक्षण' साम्य है। तात्पर्य्य इन स्थिति-विशेषों से यही है कि, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक तत्त्व उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति, क्षय, संहार, विपरिणाम, इन ६ परिस्थितियों में से अवश्य ही किसी न किसी परिस्थिति से आक्रान्त रहता है। इन ६ ओं भावविकारों का निरूपण करने वाला शास्त्र ही 'निरुक्तशास्त्र' है, जिसके परिज्ञान के बिना भी वस्तुतत्त्वपरिज्ञान अपूर्ण ही बना रहता है।

(३)–व्याकरणम्—

निरुक्तशास्त्रसिद्धा निर्वचनप्रक्रिया के आधार पर परिज्ञात षड्भावविकारों के अनन्तर तत्तत् तत्त्व–विशेषों में सामान्य, विशेष बुद्धि का उदय हो जाता है। इन सामान्य–विशेष भावों के आधार पर एक ही तत्त्व का अनेकधा प्रतिपादन होने लगता है। सामान्यलक्षण एकत्त्व के आधार पर विशेषलक्षण अनेकत्त्व विकसित हो जाता है। एक ही वस्तुतत्त्व के आधार से निर्वचनानुग्रह से एक तत्त्व अनेक भावों में परिणत हो जाता है। एक का यह अनेकत्त्व ही **'एकस्य विविधाकारत्वं'** निर्वचन से व्याकरण तत्त्व है। यही वेदशास्त्र की तीसरी भक्ति है। इस व्याकरणभक्ति का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही 'व्याकरणशास्त्र' है। घट अनेक प्रकार के हैं, पट अनेक प्रकार के हैं, प्राणी अनेक प्रकार के हैं, इसप्रकार प्रत्येक जाति में अनेकत्त्व सर्वानुभूत है। परन्तु साथ ही यच्चयावत् घटों, पटों, प्राणियों का मूलाधार मृत्–तन्तु–प्राण समान है, यह भी स्वतः सिद्ध है। नानाविध भावों के रहने पर भी तत्त्वाभेद सुस्थिर है। अवश्य ही इन सब विभिन्न आकार–प्रकारों में एक कोई अभिन्न तत्त्व मूलाधार है, जिसकी यह व्याकृति है। नाम-रूप ही इस व्याकृति के मुख्य प्रवर्त्तक हैं। आख्यात, उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, प्रयत्न, स्वर, वर्णादि, सम्पूर्ण व्याकृतियों का नाम–रूप–व्याकृति में हीं अन्तर्भाव है।

प्रत्येक पदार्थ में आत्मधर्म्म, अनात्मधर्म्म, भेद से द्विविध धर्म्मों का समावेश रहता है। आत्मधर्म्महानि से वस्तुस्वरूप का उच्छेद हो जाता है, अतएव इसे 'स्वधर्म्म' कहा जाता है, एवं इसका छन्दोधर्म्म में अन्तर्भाव है। दूसरे अनात्मधर्म्म के समावेश से एक ही वस्तुतत्त्व अनेक नाम-रूपों में परिणत होता रहता है। इस नानाविध्य-रहस्य का, व्याकृतितत्त्व का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही 'व्याकरणशास्त्र' है। उदाहरण के लिए निरुक्तसिद्ध 'घट्' धातु को ही लीजिए। 'घट्' के घटा-घटनं-घटः-घटते, इत्यादि विविध भाव व्याकरण पर अवलम्बित हैं। एवमेव निरुक्तसिद्ध 'घट' शब्द के-'घटः-घटौ-घटाः' ये अनेक व्याकृतियाँ व्याकरणसिद्धा हैं। इस शब्दव्याकरणवत् अर्थव्याकरण का समन्वय अपेक्षित है। जो नियमोपनियम शब्दव्याकरण के हैं, वे ही तद्वाच्य अर्थव्याकरण के हैं। निष्कर्षतः समस्त का व्यास ही व्याकरण है, संक्षिप्त का विवरण ही व्याकरण है, एक का विविधाकारसमर्थन ही व्याकरण है। एवं इस व्याकरणतत्त्व का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही व्याकरणशास्त्र है।

(४)-गणितम्—

व्याकरणशास्त्र के द्वारा अनेकधा गृहीत अर्थ का विज्ञान-सौकर्य्य के लिए संकलन करना ही गणन है। तत्प्रतिपादक शास्त्र ही गणितशास्त्र है, यही वेदशास्त्र की चौथी वेदभक्ति है। व्याकरणशास्त्र से ठीक उलटा गणितशास्त्र है। व्यवकलन व्याकरण है, तो संकलन गणित है। विकास व्याकरण का प्रयत्न है, तो संकोच गणन का प्रयत्न है। विवृत्ति व्याकरण पर अवलम्बित है, तो संवृत्ति गणन से सम्बन्ध रखती है। एकाकार का विविधाकारत्व समर्थन यदि व्याकरण से होता है,तो विविधाकार को एकाकारत्व प्रदान करना गणित पर निर्भर है। व्याकरण यदि विस्तार का अनुगामी है, तो गणन प्रस्तार का पक्षपाती है। समस्त का व्यास यदि व्याकरण पर अवलम्बित है, तो व्यस्त का समास गणन पर अवलम्बित है।

गणितशास्त्र की गुणनप्रक्रिया के आधार पर पूर्वपक्ष किया जा सकता है कि, जिस प्रकार एक को अनेकरूप प्रदान करना व्याकरण का काम है, एवमेव गणितशास्त्र की गुणनप्रक्रिया से भी एक को अनेक भाव में ही परिणत किया जाता है। ऐसी स्थिति में इसे संकोच-शास्त्र कैसे माना जा सकता है ?। पूर्वपक्ष के समाधान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, षडङ्गों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण गणितशास्त्र में गौणरूप से संगृहीत गुणनकर्म्मात्मक व्याकरणधर्म्म के सन्निविष्ट रहने पर भी गणित के संकोचप्रधान मुख्य प्रतिपाद्य का अपलाप नहीं किया जा सकता, जैसा कि-**'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्त्वम्'** नामक संस्कृत निबन्ध के 'षडङ्गनिरुक्ति' प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही कहना है कि, तत्त्वसंकोचप्रकिया के विविध-प्रकारों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्रविशेष ही 'गणितशास्त्र' है, जिसके बिना जाने वेदशास्त्र में प्रतिपादित वेदव्यूह का स्वरूप कथमपि गतार्थ नहीं बन सकता।

(५)-शिक्षा—

स्वरूपधर्म्मप्रतिपादक छन्दःशास्त्र, सत्ताधर्म्मप्रतिपादक निरुक्तशास्त्र, विशेषधर्म्मप्रतिपादक व्याकरणशास्त्र, एवं सामान्यधर्म्मप्रतिपादक गणितशास्त्र, इन चारों शास्त्रों से क्रमशः स्वरूपमुखेन, सत्तामुखेन, विशेषमुखेन, सामान्यमुखेन, परिगृहीत वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में आपेक्षिक बहिरङ्ग-गुणधर्म्म उपस्थित होते हैं। इन्हीं आपेक्षिक बहिरङ्ग धर्म्मों को 'उपकरण' कहा गया है। इन उपकरणों का रहस्योद्घाटन करने वाला

शास्त्र ही 'शिक्षाशास्त्र' है। यही वेदशास्त्र की पाँचवीं भक्ति है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि, प्रत्येक वस्तु-तत्त्व स्वरूप-सत्ता-विशेष-सामान्य भेदभिन्न अन्तरङ्ग धर्म्मों के विकास के लिए अनुकूल कुछ एक बहिरङ्ग धर्म्मों का आश्रय लेकर स्व-स्वरूपाविर्भाव में समर्थ बनता है। इस आश्रयभाव का विशेषतः नाम-प्रपञ्च के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। नित्यसिद्ध विज्ञानप्रतिपादक शरीरपुरुषस्थानीय शब्द की अनुरूपता, उच्चारण-विशेषता ही विज्ञानग्रहण का अन्यतम द्वार है। श्रौतकर्म्मोपयुक्त-शब्दोच्चारणवैशिष्ट्यलक्षण उपकरणरूप बहिरङ्ग धर्म्म की विशेषताओं का प्रतिपादन करने वाला शास्त्रविशेष ही शिक्षाशास्त्र है, जिसका 'स्थूलारुन्धती-न्याय' से सर्वप्राथम्य माना गया है। बिना शिक्षा के शब्दप्रपञ्च सर्वथा अविज्ञात ही बना रहता है।

(६)-कल्पः—

स्वरूप, कारण (सत्ता), विशेष, सामान्य, बहिरङ्ग, पूर्वोक्त पाँच शास्त्रों के द्वारा सिद्ध इन पाँच धर्म्मों से सर्वात्मना संसिद्ध वस्तुतत्त्व का उपयोग कहाँ, कैसे, कब करना ?, उस उपयोग से क्या क्या फलसिद्धि सम्भव है ?, इन प्रश्नों का समाधान करने वाला शास्त्र ही 'कल्पशास्त्र' है। यही ६ ठी वेदभक्ति है। इसी वेदभक्ति को सफल बनाने के लिए पूर्वाङ्गशास्त्रों के द्वारा वेद का अनुगमन किया जाता है। उन पाँचों वेदभक्तियों के सम्यक् परिज्ञान के बिना उपयोगिताज्ञानप्रवर्त्तक कल्पशास्त्रानुगमन सर्वथा निर्बल रह जाता है। यह मानी हुई बात है कि, प्रत्येक वस्तुतत्त्व को उपयोग में लाने से पहिले यदि उसके स्वरूप-कारणादि पञ्च धर्म्मों का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है, तो वह विशेष प्रतिपत्तिकर बन जाता है, जैसाकि--'**यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति**' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से भी प्रमाणित है। अमुक अर्थ से क्या अतिशय उत्पन्न किया जा सकता है ?, किस कर्म्मकौशल से अमुक अर्थ प्राप्त किया जा सकता है ?, अमुक अर्थानुष्ठान से क्या फलसिद्धि सम्भव है ?, इन सब विषयों की उपपत्ति जान लेने से विज्ञाता पुरुष ऋजुभाव से कर्म्मेतिकर्त्तव्यता में प्रवृत्त होता हुआ इष्टसाधक पुरुषार्थसाधन में प्रवृत्त हो जाता है, सफल बन जाता है। इसी उपयोगिताज्ञानसाधक तत्कर्त्तव्यतासमर्थक शास्त्रविशेष का नाम 'कल्पशास्त्र' है।

उपर्युक्त षडङ्गों से संसिद्ध अर्थों से अङ्गीभूत वेदशास्त्र सर्वात्मना उपकृत हो जाता है। इसी सम्बन्ध से इसे 'वेदाङ्ग' कहना अन्वर्थ बनता है। अङ्गीभूत वेदशास्त्र जिस कर्त्तव्यकर्म्म की हमें शिक्षा देता है, वह श्रौत-यज्ञकर्म्म है। श्रौत यज्ञकर्म्म के द्वारा हम अपनी अध्यात्मसंस्था में दिव्यप्राणातिशय उत्पन्न करते हैं। इस दिव्यसंस्कारग्रहण की योग्यता के लिए ही प्रथम षडङ्ग-अध्ययन आवश्यक माना गया है। संस्कार्य्य आत्मा मनः-प्राण-वाङ्मय है। षडङ्ग-द्वारा प्रथम इसी त्रिकल आत्मा की तीनों कलाओं का दोषमार्जन होता है। शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ये चारों अङ्गशास्त्र वाग्भाग का संस्कार करते हैं। कल्प प्राणभाग को सुसंस्कृत बनाता है। एवं ज्यौतिष मानस विवर्त्त का परिशोधन करता है। कहना न होगा कि, आज हमनें अपनी शिक्षापद्धति को दूषित कर किस प्रकार वेदतत्त्व से अपने आपको पराङ्मुख बना लिया है। अङ्गशास्त्रसे वञ्चित निगमशास्त्र आज सर्वात्मना निर्गत है, यह जान कर किस निगमप्रेमी का अन्तर्जगत् शान्त रहेगा ?

५-आगमविवर्त्तपरिचय—

चतुर्विध जिस पुरुषसंस्था का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उस पुरुषसंस्था के आदि पर्व को 'महापुरुष' नाम से व्यवहृत करते हुए उसे सम्वत्सरात्मक बतलाया गया है। इस सम्वत्सरात्मक महापुरुष के

यज्ञ, काल, भेद से दो विवर्त्त हैं, जिनका विष्णुपुराण में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। अग्न्यात्मक सम्वत्सर सोमाहुति के सम्बन्ध से 'यज्ञपुरुष' बन रहा है, चक्रात्मक सम्वत्सर आवपनरूप से 'कालपुरुष' बन रहा है। यज्ञपुरुष द्युलोक का अधिष्ठाता है, यही निगमशास्त्र का प्रवर्त्तक है। कालपुरुष भूलोक का अधिष्ठाता है, यही आगमशास्त्र का प्रवर्त्तक है। पुराणभाषा में इसी स्थिति का यों स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि, वैष्णवशास्त्र निगमशास्त्र है, शैवशास्त्र आगमशास्त्र है।

शिवशक्तिप्रधान, कालनियामक, इस आगमशास्त्र के कल्प, सिद्धान्त, संहिता, डामर, यामल, तन्त्र, भेद से ६ विवर्त्त हैं। कल्प ६ हैं, सिद्धान्त १४ हैं, संहिता १८ हैं, डामर ८ हैं, यामल १० हैं, तन्त्र ६४ हैं। सम्भूय आगमशास्त्रविवर्त्त १२० ग्रन्थों में विभक्त हैं। चतुर्दशविध सिद्धान्त विवर्त्त में ही 'षडाम्नाय' का अन्तर्भाव है। भूपृष्ठ पर प्रतिष्ठित मानव सिद्धिकामना से **पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः,** इन ६ दिक्प्राणों में से किसी भी एक का अनुगमन कर सकता है। तदनुसार ही ये आम्नाय क्रमशः **पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय, दक्षिणाम्नाय, ऊर्ध्वाम्नाय, अधराम्नाय,** नामों से प्रसिद्ध हैं।

वैदिक मन्त्रानुगत सिद्धिमार्ग पूर्वाम्नाय है। समस्त भाषाक्षरमन्त्रानुगत सिद्धिमार्ग पश्चिमाम्नाय है। पञ्चमकारानुगत सिद्धिमार्ग सर्वोत्कृष्ट, किन्तु सर्वथा जटिल, अतएव 'वाम' नाम से प्रसिद्ध 'उत्तराम्नाय' है। पञ्चदकारानुगत सिद्धिमार्ग पञ्चदेवतोपासनात्मक, सर्वथा ऋजुभावापन्न मार्ग दक्षिणाम्नाय है। सुषुम्नानाड़ी से सम्बद्ध ब्रह्मरन्ध्रानुगत योगसिद्धिमार्ग ऊर्ध्वाम्नाय है। मूलग्रन्थ्यनुगत गणपतिसंयुक्त अघोरमार्ग(अघोराम्नाय) अधराम्नाय है। ६ ओं में यही शीघ्र फलप्रद मार्ग है। भारतवर्ष का यह बहुत **बड़ा दुर्भाग्य है कि, जहाँ उसने निगममार्ग की उपेक्षा कर रक्खी है,** वहाँ आगमशास्त्र भी एकान्ततः **उसके हाथ से निकल चुका है।** आगमशास्त्रोक्त सिद्धियों का हमारा पण्डितसमाज बड़े गर्व से अभिमान तो अवश्य करता है, परन्तु खेद है कि, उसका यह अभिमान केवल शब्दों पर ही विश्रान्त है। सम्पूर्ण विश्वविभूतियों पर अपना नियन्त्रण रखने वाले आगमशास्त्र के भक्त पण्डित स्वयं अपनी बुभुक्षा भी शान्त नहीं कर सकते, इससे बढ़ कर हमारा नैतिक पतन और क्या होगा। आज हम शास्त्र,तत्सिद्ध धर्म्म की रक्षा के लिए उस सत्ता की कृपा भिक्षा माँग रहे हैं, जिसे इनका अणुमात्र भी बोध नहीं है। आज हमनें हमारे इष्टदेव का आश्रय छोड़ दिया है, और यही हमारी पराश्रयता का बीज है, जिसे उमामाहेश्वरी के बल से समूल उखाड देनें में हीं विश्व का शाश्वत अभ्युदय है

६—श्रुतिशब्द के आधुनिक व्याख्याता—

'श्रुति' शब्दमीमांसा के सम्बन्ध में भारतीय शास्त्रविवर्त्तों का दिग्दर्शन कराना प्रासङ्गिक समझा गया। अब प्रकृत विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। नितान्त गुप्त, एकमात्र गुरु-परम्परा में ही परम्परया सुरक्षित, परम्परोच्छेद से वर्त्तमान में विलुप्तप्राय वैदिक परिभाषाओं को न जानने के कारण वर्त्तमानयुग के पश्चिमी व्याख्याताओं नें, तथा तदनुगामी उच्छिष्टभोगी कतिपय भारतीय वेदाभिमानियों नें निगमशास्त्र के लिए निरूढ 'श्रुति' शब्द का यह तात्पर्य्य समझ रक्खा है कि, वेदकाल में 'लेखन' कला का सर्वथा अभाव था। परम्परया सुन–सुना कर ही निगमशास्त्र की रक्षा होती थी। अतएव तत्कालीन भाषामयी यह साहित्यराशि 'श्रुति' नाम से व्यवहृत हुई है। यदि वेदकाल में लेखन कला होती, तो अवश्य

ही उपलब्ध वाङ्मय में लेखिनी, मसीपात्र, आदि तत् साधनों का नामोल्लेख भी उपलब्ध होता। इसी प्रकार कुछ एक और भी तर्काभासों के द्वारा हमारे ये मान्य **'रिसर्चस्कॉलर'** इस तथ्य पर पहुँचे हैं कि, "लेखनकला के अभाव को सूचित करने के लिए ही निगमशास्त्र के लिए 'श्रुति' शब्द व्यवहार में आया है"।

उक्त कल्पना का हमनें तो यही अर्थ लगाया है कि, यदि किसी वर्त्तमान युग के शिष्टपुरुष की रचना में 'शयन-भोजन-गमन-उद्यानादि शब्द न होंगे, तो कुछ एक शताब्दियों के अनन्तर प्रकट होने वाले तत्-सम रिसर्चस्कॉलर वर्त्तमान रिसर्च-पद्धति का अनुगमन करते हुए इस तथ्य पर पहुँचेंगे कि, आज से कुछ शताब्दियों पहिले मनुष्य न सोते थे, न भोजन करते थे, न चलते फिरते थे। न उस युग में बाग बगीचे ही थे। उस युग की सन्तान जब इनसे प्रमाण माँगेगी, तो बिना किसी संकोच के उत्तर दे दिया जायगा कि, अमुक युग की अमुक साहित्यिक रचना में शयन-भोजन-गमनादि शब्द नहीं आए। कैसी विडम्बना है ? साहित्यक्षेत्र का कैसा नग्न प्रदर्शन है ?।

वर्ण-पद-वाक्य-श्लोक-ग्रन्थादि का संकलन बिना लेखनकला के केवल सुन सुना कर सम्पन्न हो गया, **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** सूत्रसिद्धा वेदरचना यों हीं निकल पड़ी, इसे कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा। **'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्'** (ऋक्सं० १०।७१।४।) का क्या तत्पर्य्य है ?, लेखिनी के लिए प्रयुक्त वेदभाषा का **'क्षुरभ्राज'** (लौहमयी लेखिनी) शब्द किस अर्थ का द्योतक है ?, यह उन्हीं श्रुति-रहस्य-वेत्ताओं से पूँछना चाहिए। कल्पनारसिक विद्वान् कहते हैं--विश्वविजयी, मगधेश्वर देवानांप्रियदर्शी सम्राट् अशोक से पहिले लिपि न थी। अशोकसाम्राज्यकाल लगभग २२४० वर्षों पर ठहरता है। भगवान् रामचन्द्र का अवतारकाल आधुनिकों की दृष्टि से भी अशोक से कई सहस्र पूर्व विश्राम करता है। रामभद्र के अनन्योपासक श्रीमारुति अशोकवाटिका में बैठी हुई जगन्माता के क्रोड़ में जिस मुद्रिका के द्वारा सन्देश पहुँचाते है, वह मुद्रिका 'रामनामाङ्किता' है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

वानरोऽहं महाभागे ! दूतो रामस्य धीमतः।
रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ॥ (वा० सु० कां- ३६।२।)।

लिपि के अभाव में मुद्रिका का रामनाम से संयुक्त होना कैसे सम्भव था ?, यह उन्हीं लिपिविशारदों से प्रष्टव्य है। स्वयं ऋग्वेद में कई स्थलों में पत्रादि-प्रेषण कर्म्मों के समर्थनद्वारा लिपि की सत्ता प्रतिध्वनित हुई है। विज्ञानभवनापरपर्य्यायक सूर्य्यसदन, सोमरसदोग्ध्री गौ, सोमवल्ली, तीनों देवबलों के विनाशक असुरों का जब भारतीय सुदास आदि राजाओं से दमन न हुआ, तो यह समाचारपत्र-द्वारा स्वर्गाधिपति इन्द्र के समीप पहुँचाए गए। इन्द्र ने पत्रवाहक के द्वारा सन्देश भिजवा कर स्वयं उपस्थित हो उन्हें सान्त्वना दी, एवं असुरबल का विध्वंस किया। अस्तु, भारतीय दृष्टिकोण के धरातल से ऐसे रिसर्च का कोई महत्त्व नहीं है। भारतीय शास्त्र अपनी कुछ एक परिभाषाएँ रखता है, जिनका परिज्ञान प्राप्त किए बिना बुद्धिबलसाहस्री से भी भारतीयकोश के सङ्केत शब्दों का समन्वय नहीं किया जा सकता।

७-श्रुति-स्मृति-संज्ञामीमांसा—

वस्तुतत्त्व का तथाभूत स्वरूप 'सत्य' है, अतथाभूत स्वरूप 'मिथ्या' है। याथातथ्य ही सत्य की मौलिक परिभाषा है। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना सत्यज्ञान है, यही सत्यज्ञान दर्शनपरिभाषा में **'प्रमा'** नाम से

व्यवहृत हुआ है। जिस साधन से यह प्रमात्मक सत्यज्ञान उत्पन्न होता है, 'प्रमाजनकम्' निर्वचन से वही प्रमासाधन 'प्रमाण' नाम से व्यवहृत हुआ है। याथातथ्यात्मक सत्यस्वरूप प्रमाज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, भेद से तीन साधनों के द्वारा सम्भव है। अतएव उक्त निर्वचनानुसार तीनों प्रमासाधकों को 'प्रमाण' कहा जा सकता है। इन तीनों प्रमाणों में अनुमान, और शब्द, दोनों प्रमाण प्रत्यक्षमूलक हैं। प्रत्यक्ष के आधार पर दोनों की प्रामाणिकता अवस्थित है। अतएव इन दोनों को प्रत्यक्ष प्रामाण्यसापेक्ष होने से 'परतःप्रमाण' कहा जायगा। प्रत्यक्ष प्रमाण अपने प्रामाण्य के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखता हुआ अपना स्वयं आप ही प्रमाण है, अतएव 'प्रमाणानां प्रमाणंभूत' इस प्रत्यक्ष प्रमाण को 'स्वतःप्रमाण' कहा जायगा।

प्रत्यक्ष का चक्षुरिन्द्रिय से सम्बन्ध है। एवं सम्पूर्ण इन्द्रियों में चक्षुरिन्द्रिय ही एकमात्र सत्य का अनुगामी है। कारण यही है कि-'**तद्यत्-तत्-सत्यमसौ स आदित्यः**' (शत०) इत्यादि निगमानुसार सत्यात्मक आदित्य ही चक्षुरिन्द्रिय का प्रभव है। सचमुच प्रजापति ने चक्षु में ही सत्य का निधान किया है। यही कारण है कि, "मैंने देखा है-इसलिए मेरा कथन सत्य है, मैंने सुना है-इसलिए मेरा कथन सत्य है" इसप्रकार परस्पर विविदमान दो व्यक्तियों के सम्मुख उपस्थित होने पर हम उसी के कथन पर विश्वास प्रकट कर देते हैं, जो कि-'मैंने देखा है' यह कहता है। इसी चाक्षुष सत्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं-

> **"नानृतं वदेत् विचक्षणवतीं वाचं वदेत्। चक्षुर्वै विचक्षणम्। यतद्वै मनुष्येषु सत्यं निहितं, यच्चक्षुः। यत्र द्वौ विवदमानावेयातां- अहमदर्शं, अहमश्रौषम्' इति। य एवं ब्रूयात् 'अहमदर्शम्' इति, तस्मा एव श्रद्दध्यामः'.**
>
> (शत० १।३।१।२७।)

प्रत्यक्ष का अर्थ है-'दृष्टि', जो कि दृष्टि अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा न रखती हुई स्वतःप्रमाणभूता है। इस सम्बन्ध में यह विवेक अवश्य कर लेना चाहिये कि—लौकिक-भौतिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली दृष्टि ऐन्द्रियक दृष्टि है, एवं लौकिक अर्थों की सत्यता के सम्बन्ध में यह ऐन्द्रियक लौकिक दृष्टिरूप प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अलौकिक-आधिदैविक, आध्यात्मिक सुसूक्ष्म विषयों से सम्बन्ध रखने वाली दृष्टि-योगजदृष्टि है, आर्षदृष्टि है, पवित्र-शुद्ध-व्यवसायधर्म्मानुगता नित्यविज्ञानदृष्टि है। एवं इन्द्रियातीत अलौकिक अर्थों की सत्यता के सम्बन्ध में यह अलौकिक दृष्टिरूप प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। लौकिक सत्य में लौकिक चक्षु (इन्द्रियसत्य) प्रमाण है, अलौकिक सत्य में अलौकिक चक्षु (विज्ञानसत्य) प्रमाण है। श्रवण-दर्शन की प्रतिस्पर्द्धा में दर्शन को प्रामाण्य है। एवं दर्शनदृष्टि, विज्ञानदृष्टि की प्रतिस्पर्द्धा में विज्ञानदृष्टि को प्रामाण्य है।

आदित्य से ही चक्षुरिन्द्रिय का सम्बन्ध है, आदित्य से ही विज्ञानचक्षु का सम्बन्ध है। दोनों के स्वरूप में भेद यही है कि, आदित्यप्राणात्मक (इन्द्रात्मक) देवभाव चक्षुरिन्द्रिय का स्वरूपसमर्पक है। आदित्यगत चिदात्मतत्त्व विज्ञानचक्षु का प्रवर्त्तक है। '**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्**' वाला आत्मसत्य ही विज्ञानसत्य है, जिसका 'चाक्षुषपुरुष' रूप से, एवं 'दक्षिणाक्षिपुरुष' रूप से उपनिषदों में विश्लेषण हुआ है। यही अन्तर्य्यामी है। इसके लिए भूत-भविष्यत्-सब कुछ वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष है। चिरकालिक तपोयोग से विशुद्ध-सत्त्वनिष्ठ बने हुए ऋषियों के ऋतम्भरात्मकप्रज्ञाधरातल पर प्रतिबिम्बित इस अन्तर्य्यामी का अनुग्रह हो जाता है।

फलतः ऋषिदृष्टि अन्तर्यामी की दृष्टि से अभिन्न बन जाती है। इनकी दृष्टि उससे योग कर तद्रूपा बन जाती है, अतएव इसे 'योगजदृष्टि' कहा गया है। इन्द्रियातीत तत्त्वों के सम्बन्ध में यही दृष्टि सफल होती है। अतएव प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में निर्दिष्ट 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से यह अलौकिक-ऋषिदृष्टि ही अभिप्रेत है, जो कि अनुपद में ही 'श्रुति' रूप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित होने वाली है।

अतीतानागतज्ञ, अतएव विदितवेदितव्य, महामहर्षियों नें अलौकिक आर्षदृष्टि के प्रभाव से इन्द्रियातीत तत्त्वों का साक्षात्कार किया। इन्होंनें जिस तत्त्वसमष्टि का साक्षात्कार किया, वह साक्षात्कृता तत्त्वसमष्टि इनकी 'प्रत्यक्षदृष्टि' कहलाई। प्रत्यक्षदृष्टिरूप इस दृष्ट अर्थ का ऋषियों नें परोक्षदृष्टिशून्य अस्मदादि लौकिक पुरुषों को शब्दद्वारा उपदेश दिया। ऋषियों के द्वारा सुना गया वही उपदेश 'श्रुति' कहलाया। दृष्टि से दृष्ट अर्थ का अभिनय करने वाला शब्द दृष्टि से अभिन्न है। अतएव इस शब्द को हम ऋषिदृष्टि ही कहेंगे। ऋषिदृष्टिरूप शब्द क्योंकि हमारे श्रवण का विषय बनता है, एकमात्र इसी हेतु से इसे 'श्रुति' कहना न्यायसङ्गत मान लिया गया है। इसी दृष्टिरूपा श्रुति का रहस्यार्थ सूचित करते हुए अभियुक्तों नें कहा है—

"साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽसाक्षात्कृतधर्म्मभ्योऽवरेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः-दैवीं वाचमुपासमिति"

ऋषियों के द्वारा उपदिष्ट शब्द, जिसे कि हम हमारी अपेक्षा से श्रुति कहते हैं, क्या-वस्तुतत्त्व है ?, इस प्रश्न की मीमांसा करने पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, ऋषियों की आर्षदृष्टि से दृष्ट अर्थ साक्षात 'दृष्टि' (प्रत्यक्षज्ञान) है। उपदिष्ट शब्द इस दृष्टि का ही विषय बन रहा है। दूसरे शब्दों में ऋषि शब्दों के द्वारा दृष्टार्थरूपा दृष्टि का ही अभिनय कर रहे हैं। दृष्ट अर्थ, तद्वाचक शब्द, दोनों शब्दार्थतादात्म्यन्याय से, किंवा शब्दार्थ के औत्पत्तिकसम्बन्ध से-जिसका कि खण्डारम्भ में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है— अभिन्न हैं। अर्थ आत्मा है, शब्द शरीर है। आत्मशरीरसमष्टि जैसे एक देवदत्त है, एवमेव दृष्टार्थरूपा दृष्टि, एवं तद्वाचक शब्द, दोनों मिल कर एक तत्त्व है। फलतः ऋषिशब्द ही ऋषिदृष्टि है, ऋषिदृष्टि ही ऋषिशब्द है। अतएव च दृष्टि ही श्रुति (शब्द) है, श्रुति ही दृष्टि है।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। 'हमारा सुना हुआ शब्द द्रष्टा का शब्द है' जब हमें यह बोध हो जाता है, तो ऐसे शब्दप्रामाण्य के लिए हमें फिर अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रह जाती। यही नहीं, अपितु दृष्टि का अभिनय करने वाले इसी शब्द से तदभिन्न दृष्टिरूप अर्थ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। क्योंकि यह शब्द अपने से अभिन्न दृष्टिरूप अर्थ का ही तो स्पष्टीकरण कर रहा है। क्योंकि द्रष्टा महर्षि के दृष्ट अर्थ को हम उन्हीं के शब्दों में सुनते हैं, इसलिए भी इस ऋषिशब्द को 'श्रुति' कहना अन्वर्थ बनता है। ऋषिशब्द-ऋषि के लिए शब्दार्थतादात्म्यन्याय से 'दृष्टि' है। परन्तु हम क्योंकि उसे सुनते मात्र हैं, सुन कर उस पर प्रत्यक्षवत् विश्वास करते हैं, इसलिए भी उस ऋषि शब्द को 'श्रुति' कहा जाता है। साथ ही ऋषिदृष्ट अर्थ को हम ऋषिशब्द से ही सुनते हैं, इसलिए भी वह शब्द श्रुति कहलाने योग्य है। इस प्रकार दो विभिन्न दृष्टियों से 'श्रुति' शब्द के अर्थ का समन्वय किया जा सकता है।

द्रष्टा का शब्द उभयथा 'श्रुति' है, यही तात्पर्य्य है। क्योंकि द्रष्टा का शब्द उसकी स्वतः प्रमाणभूता प्रत्यक्षदृष्टि की भाँति स्वतःप्रमाण है। स्वप्रामाण्य के लिए यह भी दृष्टिवत् अन्य किसी रवविशेष (शब्दविशेष) की अपेक्षा नहीं रखता। अतएव आप्तपुरुषों नें श्रुति का लक्षण किया है—**"निरपेक्षो रवः श्रुतिः"**। सम्पूर्ण मीमांसा से बतलाना हमें यही है कि, द्रष्टा की दृष्टिरूप प्रत्यक्षज्ञान का अभिनय करने वाला द्रष्टा का शब्द श्रुति है। यह श्रुति उस द्रष्टा की दृष्टि है, अतएव दृष्टिरूपा श्रुति को हम अवश्य ही स्वतःप्रमाणलक्षण प्रत्यक्षप्रमाण कह सकते हैं।

मेधावी श्रोता ने द्रष्टा के दृष्ट अर्थ का दृष्टिरूप श्रुतिद्वारा श्रवण किया। द्रष्टा के शब्द से इसने जो कुछ सुना, उसे संस्काररूप से मानसजगत् में प्रतिष्ठित किया। मानस जगत् में संस्काररूप से प्रतिष्ठित इस श्रुत अर्थ का इस श्रोता ने अपने शब्दों में दूसरों को उपदेश दिया। इसका यही शब्दोपदेश 'स्मृति' कहलाया। संस्कार ही स्मृति का जनक माना गया है। संस्कारज्ञान के आधार पर जो भी शब्द हमारे मुख से निकलता है, वह 'स्मृति' कहलाता है। क्योंकि श्रोता संस्कारावच्छिन्न ज्ञान के आधार पर द्रष्टा के द्वारा श्रुत अर्थ का अभिनय करता है, अतएव इसे अवश्य ही 'स्मृति' कहा जा सकता है।

श्रोता अपने शब्दों से अर्थश्रुति सुनाता है, अर्थदृष्टि नहीं। अर्थदृष्टि तो स्वयं इसका संस्कार है। इस संस्कार के आधार पर अर्थश्रुति ही यह स्वशब्दों में प्रकट कर सकता है। श्रोता की अर्थश्रुति से स्मृतिशब्द-श्रोता व्यवहित अर्थदृष्टि का अनुमान अवश्य लगा लेता है। अतएव इस स्मृतिशब्द को हम 'अनुमानप्रमाण' कह सकते हैं, जो कि प्रत्यक्षरूप श्रुतिप्रमाण के आधार पर प्रतिष्ठित है। यही स्मृति का परतःप्रामाण्य है। स्वप्रामाण्य के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखने वाला प्रमाण ही परतःप्रमाण है। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, दृष्टि (प्रत्यक्ष) द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान प्राथमिक ज्ञान है, अन्यज्ञानानपेक्ष स्वतन्त्र ज्ञान है। श्रोता इसे सुन कर जो कुछ कहता है, वह दृष्टिरूप श्रुति के आधार पर कहता है। अतएव इसका शब्द श्रुत-अर्थ को आधार बनाता हुआ परतःप्रमाण है। अतएव **'द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः'** श्रुति का जहाँ यह लक्षण किया जाता है, वहाँ स्मृति का **'स्मर्त्तुर्वाक्यं स्मृतिः'** यह लक्षण होता है। मन्वादि धर्म्माचार्य्यों नें श्रौत अर्थ को सुना मात्र है, देखा नहीं। साक्षात्कार नहीं किया। जैसा सुना, तदनुसार अपने शब्दों में व्यक्त किया। यहाँ वक्ता स्वयं आप्त (पहुँचवान–विषयप्राप्त–विषयसाक्षात्कर्त्ता) नहीं है, अपितु आप्तों से श्रुत अर्थ का स्मर्त्तामात्र है। अन्यपुरुषज्ञानाधार पर इसका ज्ञान प्रकट हुआ है। इसका ज्ञान उसके ज्ञान पर प्रतिष्ठित है। अतएव स्मृतिशास्त्र को परतःप्रमाण कहना समीचीन बनता है। जब तक स्मृतिकार अपने वाक्यार्थ के सम्बन्ध में श्रौतप्रमाण का आश्रय नहीं ले लेते, तब तक उनके वाक्य में प्रामाण्य बुद्धि नहीं होती। इसी आधार पर स्मृति कहती है—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ (मनुः १२।९५)।

याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, पाराशर, शङ्ख, लिखितादि इतर स्मृतियों की अपेक्षा मनुस्मृति वेदप्रामाण्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। अतएव **"मनुर्वै यत् किञ्चावदत्, तद्भेषजं भेषजतायाः"** के अनुसार स्मार्त्त ग्रन्थों

में मानवधर्म्मशास्त्र का विशेष समादर है। अन्य स्मृतिकार भी मानवधर्म्मशास्त्र के इस वैशिष्ट्य का निम्न लिखित शब्दों में अभिनय कर रहे हैं—

"वेदार्थोपनिबन्धत्त्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्॥
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥१॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्क-व्याकरणानि च ॥
धर्म्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न भाषते ॥१॥" (बृहस्पतिः)
"पुराणं मानवो धर्म्मः साङ्गो वेदाश्चिकित्सितम्॥
आज्ञासिद्धानि चत्त्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥" (व्यासः)

स्मार्त्तप्रमाण को हमनें 'अनुमान' प्रमाण बतलाया है। यह अनुमान प्रमाण आगे जाकर स्मृति, निबन्ध, भेद से दो विभागों में परिणत हो जाता है। परतःप्रमाणभूत स्मृतिशास्त्र में वक्ता के भेद से यदि सिद्धान्तों में परस्पर विरोध प्रतीत होनें लगता है, तो अनुमान के द्वारा उन विरुद्ध प्रतीत स्मार्त आदेशों की यथावत् सङ्गति लगा दी जाती है। उस सङ्गतिशास्त्र का ही नाम **'निबन्धशास्त्र'** है, जिसके कि **निर्णयसिन्धु, धर्म्मसिन्धु, चतुर्वर्गचिन्तामणि, व्रतराज, तीर्थराज, श्राद्धकल्प,** आदि अनेक अवान्तर विभाग सुप्रसिद्ध हैं। इसप्रकार **श्रुति, स्मृति,** निबन्ध, भेद से प्रामाण्यवाद तीन भागों में विभक्त है। **श्रुति प्रत्यक्षप्रमाण है, स्मृति शब्दप्रमाण है, निबन्ध अनुमानप्रमाण है।** निबन्धों का प्रामाण्य स्मृति पर, स्मृतिप्रामाण्य श्रुतिशास्त्र पर अवलम्बित है। तीन से अतिरिक्त जो शब्दप्रपञ्च है, वह सब वाग्विलापनमात्र है, अप्रमाण है, मत्तप्रलाप है।

परिच्छेदारम्भ में हमनें स्मृति को अनुमान प्रमाण कहा था। परन्तु अनुपद में ही इसे तो शब्द-प्रमाण कहा, एवं निबन्ध को अनुप्रमाण कहा। इस विरोध का भी समन्वय कर लेना चाहिए। यदि श्रुति प्रत्यक्ष प्रमाण है, तो स्मृति अवश्य ही शब्दप्रमाण, तथा निबन्ध अनुप्रमाण है। यदि निबन्ध का स्मृतिप्रमाण में हीं अन्तर्भाव है, तो उस दशा में स्मृति अवश्य ही अनुमानप्रमाण है। प्रमाणत्रयी का इस दृष्टि से श्रुति-द्वैविध्य के आधार पर समन्वय किया जायगा। श्रुति के 'दृष्टि–श्रुति' भेद से दो पर्व बतलाए गए हैं। ऋषिदृष्टि जहाँ प्रत्यक्षप्रमाण है, वहाँ दृष्टार्थ का अभिनय करने वाला ऋषिशब्द आप्तोपदेशलक्षण शब्दप्रमाण है। निबन्धगर्भित स्मृतिप्रपञ्च इस शब्दानुमान के द्वारा अपनी प्रामाणिकता सुरक्षित रखता हुआ अनुमानप्रमाण है।

विभिन्न दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, इन तीन प्रमाणों में से जो शब्दप्रमाण है, वही स्वयं प्रत्यक्ष अनुमान, भेद से दो भागों में विभक्त है। श्रुति भी शब्दप्रमाण है, स्मृति भी शब्दप्रमाण है। भेद दोनों में यही है कि, श्रुतिलक्षण शब्दप्रमाण दृष्टिमूलक (प्रत्यक्षमूलक) बनता हुआ स्वतःप्रमाण है। एवं स्मृतिलक्षण शब्द श्रुतिमूलक बनता हुआ परतःप्रमाण है। श्रुतिरूप शब्दप्रमाण प्रत्यक्षदृष्टिरूप बनता हुआ प्रत्यक्षात्मक शब्दप्रमाण है, एवं स्मृतिरूप शब्दप्रमाण प्रत्यक्षदृष्टिलक्षण श्रुति-शब्द को आधार बनाता हुआ अनुमानात्मक शब्दप्रमाण है। इसप्रकार तीन प्रमाणों के अन्ततोगत्वा प्रत्यक्ष,

अनुमान, ये दो ही विवर्त्त शेष रह जाते हैं। प्रत्यक्ष भी शब्दप्रमाण ही है, अनुमान भी शब्दप्रमाण ही है। द्रष्टा का शब्दप्रमाण–प्रत्यक्षप्रमाण है, श्रोता का शब्दप्रमाण अनुमान प्रमाण है। प्रत्यक्षप्रमाणात्मक शब्द-प्रमाण श्रुतिशास्त्र है, अनुमानप्रमाणात्मक शब्दप्रमाण स्मृतिप्रमाण है। इसप्रकार "अपि संराधने **प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२४) के अनुसार प्रत्यक्ष श्रुति, अनुमेया स्मृति, इन दो प्रामाणों पर ही भारतीय प्रामाण्यवाद विश्रान्त है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि, शब्दप्रमाण का प्रत्यक्ष–अनुमान के साथ समतुलन करने से शब्दद्वैविध्य (श्रुतिस्मृतिशब्दद्वैविध्य) ही प्रत्यक्षानुमानप्रमाणद्वयी बन जाता है।

यदि शब्द को प्रत्यक्षानुमान से पृथक करके देखा जाता है, तो उस समय प्रत्यक्ष, अनुमान का स्वरूप भिन्नवत् प्रतीत होने लगता है। उस समय द्रष्टा की दृष्टि प्र० प्र० है, द्रष्टा का वाक्य शब्दप्रमाण है, एवं श्रोता का शब्द अनुमानप्रमाण है। अथवा तो द्रष्टा का वाक्य प्रत्यक्षप्रमाण है, श्रोता का वाक्य शब्दप्रमाण है, एवं निबन्धशब्द अनुमान प्रमाण है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, इन दो प्रधान प्रमाणों को ही सिद्धान्तपक्ष मानते हुए एक तीसरे ही दृष्टिकोण से विषय का समन्वय कीजिए। **दृष्टि, युक्ति, श्रुति, स्मृति,** भेद से दो के चार विवर्त्त हो जाते हैं। आर्षदृष्टि से दृष्ट ज्ञान ऋषि की 'अशाब्दी' दृष्टि है। इस अशाब्दी दृष्टि(प्रत्यक्षज्ञान)का अभिनय करने वाली श्रुति (वेदशब्द) शाब्दीदृष्टि है। अशाब्दी दृष्टि भी प्रत्यक्षप्रमाण है, शाब्दीदृष्टि भी प्रत्यक्षप्रमाण है, दोनों स्वतःप्रमाण हैं। स्मृतिशब्द शाब्दतर्क (युक्ति) है, युक्ति अशाब्दतर्क है। इसप्रकार अनुमान प्रमाण भी युक्ति, स्मृति भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। फलतः चार प्रमाण सिद्ध हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१–प्रत्यक्षम् (१)–अशाब्दम्—दृष्टिः—स्वतःप्रमाणम् }
२–अनुमानम्(२)–अशाब्दम्—युक्तिः—परतःप्रमाणम् } –प्रत्यक्षे २

३–प्रत्यक्षम् (१)–शाब्दम्—श्रुतिः—स्वतःप्रमाणम् }
४–अनुमानम्(२)–शाब्दम्—स्मृतिः—परतःप्रमाणम् } –अनुमाने २

---
*

मन्त्रभागवत् विधि–आरण्यक–उपनिषत् की समष्टिरूप ब्राह्मणभाग भी वेदशास्त्र है, श्रुतिशास्त्र है, यह 'क्या उपनिषत् वेद है ?' प्रकरण में महासमारम्भ से प्रमाणित किया जा चुका है। एवं 'श्रुति' शब्द का श्रवण–परक अर्थ लगाने वाले सम्भवतः यह स्वीकार करते होंगे कि, ब्राह्मणकाल में 'लिपि' अवश्य थी। यदि ऐसा है, तो उनके उस रिसर्च का क्या मूल्य रहा ?, जिसके आधार पर उन्होंनें श्रुति शब्द की प्रागुक्त मीमांसा की हैं। अपिच थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, मन्त्रभाग ही 'श्रुति' है। और यह भी तुष्यद्दुर्जन–न्याय से स्वीकार कर लेते हैं कि, लिपि के अभाव से मन्त्रभाग 'श्रुति' कहलाया है। परन्तु उस दशा में हम उनसे यह प्रश्न करेंगे कि–'स्मृति' शब्द का उन्होंनें अपनी परिभाषा में क्या अर्थ किया है ?। तब तो श्रुति को 'स्मृति' कहना विशेष सुविधा का द्योतक होगा। क्योंकि, सुनी–सुनाई बातों में स्मृति की विशेष अपेक्षा रहती है। इसीलिए तो हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि, आज का यह रिसर्चकाण्ड भारतीय पारिभाषिक तत्त्ववाद से सर्वथैव बहिष्कृत है। इन्द्रियातीता आर्षदृष्टि के द्वारा प्रत्यक्षीकृत ज्ञान को प्रत्यक्षकर्त्ता के

१—"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम !" ॥
—कठोपनिषत् ४।१५।

२—"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" ॥
—कठोपनिषत् ४।१०।

३—"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः" ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।२।५।

४— गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

५— यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।८।

६— स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" ।
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।६।

७— एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"
—छान्दोग्योपनिषत् ६।२।१।

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥
—ईशोपनिषत् १।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—तृतीयखण्डान्तर्गत
'श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि' नामक
षष्ठ स्तम्भ—उपरत

६

शब्दों के द्वारा हम सुनते भर हैं, देख नहीं सकते, एकमात्र इसी रहस्यसूचन के लिए प्रयुक्त 'श्रुति' शब्द बुद्धिमानों में ऐसा व्यामोह उत्पन्न कर देगा , एवं जिसके निराकरण के लिए हमें श्रुतिशब्दमीमांसाप्रकरण में ऐसे अप्रिय सत्य का आश्रय लेना पड़ेगा, यह सब कुछ श्रुतिपरायण आर्ष देश के लिए विडम्बना ही तो मानी जायगी ।

८–एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि—

जो आधुनिक विद्वान्–'**अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या–देवताः**' (ऐ० ब्रा० १।१।) का यह तात्पर्य्य लगाने की भूल कर सकते हैं कि, किसी समय विष्णुपूजा प्रधान बन गई थी,–जो काल्पनिक साङ्केतिक 'श्रुति' शब्द के आधार पर वेदकाल में लिपि का अभाव मानने का दुस्साहस कर सकते हैं,–जो इतिवृत्तज्ञ भारतीय सभ्यता के इतिवृत्त को अपनी विशुद्ध कल्पना के आधार पर पाषाणयुग, लौहयुग, ताम्रयुग, आदि काल्पनिक युगों की प्रतिच्छाया से आवृत कर सकते हैं*,–जो राजनैतिक भारतीय स्वत्वापहरणवृत्ति को दृढ़मूल बनाने के लिए प्राग्मेरु (पामीर) को भारतीयों का मूलनिवास मानने की धृष्टता कर सकते हैं,–वे यदि यह सिद्धान्त स्थापित कर दें कि, भारतीयों का एकेश्वरवाद केवल उपनिषदों की देन है, तो हमें कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए । "मन्त्रकाल में भारतीय अनेक देवताओं के ही उपासक रहे हैं । क्योंकि तब तक इन्हें सर्वव्यापक अखण्ड आत्मतत्त्व का बोध नहीं था । अनेक शताब्दियों के पीछे उपनिषत्काल में इन्हें अभिन्न ईश्वरात्मा का बोध हुआ" सिद्धान्त एक भारतीय की दृष्टि में इसलिए सर्वथा उपेक्षणीय है कि, इस सिद्धान्त के समर्थन में जो युक्ति–तर्क–प्रमाण उद्धृत हुए हैं, वे सर्वथा आपातरमणीय हैं ।

वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, विगत कतिपय शताब्दियों से भारतीय आर्षप्रज्ञा की स्व–निष्ठा अनेक कारणों से विकम्पित हो पड़ी है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप भारतीय मानव अपनी आत्मनिष्ठा से सर्वथा पराङ्मुख बन गया है । अतएव च इसकी आत्मिक–बौद्धिक–मानसिक–तथा शारीरिक यच्चयावत्–प्रवृत्तियाँ 'स्व' की उपेक्षा कर 'पर' भाव को ही प्रमुखता प्रदान करने लग पड़ी है । यह अपने स्वरूप से न कुछ सोचता, न करता, अपितु इसका प्रत्येक विचार, प्रत्येक कर्म्म निष्ठाभिभवमूला परप्रत्ययनेयतानुगता 'भावुकता' के अनुग्रह से 'पर' को अवलम्ब बना कर ही प्रवृत्त हो रहा है । 'एकेश्वरवाद' लक्षणा विप्रतिपत्ति भी इसी भावुकता को लक्ष्य बना कर प्रवृत्त हो पड़ी है, जिसका आर्षनिष्ठा के क्षेत्र में कुछ भी तो महत्त्व इसलिए नहीं है कि, वेदशास्त्रसिद्ध अभिन्नब्रह्मसत्तावाद, बहुदेवतावाद, खण्डात्मवाद, विभिन्न कर्म्मभेदवाद, उपास्यदेवताभेदवाद, उपसनाप्रकारभेदवाद, सब कुछ विभिन्न तत्त्ववादों के आधार पर प्रतिष्ठित सुव्यवस्थित वैसे ज्ञान–विज्ञान–सम्मत दृढ़तम सिद्धान्त हैं, जिनमें भावुकता का प्रवेश भी निषिद्ध है । "अमुक सम्प्रदायविशेष एक ही ईश्वर मानता है, जबकि हमारे यहाँ बहुदेवतावाद है । अवश्य ही इस दिशा में हम उनसे निम्न कोटि में आ गए हैं" इस प्रकार की भावुकतामूला मानस–कल्पना के व्यामोह मे आसक्त–व्यासक्त हो पड़ने वाले आतुर मानवों नें हीं 'एकेश्वर-

*–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–'बहिरङ्गपरीक्षा' नामक प्रथमखण्ड में इन आपातरमणीय कल्पित पाषाणादि युगों के कल्पित इतिहास का स्पष्टीकरण हुआ है ।

वाद' मूला विप्रतिपत्ति को जन्म दे डाला है। और इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के द्वारा अपने आपको उन सम्प्रदायविशेषों के समकक्ष ला खड़ा कर देने के व्यामोहन से ही उन्हें यह कल्पित मार्ग निकालना पड़ा है कि, "उपनिषत्काल में भारतीय भी एकेश्वरवाद के ही समर्थक बन गए थे"। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना !!! भ्रान्त भारतीयों को इसी परदर्शनमूला महती भ्रान्ति के उपलालन के लिए ही हमें भी लोकसंग्रहबुद्ध्या '**श्रुतिशब्दमीमांसा, तथा एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि**' जैसे भावुकतापूर्ण परिच्छेद का यहाँ सन्निवेश करना पड़ रहा है, जिसका तत्त्वेतिवृत्त निम्न-लिखितरूपेण भावुकप्रज्ञा के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

हमारे ये विचारशील बन्धु अपने कल्पना-प्रसूनों को उपस्थित करते हुए सम्भवतः यह भूल जाते हैं कि, आज के इस हीनयुग में भी, जिसमें कि उन्हीं के अनुग्रहविशेष से भारतीयों नें अपने मौलिक वेदशास्त्र का स्वाध्याय छोड़ दिया है, यत्रतत्र वेदभ्यासी प्रकट हो ही जाते हैं। और तब उनकी आँखों में इसप्रकार धूलिप्रक्षेप करना सर्वथा असम्भव बन जाता है। धीरङ्गों का यह कहना कि, "ऋग्वेद सब से प्राचीन ग्रन्थ है। उपनिषदों का निर्म्माण बहुत आगे जाकर हुआ है। विकासवाद-सिद्धान्त के अनुसार भारतीयों नें अपने ज्ञानक्षेत्र में क्रमिक उन्नति की है। पहिले पाषाणपूजा आरम्भ की, इन्हीं के शस्त्रास्त्र बनाए। अनन्तर अग्नि-वायु-सूर्य्य के सामने घुटने टेकने लगे। इनकी शक्तियों से प्रभावित हो कर इन जड़ पदार्थों की उपासना होने लगी। इस क्रमविकास के अनुग्रह से अनन्तकाल के अनन्तर इन्हें एकेश्वर का बोध प्राप्त हुआ। ऋग्वेद केवल देवताग्रन्थ है। उसमें 'देवता' नामक अग्नि-वायु-सूर्य्य-वर्षा-आदि जड़ पदार्थों का ही प्राधान्य है। सिद्ध है कि, ऋग्वेदकाल में आर्य्य अभिन्नात्मतत्त्व से सर्वथा अपरिचित थे। इस परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ इन्हें 'उपनिषत्काल' में" कहाँ तक क्षम्य है ?, इस प्रश्न का उत्तर देने में अतीत परतन्त्र भारतवत् आज का सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारत भी दुर्भाग्यवश इसलिए असमर्थ है कि, इसको सञ्चालिका सत्ता देश की मौलिक-संस्कृति, एवं तदाधारभूत आर्षवेदशास्त्र को अपनी परप्रत्ययनेयता से सर्वथैव विस्मृत किए हुए है।

वेदशास्त्र भारतवर्ष की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। हमारे पिता-पितामह-प्रपितामहों की स्वोपार्जिता अक्षय्य-निधि है। सहस्रों कोस दूर बैठे हुए वेदशास्त्रपरिभाषानभिज्ञ उन्होंनें तो वेदरहस्य समझ लिया, किन्तु भारतीय उसके इतिवृत्त से भी अपरिचित हैं ?, कैसा प्रलाप ! कैसी धृष्टता !! कैसी विडम्बना !!! '**कालाय तस्मै नमः**' ?।

छोड़िए इस अप्रिय प्रसङ्ग को। हमें उस तथ्य पर थोड़ा विचार अवश्य कर लेना है, जो सङ्गदोष से आस्तिकवर्ग में भी भ्रान्ति का कारण बन जाया करता है। जिस ऋग्वेद में अद्वैतमूलक एकेश्वरवाद का अभाव बतलाया जा रहा है, वही ऋग्वेद एकेश्वरवर्णन से अथ से इतिपर्य्यन्त ओतप्रोत है। तुष्टि के लिए कुछ एक मन्त्रों के उद्धरण ही पर्य्याप्त होंगे। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, यम, मातरिश्वा, इत्यादि सम्पूर्ण देवता उस एक ही के अनेकरूप हैं। उसी व्यापक तत्त्व का स्मरण कराते हुए निम्न लिखित मन्त्र जड़वादियों का उद्बोधन करा रहे हैं—

१—"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥
(ऋक्सं०८।५८।२)।

२—"अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि—"अजस्य रूपे किमपि स्वि-'देकम्" ॥
(ऋक्सं० १।१६४।६) ।

३—"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्-अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया 'तदेकं' तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जाय-'तैकम्" ॥
(ऋक्सं०१०।१२९।१,२,३) ।

४—"तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्र-'देकं' ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्" ॥
(ऋक्सं० १।१६४।१०) ।

५—"ऋचो अक्षरे 'परमेव्योम' न्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते" ॥
(ऋक्सं०१।१६४।३९) ।

६—"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-'रेकं सन्तं' बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश" ॥
(ऋक्सं०१०।११४।४,५,) ।

७—"आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम" ॥
(ऋक्सं०१०।१६८।४) ।

८—"य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
यश्चिदापो महिना पर्य्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधिदेव 'एक' आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्" ॥
(ऋक्सं०१०।१२१।२,८,१०,) ।

९—"यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा 'एक' एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
(ऋक्सं०१०।८२।३) ।

१०—"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव 'एकः" ॥
(ऋक्सं०१०।८१।३) ।

११—"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
'एकं' सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" ॥
(ऋक्सं० १।१६४।४६) ।

उक्त ऋग्वेदीय वचन यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त हैं कि, उपनिषदों का एकेश्वरवाद स्वयं मन्त्र-संहिता में हीं पूर्णरूप से पुष्पित पल्लवित है । एकेश्वरवाद के आधार पर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का वितान हुआ है । अन्यदेशीय विद्वान् हमारी निधि से अपरिचित रहने के कारण अनर्गल कहनें लगे, यह अपराध किसी सीमा तक क्षम्य माना जा सकता है । परन्तु आश्चर्य्य हमें तब होता है, जब इसी देश के कतिपय वेदभक्त भी संहिता में अद्वैतसिद्धान्तप्रवर्त्तक अखण्डात्मवाद पर नच नुच करते दिखलाई देने लगते हैं । भगवान् शङ्कराचार्य्य के श्रुतिसिद्ध अद्वैतवाद की समालोचना करते हुए ऐसे ही एक वेदभक्त ने अपने निम्न लिखित उद्गार प्रकट किये हैं—

"तथा उपसंहार (प्रलय) के होने पर भी ब्रह्म-कारणात्मक जड़-और जीव बराबर बने रहते हैं । इसलिए उपक्रम और उपसंहार भी इन वेदान्तियों की भूँठी कल्पना है । ऐसी अन्य बहुत सी बातें हैं, जो शास्त्र प्रत्यक्ष प्रमाणों से विरुद्ध है" (सत्यार्थप्रकाश ११ समुल्लास) ।

भारतवर्ष में, तत्रापि ब्रह्मकुल में जन्म लेने वाले, अपने आपको वेदोद्धारक कहने-कहलाने-वाले, एक भारतीय विद्वान् के मुख से विनिःसृत उपर्युक्त अक्षर सुन कर किस भारतीय को दुःख न होगा । सम्पूर्ण वेदशास्त्र जहाँ एकस्वर से सिद्धान्ततः अखण्डात्मवादमूलक ऐकात्म्यवाद का समर्थन कर रहा है, वहाँ उक्त कल्पना के मिथ्यात्त्व में क्या सन्देह रह जाता है । इन्हीं सब परिस्थितियों को देखते हुए कहना पड़ता है कि, मताभिनिवेश ही मानव के सत्यज्ञान-प्राप्ति-मार्ग का महा प्रतिबन्धक है । वेतदत्तत्त्वजिज्ञासुओं से सानुनय निवेदन किया जायगा कि, यदि वे वस्तुतत्त्व पर पहुँचना चाहते हैं, तो उन्हें वेद की परिभाषाओं के आधार पर विशुद्ध आर्षप्रणाली को ही अपना उपास्य बनाना चाहिए । प्रस्तुत प्रकरण को विश्राम देते हुए निम्न लिखित उन सूक्तियों की ओर उपनिषत्-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो सर्वतोभावेन एकेश्वर-वादमूलक अभिन्न-आत्मतत्त्व का समर्थन करते हुए मृत्युप्रवर्त्तक नानात्त्व का आमूलचूड़ खण्डन कर रहे हैं—

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि' नामक

षष्ठ—स्तम्भ-उपरत

६

—×—

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-

'औपनिषद–ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तदिग्दर्शन' नामक

सप्तम–स्तम्भ

७

———*———

श्रीः

औपनिषद–ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तदिग्दर्शन

१–औपनिषद ज्ञान का स्वरूप—

यदि औपनिषद ज्ञान से निरस्तसमस्तोपाधि–सर्वप्रपञ्चोपशम–तुरीयशब्दवाच्य–अव्याकृत–विशुद्ध ब्रह्मज्ञान अभिप्रेत है, जैसाकि व्याख्याताओं का मन्तव्य है, तब तो हमारे प्रकृत–प्रकरण का कोई तात्पर्य्य शेष नहीं रह जाता है, क्योंकि–'तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति०' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उस स्थिति में पहुँचने वाले ब्रह्मवेत्ता वर्णमर्य्यादा से अतीत हैं, अतएव उनके लिए वर्णव्यवहार करना सर्वथा असङ्गत है। यदि काण्डत्रयी में संग्रहीत निवृत्तिकर्म्ममूलक ज्ञानयोग–जिसे हम गीतापरिभाषा में 'ज्ञानबुद्धियोग' कहेंगे–औपनिषद ज्ञान से अभिप्रेत है, तो निश्चयेन कहना पड़ेगा कि, औपनिषद ज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तक सिद्धजाति में उत्पन्न, अतएव 'सिद्ध' उपाधि से प्रसिद्ध महर्षि कपिल थे। एवं ऐसे औपनिषद ज्ञान की अपेक्षा प्रकृत प्रश्न के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि,–'ब्राह्मण ही औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक थे'।

परन्तु जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र स्पष्ट किया जा चुका है, विज्ञान, स्तुति, इतिहास, ज्ञान, भक्ति, कर्म्म, इन ६ ओं प्रतिपाद्य विषयों के अतिरिक्त उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य योगात्मिका वह ब्रह्मविद्या है, जिसे हम गीता–परिभाषा के अनुसार **'अव्ययात्मविद्यानुगता राजर्षिविद्या'** नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। अव्ययज्ञान उपनिषदों का ज्ञान है, वैराग्यबुद्धियोग उपनिषदों का योग है, ऐसे ब्रह्मज्ञानात्मक वैराग्यबुद्धियोग का ही उपनिषदों में प्राधान्य है, जैसाकि–'उपनिषदों में क्या है?–उपनिषत्–हमें क्या सिखाती है?, इन प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि, ब्राह्मणवंश ही इस विद्या, तथा इस योग का सूत्ररूप से प्रवर्त्तक रहा है, और इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि, ब्रह्मर्षि ही औपनिषद–ज्ञान के निश्चयेन प्रथम प्रवर्त्तक हैं, तथापि एकविशेष दृष्टिकोण के माध्यम से इस बुद्धियोगात्मक औपनिषद–ज्ञान की सम्प्रदायप्रवृत्ति का श्रेय अमुक सीमापर्य्यन्त राजर्षिवर्ग को भी प्रदान किया जा सकता है। इसी दृष्टिकोण की अपेक्षा से लोकभावुकता–संरक्षणात्मक निम्न लिखित मानस–मन्तव्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

अभी इस सम्बन्ध में हमें पाठकों के सामने केवल इस परिस्थिति का स्पष्टीकरण करना है कि, ज्ञान–कर्म्मोभयमूर्त्ति अव्ययपुरुष ही उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है। एवं इसकी प्राप्ति का साधनभूत वैराग्यलक्षण बुद्धियोग ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। वैराग्यबुद्धियोगावच्छिन्न अव्ययज्ञान ही औपनिषद ज्ञान है। एवं इसी औपनिषद ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि, **'औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक कौन थे?'**। ब्राह्मणमहर्षियों के यश को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में स्वयं उपनिषदों के अक्षरों के आधार पर ही हमें जैसा कुछ भान हुआ है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि,–**'औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक राजर्षि ही थे'**।

२–देवयुग, और योगव्यवस्था—

कर्म्म, भक्ति, ज्ञान, बुद्धियोग, भेद से अनुष्ठेय योग को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। आत्मतत्त्व की संस्थाचतुष्टयी ही इस विभागचतुष्टयी का मूलकारण है। अव्ययात्मा बुद्धियोग की प्रतिष्ठा है, अक्षरात्मा ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा है, आत्मक्षरात्मा भक्तियोग की प्रतिष्ठा है, एवं आत्मक्षरानुगत शिपिविष्टात्मा कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा है। ये चारों कर्त्तव्ययोग जिस देवयुग में सुप्रतिष्ठित थे, उस देवयुग में चारों में से प्रधानता अव्ययात्मानुगत बुद्धियोग की ही थी। तत्कालीन भूमण्डल पर प्रकृतिवत् त्रैलोक्य व्यवस्था थी। प्रकृति में अग्नि–वायु–इन्द्रादि देवभेद से जैसे पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–आदि लोक व्यवस्थित हैं, एवमेव यहाँ भी त्रैलोक्य, एवं लोकाधिपति मानुष देवताओं का आवास निवास था। दक्षिण समुद्र से आरम्भ कर हिमालय पर्य्यन्त भूलोक की व्याप्ति थी। यही देवयुगकालीन भारतवर्ष था, एवं यहाँ की प्रजा सम्राट् 'मनु' के सम्बन्ध से 'मनुष्य' नाम से प्रसिद्ध थी। यहाँ के शवसोनपात्–अतिष्ठावा–(अधिष्ठाता) देवता 'भारत' उपाधि से विभूषित 'अग्नि' थे। हिमालय पर्वत से आरम्भ कर अलतायी पर्वतान्त मध्यप्रदेश उस युगव्यवस्था का अन्तरिक्षलोक था। यहाँ का प्रजावर्ग 'तिर्य्यक्' नाम से प्रसिद्ध था, जिसके यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, गुह्यक, राक्षस, पिशाच, आदि आठ भेद थे। इन्हीं को 'देवयोनि' कहा जाता था। सुप्रसिद्ध चैत्ररथवन, काननवन, उमावन, स्कन्दवन, आदि वनोपवन इसी लोक की शोभा बढ़ाते थे। इस लोक के अतिष्ठावा 'वायु' देवता थे। अलतायी पर्वत से आरम्भ कर उत्तरसमुद्रान्त सम्पूर्ण भूप्रदेश उस युग का 'स्वर्ग' था। यहाँ का प्रजावर्ग 'देवता' नाम से प्रसिद्ध था, एवं यहाँ के अतिष्ठावा देवता 'इन्द्र' थे। तत्त्वतः जो लोक–देवादि व्यवस्था प्राकृतिक–आधिदैविक जगत् में व्यवस्थित है, किसी युग में वह सम्पूर्ण व्यवस्था इसी लोक में व्यवस्थित थी। एवं वही युग देवप्राधान्य से 'देवयुग' नाम से प्रसिद्ध था, जिसे साध्ययुग की तुलना में हम 'द्वितीययुग' भी कह सकते हैं।

उसी देवयुग में पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–लोकों में तत्तत् स्थानविशेषों में वैज्ञानिकों की ब्रह्मपर्षदें विद्यमान थीं, जिनका दिग्दर्शन पूर्वप्रकरणों में कराया जा चुका है। इन सब ब्रह्मपर्षदों के प्रधानाध्यक्ष भगवान्–ब्रह्मा थे, जो कि ब्रह्मविद्या के प्रवर्त्तक मानें गए हैं। ब्रह्मा के तत्त्वावधान में हीं इन पर्षदों में तत्त्वान्वेषण–कर्म्म प्रक्रान्त था। इसप्रकार जिस देवयुग में, जिसे कि आर्षधर्म्ममूलाधार वेद के सम्बन्ध से 'वेदयुग' भी कह सकते हैं—हमारा ज्ञानक्षेत्र सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित था, उस महा–भव्य युग में ज्ञानक्षेत्र के पथिक चार श्रेणियों में विभक्त थे। एवं इस श्रेणि–विभाग की मूलप्रतिष्ठा वही पूर्वोक्ता योगचतुष्टयी बन रही थी।

यद्यपि ज्ञानक्षेत्र में ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य, तीनों का ही समानाधिकार है, तथापि वर्णक्रमानुसार इस क्षेत्र में भी सदा से भी तारतम्य रहता चला आया है। और जिस देवयुग का हम स्मरण कराने चले हैं, उस देवयुग में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, इन दो वर्णों के हाथ में ही शिक्षा का प्रचार–प्रसार था। यही कारण है कि, देवयुगकालीन ज्ञानेतिवृत्त के सम्बन्ध में दो वर्णों का ही नामश्रवण उपलब्ध होता है। उस युग के ब्राह्मण, क्षत्रिय, इन दोनों वर्णों को क्रमशः दो दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। कर्म्मठ ब्राह्मण, तपस्वी ब्राह्मण, ये दो तो ब्राह्मणवर्ग थे। एवं भक्त क्षत्रिय, तथा बुद्धियोगनिष्ठ क्षत्रिय, ये दो क्षत्रियवर्ग थे।

यज्ञमूलक त्रयीतत्त्व के द्रष्टा, त्रयीतत्त्व के आधार पर यज्ञकर्म्म का वितान करने वाले कर्म्मठ ब्राह्मण 'ऋषि' कहलाते थे। इनका प्रधान लक्ष्य कर्म्मयोग (धर्म्मबुद्धियोग) था। एवं उक्त चार आत्मसंस्थाओं में से

आत्मक्षरानुगत शिपिविष्टात्मा इनका मुख्य लक्ष्य था । इनकी यह आत्मविद्या इनके इस (ऋषि) नाम सम्बन्ध से गीतापरिभाषा में **'आर्षविद्या'** कहलाई है, एवं तत्प्राप्तिसाधनभूत प्रवृत्तिकर्म्मलक्षण योग **'धर्म्मबुद्धियोग'** (कर्म्मयोग) नाम से व्यवहृत हुआ है।

अव्यक्त अक्षरात्मोपासक सिद्ध कपिलानुयायी तपस्वी ब्राह्मण 'सिद्ध' कहलाते थे । इनका प्रधान लक्ष्य ज्ञानयोग (ज्ञानबुद्धियोग) था । एवं उक्त चार आत्मसंस्थाओं में से इनका लक्ष्य कायक्लेश-द्वारा प्राप्त होने वाला अक्षरात्मा था, इनकी यह आत्मविद्या इनके इस (सिद्ध) नाम से **'सिद्धविद्या'** कहलाई है, एवं तत्-प्राप्तिसाधनभूत निवृत्तिकर्म्मलक्षण योग 'ज्ञानबुद्धियोग' (ज्ञानयोग)नाम से प्रसिद्ध हुआ है । कर्म्मठ ब्राह्मणों का कर्म्मयोग गीता में 'योगनिष्ठा' नाम से, एवं तपस्वी ब्राह्मणों का ज्ञानयोग **'सांख्यनिष्ठा'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिनका निम्न लिखित भगवदुक्ति से विश्लेषण हुआ है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !
ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥ (गी० ३।३।)।

दूसरा क्षत्रियवर्ग क्रमप्राप्त हमारे सामने आता है । अव्ययात्मप्रसादानुगत आत्मक्षर जिन क्षत्रिय राजाओं का प्रधान लक्ष्य था, वे क्षत्रियराजा तत्प्राप्तिसाधनभूता निष्कामकर्म्मलक्षणा परानुरक्ति (भक्ति) के अनुगामी थे । इनकी यह आत्मविद्या इन्हीं के नाम से **'राजविद्या'** नाम से प्रसिद्ध थी । एवं तत्साधनभूत योग **'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग'** (भक्तियोग) नाम से प्रसिद्ध था ।

सर्वप्रपञ्चानुगत-ज्ञानकर्म्मोभयसमतुलित-अमृतमृत्युमूर्त्ति-सदसल्लक्षण अव्ययात्मा को अपना लक्ष्य बनाने वाला, फलाफल-सुखदुःखादि द्वन्द्वों से एकान्ततः पृथक् रहने वाला क्षत्रियवर्ग ही 'राजर्षि' नाम से प्रसिद्ध हुआ । इन्हीं के नाम से यह अव्ययात्मविद्या **'राजर्षिविद्या'** नाम से प्रसिद्ध हुई । एवं तत्प्राप्ति-साधनभूत योग **'वैराग्यबुद्धियोग'** (बुद्धियोग) नाम से प्रसिद्ध हुआ । राजर्षिविद्या परम्परया राजर्षि क्षत्रियों में ही प्रतिष्ठित रही । आगे जाकर राजर्षियों के सम्पर्क से ही ब्राह्मणों में इस औपनिषद ज्ञान का प्रचार-प्रसार हुआ ।

इसप्रकार कर्म्मठ, तपस्वी, राजा, राजर्षि, भेद से उस युग का ब्रह्म-क्षत्रबल चार भागों में विभक्त था । चारों क्रमशः उक्त विद्यात्मक योगों के उपासक थे । यही इन चारों योगों का पूर्वापरक्रम था । चारों में राजर्षियों से सम्बन्ध रखने वाला अव्ययज्ञान ही औपनिषद ज्ञान है, एवं वैराग्यबुद्धियोग ही योग है, जबकि लोकसंग्रहमूला अधिकारी-भेददृष्टि से इतर तीनों संस्थाओं का भी उपनिषदों में ग्रहण हुआ है ।

१—राजर्षिविद्या—वैराग्यबुद्धियोगः—(बुद्धियोगः—अव्ययानुगतः)—राजर्षीणाम्
२—राजविद्या—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः—(भक्तियोगः—आत्मक्षरानुगतः) - राज्ञाम्
३—सिद्धविद्या—ज्ञानबुद्धियोगः—(ज्ञानयोगः—अक्षरानुगतः)—सिद्धानाम्
४—आर्षविद्या—धर्म्मबुद्धियोगः—(कर्म्मयोगः—शिपिविष्टानुगतः)—ऋषीणाम्

३–ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय

कठ, पिप्पलाद, मुण्डक, माण्डूक्य, तित्तिरि, जाबाल, श्वेताश्वतर, मैत्रायण, आदि–ब्रह्मर्षियों के नाम से ही कठ–पिप्पलादि (प्रश्नादि) उपनिषद्ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि, औपनिषद ज्ञान की प्रवृत्ति के श्रेय से उपनिषत्–द्रष्टा महर्षियों को पृथक् नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त स्वयं उपनिषदों में भी विस्पष्टरूप से यत्र तत्र इस विषय का पूर्ण समर्थन हुआ कि, औपनिषद्–ज्ञानमूला ब्रह्मविद्या ब्रह्मर्षिपरम्परा में हीं सुरक्षित रही है, जैसाकि निम्न लिखित मुण्डकवचनों से प्रमाणित है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ॥
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ॥
स भरद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भरद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

(मुण्डक १। ।१,२,)।

जिन विद्यापर्षदों का आरम्भ में उल्लेख किया गया है, उनमें कुछ एक पर्षदें राजर्षि–क्षत्रियों की थी, एवं इन ब्रह्म–क्षत्र-पर्षदों का परस्पर 'ब्रह्मोद्य' (ब्रह्मचर्चा) के नाते सम्बन्ध हुआ करता था। यह मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, उपनिषदों नें जिस निगूढ ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया है, उसके प्रथमद्रष्टा राजर्षि ही हुए हैं। राजर्षियों के द्वारा ही वह औपनिषद ज्ञान ब्रह्मर्षिपरम्परा में प्रतिष्ठित हुआ है। राजर्षियोंनें ब्रह्मर्षियों से कभी किसी तत्त्ववाद के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की हो, ऐसा उपनिषदों में उपलब्ध नहीं होता। अपितु ठीक इसके विपरीत ऐसे कथानक स्थान-स्थान पर उपलब्ध हो रहे हैं, जिनसे स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है कि, औपनिषद् तत्त्व एकमात्र राजर्षियों की ही देन है। उदाहरण के लिए दिग्दर्शन करा देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा—

(१)–शालावत्य **'शिलक'**, चैकितायन **'दाल्भ्य'**, ये दोनों ब्रह्मर्षि, एवं जैवलि **'प्रवाहण'** नामक राजर्षि तीनों 'उद्गीथ' विद्या में बड़े कुशल थे। एक समय इन तीनों नें उद्गीथविद्या पर विचार विमर्श प्रकट करने की इच्छा की। वर्णमर्य्यादाभिज्ञ राजर्षि प्रवाहण ने कहा कि, पहले इस सम्बन्ध में आप अपने विचार प्रकट कीजिए। आपसे पहिले मैं सुनना चाहता हूँ। दोनों में से शिलक दाल्भ्य से बोले, पहिले आप। तदनुसार सर्वप्रथम उद्गीथ के सम्बन्ध में दाल्भ्य ने अपने विचार प्रकट किए। 'आपने जिस साम को उद्गीथाक्षर की चरम प्रतिष्ठा बतलाया, वस्तुतः ऐसा नहीं है। मैं आपसे निवेदन करता हूँ, कह कर शिलक ने इस लोकप्रतिष्ठा पर विश्राम माना। सर्वान्त में जैवलि ने सिद्धान्त किया कि, आकाश ही उद्गीथ का परोवरीय परायण है। इसप्रकार राजर्षि का मत सर्वमान्य रहा" (छान्दो० १प्र०।८ख०)।

(२)–औपमन्यव–**'प्राचीनशाल'**, पौलुषि–**'सात्ययज्ञ'**, माल्लवेय–**'इन्द्रद्युम्न'**, शार्कराक्ष्य–**'जन'**, आश्वतराश्वि–**'बुडिल'**, पाँचों ब्रह्मर्षि * 'महाशाल' थे, महाश्रोत्रिय थे। एक बार पाँचों महाविद्वान् एकट्ठे

---

* अनेक शालाएँ जिनकी अध्यक्षता में चलतीं थीं, वे 'महाशाल' उपाधि से विभूषित किए जाते थे, एवं कर्म्मकाण्डपारावारीण को 'महाश्रोत्रिय' की उपाधि से अलङ्कृत किया जाता था।

हुए, और इस विषय की मीमांसा आरम्भ की कि, आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या पदार्थ है ?। अपनी आत्म-ब्रह्म-मीमांसा के निश्चयात्मक निर्णय के सम्बन्ध में इन्होंनें यह परामर्श किया कि, भगवान् उद्दालक इस समय वैश्वानरात्मा के विशेषज्ञ मानें जाते हैं। उनके समीप चलना चाहिए। परामर्शानुसार पाँचों अरुणपुत्र उद्दालक के आश्रम में पहुँचे। स्वयं उद्दालक यह जानते थे कि, वर्तमान में इस विषय के पूरे जानकार सुप्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति केकय महाराज हैं। फलतः आगत महाशालों को साथ लेकर उद्दालक केकयराजधानी पहुँचे।

राजर्षिने सम्मान्य अतिथियों के लिए पृथक् पृथक् भवनों का प्रबन्ध कर दिया। दूसरे दिन प्रातः राजर्षि इनकी सेवा में पहुँचे, और विनीतभाव से उनके आगे भेंट धरते हुए इसे ग्रहण करने की प्रार्थना की। जब उद्दालकादि नें भेंट ग्रहण न की, तो राजर्षि क्षुब्ध हो कर कहने लगे—भगवन् ! मेरे राज्य में जब कोई चोर नहीं है, अदाता नहीं है, मद्यप नहीं है, अनाहिताग्नि नहीं है, मूर्ख नहीं है, व्यभिचारी पुरुष नहीं है, कुलटा स्त्री नहीं है, इसप्रकार भेंट-ग्रहणप्रतिबन्धक जब कोई दोष नहीं है, तब भी आपको मेरे आतिथ्य स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ?।

महाशाल लोग कहने लगे, राजर्षिप्रवर ! आपका कथन यथार्थ है। हम जिस अभिलाषा से आपके समीप आए हैं, हमें वही मिलना चाहिए, और हमारी वह अभिलाषा है—'वैश्वानरात्मा का आपसे ज्ञान प्राप्त करना'। राजर्षि ने प्रातःकाल का समय निश्चित किया। यथासमय ६ ओ समित्पाणि बन कर शिष्यबुद्धि से केकयभवन में उपस्थित हुए। राजर्षि ने वर्णमर्य्यादानुसार बिना शिष्य बनाए ही निवेदन के रूप में आत्म-स्वरूप का विश्लेषण कर इन्हें सन्तुष्ट किया"। **(छा० उ० ५ प्र०।११ खण्ड)।**

(३)–आरुणेय श्वेतकेतु अभी युवा थे। सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञ गौतम आपके पिता थे। कुमार श्वेतकेतु एक बार पञ्चाल-राजसभा में निमन्त्रित हो कर पधारे। वहाँ सुप्रसिद्ध राजर्षि जैबलि भी विद्यमान थे। प्रसङ्ग ही प्रसङ्ग में राजर्षि श्वेतकेतु से प्रश्न कर बैठे कि–कुमार ! क्या आपने अपने पिता से सब विद्या ग्रहण कर ली है। उत्तर में श्वेतकेतु ने कहा, हाँ मैंनें पिता से ही विद्या प्राप्त की है। अव्यवहितोत्तरक्षण में ही राजर्षि ने पाँच प्रश्न उपस्थित कर दिए। आरुणेय स्तब्ध हो गए। पाँचों में से वे एक का भी समाधान न कर सके। इस पर श्वेतकेतु का उपहास सा करते हुए राजर्षि कहने लगे कि, क्या इसी बल पर तुमने यह कहने का साहस किया था कि, मैंनें पिता से सब कुछ सीख लिया है ?। तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि, जो इन प्रश्नों का समाधान नहीं कर सकता, वह विद्वन्मण्डली में विद्वान् नहीं कहला सकता।

राजर्षि से प्रतारित श्वेतकेतु खिन्नमना होकर अपने घर लौटे। आते ही आवेशपूर्वक पिता के सामने अपने ये उद्गार प्रकट किए कि, हे पितः ! उस राजन्यबन्धु (क्षत्रियनामधारी-अभिमानी राजा) ने मुझ से पाँच प्रश्न किए। खेद है कि, मैं एक का भी उत्तर न दे सका। पिता कहने लगे–पुत्र ! तुमनें जिन पाँच प्रश्नों का स्वरूप मेरे सम्मुख रक्खा है, मैं स्वयं उनका उत्तर नहीं जानता। यदि जाने रहता, तो अवश्य तुम्हें बतला देता। इसप्रकार अपनी स्पष्टवादिता से गौतम ने श्वेतकेतु का तो जैसे तैसे सन्तोष कर दिया। परन्तु—

स्वयं इनके अन्तःकरण में प्रश्नरहस्यार्थपरिज्ञान की उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई। परिणामस्वरूप गौतम राजर्षि के स्थान पर पहुँच गए। राजर्षि ने यथाविधि गौतम का सत्कार किया। आतिथ्य ग्रहण करने वाले

गौतम दूसरे दिन प्रातः जब राज सभा में पहुँचे, तो राजर्षि ने निवेदन किया कि, आप मुझ से यथेच्छ सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं। गौतम उत्तर देते हैं कि, राजन्! मुझे आपका मानुष वित्त नहीं चाहिए, अपितु कुमार से आपने जो पाँच प्रश्न किए थे, आप कृपा कर उन्हीं का समाधान कीजिए। आपसे केवल मैं यह विद्यावित्त ही प्राप्त करना चाहता हूँ।

भगवान् गौतम के इन नम्र शब्दों नें राजर्षि का मस्तक लज्जा से अवनत कर दिया। राजर्षि को कुमार श्वेतकेतु के प्रति कहे गए अपने अनुचित शब्दों पर पश्चात्ताप हुआ। विचार किया कि, मेरी कटूक्ति पर अप्रसन्न होना तो दूर रहा, अपितु विश्वविख्यात गौतम जैसे पर्षत्ब्रह्मा मेरा शिष्यत्त्व स्वीकार करने पधार आए। इसप्रकार अपने कर्त्तव्य पर मानस-परिताप का अनुभव करते हुए राजर्षि बड़े ही विनय-भाव से कहने लगे कि, भगवन्! आज मैं आपको इस ब्रह्मविद्या का निधि बनाता हूँ। विश्वास कीजिए! आज से पहिले इसे ब्राह्मणसम्प्रदाय में कोई नहीं जानता था। सदा से इस विद्या का क्षत्रियवंशपरम्परा में ही समावेश रहा है, परन्तु आज मैं इसे आपके द्वारा ब्राह्मणवंश में प्रवृत्त कर रहा हूँ" (छान्दो०५प्र० ३खं०)।

आख्यान से सम्बन्ध रखने वालीं निम्नलिखित मूल, तथा भाष्य पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण है कि, औपनिषद ज्ञान ब्रह्म–क्षत्र के समन्वय का फल है, एवं क्षत्रसमाज ही इसका प्रथमप्रवर्त्तक है। क्षत्रिय राजर्षि राजर्षियों के अतिरिक्त अन्य को इस विद्या का शिष्य नहीं बनाते थे। क्षत्रियों में ये ही ऐसे प्रथम क्षत्रिय हुए, जिन्हेंनें अपनी मर्य्यादा तोड़ी। एवं ब्राह्मणों में ये ही पहिले ब्राह्मण हुए, जिन्हेंनें क्षत्रियराजा से ब्रह्मविद्या प्राप्त की, एवं उसे ब्राह्मणसम्प्रदाय में प्रचलित किया। देखिए—

"तं होवाच (राजर्षिः)–यथा मा त्वं गौतमाऽवदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः–पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति। तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्" (छां०उ० ५।३।७)।

"तत्रास्ति वक्तव्यं–यथा येन प्रकारेणेयं विद्या प्राक् त्वत्तो ब्राह्मणान्न–गच्छति, न गतवती, न च ब्राह्मणा अनया विद्ययाऽनुशासितवन्तः। तथैतत् प्रसिद्धं लोके यतस्तस्मादु पुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेवानया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूद्–बभूव। क्षत्रियपरम्परयैवेयं विद्या–एतावन्तं कालमागता। तथाऽप्यहमेतां तुभ्यं वक्ष्यामि, त्वत्सम्प्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान् गमिष्यति" (शाङ्करभाष्य)।

४–राजर्षिविद्यात्मक औपनिषद्ज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तक—

औपनिषद ज्ञान आरम्भ में राजर्षिपरम्परा में प्रतिष्ठित था, आगे जाकर ब्रह्म–क्षत्र के समन्वय से यह ब्रह्मर्षिपरम्परा में भी प्रतिष्ठित हो गया, यह उक्त परिच्छेद से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, राजर्षिविद्यात्मक इस औपनिषद ज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तक कौन ?। सन्तोष के लिए माना जा सकता है कि, सांख्यनिष्ठात्मिका सिद्धविद्या के प्रथम प्रवर्त्तक कपिल सिद्ध थे। योगनिष्ठात्मिका आर्षविद्या के प्रथम प्रवर्त्तक हिरण्यगर्भ ऋषि थे। तथैव भक्तियोगात्मिका राजविद्या को अपने गर्भ

में रखने वाली बुद्धियोगात्मिका राजर्षिविद्या की प्रथम प्रवृत्ति किस से हुई ?, इस समस्या का निराकरण उस समय भलीभाँति हो जाता है, जबकि भारतीय 'अवताररहस्य' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। वासुदेवतत्त्व ही इस विद्या, तथा योग के प्रथमप्रवर्त्तक मानें गए हैं, जो कि कालातिक्रम से समय समय पर विलुप्त हो जाने वाले योग के पुनरुद्धार के लिए नरावतार धारण किया करते हैं। देवयुगारम्भ में किसी अन्य शरीर से इसी वासुदेवतत्त्व ने राजर्षि विवस्वान् को इस योग का प्रथम शिष्य बनाया। विवस्वान् भारतवर्ष के प्रथम मनु (सम्राट्) थे। इन्होंनें अपने ज्येष्ठपुत्र श्रद्धादेव मनु को, जो कि पुराणों में 'वैवस्वतमनु' नाम से प्रसिद्ध हुए, इस योग का उपदेश दिया। वैवस्वत के द्वारा इनके ज्येष्ठपुत्र अयोध्याधिप महाराज इक्ष्वाकु इनके शिष्य बने। इसप्रकार वासुदेवतत्त्व के द्वारा राजर्षि विवस्वान् के प्रति प्रथमोपदिष्ट यह विद्यात्मक योग राजर्षि-परम्परा में ही प्रतिष्ठित रहा। आगे जाकर कालातिक्रम से वह योग विलुप्तप्राय हो गया। यहाँ तक कि, विवस्वान् की १२८ वीं पीढ़ी में उत्पन्न महाभारतकालीन सूर्य्यवंशी महाराज सुमित्र के युग में तो एक प्रकार से इसका सर्वथा उच्छेद ही हो गया। इसी युग में उसी वासुदेवतत्त्व के द्वारा अर्जुन के प्रति पुनः उस विलुप्त योग का उपदेश हुआ था, यह सार्वजनीन है। एवं इसी आधार पर यह भी सर्वसम्मत ही पक्ष माना जायगा कि, औपनिषद ज्ञान एकमात्र राजर्षिवंश की ही प्रातिस्विक वस्तु बनता रहा है। उपनिषदों में उपवर्णित यह औपनिषद ज्ञान स्वयं औपनिषद पुरुष (श्रीकृष्ण) द्वारा प्रथम प्रवृत्त है। अतएव भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में—**'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः'** रूप से इसे अपना प्रातिस्विक मत बतलाते हुए राजर्षिपरम्परा की ओर ही सङ्केत किया है, जैसा कि निम्न लिखित भगवदुक्ति से प्रमाणित है—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ! ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्" ॥३॥ (गीता ४।१,२,३,।)।

५—लोकभावुकतासंरक्षक-प्रकरण का उपसंहार—

वस्तुतस्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्बन्ध रखने वाले, अतएव 'अपौरुषेयभावाक्रान्त' किसी भी अपौरुषेय ज्ञान के सम्बन्ध में प्रवर्त्तक का अन्वेषण करना स्वयं आर्षमर्य्यादा के ही सर्वथा विपरीत है। आर्षज्ञान, जो कि औपनिषद ज्ञान का नामान्तर है—सहजज्ञान है। एवं ऐसा सहजज्ञान—जिसका मानवीय—मानस प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है—सर्वथा अपौरुषेय है। **'यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः'** के अनुसार जन्मान्तरीय दिव्य संस्कारों से पवीत्रीकृत निर्म्मल अन्तःकरणों में वह स्वतः प्रकट हो जाता है। **'ततस्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** भी इसी पक्ष का समर्थन कर रहा है। ऐसी दशा में आर्षदृष्टि से यद्यपि 'औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक कौन थे ?, इस प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, तथापि वर्त्तमानदृष्टि के आधार पर विचारपद्धति का आश्रय लेने से हमें इसी तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, 'औपनिषद ज्ञान' आर्य

चल कर यद्यपि ब्रह्म-क्षत्र, दोनों वर्गों से सम्बद्ध हो गया है। तथापि इसके प्रथमप्रवर्त्तकत्व का श्रेय राजर्षिवंश को ही है। एवं यही उक्त प्रश्न का कण्डूनिवारक समाधानाभास है।

६—प्रकरणोपसंहारदृष्टि का उपलालनभाव, एवं सिद्धान्तपक्ष—

उक्त समाधान को कण्डूनिवारक इसलिए कहा गया है कि, दिग्देशकालावच्छिन्न प्राकृत विश्वसर्ग की दृष्टि से कालात्मक बुद्धिवाद के माध्यम से ही–**'यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति'** (छान्दोग्य० ५।३।७) इत्यादि रूप से औपनिषद ज्ञान की सम्प्रदायप्रवृत्ति राजर्षिक्षत्रियपरम्परा से अनुप्राणित मान ली गई है। कुछ एक विशेष विद्याएँ राजर्षिपरम्परा में हीं प्रतिष्ठित रहतीं थीं, एवं तद्द्वारा ही उन कतिपय विद्याओं की सम्प्रदायप्रवृत्ति ब्राह्मणवर्ग में हुआ करती थी, एतावता ही यह निष्कर्ष निकाल लेना कि, "औपनिषद ज्ञान के प्रथम सम्प्रदायप्रवर्त्तक राजर्षि क्षत्रिय ही थे" कदापि सुसङ्गत इसलिए नहीं बन सकता कि,–**'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** (ऋक्) **'तस्माद्धान्यः-न परः किञ्चनास'** (ऋक्) **'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्'** इत्यादि मन्त्रवचनों के अनुसार मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मण–महर्षि ही 'अज' नामक अव्ययपुरुष से सम्बन्ध रखने वाले वैराग्यबुद्धियोगात्मक 'औपनिषद–ज्ञान' के प्रथमद्रष्टा, तथा प्रथमसम्प्रदायप्रवर्त्तक उद्घोषित हैं। सर्वादिभूत ईशोपनिषत् तो स्वयं ऋषिद्रष्टा यजुःसंहिता का ही अन्तिम भाग है। "अमुक विशेष विद्याओं का प्रथमसम्प्रदायप्रवर्त्तकत्व क्षत्रियों के साथ कैसे सम्बद्ध मान लिया गया?" प्रश्न का समन्वय किसी विशेषदृष्टि से सम्बन्ध रखता है, जिसे अवगत कर लेने पर छान्दोग्यवचन से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति का सर्वात्मना निराकरण हो जाता है।

'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो, ज्ञेयश्च' इस आदेश को शिरोधार्य्य करने वाले ब्राह्मणश्रेष्ठ बिना किसी लोकैषणा–वित्तैषणा के सर्वथा कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका उत्तरदायित्व की निष्ठा से * गुहानिहितरूपेण तत्त्वान्वेषण–कर्म्म में हीं प्रधानरूपेण तल्लीन रहते हैं। लोकव्यासङ्ग–सामाजिक प्रचार–लोकख्याति–जनकलकलसंसर्ग आदि प्राकृतिक अनुबन्धों से ब्राह्मणवर्ग सदा से ही तटस्थ रहता आया है, रहना चाहिए। स्वयं राजर्षि मनुने भी–**'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव'** (मनुः २।१६२) इत्यादि रूप से ब्राह्मणवर्ग को लोकैषणाप्रवर्त्तक–समर्द्धक सम्मानात्मक सामाजिक अनुबन्धों से आत्मत्राण किए रहने का ही सङ्केत किया है। **अनन्यनिष्ठा से चिन्तन करने वाला कदापि प्रचारक नहीं बन सकता, एवं प्रचारक कभी अनन्यनिष्ठा से तत्त्वचिन्तक नहीं बना रह सकता।** भावुकता के निग्रहानुग्रह से दुर्भाग्यवश जब से भारतराष्ट्र की ब्राह्मणप्रज्ञा में तत्त्वचिन्तन के साथ साथ प्रचार का मोह जागरूक हो पड़ा, तभी से इसका तत्त्वचिन्तन लोकानुरञ्जक–लोकभावुकता–संरक्षक बनता हुआ सर्वथा अभिभूत हो गया। यही नहीं, इसी प्रचारव्यामोहनानुग्रह से इसकी आत्मबुद्धिनिष्ठा मनःशरीरप्रधाना बनती हुई लोकैषणा–वित्तैषणा की लिप्सा से आमूलचूड़ ओतप्रोत हो गई। और कुफलस्वरूप इसका एकान्तनिष्ठ तत्त्वचिन्तन सर्वथैव

---

* सामाजिक बाह्य वातावरण में मुक्तरूप से विचरण करते रहने वाला क्षत्रिय, तथा वैश्यवर्ग जहाँ–'सौर्य्यमारुतिक'–'वातातपिक' कहलाया है, वहाँ–**'अरतिर्जनसंसदि'** लक्षणा एकान्तनिष्ठा का अनुगामी तत्त्वचिन्तक ब्राह्मणवर्ग 'गुहानिहित' माना गया है।

अभिभूत हो गया। 'दूसरे कैसे सन्तुष्ट रहें ?, लोक-समाज में हमारा लोकैषणामूलक (नामख्यातिरूप) कल्पित व्यक्तित्व कैसे अनुदिन पुष्पित-पल्लवित हो !, सभी वर्ग हमें हीं सर्वात्मना कैसे विद्वान्-तत्त्वज्ञ-मर्म्मज्ञ-पक्षपातरहित-यशस्वी उद्घोषित करते रहें ?, इत्यादि जघन्य प्रश्नों के तात्कालिक समाधानों में हीं अहोरात्र प्रवृत्त ये प्रचारकधुरीण-**'दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः'** × को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं।

'तत्त्वचिन्तक ब्राह्मणवर्ग गुहानिहिता आत्ममूला ÷ तत्त्वनिष्ठा में अनन्यनिष्ठा से निष्कारण प्रवृत्त रहता हुआ लोक-समाज-प्रचार से तटस्थ है। तृतीय वैश्यवर्ग अपने विश्वेदेवानुगत समाजप्रिय विड्वीर्य्य से सामाजिक बनता हुआ भी प्रचार में अनधिकृत है। चतुर्थ वर्ग तो केवल योगक्षेमतन्त्र पर ही विश्रान्त है। शेष रह जाता है क्षत्रियवर्ग, जिसके **सामान्य क्षत्रिय, तथा मूर्द्धाभिषिक्त राजा,** ये दो विभाग हैं। दोनों में सामान्य क्षत्रिय भी लोकैषणानुगति से प्रचार में अनधिकृत है। शेष रह जाता है-मूर्द्धाभिषिक्त राजन्यवर्ग। अवश्य ही इसे पहिले से ही वह लोकसम्मान प्राप्त है, जिसके समतुलन में इसे अन्य सामान्य लौकिक सम्मानों की कोई अपेक्षा नहीं रहती। अतएव भारतीय प्रचारपद्धति में लोकसत्ता-सञ्चालक राजर्षिक्षत्रिय ही विद्या-प्रचार का मूलाधार मान लिया गया है। राजा ही लोकतन्त्र की प्रज्ञा का संरक्षण करता हुआ लोकानुरञ्जन-विधा से कालस्थिति का स्वरूपनिर्वाहक माना गया है, जैसाकि-'इति ते संशयो मा भूद्-राजा कालस्य कारणम्' (महाभारत) इत्यादि से स्पष्ट है।

मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा ही सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रचार का मूलाधार बनता हुआ 'राजर्षि' उपाधि से सुविभूषित मान लिया गया है। किसी विद्याविशेष के कारण 'राजर्षि' उपाधि व्यवस्थित नहीं हुई है, अपितु यह तो अभिषिक्त सत्ताधीश की सामान्य उपाधि है। तभी तो 'वेन' जैसे हीनकर्म्मा-वेदविरोधी-आर्षधर्म्म विरोधी-सत्ताधीश भी मनुद्वारा 'राजर्षि' नाम से व्यवहृत हो गए हैं*। तत्त्वचिन्तन के द्वारा सुव्यवस्थिता लोकानुगता विविध विद्याएँ सत्ताधीश से ही अनुप्राणित होकर लोकप्रचारानुगता बनतीं रहीं हैं। जब से यह परम्परा शिथिल हो गई, दूसरे शब्दों में जब से राजसत्ता अपने इस महान् सांस्कृतिक उत्तरदायित्त्व से पराङ्मुख हो गई, तभी से भारतीय विद्याक्षेत्र, तथा तन्मूलक सांस्कृतिक क्षेत्र उन अर्थ-श्रमाधिपतियों के उपलालन का क्रीड़ाक्षेत्र बन गया, जो प्रकृत्या ही प्रत्येक क्षेत्र को अर्थ की तुला से, तथा शारीरिक श्रमतुला

× अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।
—कठोपनिषत्

÷ अणोरणीयान्-महतोमहीयान्-आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥
—कठोपनिषत् १।।२०।

* स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः॥ (मनुः)

से तौला करते हैं। सम्पूर्ण विश्व आज तत्त्वदृष्टया क्षुब्ध-त्रस्त-संत्रस्त क्यों है ?, प्रश्न का यही बीज है। मन से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ ने, एवं शरीर से सम्बन्ध रखने वाले श्रम ने, दोनों नें बुद्धि-सम्बन्धी धर्म्म, तथा आत्मसम्बन्धिनी निष्ठा, दोनों को निस्तेज प्रमाणित कर दिया है। साहित्य-संस्कृति-धर्म्म-निष्ठा-आस्था-आदि का मूल्याङ्कन आज वित्त-श्रम-जीवियों के द्वारा उसी प्रकार हो रहा है, जैसे कि वे अपने आपण-व्यवसाय (दुकानदारी), तथा श्रमव्यवसाय (मेहनत) के माध्यम से लौकिक-भौतिक जड़-पदार्थों का मूल्याङ्कन किया करते हैं। आपणस्थित भूतपदार्थों के प्रति भाव-ताव-मोल-जोल-लेखा-जोखा-बही-खाता रखनें वाले ही आज ब्राह्मणप्रज्ञा से अनुप्राणिता सांस्कृतिक निष्ठा का, जन्मजात ब्रह्मभाव का **'बाजारभाव'** लगाने का अक्षम्य अपराध करने की धृष्टता करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जा से अवनतशिरस्क नहीं हो जाते। ऐसा क्यों हो रहा है !, कैसे हो पड़ा !, इत्यादि प्रश्नों का समाधान है अर्थ-श्रम-जीवियों के हाथों में प्रचार का उत्तरदायित्त्व-समर्पण। यही विश्वक्षोभ का महान् कारण है ÷। क्योंकि दोनों हीं वर्ग अपने आप को न तो लोकैषणा से ही बचाए रख सकते, न वित्तैषणा ही इन्हें मुक्त कर सकती। इन्हीं सब प्राकृतिक स्थितियों के आधार पर भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने प्रचार का समस्त उत्तरदायित्व लोकसत्तातन्त्र से ही सम्बद्ध माना है। देशाधिपति ही स्वयं अन्वेषण कर राष्ट्रीय विद्याक्षेत्रों को प्रोत्साहित करता रहता था, एवं तद्विद्याएँ इसीके द्वारा राष्ट्रीय ज्ञानकोष को समृद्ध करतीं रहतीं थीं। स्वयं तत्त्वचिन्तक भी वैसी विद्याओं को-जिनका लोकाभ्युदय से विशेष सम्बन्ध है-सत्ताक्षेत्र में उपहाररूप से समर्पित कर जाते थे, एवं सत्ताधीश उनका सम्प्रदायप्रवर्त्तक बना करता था। पूर्वोक्त छान्दोग्यवचनों का, तथा शङ्करभाष्य का यही तत्त्वसम्मत समन्वय हो सकता है। ब्रह्म-क्षत्र के इस सहज समन्वय का अभिभव हुआ एकमात्र ब्राह्मण की लोकैषणा से ही। प्रचारैषणा में आसक्त ब्राह्मणवर्ग का ही सर्वप्रथम स्खलन हुआ। इस स्खलन के जो जो भीषण परिणाम राष्ट्र को भोगने पड़े, एवं पड़ रहे हैं, स्पष्टतम हैं। वर्त्तमान सभी झञ्झावातों की उपशान्ति का एकमात्र निदान है अभिभूता ब्रह्मप्रज्ञा का जागरण। यह तभी सम्भव है, जबकि ब्रह्मप्रज्ञा प्रचार-प्रसारादि समस्त लोकैषणापथों का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर अनन्यनिष्ठा से गुहानिहित बन कर न्यूनतम एक शताब्दिपर्य्यन्त गुहानिहित-व्रतमाध्यम से तत्त्वचिन्तन-वेदस्वाध्याय-में प्रवृत्त हो पड़े। इसी मङ्गलकामना के साथ प्रस्तुत स्तम्भ इस निष्कर्ष पर उपरत हो रहा है कि, **"औपनिषद्-ज्ञान हो, अथवा आरण्यकोपासना, विधिभागात्मक कर्म्मकाण्ड हो, अथवा तो मन्त्रसंहितात्मक तत्त्ववाद, सम्पूर्ण वेदशास्त्र की प्रथमप्रवृत्ति का मूलश्रेय ब्रह्मर्षिवर्ग को ही प्राप्त है"**। वेद-और ब्राह्मण का परस्पर आत्म-शरीर सम्बन्ध है। जिस

÷ **वैश्य-शूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्।**
तौ हि च्युतौ स्वकर्म्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्॥
—मनुः ८।४१८।

प्रकार शब्द और अर्थ का उत्पत्तिसृष्ट (सहज-नित्य) सम्बन्ध है, एवमेव वेदशास्त्र, और तत्प्रथमप्रवर्त्तक ब्राह्मण का उत्पत्तिसृष्ट सम्बन्ध ही है, जिस प्रथमप्रवर्त्तकत्वमूलक सहजसम्बन्ध का निम्न लिखित शब्दों में यशोगान हुआ है—

ओं-तत्-सदिति निर्द्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥
ब्राह्मणा-स्तेन वेदाश्च-यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥१॥ —गीता १७।२३।

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य च रक्षणम् ॥
वार्त्ता कर्म्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्म्मसु ॥२॥
—मनु १०।८०।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत
'औपनिषद-ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तदिग्दर्शन' नामक
सप्तम-स्तम्भ-उपरत
—७—

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'औपनिषद-ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तादिग्दर्शन' नामक

सप्तम-स्तम्भ उपरत

७

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'श्रौती उपनिषत् के साथ स्मार्त्ती उपनिषत् का समतुलन' नामक

(उपनिषत् के साथ गीता का समतुलन-नामक)

अष्टम-स्तम्भ

८

श्री :

वेदोपनिषत् के साथ गीतोपनिषत् का समतुलन

१–उपनिषत् और गीता—

'उपनिषत्' शब्द के अवच्छेदक का स्पष्टीकरण करते हुए षष्ठ स्तम्भ में यह निवेदन किया जा चुका है कि, 'उपनिषत्' शब्द नित्यसिद्ध उपपत्तिविज्ञानात्मक निश्चयभावप्रवर्त्तक मौलिक सिद्धान्त का ही संग्राहक है। भारतीय शास्त्रनिधि में अपौरुषय–वेदशास्त्र के अतिरिक्त 'गीताशास्त्र' ही एक ऐसा पौरुषेयशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) है, जिसने उपनिषत् शब्द के तथोक्त अवच्छेदक का अक्षरशः अनुगमन किया है। अमुक (पूर्वपरिच्छेदप्रतिपादित) कारणविशेष से अपौरुषय वेदशास्त्र के अव्ययात्मानुगत बुद्धियोग–प्रतिपादक अन्तिम वेदभाग में निरूढ़ हो जाने वाला 'उपनिषत्' शब्द पौरुषेय स्मार्त्त गीताशास्त्र की अव्ययात्मविद्या, एवं तदनुगत वैराग्यबुद्धियोग का संग्राहक बनता हुआ इसके साथ भी समन्वित हो पड़ा है। यही कारण है कि, वेदातिरिक्त सम्पूर्ण भारतीय शास्त्रों में एकमात्र गीताशास्त्र को ही 'उपनिषत्' की उपाधि प्राप्त हुई है। अतएव गीताशास्त्र आर्षपरम्परा में **'स्मार्त्ती–उपनिषत्'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। **'स्मार्त्ती'** शब्द ही यह व्यक्त कर रहा है कि, गीता अपौरुषेय शास्त्र नहीं है, अपितु अपौरुषेय श्रुतिशास्त्र (उपनिषच्छास्त्र) प्रामाण्य के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला स्मृतिशास्त्र है। स्वयं गीताशास्त्र ने अपने मन्तव्य की प्रामाणिकता के लिए **"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ"** (गीता १६।२३) इत्यादि रूप से अपनी प्रामाणिकता का आधार शास्त्र को ही माना है।

२–गीता की शास्त्रमर्य्यादा—

नितान्त भावुकतापूर्ण आज की मानवप्रज्ञा की कुछ ऐसी मान्यता हो चली है कि, **"मानव जीवन के ऐहलौकिक अभ्युदय सुख की प्राप्ति के लिए, तथा पारलौकिक निःश्रेयस–शान्तिभाव के लिए केवल गीताशास्त्र ही पर्य्याप्त है। तात्पर्य्य–गीताशास्त्र मानव की यच्चयावत् कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठाओं के लिए पर्य्याप्त है। कोई आवश्यकता नहीं, गीता से अतिरिक्त किसी अन्य उस शास्त्राडम्बर के अनुगमन की, जो अपने विधिनिषेधात्मक झञ्झावातों से मानव की प्रज्ञा को अधिकाधिक विकम्पित ही करता रहता है"।**

अपनी तथोपवर्णिता मान्यता के अनुग्रह से वर्त्तमान भारतीय प्रज्ञा की दृष्टि में गीताशास्त्र ही उसके कर्त्तव्यकर्म्म का अन्यतम निर्णायक ग्रन्थ बन गया है। कर्त्तव्यकर्म्मशिक्षात्मिका इसी महती भ्रान्ति ने एकमात्र विज्ञानसिद्धान्तसूचक इस गीताशास्त्र को आबालवृद्धवनिता–सब का उपलालन–साधन बना दिया है। गीताशास्त्र की भाषा इतिहास की (महाभारत की) भाषा है, अतएव व्याकरणानुगत प्रकृति–प्रत्यय–भावानुबन्ध से बोधगम्या है। अतएव सभी इसके अक्षरार्थ से सहज में हीं परिचित हो जाते हैं, जिस अक्षरार्थबोध का विश्राम इनकी दृष्टि में केवल कर्त्ता–करण–पञ्चमी–षष्ठी–आदि भावों पर ही हो जाता है। और यों अपनी

इतिहासभाषा के आकर्षण से अत्यन्त निगूढ विज्ञानसिद्धान्तों का सूचक गीताशास्त्र आज सर्वसामान्य का क्रीडाक्षेत्र बन रहा है। एवं यही आज भावुक-प्रज्ञा का अन्यतम शास्त्र बन रहा है, जबकि कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका आचारनिष्ठा (आचरणपद्धति) के अनुशासन से सम्बन्ध रखने वाले 'शास्त्र' शब्द के अवच्छेदक का गीता से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं हैं। 'भारतीय मानव का क्या कर्त्तव्य है ?,' इस प्रश्न का गीता से कोई सम्बन्ध नहीं है। सहज भाषानुसार-'हमें क्या करना चाहिए, एवं क्या नहीं करना चाहिए ?,' शास्त्रविधि से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रश्न का गीता कोई समाधान नहीं करती। ठीक इसके विपरीत यदि गीता से कोई इस दिशा में यह प्रश्न कर बैठता है, तो गीता विस्पष्ट शब्दों में इस उत्तरदायित्व का भार 'शास्त्र' पर ही डाल देती है।

"क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए ?, इस जिज्ञासा का समाधान शास्त्र के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। 'जो ऐसा न कर अपनी इच्छामात्र से अच्छे-बुरे की कल्पना कर काल्पनिक कर्म्मों में प्रवृत्त हो जाता है, उसे न लोकसुख मिलता, न आत्मशान्ति उपलब्ध होती"* इत्यादि रूप से गीता विस्पष्ट शब्दों में कर्त्तव्य कर्म्म-निर्णय के सम्बन्ध में किसी अन्य शास्त्र की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है, जिस 'अन्यशास्त्र' का सम्बन्ध उस 'श्रुति-स्मृतिशास्त्र' से है, जिसमें श्रौत-स्मार्त्त कर्त्तव्य-कर्म्मों का स्वरूप विहित हुआ है। श्रुति से श्रौतकर्म्म, श्रौती उपासना, श्रौत ज्ञान प्रतिपादक 'ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्'-नामक 'कर्त्तव्यवेदभाग' ही गृहीत है। क्योंकि वेद के इसी 'कर्त्तव्यवेद भाग-में मानव के कर्म्मोपास्तिज्ञानात्मक देवप्राणनिबन्धन समस्त कर्त्तव्यों का विधानहुआ है। स्मृति से श्रुतिसिद्ध गृह्य लौकिक कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता बतलाने वाला कल्पशास्त्र, तथा मन्वादि स्मृतिशास्त्रही गृहीत है, क्योंकि इसी में मानव के भूतप्राणनिबन्धन लौकिक कर्मों का संग्रह हुआ है। विधि-आरण्यक-उपनिषदात्मिका ब्राह्मणश्रुति एवं तत्प्रामाण्याधार पर, प्रतिष्ठिता स्मृति, दो पर ही कर्त्तव्यकर्म्म विधायक अनुशासनात्मक 'शास्त्र' शब्द विश्रान्त है। एवं-'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते' से यही शास्त्र अभिप्रेत है। यही गीता की शास्त्रमर्य्यादा है, जिसे विस्मृत कर आर्षप्रजा ने अपनी समस्ता आचारनिष्ठा को अभिभूत कर लिया है।

३-दर्शन, और शास्त्रमर्य्यादा—

गीता की भाँति 'दर्शन' के व्यामोहन ने भी भारतीय प्रज्ञा को सर्वात्मना विकम्पित ही किया है। दोनों में अन्तर केवल यही रहा है कि, दर्शन सूत्रात्मक है, अतएव भाषादृष्ट्या क्लिष्ट है, जब कि गीता की भाषा इतिहासग्रन्थ की मर्य्यादा के अनुबन्ध से सरल है। दर्शनों के भाष्य भी 'इन्द्रस्य टीका बिडौजा' रूपेण क्लिष्ट ही बने हुए हैं। फिर विषय भी अन्तोपक्रमभूता-बहुतत्त्ववादसमाकुलिता-नानाभावनिबन्धना-मृत्युलक्षणा

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥१॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि ॥२॥ (गीता१६।२२,२३,)।

प्रकृति के विभिन्न तत्त्ववादों को लक्ष्य बना रहा है। इन्हीं जटिलताओं के कारण गीतावत् दर्शन आबालवृद्ध-वनिता के तो उपलालन के माध्यम नहीं बन सके। हाँ उन भारतीय विद्वानों का उपलालन अवश्य ही इन दर्शनों नें कर डाला, जो श्रुति-स्मृतिसिद्धा आचारनिष्ठा को विस्मृत कर चुके थे। अथवा यों कह लीजिए कि, दर्शनों के व्यामोहन ने हीं भारतीय विद्वत्प्रज्ञा को आत्मनिष्ठानुगत, अतएव शाश्वत-धर्म्मनिष्ठानुगत आचारपथ से,एवं तत्प्रतिपादक रहस्यपूर्ण श्रुति-स्मृतिशास्त्र से पराङ्मुख कर दिया। अस्तु, यह विषय स्वतन्त्र रूप से अन्य निबन्ध में * प्रतिपादित है। प्रकृत में इस दिशा में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, दर्शन भी गीतावत् अमुक प्राकृतिक सिद्धान्तों के हीं प्रतिपादक हैं। धर्म्मानुगता आचारनिष्ठा से दर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव गीतावत् दर्शन भी भारतीय कर्त्तव्यनिर्णायक शास्त्र की सीमा से सर्वथा बहिष्कृत है। गीता और दर्शन, दोनों हीं तन्त्रों का धर्म्मनिष्ठा से साक्षात् रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। और दुर्भाग्यवश आज भारतवर्ष धर्म्मात्मिका आर्षनिष्ठा के क्षेत्र में धर्म्मस्वरूपप्रतिपादक श्रुति-स्मृतिशास्त्र, एवं धर्म्म-कर्म्मेतिहास-निरूपणात्मक पुराणशास्त्र की आत्यन्तिक अवहेलना कर केवल तत्त्ववादात्मिका गीता-दर्शन-भक्ति का ही भ्रान्त-पथिक प्रमाणित हो रहा है। विद्वानों का पाण्डित्य दर्शन पर समाप्त है, एवं सर्वसाधारण की मान्यता गीतापारायण पर विश्रान्त है।

४-गीता का महान् कौशल—

'उपनिषत्' के प्रतिपाद्य-सम्बन्ध में पूर्वप्रकरणों में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। 'दर्शन' के प्रतिपाद्य-सम्बन्ध में स्वतन्त्ररूप से अन्य निबन्ध में इच्छा न रहते भी कुछ निवेदन कर देना पड़ा है, क्योंकि भारतीय दर्शनवाद ने भारतीय श्रौत-स्मार्त्त धर्म्म का कोई उपकार नहीं किया है। शेष रह जाता है गीताशास्त्र। इसी के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन कर प्रस्तुत प्रकरण उपरत हो रहा है।

क्या करना चाहिए ?, विध्यात्मक अनुशासनात्मक इस शास्त्रोपदेश से, दूसरे शब्दों में कर्त्तव्यकर्म्मेतिकर्त्तव्यता से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ गीताशास्त्र **'कैसे करना चाहिए ?,'** इस कर्म्म-कौशल का ही स्पष्टीकरण कर रहा है, जो कि गीताशास्त्र का महान् कौशल माना जायगा। इस कर्म्मकौशल का नित्यसिद्ध मौलिक विज्ञान-सिद्धान्त ही मुख्य आधार है। जो विषय वेद के उपनिषत्-भाग का है, वही विषय विस्तार से गीता में प्रतिपादित है। तभी तो इसे भी 'उपनिषत्' का सम्मान प्राप्त हो गया है। पद्यात्मक संकोचभाव यदि उपनिषत् का लक्ष्य है, तो गेयात्मक विस्तारभाव इसका लक्ष्य है। तभी तो इसे 'गीता' (संक्षिप्त औपनिषद सिद्धान्त का विस्तार) नाम से सुविभूषित किया गया है। **निवृत्त-ज्ञानभाव-समन्विता सांख्यनिष्ठा, एवं प्रवृत्त-कर्म्मभावसमन्विता योगनिष्ठा, दोनों विभिन्न निष्ठाओं का सर्वत्र समरूपेण अवस्थित समत्त्वयोगाधिष्ठाता अव्ययब्रह्म के माध्यम से समत्त्व स्थापित करते हुए मानव को बुद्धियोगनिष्ठा से समन्वित कर देना सचमुच गीताशास्त्र का महान् कौशल माना जायगा।** इस मुख्य कौशल के साथ साथ गीता ने जिस कौशल से सम्पूर्ण अपौरुषेयशास्त्र

---

*-**'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश, और भारतीय आर्षधर्म्म के नवग्रह'** नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में इस विषयों का विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

(वेदशास्त्र) के रहस्यपूर्ण ज्ञान-विज्ञानात्मक निगूढ़ सिद्धान्तों की जैसी संग्रहात्मिका तालिका (सूची) अपने क्रोड़ में समाविष्ट कर ली है, वैसा अन्य किसी भारतीय शास्त्र में नहीं है । और यही गीताशास्त्र का कृत्स्नसंग्रहात्मक दूसरा महान् कौशल है । इन उभयविध अलौकिक महान् कौशलों का कौशलपूर्वक संग्रह करने वाले गीताशास्त्र ने जहाँ मानवीय अलौकिक आत्मभाव को पुष्पित-पल्लवित किया है, वहाँ भौतिक विश्व से अनुप्राणित लोकसंग्रहलक्षण लोकसंरक्षण की भी उस राजपद्धति का सर्वथैव ऋजुभाव से स्वरूप-विश्लेषण किया है, जिसके अनुष्ठान से मानव का लोकतन्त्र भी सर्वात्मना सुव्यवस्थित बन जाता है । एवं यही गीताशास्त्र का तृतीय महान् कौशल है । इन्हीं कौशलों के कारण गीताशास्त्र स्मृतिस्थानीय बनता हुआ भी श्रुतिशास्त्र (उपनिषच्छास्त्र) के सम्मान से सम्मानित हो गया है, जोकि सम्मान गीताशास्त्र के अतिरिक्त अद्यावधि और किसी भी भारतीय शास्त्र को उपलब्ध नहीं हो सका है ।

५-गीता का दृष्टिकोण-

वेदप्रामाण्य के आधार पर प्रतिष्ठित, ईश्वरावतार भगवान्-कृष्ण के मुखपङ्कज से विनिःसृत गीताशास्त्र का अन्य परतःप्रमाणशास्त्रों में विशेष समादर देखा सुना जाता है । यही कारण है कि, भारतीय सम्प्रदायाचार्य्यों नें स्वसम्प्रदाय-प्रामाण्य के लिए उपनिषत् , वेदान्तसूत्रों के साथ साथ गीताशास्त्र का भी संग्रह करना आवश्यक समझा है, जो कि प्रामाण्यत्रयी विद्वत्समाज में 'प्रस्थानत्रयी' नाम से प्रसिद्ध है । प्रथम स्थान उपनिषच्छास्त्र का है, द्वितीय स्थान गीताशास्त्र का है, एवं तृतीय स्थान वेदान्तसूत्र का है । वेदान्त-सूत्रोंनें उपनिषदों के वचनों का समन्वय किया है, अतएव इसे भी यद्यपि उपनिषच्छास्त्र से समतुलित माना जा सकता है, माना गया है, तथापि उपनिषदों के तात्त्विक विषयों का साक्षात्रूप से स्पष्टीकरण करने वाला गीताशास्त्र वेदान्तसूत्र की अपेक्षा उपनिषच्छास्त्र के अधिक समीप है, यह स्वीकार कर लेनें में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती ।

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से भी उक्त मान्यता तथ्यपूर्ण ही मानी जायगी । 'आत्मयुक्त विश्व' का दर्शन कराने वाला शास्त्र ही दर्शनशास्त्र है । अव्यय-अक्षर-आत्मक्षरसमष्टि 'आत्मा' है, एवं आत्मक्षरविशिष्ट विकारक्षरसंघ 'विश्व' है। आत्मक्षरयुक्त विकारक्षरसंघात्मक विश्व का दर्शन वैशेषिकशास्त्र ने कराया है । आत्मक्षरगर्भित अक्षर नामक आत्मकला के दर्शन सांख्यशास्त्र ने कराए हैं । अव्ययगर्भित अक्षरकला के दर्शन वेदान्तशास्त्र ने कराये हैं । इसप्रकार वेदान्तशास्त्र का पर्य्यवसान एक प्रकार से अक्षर पर ही समाप्त हो जाता है, जैसाकि-"अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्" (वे०सू०३।३।३३) इस सूत्र से स्पष्ट है । सर्वमूर्द्धन्य उपनिषच्छास्त्र विश्व, आत्मक्षर, अक्षरगर्भित अव्ययपुरुष को अपना मुख्य लक्ष्य बनाता है, एवं अव्ययप्राप्ति के साधनभूत बुद्धियोग का स्पष्टीकरण करता है । उधर हमारा गीताशास्त्र भी उपनिषत् के लक्ष्यीभूत अव्ययपुरुष को, तथा तत्प्राप्तिसाधनभूत बुद्धियोग को ही अपना लक्ष्य बनाता है । अतएव गीताशास्त्र को वेदान्तशास्त्र की तुलना में हम उपनिषत् के अधिक समीप माननें के लिए तैयार हैं । गीताशास्त्र उपनिषत्-शास्त्र से सर्वात्मना समतुलित है, एकमात्र इसी सौसादृश्य के आधार पर गीताशास्त्र 'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है,-जैसाकि-'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इत्यादि अध्यायसंहारवाक्यों से प्रमाणित है । इन्हीं कुछ एक प्रामाणिक परिस्थितियों के आधार पर यह

निःसंकोच कहा जा सकता है–कि, उपनिषत्-और गीता का परस्पर वही सम्बन्ध है, जो कि सम्बन्ध वैदिक परिभाषाओं में उक्थ और अर्क का माना गया है।

हृदयावच्छिन्न मूलतत्त्व 'उक्थ' माना गया है। इस मूलोक्थ के आधार पर चारों ओर वितत होनें वालीं तूलात्मिका रश्मियाँ 'अर्क' कहलाईं हैं। रश्मिमण्डल ही अर्कमण्डल है, यही विभूतिमण्डल, महिमण्डल, पुनःपद, साहस्री, वैश्वरूप्य, वषट्कार, आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। दूसरे शब्दों में सूक्ष्मरूप उक्थ है, स्थूल-विकसित-रूप अर्क है। जिन विषयों का उपनिषच्छास्त्र में सुसूक्ष्म भाषा में थोड़े में निरूपण हुआ है, उन्हीं विषयों का गीताशास्त्र में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। उपनिषत् जहाँ उक्थ-शास्त्र है, वहाँ गीता अर्कशास्त्र है। उपनिषत् यदि भाषाविज्ञान की दृष्टि से पद्यस्थानीय है, तो गीता गेयस्थानीया है। पद्य का वितत रूप ही गान है। पद्य वाणी का संकुचित रूप है,गान वाणी का वितत रूप है। क्योंकि गीताशास्त्र पद्यस्थानीय उपनिषच्छास्त्र में उपवर्णित विषयों का विस्तारभाव से, वितानभाव से प्रतिपादन करता है। एकमात्र इसी आधार पर इस शास्त्र को 'गीता' नाम से व्यवहृत किया गया है।

इसी आधार पर हम गीताशास्त्र को न केवल ज्ञानशास्त्र मानते, न केवल विज्ञानशास्त्र। जिस प्रकार उपनिषच्छास्त्र ज्ञानविज्ञानोभयशास्त्र है, एवमेव तत्समतुलित गीताशास्त्र भी ज्ञानविज्ञानोभयशास्त्र है, जैसाकि–**'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः'** इत्यादि गीतासूक्ति से प्रमाणित है। यही कारण है कि, हमनें गीताशास्त्र को दर्शनपरिभाषा से पृथक् मानते हुए इसे एक अपूर्व, पूर्ण, तथा विलक्षण शास्त्र माना है (देखिए गीताविज्ञानभाष्यभूमिका बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथम खण्ड)।

६–गीता, और कृत्स्नवेदशास्त्र–

गीताशास्त्र का उपनिषच्छास्त्र से क्या सम्बन्ध है ?, इस प्रश्न के उपर्युक्त समाधान के अनन्तर हमारे सम्मुख 'यदागम' न्याय से कृत्स्न वेदशास्त्र उपस्थित होता है। जैसाकि पूर्व स्तम्भों में बतलाया गया है, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, वेदशास्त्र के ये चारों तन्त्र विज्ञान, स्तुति, इतिहास, कर्म्म, उपासना, ज्ञान, इन ६ ओं प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण करते हुए 'सर्व' मर्य्यादा से युक्त हैं। क्योंकि उपनिषत् इस मर्य्यादा से 'सर्वशास्त्र' है, एवं गीताशास्त्र उपनिषत् से समतुलित है। अतएव कहा जा सकता है कि, गीताशास्त्र अवश्यमेव सर्वशास्त्र है, जैसाकि—**'गीताः सुगीताः कर्तव्याः किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'** इत्यादि सूक्ति से भी ध्वनित है। षड्विषयप्रतिपादक वेदशास्त्र से समतुलित गीताशास्त्र में अवश्य ही विज्ञानादि ६ ओं विषयों का प्रतिपादन होना ही चाहिए।

उक्त ६ ओं विषयों के अतिरिक्त 'बुद्धियोग' नामक एक स्वतन्त्र विषय और बच रहता है, जिसके रहस्यविश्लेषण का श्रेय एकमात्र वेद के उपनिषत्-भाग को ही है। षड्विषयप्रतिपादन से जहाँ गीताशास्त्र वेद-शास्त्र से समतुलित है, वहाँ बुद्धियोगप्रतिपादन से गीताशास्त्र उपनिषत्-शास्त्र से समतुलित है। बुद्धियोग एकमात्र उपनिषच्छास्त्र का विषय है। उधर गीताशास्त्र षड्विषयप्रतिपादन के साथ साथ इसी बुद्धियोग को अपना प्रधान प्रतिपाद्य बना रहा है। एकमात्र इसी प्रधानता के कारण 'तद्वाद' न्याय से गीताशास्त्र सर्ववेद-सामान्यविषय का निरूपण करता हुआ भी नाम से 'उपनिषत्' ही कहलाया। इस मीमांसा से हमें इस

निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, गीताशास्त्र षड्विषयप्रतिपादनपूर्वक औपनिषद बुद्धियोग का ही प्रधानरूप से प्रतिपादन कर रहा है। अब इस सम्बन्ध में हमारा यह कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, वेदशास्त्र के समतुलन के लिए गीताशास्त्र के आधार पर पहिले तो ६ ओं विषयों का दिग्दर्शन करा दिया जाय, अनन्तर उपनिषच्छास्त्र-सम्मत बुद्धियोगानुगत प्रमाण उद्धृत कर दिया जाय।

(१)—विज्ञानसमर्थकवचनानि—

यज्ञविज्ञानम्

१—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः॥
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥२॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्" ॥३॥

—गीता ३।१०, १४, १५।

*

आत्मब्रह्मविज्ञानम्

२—"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः॥
मनस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥१॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना॥
जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम् ॥२॥

—गीता ३।४२, ४३।

*

प्रकृतिविज्ञानम्

३—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥१॥
अपरेयम्..............................।
.........इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥२॥

—गीता ७।४, ५,।

आत्मविभूतिविज्ञानम्

४—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः ॥
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥१॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ॥
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥२॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥३॥
—गीता ७।८, ९,।

आत्मगतिविज्ञानम्

५—"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥१॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्तते पुनः ॥३॥
—गीता ८।२४, २५, २६, ।

महद्विज्ञानम्

६—"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥१॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥२॥ "
—गीता १४।३, ४, ।

अश्वत्थविज्ञानम्

७—"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्म्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥ *
—गीता १५।१,२।

* इत्यादि विज्ञानों के अतिरिक्त ऋग्वेदीय दशधा विभक्त सृष्टिविज्ञानों का भी गीता में यत्र तत्र स्पष्टीकरण हुआ है, जिनका विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड 'ख' विभाग के 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक प्रकरण में किया जा चुका है।

(२)—स्तुतिसमर्थकवचनानि—

१—"ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥
२—"कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्—
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ॥
अनन्त देवेश जगन्निवास—
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥
३—नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥"
—गीता ११।१४,३७,४०।

(३)—इतिहाससमर्थकवचनानि—

१—"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
२—एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ! ॥
—गीता ४।१,२।
३—महर्षीणां भृगुरहम् । देवर्षीणां च नारदः । गन्धर्वाणां चित्ररथः ।
सिद्धानां कपिलो मुनिः । प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम् । वृष्णीनां-
वासुदेवोस्मि । मुनीनामप्यहं व्यासः । कवीनामुशनाकविः ।"

(४)—कर्म्मसमर्थकवचनानि—

१—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
—गीता १८।४६।
२—सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
—गीता १८।४८

३–कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥

—गीता ३।२०।

४–यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता १८।५।

५–सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥"

—गीता १८।५६।

(५)–उपासनासमर्थकवचनानि—

१–"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

—६।४७।

२–पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

—८।२२।

३–अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

—९।३०।

४–अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

—९।२२।

५–सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

—९।१४।

(६)–ज्ञानयोगसमर्थकवचनानि—

१–"यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्-आत्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥

२–श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ! ।
सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

३–न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

४–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

५–अपिचेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥

—❀—

(७)–सिद्धान्तयोग (बुद्धियोग) समर्थकवचनानि—

१–"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धि,-र्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
—२।३६।

२–व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह ! कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
—२।४१।

३–योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
—२।४८।

४–दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ! ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
—२।४९।

५–बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥

६ कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

—२।५०।

७ श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

—२।५३।

निरूपणीय प्रधान विषय के साथ साथ गीताशास्त्र के सम्बन्ध में हमारा अपना एक प्रातिस्विक मन्तव्य यह भी है कि,–'**गीता वेदशास्त्रीय विषयों की संक्षिप्त सूची है**' ! दूसरे शब्दों में यह कहना अधिक समीचीन होगा कि,–'**औपनिषद कुछ एक तत्त्वों के लिए गीताशास्त्र जहाँ विस्तारभूमि है, वहाँ इतर वेदभागों के लिए गीताशास्त्र एकप्रकार का स्मारक ग्रन्थ है**' । एक एक, दो दो, तीन तीन श्लोकों में गीताशास्त्र में गहनतम तत्त्वों का, निगूढ विद्याओं का सङ्केतविधि से विश्लेषण हुआ है, जिनके पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए वेदशास्त्रसमाश्रय परमावश्यक बन जाता है । केवल गीताशास्त्र के आधार पर जो महानुभाव गीताप्रतिपाद्य विषयों का समन्वय कर डालना चाहते हैं, हमारी दृष्टि में यह उनका साहस है, कल्पित आत्मतुष्टिमात्र है ।

अस्तु, गीता किन विषयों का तो संकेतविधि से, तथा किन विषयों का विस्तारविधि से निरूपण करती है ?, इत्यादि प्रश्न अप्राकृत हैं । स्वयं गीताभाष्य इन सब समस्याओं का समाधान करने के लिए पर्य्याप्त है । प्रकृत में इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि, वेदशास्त्र, तथा गीताशास्त्र, दोनों अनेक दृष्टियों से समसम्बन्धी हैं । इसमें भी वेद के उपनिषद्भाग की तुलना में तो गीता निकटतमसम्बन्धिनी बन रही है । यहाँ कुछ एक ऐसे वचन उद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा, जो दोनों के इस सख्यभाव का पूर्ण समर्थन कर रहे हैं—

(१)–"**अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते**" (गीता १३।१२।) ।
"**नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्**" (ऋक् सं० १०।१२।६।१।) ।

(२)–"**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते**" (गी० १०।८) ।
"**अहं ता (नि) विश्वा (नि) चकरम्**" (ऋक् सं० ४।४२।६।) ।

(३)–"**अहं क्रतुरहं यज्ञः**" (गी० ६।१६) ।
"**अहमर्णांसि वितरामि सुक्रतुः**" (ऋक्सं० १०।४६।४६।) ।

(४)–"**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**" (गीता ६।१६।) ।
"**उभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास-मर्त्यं चैवामृतं च**" (शत० १०।१।४।१।) ।

(५)–"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः.......................॥" (कठोप० १।३।१०) ।
"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः.......................॥" (गी० ३।४२।) ।

(६)–"उर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (कठो० ६।१।)
"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" (गी० १५।१।) ।

(७–"द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च" ॥
—ऋक् सं० १०।८८।१५।

शुक्ल–कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया ऽऽवर्तते पुनः ॥ (गी० ८।२६।)।

---

* प्रकरणोद्देश्य—

प्रस्तुत प्रकरण का उद्देश्य एकमात्र यही है कि, जिन्हें औपनिषद ज्ञान की जिज्ञासा है, उन्हें उपनिषत्-साहित्य के साथ साथ गीतासाहित्य को भी अपना लक्ष्य बनना चाहिए । कारण यही है कि, उपनिषदों नें आत्मविवर्तों में से जिस पुरुषोत्तम (अव्यय) को अपना लक्ष्य बनाया है, एवं आत्यन्तिक शान्तिप्राप्तिसाधन-भूत जिस वैराग्यलक्षण बुद्धियोग का उपनिषदों में दिग्दर्शन कराया गया है, वह ऋषिभेद से यत्रतत्र त्रिखरा हुआ सा है । किसी एक ही उपनिषत् में अव्ययपुरुष, तथा बुद्धियोग का विस्पष्ट निरूपण नहीं है । यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तो भी अतिशयोक्ति न मानी जायगी कि, जो अव्ययपुरुष, एवं जो बुद्धियोग उपनिषदों में सर्वथा गुहानिहित है, गीताचार्य्य ने उसे बाह्यस्वरूप प्रदान किया है । अतएव गीताचार्य्य ही इसके प्रथम प्रवर्त्तक मान लिए गए हैं। एक ही ग्रन्थ में बड़ी प्राञ्जलभाषा में समस्त उपनिषदों के सारभूत अव्ययात्मा, तथा बुद्धियोग का प्रतिपादन करने वाला गीताशास्त्र अवश्यमेव उपनिषत्-स्वाध्याय प्रेमियों के लिए श्रेयःप्रेयःपन्था माना जायगा । जिस युग में वैदिक परिभाषाएँ विलुप्त सीं हो गई हों, उस आज के युग में तो गीताशास्त्र ही एक ऐसा साधन है, जिसको सेतु बना कर हम औपनिषद ज्ञानसमुद्र का सन्तरण कर सकते हैं । किन्तु..........।

'किन्तु' का सन्निवेश इसलिए किया जा रहा है कि, कुछ एक शताब्दियों से पुष्पित पल्लवित सम्प्रदाय-वाद ने ज्ञान–विज्ञानप्रधान तत्त्वप्रतिपादक गीताशास्त्र को 'दर्शनशास्त्र' का रूप दे डाला है । साम्प्रदायिक दर्शन–भाव की प्रतिच्छाया से युक्त गीताशास्त्र अपने रहस्यपूर्ण औपनिषद तत्त्वभाव से बहुत पीछे हट चुका है । यदि पाठकों नें उसी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से गीता को माध्यम बनाया, तो कहना पड़ेगा कि, वे औप-निषद–तत्त्वपरिज्ञान में सफल न हो सकेंगे । गीता तभी माध्यम मानी जा सकेगी, जबकि साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

से इसे सर्वथा असंस्पृष्ट रखते हुए विशुद्ध तत्त्ववाद के आधार पर इसका अवलोकन किया जायगा। गीता-शास्त्र की इसी तत्त्वमर्य्यादा को सुरक्षित रखने के लिए आर्षसाहित्यप्रेमी महानुभावों की सेवा में 'गीता-विज्ञानभाष्य' उपस्थित हुआ है। उपनिषदों में संक्षेप से, साथ ही मधुकरवृत्ति से प्रतिपादित अव्ययात्मस्वरूप, एवं तत्प्राप्तिसाधनभूत वैराग्यबुद्धियोग का जिन्हें एकत्र स्पष्ट निरूपण देखना हो, उन्हें अवश्य ही 'गीताविज्ञानभाष्य' को लक्ष्य बनाना चाहिए, एकमात्र यही सूचित करना प्रकृत प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—तृतीयखण्डान्तर्गत
'श्रौती उपनिषत् के साथ स्मार्त्ती उपनिषत् का समतुलन' नामक
अष्टम स्तम्भ—उपरत

८

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'श्रौती उपनिषत् के साथ स्मार्त्ती उपनिषत् का समतुलन' नामक

अष्टम स्तम्भ—उपरत

८

✻–भूमिका–तृतीयखण्डोपसंहार, एवं खण्डत्रयात्मक भूमिकाग्रन्थोपसंहार—

प्रकरण आवश्यकता से अधिक विशद हो गया है, जब कि 'उपनिषदों का आत्मतत्त्व,' 'वेदान्तसूत्र, और उपनिषत्' आदि आवश्यक विषय अभी ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं। आरम्भ में भूमिकाग्रन्थ २०० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ, आगे चलकर ५०० पृष्ठों का आश्रय लिया गया। जब प्रकाशनप्रतिलिपि (प्रेसकॉपी) का अवसर आया, तो विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप भूमिकाग्रन्थ के १५०० पृष्ठ हो गए, एवं उस समय इसे तीन खण्डों में विभक्त करना पड़ा।

ग्रन्थ समाप्त करने से पहिले हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं–कि, उपनिषदों के अक्षरार्थमात्र से तब तक औपनिषद तत्त्वों का समन्वय नहीं किया जा सकता, जब तक कि समस्त वैदिक तत्त्वों से सम्बन्ध रखनें वालीं परिभाषाओं का विशुद्ध आर्षप्रणाली से समन्वय नहीं कर लिया जाता। साथ ही उपनिषद्–भाग के यथावत् स्वरूपपरिचय के लिए विधि, आरण्यकादि अन्य वेदभागों का आलोडन विलोडन भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। उदाहरण के लिए कठोपनिषत् के 'नचिकेतोपाख्यान' को ही लीजिए। यमराज के अतिथि नचिकेता यमराज से 'स्वर्ग्याग्नि' का स्वरूप पूँछते हैं। यमराज निम्न लिखित शब्दों में नचिकेता का समाधान करते हैं—

> "लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
> स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥"
> (कठोपनिषत् १।१। ५।)।

हम साहस पूर्वक कह सकते हैं कि, ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित, पञ्चचितिक, चयनयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किए बिना पण्डितराज भी उपर्युक्त शब्दार्थ मात्र के आधार पर स्वर्ग्याग्नि का रहस्य नहीं समझ सकते। वेदशास्त्र की तात्त्विक परिभाषाओं का ऋषियों नें पृथक् ग्रन्थरूप से संकलन अवश्य किया था, जिसके लिए यत्र तत्र 'रहस्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। परन्तु कालपुरुष के प्रकोप से, अथवा तो हमारी आत्यन्तिक उदासीनता से रहस्यप्रतिपादक वे रहस्यग्रन्थ हमारी दृष्टि से ओझल हो गए हैं। वेदार्थसम्बन्ध में यही एक कठिनाई है। दूसरी कठिनाई है–स्वाध्यायपरम्परा की विलुप्ति। तीसरी कठिनाई है सन्तमत का प्राबल्य, एवं आर्षधर्म्म, तथा तन्मूलक आर्षसाहित्य (वैदिक साहित्य) के प्रति आर्षप्राण भारतीयप्रजा की अनन्य उपेक्षा। इन्हीं सब जटिल समस्याओं के कारण हमारा यह 'भाषाप्रयास' भी यदि दुरूह मान लिया जायगा, तो विशेष आश्चर्य न होगा। एकमात्र इसी जटिलता के अनुग्रह से हमें अनेक विषयों को पुनरुक्तिदोष का अतिथि बनाना पड़ा है।

सर्वान्त में सत्यतत्त्व के प्रतिपादन के नाते यदि किन्हीं महानुभावों के प्रति हमारे मुख से अनुचितोचित निकल गया हो, तो उसके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं। निगूढतम रहस्यपूर्ण वैदिक "परिभाषाओं के

श्रीः

उपरतश्चायम्-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकायाः-

तृतीयः-खण्डः

अष्टस्तम्भात्मकः

३

उपरता चेयमुपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका खण्डत्रयात्मिका